पुस्तक के प्रूफ संशोधन आदि आवश्यक कार्यों में श्री श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने जो सेवा एवं सहयोग किया है उसके लिए भी हम उन्हें धन्यवाद देते हैं।

कलकत्ता चातुर्मास के प्रवचन इस पुस्तक में सब नहीं आ पाए हैं। लगभग आधे से भी कम। बाकी के प्रवचन भी यथा समय हम प्रिय पाठकों के समक्ष पहुँचाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

हम आशा करते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक पाठकों को और खासकर अध्यात्म रसिक सज्जनों को रुचिकर लगेगी। वे इसे अधिकाधिक मात्रा में अपनाकर साहित्य-सेवा के साथ साथ अध्यात्म-प्रेम का भी परिचय देंगे।

विनीत
—सोनाराम जैन
मंत्री सन्मति ज्ञानपीठ

सम्पादक की कलम से

आज का युग भौतिकवाद का है। मानव भौतिकवाद की दौड़ में अध्यात्मवाद को भुलाय जा रहा है। त्याग से भोग की ओर बढ़ रहा है। अपरिग्रह से परिग्रह की ओर झुक रहा है। यह अभियान उसे आरोहण की ओर नही, अवरोहण की ओर खींच रहा है। मानव उत्थान के शिखर पर नहीं, पतन की गहरी खाई मे गिर रहा है।

एक युग था जब भारत का चिन्तन अध्यात्मवाद से अनुप्राणित था। भारतीय दर्शन और चिन्तन की आत्मा अध्यात्मवाद से परिस्पन्दित होती रही थी। भारत के चिन्तन-सागर में अध्यात्म-वाद और आत्मविद्या की तरंगें लहरा रही थी।

अध्यात्म एव आत्म विद्या से अनुप्राणित ऊर्ध्वमुखी चिन्तन ने युग की चिन्तन धारा को मोड दिया था। भगवान महावीर के विराट ज्ञानालोक ने अध्यात्मवाद को नया स्वर दिया—'जे एग जाणई से सव्व जाणइ' एक आत्मा को जानने वाला सब कुछ जान लेता है। 'आया सामाइए'—आत्मा ही सामायिक-समता का अधिष्ठान है, यही तप है, यही सयम है, यही ज्ञान है।' आचारांग, स्थानांग, भगवती, ज्ञाता धर्मकथा, उत्तराध्ययन आदि आगमो मे उनका गभीर अध्यात्म दर्शन बीजाक्षर की तरह आज भी अध्यात्म का विराट रूप लिए उपलब्ध है। अपने युग मे वे महान अध्यात्मवादी ऋषि थे। उनके अध्यात्मदर्शन की प्रतिध्वनि भारतीय चिन्तन मे गूँज उठी। जहाँ एक ओर वेदान्त ने अद्वैतवाद को जन्म दिया, तो वहाँ दूसरी ओर बौद्ध चिन्तन ने विज्ञानाद्वैत एव शून्यवाद के रूप मे अध्यात्म को उजागर किया।

भगवान महावीर के आध्यात्मिक दर्शन को पल्लवित करने का सर्वाधिक श्रेय आचार्य कुन्दकुन्द को है। महावीर के अध्यात्म दर्शन की आत्मा का जो रूप आज निखरा हुआ मिलता है, वह आचार्य कुन्द कुन्द के विशुद्ध एव सूक्ष्म अध्यात्म चिन्तन शिल्प का चमत्कार है। उनके चिन्तन की गरिमा से आज श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओं का चिन्तन गौरवान्वित है, ऋणी है।

दर्शन शास्त्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर खड़े होकर जब हम देखते हैं तो उस युग के चिन्तन का एक स्पष्ट चित्र हमारे सामने उभर आता है।

अमर ग्रन्थ-माला का
दसवाँ पुष्प

पुस्तक :
अध्यात्म-प्रवचन

प्रवचनकार
उपाध्याय अमर मुनि

प्रवचन स्थल :
कलकत्ता वर्षावास—१९६६

सम्पादक
विजय मुनि शास्त्री

प्रकाशक
सन्मति ज्ञानपीठ आगरा

प्रथम मुद्रण :
सितम्बर, १९६६

मुद्रक
दी एजुकेशनल प्रेस आगरा-३

मूल्य
पाँच रुपये

प्रकाशकीय

श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी का गभीर चिन्तन धर्म, दर्शन, अध्यात्म तथा समाज, सस्कृति की गहराई का जिस सूक्ष्मता के साथ स्पर्श करता है, वह अद्भुत है। उनका चिन्तन मौलिक तो होता ही है, मधुर एव सरस भी होता है। तत्त्व प्रधान एव सारग्राही होता है। प्रस्तुत पुस्तक 'अध्यात्म-प्रवचन' मे पाठक उनके आध्यात्मिक चिन्तन की अतल गहराइयो मे पैठकर नई स्फूर्ति और नया विचार मौक्तिक पाकर प्रसन्नता से झूम उठेंगे।

'अध्यात्म-प्रवचन' कलकत्ता के ऐतिहासिक चातुर्मास में उपाध्याय श्री जी द्वारा दिए गए अध्यात्म-रस मे ओत-प्रोत गभीर विश्लेषण एव चिन्तन प्रधान प्रवचनो का सकलन है।

प्रवचनो का सपादन हमारे जाने माने तरुण-साहित्यकार श्री विजयमुनि शास्त्री ने किया है। कहने की आवश्यकता नही कि वे सपादन में उपाध्याय श्री जी के विचारो की मूल आत्मा को सुरक्षित एव व्यवस्थित रखने मे कहाँ तक सफल हुए हैं? यह सब तो पाठक स्वय पढकर ही साक्षात् अनुभूति मे प्रमाणित कर सकते है।

उपाध्याय श्री जी के ऊर्ध्वगामी चिन्तन का प्रतिबिम्ब ही तो श्रीविजय मुनि मे उतरा है। वे सिर्फ उपाध्याय श्री जी के अन्तेवासी शिष्य ही नही, बल्कि ज्ञान-पुत्र भी है। उपाध्याय श्री जी के भावो को सुरक्षित रखने मे एव यथा प्रसग स्पष्टीकरण करने मे उनसे अधिक प्रामाणिक और कौन हो सकता है? श्री विजय मुनि जी की सरस, धाराप्रवाह एव विवेचन-प्रधान लेखनी से हमारा पाठक वर्ग चिर परिचित है ही, हमे उनसे बहुत आशाएँ है।

प्रवचनो का सकलन करवाने मे कलकत्ता श्री सघ के उत्साही कर्मठ कार्यकर्त्ताओ ने जो सहयोग एव सद्भाव दिखाया है, उसके लिए वे सन्मति ज्ञानपीठ की ओर से ही नही, उपाध्याय श्री जी के प्रवचनो के समस्त पाठक वर्ग की ओर से भी शतश धन्यवाद के पात्र हैं।

साथ ही कलकत्ता के उत्साही युवक श्री ऋषीश्वर नारायणसिंह बी० ए०, एल-एल० बी० का सहयोग भी पुस्तक के साथ चिरस्मरणीय रहेगा, जिन्होंने प्रवचनो का सकलन (लिपि-लेखन) बडे ही उत्साह के साथ किया है।

प्रत्येक धर्म-परम्परा अपने आध्यात्मिक परिष्कार में लगी थी। विचारों का नया परिवेश सजाने में व्यस्त थी। बौद्धों में आचार प्रधान हीनयान का विचार प्रधान महायान में बदल जाना, वैदिक परम्परा में कर्मकाण्ड प्रधान पूर्व-मीमांसा का ज्ञान प्रधान उत्तर मीमांसा एवं वेदान्त में परिवर्तित हो जाना अवश्य ही किसी गंभीर चिन्तन एवं विचार मन्थन के परिणाम रहे होंगे?

महायान का विज्ञानाद्वैत एवं शून्यवाद और वेदान्त का अद्वैतवाद जब जन-चेतना के समक्ष प्रस्तुत हुआ तो सहज ही उस युग की जन-चेतना स्थूल से सूक्ष्म की ओर, बाह्य से अन्तर की ओर प्रयाण कर रही थी।

युग चेतना के इस प्रवाह में जैन परम्परा के लिए भी यह आवश्यक हो गया था कि वह अपने मूल आगमों में सूत्र-रूप में विकीर्ण अध्यात्मवादी चिन्तन को पल्लवित पुष्पित करके नये रूप में युग के समक्ष प्रस्तुत करे। इस महान् कार्य का सम्पन्न किया आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने। आचार्य सिद्धसेन का कार्य सीमित क्षेत्र में हुआ और धीरे धीरे उनकी दिशा दूसरी ओर मुड़ गई। आचार्य कुन्दकुन्द का क्षेत्र असीम था। उन्होंने आगमसागर का मन्थन करके अध्यात्मवाद का अमृत निकाला और उस युग की शैली और अध्यात्म की गंभीर भाषा में प्रस्तुत किया। अध्यात्म चिन्तन की इस कड़ी को पूरी करने वाले आचार्य अमृतचन्द्र आये। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर उन्होंने स्वतन्त्र एवं विशद टीकायें लिखकर उनके चिन्तन को और प्रखरता के साथ व्यक्त किया। विज्ञानाद्वैतवाद और शून्यवाद से प्रभावित जन मानस को वीतराग दर्शन की ओर आकर्षित करने के लिए यह प्रयत्न आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था।

उत्तर काल में अध्यात्म पर जितना चिन्तन मनन हुआ है वह सब विचार रूप में आचार्य कुन्दकुन्द का ऋणी है इसमें कोई दो मत नहीं। समय समय पर प्रत्येक अध्यात्मवादी चिंतक उस चिन्तन के आधार पर युग की भाषा में अपना नवीन एवं सुलझा हुआ चिन्तन प्रस्तुत करके जन मानस की आध्यात्मिक क्षुधा को परितृप्त करते आ रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक अध्यात्म-प्रवचन पूज्य गुरुदेव कविरत्न उपाध्याय श्री जी के उन प्रवचनों का संकलन है जो उन्होंने कलकत्ता की अध्यात्म रसिक जनता के समक्ष सन् १९६६ के वर्षावास में वहाँ दिए थे। पाठक देखेंगे कि उपाध्याय श्री जी ने अध्यात्म जैसे गंभीर विषय को किस प्रकार अपनी विलक्षण प्रतिभा, तलस्पर्शी बुद्धि एवं आकर्षक तथा सरल शैली से युग-बोध

की भाषा मे प्रस्तुत किया है। उनके प्रखर चिन्तन मे अध्यात्म के नये नये तथ्य खुलते हुए से प्रतीत होते हैं।

प्रस्तुत प्रवचनो मे मुख्यतया सम्यग्दर्शन पर सर्वांग और विशद विवेचन किया गया है। अन्त के सात प्रवचनों मे सम्यग् ज्ञान, प्रमाण, नय आदि ज्ञान के समस्त अंगों पर भी स्पष्ट एव विस्तृत विश्लेषण हुआ है। सम्यक्चारित्र का विवेचन स्वतन्त्र रूप से इन प्रवचनो मे नही आया है। यों सम्यक् चारित्र की भी सामान्य चर्चा प्रवचनो मे यत्र-तत्र काफी हो चुकी है। पाठक को अधूरा या खालीपन जैसा कुछ नही लगेगा।

मैने पूज्य गुरुदेव के गंभीर विचारों को अधिक से अधिक प्रामाणिकता एव सुबोधता के साथ रखने का प्रयत्न किया है। फिर भी छद्मस्थ व्यक्ति की एक सीमा है, अत कही कुछ त्रुटि रह गई हो, तो तदर्थ क्षमाप्रार्थी हूँ।

अध्यात्म-रसिक जन इस पुस्तक से अधिकाधिक लाभ उठाएगे, इसी आशा और विश्वास के साथ 'विरमामि'।

—विजयमुनि

कलकत्ता

अगस्त, १९६६

प्रवचन-क्रम

सम्यग्-दर्शन मीमांसा १

१	अध्यात्म जीवन	२
२	मुक्ति का मार्ग	१६
३	रत्नत्रय की साधना	३६
४	विवेक-दृष्टि	५३
५	अध्यात्म-साधना	६६
६	साधना का लक्ष्य	८३
७	साध्य और साधन	१०५
८	अध्यात्मवाद का आधार	११४
९	सम्यग् दर्शन : सत्य-दृष्टि	१२८
१०	धर्म साधना का आधार	१६०
११	सम्यग् दर्शन की महिमा	१८२
१२	सम्यग् दर्शन के भेद	२०५
१३	उपादान और निमित्त	२२२
१४	पदवादी सम्यग् दर्शन	२६३
१५	अमृत की साधना : सम्यग् दर्शन	२६३
१६	जैन दर्शन का मूल : सम्यग् दर्शन	२८५
१७	संसार और मोक्ष	३०४
१८	सम्यग् दर्शन के विविध रूप	३२२
१९	सम्यग् दर्शन के लक्षण : अतिचार	३२३
२०	आठ अङ्ग और सात भय	३४५
२१	तीन प्रकार की चेतना	३५७

सम्यग् ज्ञान मीमांसा ४

१	ज्ञान-मीमांसा	—	—	३७१
२	प्रमाणवाद	—	—	३८७
३	नयवाद	—	—	४०६
४	निक्षेप-सिद्धान्त	—	—	४२५
५	ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय	—	—	४३
६	नय की दो धाराएँ	—	—	४४४
७	संसार-विमुख का हेतु ज्ञान	—	—	४५४

★

१

अध्यात्म-जीवन

* * *

धर्म और दर्शन का आधार-बिन्दु मनुष्य का अध्यात्म-जीवन है। जब तक मनुष्य भौतिकवाद मे भटकता रहता है, तब तक उसे सुख, शान्ति और सन्तोष प्राप्त नही हो सकता। भारतीय संस्कृति का लक्ष्य भोग नही, त्याग है, संघर्ष नही, शान्ति है, विषमता नही, समता है, विषाद नही, आनन्द है। जीवन की आधार-शिला भोग को मान लेने पर जीवन का विकास नही, विनाश हो जाता है। जीवन के संरक्षण, सम्वर्द्धन और विकास के लिए आध्यात्मिकता का होना नितान्त आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं, कि यह युग विज्ञान का युग है। यह युग प्रयोग, आविष्कार, संघर्ष और विरूपता का युग है। फिर इसमे अध्यात्मवाद कैसे पनप सकता है? मेरे विचार में कोई भी युग अपने आप मे अच्छा या बुरा नही होता, जन-चेतना की भावना ही उसे अच्छा एवं बुरा बनाती है। विज्ञान, यदि वस्तुत विज्ञान है, तो वह विश्व के लिए मंगलमय वरदान ही होना चाहिए, प्रलयकारी अभिशाप नही। विज्ञान मानव की चेतना का यदि विकास करता है, तो उसे बुरा नही कहा जा सकता। विज्ञान के साथ यदि धर्म और दर्शन का समन्वय कर दिया जाए, तो फिर विज्ञान की

१

अध्यात्म-जीवन

* * *

धर्म और दर्शन का आधार-बिन्दु मनुष्य का अध्यात्म-जीवन है। जब तक मनुष्य भौतिकवाद में भटकता रहता है, तब तक उसे सुख, शान्ति और सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता। भारतीय संस्कृति का लक्ष्य भोग नहीं, त्याग है, संघर्ष नहीं, शान्ति है, विषमता नहीं, समता है, विषाद नहीं, आनन्द है। जीवन की आधार-शिला भोग को मान लेने पर जीवन का विकास नहीं, विनाश हो जाता है। जीवन के संरक्षण, सम्वर्द्धन और विकास के लिए आध्यात्मिकता का होना नितान्त आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं, कि यह युग विज्ञान का युग है। यह युग प्रयोग, आविष्कार, संघर्ष और विरूपता का युग है। फिर इसमें अध्यात्मवाद कैसे पनप सकता है? मेरे विचार में कोई भी युग अपने आप में अच्छा या बुरा नहीं होता, जन-चेतना की भावना ही उसे अच्छा एवं बुरा बनाती है। विज्ञान, यदि वस्तुतः विज्ञान है, तो वह विश्व के लिए मंगलमय वरदान ही होना चाहिए, प्रलयकारी अभिशाप नहीं। विज्ञान मानव की चेतना का यदि विकास करता है, तो उसे बुरा नहीं कहा जा सकता। विज्ञान के साथ यदि धर्म और दर्शन का समन्वय कर दिया जाए, तो फिर विज्ञान की

अशुभता की आशंका नहीं रहेगी। परन्तु यदि विज्ञान मानवीय-चेतना से अधिक महत्त्व भौतिक पदार्थ को दे देता है, अथवा मानवता से अधिक श्रेष्ठता सत्ता-प्रेम को प्रदान करता है, तो निश्चय ही मानव जाति के लिए वह एक अभिशाप सिद्ध होगा। स्पष्ट है कि इस काल का मानव मानवता के धरातल से अत्यधिक दूर होता जा रहा है। विज्ञान की नव-नवीन उपलब्धियों से वह इतना अधिक प्रभावित एवं चमत्कृत हो चुका है कि अपने धर्म दर्शन एवं संस्कृति को भूलता जा रहा है। विज्ञान एक शक्ति है, किन्तु उस शक्ति का प्रयोग और उपयोग कैसे किया जाए, इस तथ्य का निर्देश धर्म और दर्शन ही कर सकता है। वैज्ञानिक ज्ञान अपने आप में ठीक है, किन्तु जब उसे ही पूर्ण सत्य मान लेते हैं, तब वह अनन्त आपत्तियों का कारण बन जाता है। आज के विज्ञान ने विश्व के विविध बाह्य रूपों को आँका है, परखा है, उनके अनेक गुप्त रहस्यों को यांत्रिक साधनों के माध्यम से प्रकट किया है, किन्तु वह विश्व के आन्तरिक मूल सत्य को समझने में असमर्थ रहा है। वह विश्व के भौतिक तथ्यों का विश्लेषण कर लेता है, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को भी समझ लेता है, किन्तु वह विश्व-चेतना की समुचित व्याख्या नहीं कर पाता। इस दृष्टि से वह ज्ञान होते हुए भी सम्यक् ज्ञान नहीं है। भारतीय संस्कृति में सम्यक् ज्ञान उसे ही कहा जाता है, जो पर को जानने के साथ-साथ अपने को भी जानता हो जो पर को समझने के साथ-साथ अपने आप को भी समझता हो। जिसने अपने आपको समझ लिया उसने सबको समझ लिया और जिसने अपने आपको नहीं समझा उसने किसी को भी नहीं समझा। विज्ञान पर को समझता है, स्व को नहीं। स्व का अर्थ है—चैतन्य तत्त्व और पर का अर्थ है—जड़ तत्त्व।

मैं आपसे अभी विज्ञान की बात कह रहा था। विज्ञान का अर्थ है—एक विशिष्ट प्रकार का ज्ञान। आज की भाषा में विज्ञान का अर्थ भौतिक जगत का विशिष्ट ज्ञान लिया जाता है। परन्तु भौतिक ज्ञान कभी अपने आप में परिपूर्ण नहीं हो पाता। भौतिक विज्ञान अपने आप में अपूर्ण है, उसकी अपूर्णता धर्म और दर्शन की अपेक्षा रखती है। वह दर्शन के वरद हस्त के बिना पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। धर्म और दर्शन से वियुक्त विज्ञान की उत्पत्ति ने अमानवीय एवं पाशविक प्रवृत्तियों को ही उत्पत्ति की है—घृणा प्रतिशोध प्रतिस्पर्धा एवं शक्ति-सम्पन्न बनने की अभिलाषा को ही प्रोत्साहित किया है।

भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के अनुसार जीवन के वास्तविक रहस्य को अध्यात्मवाद के द्वारा ही समझा जा सकता है। अध्यात्म-वाद ही जीवन का वास्तविक मूल्यांकन करता है। जीवन क्या है? जगत् क्या है? तथा उन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है? जीवन जैसा है, वैसा ही है, या उसके उत्कर्ष की अन्य कोई विशिष्ट संभावना है? बन्धन क्या है और मुक्ति क्या है? उक्त प्रश्नों का समाधान अध्यात्म-विज्ञान ही दे सकता है, भौतिक-विज्ञान नहीं। जीवन, जड़ का धर्म नहीं, चेतन का धर्म है। अध्यात्मवाद कहता है कि जीवन जीने के लिए है, किन्तु पवित्रता से जीने के लिए है। यह पवित्रता उस आत्मा का धर्म है, जो आत्मा बुद्ध एवं प्रबुद्ध है, जिसे अपने शुभ एवं अशुभ का, सुन्दर एवं असुन्दर का तथा वाञ्छनीय एवं अवाञ्छनीय का सम्यक् परिज्ञान है। जो अपने भले-बुरे, भूत-भविष्य और वर्तमान पर चिन्तन कर सकता है, वस्तुतः वही प्रबुद्ध चेतन है, वही जागृत आत्मा है और वही विकासोन्मुख जीव है। आज की इस भौतिक सभ्यता को जब मानव-जीवन की तुला पर तोला जाता है, अथवा उन मूल्यों का निरीक्षण एवं परीक्षण किया जाता है, जिन्हें आज के समाज ने अपनाया है, तब मुझे एक घोर निराशा होती है। मैं समझता हूँ विज्ञान के द्वारा निर्धारित ये मूल्य उच्चतम मानवीय सत्यों के प्रतीक नहीं हैं। ये जीवन के संरक्षण में सहयोगी होने के विपरीत उसको ध्वंस की ओर ले जा रहे हैं। परन्तु क्या वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता पूर्णतः त्याज्य है? मैं समझता हूँ, इसमें सभी कुछ त्याज्य नहीं हो सकता। इसमें बहुत कुछ शुभ है, वरण करने के योग्य भी है। परन्तु दुःख है कि अध्यात्म से अनुप्राणित उन शुभांशों की ओर लक्ष्य नहीं दिया जा रहा है। मानव-जीवन के आध्यात्मिक सत्य आज के भोगवादी अविवेक के घने कुहासे में छुप गए हैं। वे अपना अर्थ और दायित्व खो बैठे हैं। जिस भाँति कीचड़ में लिपटे हीरे की ज्योति दीखती नहीं है, वह मात्र मिट्टी का नगण्य ढेला ही प्रतीत होता है, उसी भाँति मानव-जीवन के वास्तविक तथ्य एवं सत्य, मूलतः मानव-चेतना की उपज होने पर भी पूर्व-ग्रह, अन्ध विश्वास और अविवेक से लिप्त हो जाने के कारण मानवता के क्षितिज से अति दूर चले गए हैं।

मैं आपसे उस अध्यात्म-जीवन की चर्चा कर रहा था—जिसने भारत की पवित्र धरती पर जन्म पाया, भारत की पवित्र धरती पर ही जिसका पालन-पोषण हुआ और अपने यौवन-काल में पहुँचकर

जो विश्वव्यापी बन गया। ग्रीक के दार्शनिकों ने अध्यात्मवाद की प्रेरणा यहीं से प्राप्त की थी। मध्यकाल के योरोपीय दार्शनिक भी इस अध्यात्मवाद से प्रभावित हुए हैं। यह सब कुछ होने पर भी ऐसा प्रतीत होता है, कि आज का सर्वग्रासी विज्ञान हमारे अध्यात्मवाद को खोखला करने पर तुला हुआ है। मेरे विचार मे यह विज्ञान का अपना दोष नहीं आज के भटके हुए मानव की भोगवादी प्रवृत्ति का ही यह दोष है। मैं तो यह मानकर चलता हूँ कि विश्व-सभ्यता पूर्व और पश्चिम की जीवन-प्रणाली तथा आज का विज्ञान सम्भाषो एवं सम्भाषो से रिक्त नहीं है। पश्चिम के वैज्ञानिक मानस ने देश और काल के व्यवधानों को मिटा कर समस्त विश्व के देशो को एक दूसरे के निकट लाकर रख दिया है। जीवन के बाह्य रूप को सँवार दिया है। इसके विपरीत पूर्व ने आत्मिक उन्नति अथवा आन्तरिक समृद्धि द्वारा चेतना के धर्म की मूलगत आवश्यकता को समझाया है। यदि गम्भीरता के साथ विचार किया जाए, तो दोनो ही—आज का विज्ञान और आज का अध्यात्मवाद—सकीर्णता के दलदल में फँस गए है। आज की वैज्ञानिक बुद्धि सहारात्मक और ध्वसात्मक प्रवृत्ति को जन्म दे रही है तथा आज का अध्यात्मवाद अध आस्था और अविवेक की चादर मे लिपटा हुआ है। विज्ञान यदि प्रकृति पर शासन करने को ही सब कुछ मानने लगा है, तो धर्म एव दर्शन ने रूढिवाद पर म्परावाद और अन्ध विश्वास को ही अपना लक्ष्य बिन्दु बना लिया है। पूर्वी संस्कृति सृजनता से पराङ्मुख होकर प्राणहीन होती जा रही है तथा पश्चिमी संस्कृति सृजनता के आवेश मे ध्वंसोन्मुखी बन रही है। आज का मानव अनास्था अनाचार और अशान्ति से पीडित है। वह यह चाहता है कि मुझे सुख शान्ति और सन्तोष की उपलब्धि हो। परन्तु मैं समझता हूँ यह तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कि आज का मनुष्य अपने दृष्टिकोण को बदल न डाले। आज के मानव का विश्वास जीवन के शाश्वत मूल्यो से उखड गया है। आज के मनुष्य के जीवन मे विश्वास विचार और आचार तीनो गडबडा गए हैं। आज का मानव दूसरे मानव पर विश्वास नहीं करता। आज का मानव अपने पडोसी और अपने घर के मानव पर भी विश्वास खो बैठा है। कौन किसको किस समय निगल जाएगा मालूम नहीं पडता। न किसी को किसी पर विश्वास है, न किसी का किसी से सहज स्नेह है और न आज किसी में विमल त्याग एव वैराग्य की प्राणवती भावना ही

दृष्टिगोचर होती है। यह मानव की आध्यात्मिक निर्बलता की स्थिति है। आत्मोद्धार के स्रोत से वियुक्त, सत्य के ज्ञान से अनभिज्ञ, आज का मानव धीरे-धीरे विकास से विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है, उत्थान से पतन की ओर बढ़ रहा है। मेरे विचार में आज के वैज्ञानिक युग की वह समृद्धि व्यर्थ है, जो मनुष्य की आध्यात्मिक क्षुधा को तृप्त नहीं कर सकती। वे आविष्कार त्याज्य हैं, जो मनुष्य को मनुष्य नहीं बना रहने देते। भोगवादी दृष्टिकोण ने मनुष्य-जीवन में निराशा, अतृप्ति और कुंठा को जन्म दे डाला है। दूसरे शब्दों में निराशा, अतृप्ति और कुंठा ने आज की जन-चेतना को जकड़ लिया है। शक्ति, अधिकार तथा स्वत्व की लालसा दिनों-दिन प्रचण्ड एवं वीभत्स रूप धारण करती जा रही है। इस दृष्टि से मैं यह सोचता हूँ कि मनुष्य को पतन के इस गहन गर्त से निकालने के लिए, आज प्रगतिशील एवं सृजनात्मक अध्यात्मवाद की नितान्त आवश्यकता है। आज का मानव परस्पर के प्रतिशोध और विद्वेष के दावानल में झुलस रहा है। आज के मानव को वही धर्म एवं दर्शन सुख और सन्तोष दे सकता है, जो आत्म-बोध, आत्म-सत्य एवं आत्म-ज्ञान की उपज है। वही अध्यात्मवाद आज की इस धरती पर पनप सकता है, जो विश्व की समग्र आत्माओं को समान भाव से देखने की क्षमता रखता है। अध्यात्मवाद कहीं बाहर से आने वाला नहीं है, वह तो हमारी आत्मा का धर्म है, हमारी चेतना का धर्म है एवं हमारी संस्कृति का प्राणभूत तत्त्व है। आज के मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए कि उसे जो कुछ भी पाना है, वह कहीं बाहर नहीं है, वह स्वयं उसके अन्दर में स्थित है। आवश्यकता है केवल अपनी अध्यात्म-शक्ति पर विश्वास करने की, विचार करने की और उसे जीवन की धरती पर उतारने की।

जहाँ तक मैंने अध्ययन और मनन किया है, मैं यह कह सकता हूँ, कि प्रत्येक पथ और सम्प्रदाय का अपना कोई विश्वास होता है, अपना कोई विचार होता है और अपना कोई आचार होता है। आचार बनता है—विचार से और विचार बनता है—विश्वास से। विश्वास, विचार (ज्ञान) और आचार कहीं बाहर से नहीं आते। वे आत्मा के अपने आत्मभूत निज गुण हैं। आत्मा के इन निज गुणों का शोधन, प्रकाशन और विकास ही वस्तुतः हमारी अध्यात्म-साधना है। अध्यात्म-साधना का इतना ही अर्थ है, कि वह मनुष्य की प्रसुप्त शक्ति को प्रबुद्ध कर देती है। विश्व में जब साधक अनेक हैं, तो साधना की

विविधता भी किसी प्रकार का दोष नहीं हो सकती। साधना की विविधता होने पर भी उन सबका उद्देश्य एवं लक्ष्य एक ही होता है। अध्यात्म-साधना का लक्ष्य क्या है? आत्मा का पूर्ण विकास करना। और आत्मा का पूर्ण विकास क्या है? आत्मा के स्वरूप भूत गुणों का पूर्ण विकास करना। जब गुणों का पूर्ण विकास हो जाता है, तब गुणी का विकास स्वतः ही हो जाता है। संस्कृत भाषा में गुण और सूत्र पर्याय वाची भी हैं। सूत्र में जैसा रंग होगा वस्त्र में भी वैसा ही रंग आएगा। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा के विशिष्ट गुण क्या हैं? सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। इन तीन गुणों के अतिरिक्त आत्मा का सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्म-तत्त्व और कुछ नहीं है। जो श्रद्धा है वही आत्मा है, जो ज्ञान है वही आत्मा है और जो चारित्र है वह भी आत्मा है। साधक अपनी साधना के बल पर जो कुछ प्राप्त करता है, वह उससे भिन्न नहीं होता। हम अपनी साधना के द्वारा अपने आपको ही प्राप्त करते हैं। स्वस्वरूप की उपलब्धि ही सबसे बड़ी साधना है, सबसे बड़ी सिद्धि है। जिस व्यक्ति ने स्वस्वरूप को प्राप्त कर लिया उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया। स्वस्वरूप की उपलब्धि अपने ही बल से अपने ही पराक्रम से और अपनी ही शक्ति से प्राप्त की जा सकती है। फिर भी तीर्थंकर की वाणी गणधर की वाणी और गुरु का उपदेश अपने स्वस्वरूप की उपलब्धि में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। ये हमारी अध्यात्म-साधना के अवलम्बन हैं। जब तक साधक अपने पैरों पर खड़ा होने की शक्ति प्राप्त नहीं कर लेता है, तब तक उसे अवलम्बन की आवश्यकता रहती है। गुरु शास्त्र आगम और सूत्र यह सब हमारी साधना के अवलम्बन हैं, पथ-निर्देशक हैं, गन्तव्य पथ के भव्य संकेत हैं और यही दिशा-सूचक प्रकाश-स्तम्भ हैं। अध्यात्म-परिभाषा के अनुसार देव और गुरु तथा उनकी वाणी एवं उपदेश निमित्त मात्र हैं। उपादान तो स्वयं हमारी आत्मा ही है, किन्तु उपादान के अपने विकास में सहकारी निमित्त का अवलम्बन लेना कोई बुरी बात नहीं है। किन्तु जब साधक सक्षम हो जाता है, अपने पथ पर आगे बढ़ने की उसकी क्षमता का विकास हो जाता है तथा जब उसमें अपने गन्तव्य पथ से विचलित न होने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, तब उसे किसी भी बाह्य निमित्त की आवश्यकता नहीं रहती। बाह्य निमित्त त्यागा नहीं जाता वह यथावसर स्वतः ही परित्यक्त हो जाता है। वीतरागवाणी की उद्देश्य-रेखा इतनी ही है कि वह प्रसुप्त

से प्रवुद्ध होती हुई आत्मा को यथोचित योगदान दे सके, किन्तु उसमें किसी भी प्रकार का बलात् परिवर्तन करने की क्षमता नहीं है। बाह्य निमित्त केवल वातावरण बनाता है, किन्तु उस वातावरण के अनुकूल या प्रतिकूल रूप में ढलना मूलत उपादान की ही अपनी योग्यता है। इसी आधार पर जिन-शासन मे यह कहा गया है कि—व्यवहार नय मे वीतराग हमारे देव हैं, निर्ग्रन्थ हमारे गुरु हैं और वीतराग द्वारा भाषित तत्त्व हमारा धर्म है। परन्तु निश्चय नय मे यह कहा गया है कि—मैं स्वय देव हूँ, मैं स्वय गुरु हूँ और मैं स्वय ही धर्म हूँ। अध्यात्म-शास्त्र की भाषा मे आत्मा ही स्वय देव, गुरु और धर्म होता है। जब तक निश्चय दृष्टि को ग्रहण करके जीवन के धरातल पर नही उतारा जाएगा, तब तक आत्मा का उद्धार नही हो सकेगा। निश्चय दृष्टि ही साधना की मूल दृष्टि है, व्यवहार-दृष्टि तो केवल उसकी प्रयोग-भूमि है। बिना निश्चय दृष्टि प्राप्त किए न तत्त्वज्ञान को समझा जा सकता है, न धर्म को समझा जा सकता है और न आत्मा को ही समझा जा सकता है। साथ मे यह भी याद रखिए कि व्यवहार-दृष्टि को भी भूल नही जाना है। दोनो मे समन्वय एव सतुलन रखना आवश्यक है।

मैंने आपसे अभी कहा था कि साधना के क्षेत्र मे बाह्य अवलम्बन की आवश्यकता है। वह बाह्य अवलम्बन क्या है? देव, गुरु और इन दोनो की वाणी एव उपदेश। जैन तत्त्वज्ञान का मूल आधार वीतराग-वाणी ही है, जिसे आगम और सूत्र भी कहा जाता है। आगम एव सूत्र पतग की डोर के समान है। पतग उडाने वाले के हाथ मे पतग का सूत्र अर्थात् पतग की डोर रहती है, जिसके सहारे पर पतग ऊपर दूर आकाश मे उडती रहती है। यदि पतग की डोर आपके हाथ मे है तो आप जब चाहे तभी उसे डोर के सहारे से आगे बढा सकते है, पीछे हटा सकते हैं, इधर-उधर भी कर सकते है। यह सब कुछ डोर की महिमा है कि आप अपनी पतग को ऊ चे आकाश मे भी चढा सकते हैं और नीचे धरती पर भी उतार सकते हैं। आपके हाथ मे से यदि वह सूत्र अर्थात् डोर छूट जाए, तो फिर पतग की क्या स्थिति होगी? वह अनन्त गगन मे निराधार एव बिना लक्ष्य के उडती ही जाएगी और अन्त मे कही पर भी गिरकर नष्ट हो जाएगी, फट जाएगी। यही स्थिति हमारे जीवन की भी है। साधक तत्त्व चिन्तन के पतग को सूत्र एव शास्त्र की डोर के सहारे

बहुत ऊँचे उड़ाता है। वह चिन्तन का पतंग कभी स्वर्ग में कभी नरक में कभी संसार में और कभी मोक्ष में उड़ान भरता रहता है। कभी वह चिन्तन-पतंग मानव जीवन के अनन्त अतीत में उड़ता है, तो कभी अनन्त अनागत में भी उड़ता रहता है। परन्तु उसकी यह लम्बी उड़ान किस आधार पर होती है? सूत्र एवं सिद्धान्त की डोर के आधार पर ही। यदि सिद्धान्त की डोर न हो तो तत्त्व चिन्तन की पतंग कभी भी पथभ्रष्ट एवं पतित होकर नष्ट हो सकती है। मेरे विचार में तीर्थंकर एवं गणधर द्वारा प्रतिपादित-सिद्धान्त ही हमारे तत्त्व-चिन्तन एवं तत्त्व ज्ञान के पतंग की डोर है। यदि उस डोर को हम अपने हाथों में पकड़े रहें, तो फिर पतंग भले ही कितनी भी ऊँची और कितनी भी दूरी पर उड़े जरा भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि वह जितनी भी दूर उड़े उतना ही अच्छा है। कच्चे खिलाड़ी की अथवा बच्चों की पतंग दूर तक नहीं पहुँच पाती। परन्तु जो पक्के खिलाड़ी हैं, उनकी पतंग जितनी दूर उड़े उतना ही अच्छा है, उतना ही कमाल है। पतंग को उड़ने के लिए विस्तृत एवं व्यापक अनन्त आकाश चाहिए, उसे बन्द कमरे में नहीं उड़ाया जा सकता। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान की पतंग भी कठमुल्लापन के छोटे-मोटे संकुचित एवं संकीर्ण वैचारिक घेरे में नहीं उड़ सकती। उसके लिए व्यापक दृष्टि से किए जाने वाले व्यापक मनन एवं अनुभव का उन्मुक्त गगन चाहिए। तभी साधक को उसकी अध्यात्म-साधना में सफलता मिल सकती है।

साधक की साधना एक सत्य की साधना है। सत्य के मूलस्वरूप को पकड़ना ही साधक-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। सत्य अनन्त होता है, सत्य अखण्ड होता है। परन्तु पंथ की संकुचित दृष्टि सत्य को भी सान्त और खण्डित बना डालती है। सम्प्रदाय की भावना सत्य को नया और पुराना कहती है, यद्यपि सत्य अपने आप में न कभी नया होता है और न कभी पुराना होता है। सत्य तो सत्य है, क्या नया क्या पुराना। परन्तु विभिन्न पंथ और सम्प्रदायों को लेकर प्राचीन काल से और आज भी नए और पुराने का काफी संघर्ष चलता रहता है। कोई भी सम्प्रदाय एवं पंथ अपने आपको नया कहलाना पसंद नहीं करता। प्रत्येक का यही प्रयत्न होता है कि वह अपने आपको प्राचीन सिद्ध कर सके। हमारा विगत इतिहास इस बात का साक्षी है कि भूतकाल में इस प्रकार के अनेकानेक प्रयत्न किए गए हैं और

आज भी इस प्रकार के प्रयास दृष्टिगोचर होते है। परन्तु मैं यह नही समझ पाया कि नया कहलाने मे क्या पाप है? और पुराना बनने मे क्या पुण्य है? अपने पथ और अपने सम्प्रदाय को पुराना कहने का व्यामोह मनुष्य के मन मे प्राचीन काल से ही रहा है और आज भी है। मैंने सुना है और देखा है कि पथ और सम्प्रदाय के अखाडो मे अकसर इस बात की चर्चा होती रहती है कि कौन सा पथ एव सम्प्रदाय नया है, एव कौन सा पुराना? यदि पथ का आधार सत्य है, तो वह न कभी नया होता है, और न कभी पुराना। विचार कीजिए, यदि सत्य कभी पुराना हो सकता है, तो वह कभी बूढा भी होगा और तब एक दिन उसकी मौत भी जरूर होगी। सत्य को हम नया भी नही कह सकते, क्योकि नए के पीछे जन्म खडा है। जो नया है उसका एक दिन जन्म भी अवश्य हुआ होगा। इस प्रकार नए के पीछे जन्म खडा है और पुराने के पीछे मौत खडी है, किन्तु यथार्थ मे सत्य का न कभी जन्म होता है और न कभी सत्य का मरण ही होता है। अत सत्य न कभी नया होता है और न कभी पुराना ही। वह दोनो से परे है। उसकी अपनी एक ही स्थिति है और वह है अजर, अमर, अनन्त तथा सनातन। अत किसी भी पथ एव सम्प्रदाय को नया और पुराना करार देकर झगडा एव विवाद करना कुँजडो के बाजार की वह लडाई है, जिसका कोई आधार नही, जिसका कुछ भी उपयोग नही।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझे बिना साधक की साधना सफल नही हो सकती। यही कारण है कि भारत के प्रत्येक पथ और सम्प्रदाय के धर्म ग्रन्थो मे मोक्ष और उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे चर्चा की जाती है। भारतीय सस्कृति मे और विशेष रूप से अध्यात्मवादी दर्शन मे मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना ही माना गया है। मुक्ति के साधनो मे और साधना के प्रकार मे विचारभेद हो सकता है, किन्तु लक्ष्य-भेद नही। भव-बन्धनो से विमुक्त होने के लिए तत्व-ज्ञान की नितान्त आवश्यकता रहती है। क्योकि जब तक कर्म का आवरण है, तब तक साधक-जीवन मे पूर्ण प्रकाश प्रकट नही हो पाता। अत अन्दर के प्रसुप्त ज्ञान एव विवेक को जगाने की आवश्यकता है। जैन-दर्शन मे मोक्ष जीवन की पवित्रता का अन्तिम परिपाक, रस और लक्ष्य है। विवेक और वैराग्य की साधना करते हुए कदम-कदम पर साधक के बन्धन टूटते रहते है और मोक्ष की प्राप्ति होती रहती

है। मिथ्यात्व अविरत प्रमाद कषाय और योग आत्मा के बन्धन हैं। इनमें भी मिथ्यात्व और कषाय—ये दो ही बड़े विराट और भयंकर बन्धन हैं। किन्तु जैसे ही मिथ्यात्व टूटा कि साधक का हर कदम मोक्ष की राह पर बढ़ने लगता है। फिर जैसे जैसे कषाय क्षीण होता जाता है, वैसे-वैसे मोक्ष की मात्रा में प्रगति होती जाती है। ज्योंही बन्धन की अन्तिम कड़ी टूटी कि पूर्ण मोक्ष हुआ। विचारणीय प्रश्न यह है, कि बन्धन की सबसे पहली कड़ी कहाँ टूटती है? और उसकी अन्तिम कड़ी कहाँ टूटती है? जैन-दर्शन में जीवन-विकास की चौदह भूमिकाएँ मानी गई हैं, जिन्हें शास्त्रीय परिभाषा में गुण-स्थान कहा जाता है। चतुर्थ गुण-स्थान से बन्धन टूटने लगता है और चतुर्दश गुण-स्थान के अन्तिम क्षण में अन्तिम बन्धन भी टूट जाता है। इस प्रकार समस्त बन्धनों के टूटने का मोक्ष के अनेक अंशों का सम्पूर्ण योग-फल पूर्ण मोक्ष है। केवल अन्तिम बन्धन का टूट जाना ही मोक्ष नहीं है। क्रम से टूटते टूटते जब अन्तिम बन्धन भी टूट जाता है, तभी पूर्ण मोक्ष होता है। इसी दृष्टि को लेकर जैनाचार्यों ने जिनत्व की दशा का प्रारम्भ अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से माना है।

गणित की दृष्टि से विचार करने पर भी यही बात प्रमाणित होती है। गणित-शास्त्र के अनुसार एक के बिना दो तीन चार आदि की संख्या का अस्तित्व नहीं रहता। एक का अस्तित्व अन्य सब संख्याओं से पहले है। गणित करने पर जो अन्तिम योगफल आता है, उसमें उस अनेक एक का ही अपना अस्तित्व होता है। वस्तुतः एक से भिन्न दो आदि की संख्या काल्पनिक है। उदाहरण के लिए एक और एक के योगफल की कल्पना से दो मान लिया गया। एक की संख्या तो वास्तविक संख्या है, परन्तु दो की संख्या एक की संख्या के आधार पर खड़ी है। एक के बिना दो का कोई स्थान नहीं है। अतः वास्तविक और मूलभूत वस्तुनिष्ठ संख्या एक है। जोड़ तो केवल माया की चीज है। पूर्ण मोक्षरूप अन्तिम योगफल की अपेक्षा पहले की विकारमुक्तिरूप मोक्ष-स्थितियों की एकैक संख्या ही वास्तविक है। यह मान लेना और समझ लेना कि चौदहवें गुणस्थान की समाप्ति के बाद मोक्ष होता है, एक गलत बात है। चौथे गुण-स्थान से ही जो अलग-अलग बन्धनों के टूटने और मोक्ष प्राप्ति की जो आंशिक प्रक्रिया होती है, वास्तव में असली मोक्ष तो वही है। चौदहवें गुण-स्थान के अनन्तर का मोक्ष तो उन्हीं सबका केवल एक योगफल है।

आज के भारतीय चिन्तन मे एक कमी है, जिसका प्रभाव जैन-दर्शन पर भी पड़ा है। वह कमी क्या है? स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति को मरण के बाद मे मानना। इसका अर्थ यह है कि सुख और पवित्रता जीवन की वस्तु नही रही, मरने के बाद ही वह मिलती है। यह साधक जीवन की सबसे बडी भूल है। जीवन-शुद्धि एक नक़द धर्म है, वह उधार की वस्तु नही है। अध्यात्म-शास्त्र का कथन है, कि इन्सान की जिन्दगी के हर श्वास मे स्वर्ग और मोक्ष का आनन्द लिया जासकता है। अहता और ममता के बन्धनो से परे रहना ही वस्तुत जीवन का परम आनन्द एव परम सुख है। जीते जी जीवन में मुक्त रहना, यही अध्यात्मवादी दर्शन की विशेषता है, यही अध्यात्म-जीवन की साधना है। क्योकि हमारी साधना जीवन की साधना है, मरण की साधना नहीं। मरणोत्तरकाल मे ही यदि मोक्ष मिलता है, तो कौन बडी बात है? जीवित दशा मे ही मुक्त होना, यही कला अध्यात्मवादी दर्शन सिखाता है। जो जीवन्मुक्त होता है, वही वस्तुत विदेह-मुक्त भी हो सकता है। शरीर के छूट जाने पर ही मुक्ति होती है, यह कहना बिलकुल गलत है। यदि शरीर से छूटने मात्र को ही मुक्ति कहा जाए, तब तो एक पशु को भी मुक्ति मिल सकती है। अत देह का परित्याग ही मोक्ष नही है। देह की आसक्ति और वासना के बन्धन को छोडना ही मुक्ति है। यदि समाज मे रहते है, तो समाज से अलग हो जाना मुक्ति नही है। उसमे रहते हुए भी निर्लिप्त रहना ही सच्ची मुक्ति है। कमल कीचड मे रहता है, वही बढता और विकास पाता है, परन्तु उस पर कीचड का और जल का कुछ भी प्रभाव नही पडता। उसमे रहकर भी वह उससे सर्वथा मुक्त रहता है। यदि साधक की भी यही स्थिति हो, तो फिर किसी प्रकार की चिन्ता की आवश्यकता नही। कमल बनकर रहने की कला यदि आ गई, तो फिर किसी भी प्रकार का भय नही रहता। फिर समाज, राष्ट्र और जगत् साधक का कुछ बिगाड नही सकते। ससार मे तुम रहो, इसमे कोई बुराई की बात नही है। ससार तुम्हारे मन मे न रहने पाए, इस बात का ध्यान रखो। फिर भले ही कही भी रहो। यदि कोई कमल से कहे कि तेरा जन्म तो कीचड मे हुआ है, और तू अब भी उसी मे खडा रहता है, तो कमल उत्तर मे-यही कहेगा, कि जन्म मेरे हाथ मे नही था। यह तो सब भाग्य एव प्रारब्ध का खेल है। परन्तु आप मेरे गन्दे पैरो की ओर क्यो देखते हैं? जरा मेरे मुख की मुस्कान को देखो। मेरे आनन की

भूमि को देखो। यही मेरी अपनी विशेषता है। यह पवित्रता और अनासक्तता ही मेरा अपना सहज स्वभाव, गुण और धर्म है। यह मानव को अनासक्ति का बोध-पाठ सिखाता है।

अध्यात्म-साधक की भी वही दशा होती है जो पंक-स्थित कमल की होती है। साधक का जन्म किस देश, किस कुल और किस जाति में होता है, यह नहीं देखा जाता। देखा जाता है, साधक का विचार और आचार। प्रारब्धवश वह दुःख, सुख और शरीर आदि के बन्धनों के बीच में खड़ा रहता है। परन्तु वह सब कुछ होते हुए भी साधक अपने आपको वासना एवं भोग के बन्धनों से अलग रखता है। भोगों से अनासक्ति ही उसके जीवन की विशेषता एवं पवित्रता होती है। तीर्थंकर एवं गणधर आदि अन्य महापुरुष भी इस जगत में रहते हैं, किन्तु वे जल में कमल की भाँति सदा निर्लिप्त होकर। साधक के जीवन का आदर्श है, कि वह शरीर में रहकर भी शरीर में नहीं रहता है। इसका अभिप्राय यही है, कि इस शरीर की सत्ता रहने पर भी उसके प्रति अहंता और ममता की मन में जो सत्ता रहती है, वह नहीं रहने पाती। देह हो और देह की आसक्ति न हो, देह हो और देह की ममता न हो तथा देह हो और देह की अहंता न हो, यह एक बहुत बड़ी बात है। जब तक साधक के जीवन में इस प्रकार की उदात्त एवं निर्मल भावना नहीं आती है, तब तक वह भव-बन्धनों से कैसे छूट सकता है? अध्यात्म-साधक के अध्यात्म-जीवन की सबसे उच्च दशा वही है, जहाँ पहुँचकर देह रहते हुए भी देह का ममत्व भाव छूट जाता है। जैन-दर्शन का कथन है कि—इन्द्रिय और शरीर से संघर्ष मत करो। संघर्ष करो मन से। और मन से भी क्या, मन के विकारों से। मन की वासना से और मन की कामना से युद्ध करो। यही अन्धकार से प्रकाश में आने का मार्ग है, असत्य से सत्य में आने का पथ है और यही मृत्यु से अमरता की ओर जाने की दिशा है। साधक के जीवन में से एक-एक बन्धन-हेतु का अभाव होते-होते अन्त में पूर्ण विमुक्ति की उपलब्धि होती है। चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व छूट जाता है, पंचम एवं षष्ठ गुणस्थान में अविरति छूट जाता है, सप्तम गुणस्थान में प्रमाद छूट जाता है, दशम गुणस्थान के अन्तिम क्षण में कषाय छूट जाता है, और तेरहवें गुणस्थान के समाप्ति काल पर चौदहवें गुणस्थान में योग भी छूट जाता है। अन्तर्मुहूर्त काल तक

जड-प्रकृति की सत्ता होने पर भी उसमे ज्ञान एव चेतना नहीं। ज्ञान एव चेतना शून्य होने के कारण, पुद्गल को अपनी सत्ता एव स्थिति का वोध नही हो पाता। जब उसे स्वय अपनी सत्ता एव स्थिति ही वोध नही है, तब उसे अपने से भिन्न दूसरे की स्थिति और स्व का वोध कैसे हो सकता है? जड प्रकृति सत्ताशील एव क्रियाशील होकर भी ज्ञान-शून्य एव चेतना-विकल होने के कारण, अपने स्वरूप को जान नही सकती। इसका अर्थ यह है कि वह द्रष्टा नही वन सकती, केवल दृश्य ही रहती है। उपभोक्ता नही वन सकती, केवल उपभोग्य ही रहती है। द्रष्टा और उपभोक्ता वही वन सकता है, जिसमे ज्ञान एव चेतना का प्रकाश हो। जिसमे ज्ञान एव चेतना का त्रिकालावाधित दिव्य प्रकाश होता है, उसे दर्शन-शास्त्र मे जीव, चेतन एव आत्मा कहा जाता है। प्रकृति जड है, अत उसमे अशमात्र भी चेतना का अस्तित्व नही है।

प्रकृति-जगत के वाद एक दूसरा जगत है, जिसे चैतन्य-जगत कहा जाता है। इस चैतन्य जगत मे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और स्थूल-से-स्थूल प्राणी विद्यमान हैं। गन्दी नाली के कीडे से लेकर सुरलोक के इन्द्र, जिसके भौतिक सुख का कोई आर-पार नही है, सभी चैतन्य जगत् मे समाविष्ट हैं। मैंने अभी आपसे कहा था कि जड के पास सत्ता तो है, पर चेतना नही है। इसके विपरीत चैतन्य जगत मे सत्ता के अतिरिक्त चेतना भी है। उसका अस्तित्व आज से नही, अनन्त अतीत से रहा है और अनन्त अनागत तक रहेगा। वह केवल कल्पना-लोक एव स्वप्नलोक की वस्तु नही है। वह अखण्ड सत् होने के साथ-साथ चेतन भी है। भारतीय तत्व-चिन्तन का यह एक मूल केन्द्र है। भारत के विचारक और चिन्तकों ने जीवन के इसी मूल केन्द्र को जानने का और समझने का प्रयत्न किया है। क्योकि इसी मूलकेन्द्र को पकडने से मानवीय जीवन आलोकमय वनता है तथा परम जीवन का भव्य द्वार खुल जाता है। यदि इस चैतन्य देव के स्वरूप को नही समझा, नही जाना, तो समस्त तपस्या और समग्र साधना निष्फल एव निष्प्राण हो जायगी। पवित्र जीवन का भव्य द्वार कभी खुल न सकेगा। अत अखण्ड चैतन्य सत्य का वोध होना आवश्यक है। चेतन जगत के पास सत्ता एव वोध दोनो ही हैं, जिससे उसे स्वय अपना भी ज्ञान होता है और दूसरो का भी। जीव अपनी ज्ञान-शक्ति के द्वारा अपने स्वय के उत्थान और पतन को भी देख सकता है तथा दूसरे जीवो के विकास और ह्रास को भी वह देख स

का प्रत्येक चेतन अपने स्वयंसिद्ध अध्यात्म-राज्य के सिंहासन पर बैठने का अधिकारी है, उसे भिखारी समझना भूल है। भिखारी हर चीज को माँगता है और साधक प्रत्येक वस्तु को अपने अन्दर से ही प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मैं आपसे कहता हूँ कि प्रत्येक साधक अधिकारी है, वह भिखारी नहीं है। अधिकारी का अर्थ है—अपनी सत्ता पर विश्वास करने वाला और भिखारी का अर्थ है—अपनी सत्ता पर विश्वास न करके दूसरे की दया और करुणा पर अपना जीवन व्यतीत करने वाला। जैन-दर्शन का तत्त्व-चिन्तन उस ज्योति प्रकाश और परमात्म-तत्त्व की खोज कहीं बाहर नहीं अपने अन्दर ही करता है। वह कहता है कि 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। 'तत्त्वमसि' का अर्थ भी यही है कि आत्मा केवल आत्मा ही नहीं है, बल्कि वह स्वयं परमात्मा है, परब्रह्म है और ईश्वर है। मात्र आवश्यकता है—अपने को जागृत करने की और आवरण को दूर फेंक देने की।

भारत के कुछ दर्शन केवल प्रकृति की व्याख्या करते हैं, पुद्गल के स्वरूप का ही वे प्रतिपादन करते हैं। भौतिकवादी दर्शन पुद्गल और प्रकृति की सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या करता है, किन्तु पुद्गल और प्रकृति से परे आत्म-तत्त्व तक उसकी पहुँच नहीं है। भौतिकवादी दार्शनिक पुद्गल और प्रकृति के सम्बन्ध में बहुत कुछ कह सकता है और बहुत कुछ लिख भी सकता है, परन्तु वह स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ भी जान नहीं पाता, कुछ भी कह नहीं पाता और कुछ भी लिख नहीं पाता। वह अपने को भी प्रकृति का ही परिणाम मानता है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता की ओर उसका लक्ष्य नहीं जाता। इसके विपरीत अध्यात्मवादी दर्शन प्रकृति के व्याख्यान में न उलझकर आत्मा की बात कहता है। वह कहता है कि आत्मा स्वयं क्या है और वह क्या होना चाहता है? अध्यात्मवादी दार्शनिक यह सोचता है और विश्वास करता है कि मेरी यह आत्मा यद्यपि मूल-स्वरूप की दृष्टि से शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन एवं निर्विकार है, फिर भी जब तक इसके साथ कर्म का संयोग है, जब तक इस पर माया एवं अविद्या का आवरण है, तभी तक यह विविध बन्धनों में बद्ध है। पर, जैसे ही यह आत्मा निर्मल हुई कि [illegible] होकर समस्त प्रकार के बन्धनों से सदा के लिए विमुक्त हो जाती है, परमात्मा बन जाती है। अध्यात्मवादी दर्शन [illegible] भी शुद्ध [illegible] स्थिर करता है [illegible] कहा [illegible] स्वरूप में [illegible]

कि वर्तमान मे दृष्टिगोचर होती है। यह तो केवल व्यवहार नय है। शुद्ध निश्चय नय से तो प्रत्येक आत्मा ज्ञान-स्वरूप और परमात्म-स्वरूप है। निश्चय नय से ससारस्थ आत्मा मे और सिद्ध आत्मा मे अणु मात्र भी भेद नही है। जो कुछ भेद है वह औपाधिक है, कर्म-प्रकृति के सयोग से है। अत प्रत्येक आत्मा को यह विश्वास करना चाहिए कि भले ही आज मे वद्ध-दशा मे हूँ, किन्तु एक दिन मैं मुक्त-दशा को भी प्राप्त कर सकता हू, क्योकि आत्मा चैतन्य स्वरूप है और उस चैतन्य स्वरूप आत्मा मे अनन्त-अनन्त शक्ति है। आवश्यकता शक्ति की उत्पत्ति की नही, अपितु शक्ति की अभिव्यक्ति की है।

जब भी कोई रोती एव विलखती आत्मा सद्गुरु के समक्ष हताश और निराश होकर खडी हुई, तब भारत के प्रत्येक सद्गुरु ने उसके आंसुओ को पोछकर उसे स्वस्वरूप की शक्ति को जागृत करने की दिशा मे अमोघ सान्त्वना एव प्रेरणा दी है। साधना के मार्ग पर लडखडाते पगु मन को केवल वाह्य क्रियाकलापरूप लाठी का सहारा ही नही दिया गया, वल्कि इधर-उधर की पराश्रित भावना की वैसाखी छुडा कर उसमे आध्यात्म-मार्ग पर दौड लगाने की एक अद्भुत शक्ति भी जागृत कर दी। सद्गुरु ने उस दीन-हीन आत्मा की प्रसुप्त शक्ति को जागृत करके उसे भिखारी से सम्राट् वना दिया। उस दीन एव हीन आत्मा को, जो अपने अन्दर अनन्त शक्ति होते हुए भी विलाप करता था, अध्यात्म-भाव की मधुर प्रेरणा देकर इतना अधिक शक्ति-सम्पन्न वना दिया, कि वह स्वय ही सन्मार्ग पर नही अग्रसर हो गया, वल्कि, दूसरो को भी सन्मार्ग पर लाने के प्रयत्न मे सफल होने लगा।

राजा प्रदेशी की जीवन-गाथा को सुनकर ग्लानि भी होती है और आश्चर्य भी। ग्लानि इस अर्थ मे कि जिस समय राजा प्रदेशी की शास्त्र-अकित जीवन-गाथा को पढते एव सुनते है, तब उसका वह रौद्र रूप हमारी आँखो के सामने आ खडा होता है, जिसमे तलवार लेकर वह प्राणियो का वध इतनी निर्दयता के साथ करता है कि कुहनी तक दोनो हाथ खून से रग जाते हैं, फिर भी वह प्राणि-वध से विरत नही होता। उसने अपने जीवन मे अगणित पशु-पक्षी और मनुष्यो का वध किया। दया और करुणा क्या है, यह कभी स्वप्न मे भी उसने समझने का प्रयत्न नही किया। किन्तु सद्गुरु केशीकुमार श्रमण की सगति से एव उनके सानिध्य से उसी क्रूर प्रदेशी मे इतना वडा परिवर्तन आया, कि जिसे सुनकर हम सवको आश्चर्य होता है। क्रूरता एव निर्दयता की

जिसने स्वयं को जाना वही दूसरों को जान सकता है। जिसने [illegible] को सँभाला वही दूसरों को सँभाल सकता है। जिसके पास [illegible] प्रकाश है, वही दूसरों को भी प्रकाश दिखला सकता है। भला जो [illegible] अन्धा है, जिसके पास अपनी स्वयं की दृष्टि नहीं है, वह दूसरे [illegible] दृष्टि कैसे दे सकता है? चेतन के पास स्वयं अपना प्रकाश है, स्वयं अपनी दृष्टि है और स्वयं अपना ज्ञान है। चेतन में जो ज्ञान शक्ति है वह कहीं बाहर से नहीं आई, स्वयं उसकी अपनी ही है।

मैं आपसे जड़ और चेतन की बात कह रहा था। मैंने जड़ और चेतन के स्वरूप को संक्षेप में बतलाने का प्रयत्न किया है। किन्तु याद रखिए—इस दृश्यमान जगत में एक सत्ता और है, जिसे हम परम सत्ता कहते हैं। इस जगत में एक चेतन और है, जिसे हम परम चेतन कहते हैं। यह परम सत्ता एवं परम चेतन क्या वस्तु है? उसे समझने एवं जानने की अभिलाषा एवं जिज्ञासा आप में से प्रत्येक व्यक्ति के मन में उठ सकती है, और वह उठनी भी चाहिए। उस परमसत्ता एवं परम चेतन को भारतीय दर्शन में विविध संज्ञाओं से सम्बोधित किया गया है—भगवान्, ईश्वर और परमात्मा आदि। चैतन्य के साथ परम चैतन्य की सत्ता है। चैतन्य के आगे इस परम चैतन्य की सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। भारतीय दर्शन के अनुसार मानवीय चैतन्य का लक्ष्य संसार की अँधेरी गलियों में भटकना नहीं है। उसका लक्ष्य है—चैतन्य से परम चैतन्य होना।

परम चैतन्य तत्त्व में सत्ता और चेतना के अतिरिक्त आनन्द भी माना गया है। संसारी जीव में सत्ता एवं चेतना तो है, किन्तु आनन्द नहीं है। आनन्द नहीं है, इसका इतना ही अर्थ है, कि उसका सुख सहज निर्विकार एवं स्थायी नहीं है। स्थायी सुख एवं स्थायी आनन्द केवल परम चैतन्य में ही रहता है। हम जिस प्रत्यक्ष जगत में रह रहे हैं, वह भी एक सत्ता है और उससे परे भी एक विराट् परम सत्ता है, जिसके विषय में पर्याप्त तर्क वितर्क विवाद और संघर्ष चला करता [illegible]। परन्तु वह विराट् परम चैतन्य या परम सत्ता कहीं अलग नहीं [illegible] हम पर शासन करती हो और जड़ एवं चैतन्य विश्व को मन [illegible] देती हो। जैन दर्शन का सत्य यह नहीं है कि हम किसी [illegible] के हाथ की कठपुतली हैं। उस कठपुतली के अनुसार [illegible] सोचते और विचारते हों या संकल्प एवं विकल्प करते हों। [illegible] भी किसी भी बात में जैन दर्शन की श्रद्धा और भक्ति नहीं

...न का अपना विचार यही है कि पाप और पुण्य के अनुसार
...फल भोग करना पड़ता है। फिर भले ही वह ससार का कोई
...शाली हो अथवा असाधारण व्यक्ति हो। किन्तु ससार-चक्र
...भी प्राणी ऐसा नही है, जो स्वतन्त्र रूप से अपने कर्म का कर्ता
...क्ता न हो। जब म आपसे परम चैतन्य और परम आत्मा की
...रता है, तब आप इसका अर्थ यह न समझ ले कि वह परम
...और परम-आत्मा तथाकथित विश्वनियन्ता ईश्वर के रूप मे
...व्यक्ति विशेष है और वह कही अन्यत्र रहता है। ईश्वर और
...मा कही अन्यत्र नही, तुम्हारे ही पास मे है। तुम्हारे ही पास मे
...वह तुम्हारे अन्दर ही है। और अन्दर की भी बात गलत है, तुम
...ही ईश्वर हो, और परमात्मा हो। किन्तु आपका वर्तमान रूप
...स प्रकार का है कि इसमे आपकी चैतन्य-ज्योति की चमक-दमक
...रूप अभिव्यक्त नही हो रही है। जब तक राग द्वेष का, मोह माया
...आवरण विद्यमान है, तब तक वह विशुद्ध परम तत्व पूर्णतया व्यक्त
...नही पाता। किन्तु आप इस बात पर विश्वास कीजिए, कि आप
...र ही ईश्वर है और स्वय ही परमात्मा है। आप स्वय ही प्रकाश-
...उस सूर्य के समान है, जो काली घटाओ के बीच घिरा रह कर भी
...भा एव प्रकाश के रूप मे अपनी अभिव्यक्ति किसी न किसी अश मे
...रता रहता ही है। सूर्य घटाओ से घिर जाता है, यह सत्य है। किन्तु
...सका अर्थ यह नही है, कि उसकी प्रभा और प्रकाश सर्वथा विलुप्त हो
...जाते हो। जीव के साथ कर्म का, माया का, अविद्या का आवरण रहता
है परन्तु इसका अर्थ यह नही है, कि उस आवरण से उसका विशुद्ध
स्वरूप सर्वथा ही विलुप्त हो जाता हो। आप अपने अन्दर इस सकल्प
को वार-वार दुहराइए कि मैं ज्योति-रूप हूँ, मैं अनन्त हूँ, मैं शाश्वत
हूँ और मैं एक अजर अमर तत्व हूँ। ससार के यह भव-बन्धन तभी तक
है, जब तक मैं अपने विशुद्ध स्वरूप को पहचान नही लेता हूँ।

जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा मे परमात्म-ज्योति विद्यमान है। प्रत्येक चेतन मे परम चेतन विराजमान है। चेतन और परमचेतन दो नही है, एक है। अशुद्ध से शुद्ध होने पर चेतन ही परम चेतन हो जाता है। कोई भी चेतन, परम चेतन की ज्योति मे मूलत शून्य या रिक्त नही है। वह दीन, हीन एव भिखारी नही है। यह मत समझिए कि कर्म-आवरण के कारण जो आत्मा आज ससार मे भटक रहा है, वह कभी ससार के बन्धनो से मुक्त न हो सकेगा। इस विराट विश्व

का प्रत्येक चेतन अपने स्वसिद्ध अध्यात्म राज्य के सिंहासन पर बैठने का अधिकारी है, उसे भिखारी समझना भूल है। भिखारी हर चीज को माँगता है और साधक प्रत्येक वस्तु को अपने अन्दर से ही प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मैं आपसे कहता हूँ कि प्रत्येक साधक अधिकारी है, वह भिखारी नहीं है। अधिकारी का अर्थ है—अपनी सत्ता पर विश्वास करने वाला और भिखारी का अर्थ है—अपनी सत्ता पर विश्वास न करके दूसरे की दया और करुणा पर अपना जीवन व्यतीत करने वाला। जैन-दर्शन का तत्व-चिन्तन उस ज्योति प्रकाश और परमात्म-तत्व की खोज कहीं बाहर नहीं, अपने अन्दर ही करता है। वह कहता है कि 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। 'तत्वमसि' का अर्थ भी यही है कि आत्मा केवल आत्मा ही नहीं है, बल्कि वह स्वयं परमात्मा है, परब्रह्म है और ईश्वर है। मात्र आवश्यकता है—अपने को जागृत करने की और आवरण को दूर फेंक देने की।

भारत के कुछ दर्शन केवल प्रकृति की व्याख्या करते हैं, पुद्गल के स्वरूप का ही वे प्रतिपादन करते हैं। भौतिकवादी पुद्गल और प्रकृति की सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या करता है, किन्तु पुद्गल और प्रकृति से परे आत्म-तत्व तक उसकी पहुँच नहीं है। भौतिकवादी दार्शनिक पुद्गल और प्रकृति के सम्बन्ध में बहुत कुछ कह सकता है और बहुत कुछ लिख भी सकता है, परन्तु वह स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ भी जान नहीं पाता, कुछ भी कह नहीं पाता और कुछ भी लिख नहीं पाता। वह अपने को भी प्रकृति का ही परिणाम मानता है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता की ओर उसका लक्ष्य नहीं जाता। इसके विपरीत अध्यात्मवादी दर्शन प्रकृति के व्याख्यान में न उलझकर आत्मा की बात कहता है। वह कहता है कि आत्मा स्वयं क्या है और वह क्या होना चाहता है? अध्यात्मवादी दार्शनिक यह सोचता है और विश्वास करता है कि मेरी यह आत्मा यद्यपि मूल-स्वरूप की दृष्टि से शुद्ध बुद्ध निरञ्जन एवं निर्विकार है, फिर भी जब तक इसके साथ कर्म का संयोग है, तब तक इस पर माया एवं अविद्या का आवरण है, तभी तक यह विविध बन्धनों में बद्ध है। पर, जैसे ही यह आत्मा निर्मल हुई कि शुद्ध-बुद्ध होकर समस्त प्रकार के बन्धनों से सदा के लिए विमुक्त हो जाती है, परमात्मा बन जाती है। अध्यात्मवादी दर्शन आत्मा की शुद्ध अवस्था की ओर अपने लक्ष्य को स्थिर करता है। जैन-दर्शन में कहा है कि विश्व की प्रत्येक आत्मा अपने मूल स्वरूप में वैसी नहीं है, जैसी

कि वर्तमान मे दृष्टिगोचर होती है। यह तो केवल व्यवहार नय है। शुद्ध निश्चय नय से तो प्रत्येक आत्मा ज्ञान-स्वरूप और परमात्म-स्वरूप है। निश्चय नय से ससारस्थ आत्मा मे और सिद्ध आत्मा मे अणु मात्र भी भेद नही है। जो कुछ भेद है वह औपाधिक है, कर्म-प्रकृति के सयोग से है। अत प्रत्येक आत्मा को यह विश्वास करना चाहिए कि भले ही आज मे वद्ध-दशा मे हूँ, किन्तु एक दिन मैं मुक्त-दशा को भी प्राप्त कर सकता हूं, क्योकि आत्मा चैतन्य स्वरूप है और उस चैतन्य स्वरूप आत्मा मे अनन्त-अनन्त शक्ति है। आवश्यकता शक्ति की उत्पत्ति की नही, अपितु शक्ति की अभिव्यक्ति की है।

जब भी कोई रोती एव विलखती आत्मा सद्‌गुरु के समक्ष हताश और निराश होकर खडी हुई, तव भारत के प्रत्येक सद्‌गुरु ने उसके आँसुओ को पोछकर उसे स्वस्वरूप की शक्ति को जागृत करने की दिशा मे अमोघ सान्त्वना एव प्रेरणा दी है। साधना के मार्ग पर लडखडाते पगु मन को केवल वाह्य क्रियाकलापरूप लाठी का सहारा ही नही दिया गया, वल्कि इधर-उधर की पराश्रित भावना की वैसाखी छुडा कर उसमे आध्यात्म-मार्ग पर दौड लगाने की एक अद्‌भुत शक्ति भी जागृत कर दी। सद्‌गुरु ने उस दीन-हीन आत्मा की प्रसुप्त शक्ति को जागृत करके उसे भिखारी से सम्राट् वना दिया। उस दीन एव हीन आत्मा को, जो अपने अन्दर अनन्त शक्ति होते हुए भी विलाप करता था, अध्यात्म-भाव की मधुर प्रेरणा देकर इतना अधिक शक्ति-सम्पन्न वना दिया, कि वह स्वय ही सन्मार्ग पर नही अग्रसर हो गया, वल्कि, दूसरो को भी सन्मार्ग पर लाने के प्रयत्न मे सफल होने लगा।

राजा प्रदेशी की जीवन-गाथा को सुनकर ग्लानि भी होती है और आश्चर्य भी। ग्लानि इस अर्थ मे कि जिस समय राजा प्रदेशी की शास्त्र-अकित जीवन-गाथा को पढते एव सुनते हैं, तव उसका वह रौद्र रूप हमारी आँखो के सामने आ खडा होता है, जिसमे तलवार लेकर वह प्राणियो का वध इतनी निर्दयता के साथ करता है कि कुहनी तक दोनो हाथ खून से रग जाते हैं, फिर भी वह प्राणि-वध मे विरत नही होता। उसने अपने जीवन मे अगणित पशु-पक्षी और मनुष्यो का वध किया। दया और करुणा क्या है, यह कभी स्वप्न मे भी उसने समझने का प्रयत्न नही किया। किन्तु सद्‌गुरु केशीकुमार श्रमण की सगति से एव उनके सानिध्य से उसी क्रूर प्रदेशी मे इतना वडा परिवर्तन आया, कि जिसे सुनकर हम सबको आश्चर्य होता है। क्रूरता एव निर्दयता की

चरम सीमा पर पहुँच कर राजा प्रदेशी दया और करुणा के रस से इतना आप्लावित हो गया था कि स्वयं उसकी अपनी रानी सूर्यकान्ता ने भोजन में विष दे दिया और राजा को उसके षड्यन्त्र का पता भी चल गया, फिर भी वह शान्त एवं प्रसन्न रहा। उसने अपने मन में खिन्नता नहीं आने दी। क्रोध और द्वेष की एक सूक्ष्म रेखा भी उसके स्वच्छ एवं पूत मन पर अंकित नहीं हो सकी। मैं पूछता हूँ आपसे कि राजा प्रदेशी में इतना महान् अन्तर कैसे आ गया और कहाँ से आ गया? निश्चय ही यह परिवर्तन कहीं बाहर से नहीं, उसके अन्दर में ही आया था। उसकी मोह-सुप्त आत्मा जो अभी तक प्रसुप्त थी, जागृत होकर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो गई। क्रूरता का भाव निर्मल प्रेम और सद्भाव में परिणत हो गया। एक प्रदेशी ही क्या, जीवन का यह अद्भुत तेज प्रत्येक आत्मा में छुपा हुआ है। अध्यात्म साधना का यही एक मात्र लक्ष्य है, कि उस तेज को ही प्रकट किया जाए।

किसी भी मनुष्य का आत्मभाव प्रबुद्ध भाव कब आ जाएगा? सर्वसाधारण की दृष्टि में इसकी कोई तिथि निश्चित नहीं होती। आत्मा में परिवर्तन की प्रक्रिया सतत चालू रहती है। क्रूर से क्रूर आत्मा कभी सहसा दयालीन बन जाता है और कभी-कभी दयाशील आत्मा अति क्रूर भी बन सकता है। भारत के प्राचीन इतिहास में महाकवि वाल्मीकि का नाम सुना होगा। वह पहले कौन था और कैसा था, यह भी आपने सुना होगा। उसका पहला नाम रत्नाकर था और उसका पेशा लोगों को लूटना एवं मारना था। धन के लिए न जाने उसने अपने जीवन में कितनी हत्याएँ कीं। उसके पापों की परिगणना नहीं की जा सकती। वह अपने जीवन की अधम-से-अधम स्थिति में पहुँच चुका था। मैं पाप कर रहा हूँ और यह किसके लिए कर रहा हूँ, इस बात को समझने का भी उसने कभी प्रयत्न नहीं किया। सम्भवतः लूट और मार के अतिरिक्त अन्य किसी भी कार्य को वह नहीं जानता था। संसार में धन से बढ़कर श्रेष्ठ वस्तु उसके लिए दूसरी कोई नहीं थी। किन्तु नारद ऋषि की संगति से जब उसका दृष्टिकोण बदला और उसने यह समझा कि अभी तक मैं अन्धकार में ही डूबा हुआ था, मुझे जीवन का प्रकाश नहीं मिला। इस मोह माया के गहन अन्धकार में भटकते हुए मैंने किस

भावना जगी। नारद ऋषि का यह बोध-सूत्र उसके जीवन के कण-कण मे रम गया, कि जिस परिजन और परिवार के लिए मै इतना पाप कर चुका हूँ, क्या मेरा वह परिवार और उसका एक भी व्यक्ति उस समय मेरी सहायता कर सकेगा, जब कि मैं अपने कृत कर्मो का फल भोगूँगा। उसके अन्दर से आवाज आई, नहीं। जो पाप तूने स्वय किया है, उसका अच्छा या बुरा फल भी, तुझे स्वय को ही भोगना है। रत्नाकर को इस घटना ने महर्षि वाल्मीकि बना दिया।

भारतीय दर्शन कहता है कि ससार की कोई भी आत्मा, भले ही वह अपने जीवन के कितने ही नीचे स्तर पर क्यो न हो, भूल कर भी उससे घृणा और द्वेष मत करो। क्योकि न जाने कब उस आत्मा मे परमात्म-भाव की जागृति हो जाए। प्रत्येक आत्मा अध्यात्म-गुणो का अक्षय एव अनन्त अमृत कूप है। जिसका न कभी अन्त हुआ और न कभी अन्त होगा। विवेक ज्योति प्राप्त हो जाने पर प्रत्येक आत्मा अपने उस परमात्म रूप अमृत रस का आस्वादन करने लगता है। आत्मा का यह शुद्ध स्वरूप अमृत कही बाहर नही, स्वय उसके अन्दर ही है। वह शुद्ध स्वरूप कही दूर नही है, अपने समीप ही है। समीप भी क्या ? जो है वह स्वय ही है। बात इतनी ही है, जो गलत रास्ता पकड लिया है, उसे छोडकर अच्छी एव सच्च राह पर आना है। जीवन की गति एव प्रगति को रोकना नही है, बल्कि, उसे अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की ओर मोड देना है।

जिस कूप मे जल का एक बिन्दु भी न हो, जो सर्वथा सूखा हो, उसमे आप चाहे कितनी ही बार डोल डाले, किन्तु उसमे से जल की एक बूद भी नही मिल सकती। जब स्वय कूप मे जल का एक भी बिन्दु नहीं है, तब डोल मे जल कहाँ से आएगा ? इसके विपरीत स्वच्छ एव निर्मल जल मे परिपूर्ण कूप मे जब कभी भी आप डोल डालेंगे, तब वह स्वच्छ, निर्मल एव शीतल जल से लबालब भरा हुआ बाहर आ जाएगा, जिसे पीकर आपकी चिर तृषा शान्त हो जायगी और आप एक प्रकार से विलक्षण ताजगी का अनुभव करेंगे। जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक चेतन एव प्रत्येक आत्मा अक्षय एव अनन्तकूप के समान है, जिसमे शुद्ध अमृत रस का अभाव नही है, प्रत्येक आत्मा मे अनन्त-अनन्त गुण हैं। वह कभी गुणो से रिक्त एव शून्य नही हो सकता। आत्मा उस धन-कुबेर के पुत्र के समान है, जिसके पास कभी धन की कमी नही होती, भले ही वह अपने उस अक्षय भडार का दुरुपयोग ही क्यो

न कर रहा हो। शक्ति का अक्षय धन तो आपके पास है, परन्तु उसे दुरुपयोग से हटा कर सदुपयोग मे लगाना है। यदि इतना कर सके तो आपके जीवन का समस्त दुःख सुख मे बदल जाएगा अशान्ति शान्ति मे बदल जाएगी और विषमता समता मे बदल जाएगी। जीवन का हाहाकार जय-जयकार मे परिणत हो जायगा। फिर जीवन मे किसी भी प्रकार के द्वन्द्व संघर्ष और प्रतिकूल भाव कभी नही रहेंगे।

मैं प्रवचन के प्रारम्भ मे ही आपसे कह चुका हूँ कि संसारी आत्मा के पास सत्ता भी है और चेतना भी है। यदि उसके पास कुछ कमी है, तो स्थायी सुख एवं स्थायी आनन्द की है। आत्मा को परमात्मा बनने के लिए यदि किसी वस्तु की आवश्यकता है, तो वह है उसका अक्षय एवं अनन्त आनन्द। अक्षय आनन्द की उपलब्धि के लिए आत्मा मे निरन्तर उत्कण्ठा रहती है। वह सदा आनन्द और सुख की खोज करता है। संसार के प्रत्येक प्राणी को सुख की चाह क्यो रहती है? इसलिए कि सुख और आनन्द आत्मा का निज रूप है। चींटी से लेकर हाथी तक और गन्दी नाली के कीट से लेकर सुरलोक मे रहने वाले इन्द्र तक सभी सुख चाहते है, आनन्द चाहते है। विश्व की छोटी-से छोटी चेतना भी सुख चाहती है। भले ही उस सुख को वह अपनी भाषा मे अभिव्यक्त न कर सके। और यह भी सम्भव है कि सबकी सुख की कल्पना एक जैसी न हो। किन्तु यह निश्चित है कि सबके जीवन का ध्येय सुख प्राप्ति है। सुख कहाँ मिलेगा कैसे मिलेगा? यह तथ्य भी सबकी समझ मे एक जैसा नही है। किन्तु सचेतन जीवन मे कभी भी सुख की अभिलाषा का अभाव नही हो सकता यह ध्रुव सत्य है। सुख की अभिलाषा तो सभी को है, किन्तु उसे प्राप्त करने का प्रयत्न और वह भी उचित प्रयत्न कितने करते है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। जो उचित एवं सही प्रयत्न करेगा वह एक-न-एक दिन अवश्य ही सुख पाएगा इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही है। सुख की अभिलाषा प्रत्येक मे होने पर भी वह सुख कहाँ मिलेगा इस तथ्य को विरला ही समझ पाता है। निश्चय ही उस अनन्त एवं अक्षय सुख का केन्द्र हमारी स्वयं की आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त विश्व के किसी भी बाह्य पदार्थ मे सुख की परिकल्पना करना एक भयंकर भ्रम है। जिस आत्मा ने अपने अन्दर मे—अपने स्वरूप मे ही रहकर अक्षय आनन्द का अनुसंधान कर लिया उसे अधिगत कर लिया दर्शन की भाषा मे वह आत्मा सच्चिदानन्द बन जाता है। सत् और चित्

तो उसके पास व्यक्तरूप मे पहले भी थे, किन्तु आनन्द के व्यक्तरूप की कमी थी। उसकी पूर्ति होते ही, आनन्द की अभिव्यक्ति होते ही वह सच्चिदानन्द बन गया, जीव से ईश्वर बन गया, आत्मा से परमात्मा बन गया, भक्त से भगवान बन गया और उपासक से उपास्य बन गया। यही भारतीय दर्शन का मर्म है। इसी मर्म को प्राप्त करने के लिए साधक आध्यात्म साधना करता है।

भारत के अध्यात्म-दर्शन मे स्पष्ट रूप से यह बतलाया गया है कि जीवन के इस चरम लक्ष्य को कोई भी साधक अपनी साधना के द्वारा प्राप्त कर सकता है। भले ही वह साधक गृहस्थ हो अथवा भिक्षु हो। पुरुष हो अथवा नारी हो। बाल हो अथवा वृद्ध हो। भारत का हो अथवा भारत के बाहर का हो। जाति, देश और काल की सीमाएँ शक्ति-पुञ्ज आत्म तत्व को अपने मे आबद्ध नही कर सकती। विश्व का प्रत्येक नागरिक एव व्यक्ति राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध बन सकता है। किन्तु जीवन की इस ऊँचाई को पार करने की उसमे जो क्षमता और योग्यता है, तदनुकूल प्रयत्न भी होना चाहिए। भारतीय सस्कृति मे महापुरुषो के उच्च एव पवित्र जीवन की पूजा एव प्रतिष्ठा तो की गई, किन्तु उसे कभी अप्राप्य नही बताया गया। जो अप्राप्य है, अलभ्य है, भारतीय सस्कृति उसे अपना आदर्श नही मान सकती। वह आदर्श उसी को मानती है—जो प्राप्य है, प्राप्त किया जा सकता है। यह बात अलग है कि उस आदर्श को प्राप्त करने के लिए कितना प्रयत्न करना पडता है, कितनी साधना करनी पडती है। भारतीय दर्शन यथार्थ और आदर्श मे समन्वय करके चलता है। भारत का प्रत्येक नागरिक यह चाहता है, कि मेरा पुत्र राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध बने तथा मेरी पुत्री ब्राह्मी, सुन्दरी, सीता और द्रौपदी बने। जीवन का यह आदर्श ऐसा नही है, जिसे प्राप्त न किया जा सके। भारतीय जीवन की यह एक विशेषता है कि वह अपनी सतान का नाम भी महापुरुषो के नाम पर रखती है। भारत के घरो के कितने ही आगन ऐसे है—जिनमे राम, कृष्ण, शकर, महावीर और गौतम खेलते हैं। सीता, द्रौपदी, पार्वती और त्रिशला भी कम नही हैं। इसके पीछे एक ध्येय है और वह यह कि जैसा तुम्हारा नाम है वैसे ही तुम बन सकते हो। ये नाम केवल आदर्श नही हैं, यथार्थ है। हाँ तो, एक साधक अपने जीवन मे एक आदर्शवादी दृष्टिकोण को लेकर चलता है, किन्तु उसका वह आदर्श केवल आदर्श ही नही है, जीवन के धरातल पर

उतरने वाला एक यथार्थवाद है। आदर्श को यथार्थ में बदलने की और यथार्थ को आदर्श में बदलने की कला का यहाँ चरम विकास हुआ है। भारतीय संस्कृति का यह एक स्वस्थ संतुलित सुन्दर एवं मधुर सिद्धान्त रहा है कि जीवन को शान्त एवं मधुर बनाने के लिए विचार को आचार में बदला जाए और आचार को विचार में बदला जाए। भारतीय दर्शन का आदर्श आत्मा के सम्बन्ध में सच्चिदानन्द रहा है। जहाँ सत् अर्थात् सत्ता, चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द अर्थात् सुख तीनों की स्थिति चरम सीमा पर पहुँच जाती है, उसी अवस्था को यहाँ परमात्म भाव कहा गया है। उसकी प्राप्ति के बाद अन्य कुछ प्राप्तव्य नहीं रहता। इसकी साधना कर लेने के बाद अन्य कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। आप ही विचार कीजिए—जब अनन्त आनन्द मिल गया, अक्षय सुख मिल गया, फिर अब क्या पाना शेष रह गया? कुछ भी तो शेष नहीं बचा, जिसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया जाए एवं साधना की जाए। भारतीय दर्शन में इसी को मोक्ष कहा गया है, इसी को मुक्ति कहा गया है और इसी को मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। एक बात याद रखिए—जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का अनन्त आनन्द सत् है, असत् नहीं। वह केवल दुःखाभावरूप तुच्छ अभाव नहीं है। अपितु अनन्त काल से विद्यमान चले आ रहे आनन्द का शुद्ध रूप है। जब आत्मा स्वयं सत् है, तो उसका आनन्द असत् कैसे हो सकता है? जब आत्मा स्वयं सत् है, तो उसका चित् (ज्ञान) असत् कैसे हो सकता है? आत्मा में सत्, चित् और आनन्द शाश्वत हैं, नित्य हैं, इनका कभी अभाव नहीं होता।

प्रश्न किया जा सकता है कि जब आत्मा सुख-रूप एवं आनन्द रूप है, तब उसमें दुःख कहाँ से आता है और क्यों आता है? इसके उत्तर में मैं आपसे संक्षेप में इतना ही कहूँगा कि दुःख का मूल कारण बन्धन है। जब तक आत्मा की बद्ध दशा है, तभी तक आनन्द विकृत होकर दुःख की स्थिति में बदलता रहता है। दुःख एवं क्लेश का मूल कारण कर्म, अविद्या, माया एवं वासना को माना गया है। जब तक आत्मा कर्म के बन्धन से बद्ध है, तभी तक आनन्द विकृत रहता है, तभी तक उसे दुःख और क्लेश रहते हैं। जब आत्मा का कर्म के साथ संयोग न रहेगा, तब आनन्द अपने शुद्ध रूप में परिणत हो जायगा, फलतः सर्व प्रकार के दुःख एवं क्लेशों का क्षय हो जाएगा।

आप यहाँ एक बात और समझ लें, देह का नाश या शरीर का

छूट जाना ही मोक्ष नही है । गाम, नगर और समाज को छोडकर शून्य निर्जन वन मे चले जाना ही मोक्ष नही है । इस प्रकार का मोक्ष तो एक बार नही अनन्त-अनन्त बार हो चुका है। वास्तविक मोक्ष यही है, कि अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्म, अविद्या और माया को दूर किया जाए। विकारो से मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है। जीवन्मुक्ति पहले है, और विदेह मुक्ति उसके बाद मे है ।

भारतीय दर्शन का लक्ष्य आनन्द है । भले ही वह दर्शन भारत की किसी भी परम्परा से सम्बद्ध रहा हो । किन्तु प्रत्येक अध्यात्मवादी दर्शन इस तथ्य को स्वीकार करता है, कि साधक के जीवन का लक्ष्य एक मात्र आनन्द है। यह प्रश्न अवश्य किया जा सकता है, कि उस अनन्त आनन्द की प्राप्ति वर्तमान जीवन मे भी हो सकती है, या नही ? क्या मृत्यु के बाद ही उस अनन्त आनन्द की प्राप्ति होगी ? मैं इस तथ्य को अनेक बार दुहरा चुका हूँ कि मुक्ति एव मोक्ष जीवन का अग है। स्वय चैतन्य का ही एक रूप है। एक ओर ससार है और दूसरी ओर मुक्ति है । जब यह जीवन ससार हो सकता है, तब यह जीवन मोक्ष क्यो नही हो सकता ? जीवन से अलग न ससार है और न मोक्ष है । ससार और मोक्ष दोनो ही जीवन के दो पहलू हैं, दो दृष्टि-कोण है। दोनो को समझने की आवश्यकता है। यह बात कितनी विचित्र है, कि ससार को तो हम जीवन का अग मान ले, किन्तु मुक्ति को जीवन का अग न मानें । जैन दर्शन कहता है, कि एक ओर करवट बदली तो ससार है और दूसरी ओर करवट बदली तो मोक्ष है। किन्तु दोनो ओर करवट बदलने वाला जीवन शाश्वत है। वह ससार मे भी है और मोक्ष मे भी है। इसलिए मोक्ष जीवन का ही होता है, मोक्ष जीवन मे ही होता है, मृत्यु मे नही । जिसे हम मृत्यु कहते हैं, वह भी आखिर क्या वस्तु है ? जीवन का ही एक परिणाम है अथवा जीवन की ही एक पर्याय है। मोक्ष एव मुक्ति यदि जीवन-दशा मे नही मिलती है, तो मृत्यु के बाद वह कैसे मिलेगी ? अत भारतीय दर्शन का यह एक महान् आदर्श है, कि जीवन मे ही मुक्ति एव मोक्ष प्राप्त किया जाए। इसको दर्शन-शास्त्र मे अरिहन्त-दशा एव जीवन्मुक्त अवस्था कहा जाता है। जीवन्मुक्ति का अर्थ है—जीवन के रहते हुए ही, शरीर और श्वासो के चलते हुए ही, काम-क्रोध आदि विकारो से यह आत्मा सर्वथा मुक्त हो जाए। काम-क्रोध आदि विकार भी रहे और मुक्ति भी मिल जाए, यह किसी भी प्रकार सम्भव नही है। जैन-दर्शन के

अनुसार राग एवं द्वेष आदि कषायों का सर्वथा क्षय कर देना ही मुक्ति है।

मोक्ष क्या है? यह एक चिरन्तन प्रश्न है। यह प्रश्न लाखों वर्षों से होता चला आया है और लाखों वर्षों तक होता रहेगा। अध्यात्मवादी दर्शन के समक्ष दो ही मूल केन्द्र हैं—आत्मा और उसकी मुक्ति। मोक्ष क्या वस्तु है? इस प्रश्न के उत्तर में अध्यात्मवादी दर्शन घूम-फिर कर एक ही बात और एक ही स्वर में कहते हैं कि मोक्ष आत्मा की उस विशुद्ध स्थिति का नाम है—जहाँ आत्मा सर्वथा अमल एवं धवल हो जाता है। मोक्ष में एवं मुक्ति में जीवन का विसर्जन न होकर उसके प्रति मानव-बुद्धि में जो एक प्रकार का मिथ्या दृष्टिकोण है उसी का विसर्जन होता है। मिथ्या दृष्टि-कोण का विसर्जन हो जाना साधक जीवन की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। जैन-दर्शन के अनुसार मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यक् दर्शन का, मिथ्या ज्ञान के स्थान पर सम्यक् ज्ञान का और मिथ्या चारित्र के स्थान पर सम्यक् चारित्र का पूर्णतया एवं सर्वतो भावेन विकास हो जाना ही मोक्ष एवं मुक्ति है। मोक्ष को जब आत्मा की विशुद्ध स्थिति स्वीकार कर लिया जाता है, तब मोक्ष के विपरीत आत्मा की अशुद्ध स्थिति को ही संसार कहा जाता है। संसार क्या है? यह भी एक विकट प्रश्न है। स्थूल रूप में संसार का अर्थ आकाश, पाताल, सूर्य, चन्द्र, भूमि, वायु, जल और अग्नि आदि समझा जाता है। परन्तु क्या वस्तुतः अध्यात्म भाषा में यही संसार है? क्या अध्यात्म-शास्त्र इन सब को छोड़ने की बात करता है? क्या यह सम्भव है कि भौतिक जीवन के रहते इन भौतिक तत्त्वों को छोड़ा जा सके? पूर्ण अध्यात्मिक जीवन में भी, मोक्ष में भी आत्मा रहेगा तो लोक में ही, लोकाकाश में ही। लोकाकाश के बाहर कहाँ जायगा? जब एक व्यक्ति वैराग्य की भाषा में संसार छोड़ने की बात करता है, तब वह क्या छोड़ता है? भवन, वसन और भोजन इनमें से वह क्या छोड़ सकता है? कल्पना कीजिए, कदाचित् इनको भी वह छोड़ दे, फिर भी अपने तन और मन का परित्याग कैसे कर सकता है? इस भूमि और आकाश का परित्याग भी वह कैसे कर सकता है? तब फिर उसने क्या छोड़ा? हम वैराग्य की भाषा में यह कहते हैं कि एक वैराग्यशील आत्मा ने संसार का त्याग किया, किन्तु इस परित्याग का क्या अर्थ है? संसार छोड़कर वह कहाँ चला गया? और उसने छोड़ा भी क्या है? वही शरीर रहा, काम भी वही रहा, मन ही उसकी बना

वट मे कुछ परिवर्तन आ गया हो ? एक गृहस्थ की वेशभूषा के स्थान पर एक साधू का वेश आ गया हो ? शरीर पोषण के लिए वही भोजन, वही जल और वही वायु रहा; तव ससार छोडने का क्या अर्थ हुआ ? इससे यह स्पष्ट होता है, कि यह सव कुछ ससार नही है। तव ससार क्या है ? अध्यात्म-भाषा मे यह कहा जाता है, कि वैपयिक आकाक्षाओ, कामनाओ और इच्छाओ का हृदय मे जो अनन्त काल से आवास है, वस्तुत वही ससार है, वस्तुत वही बन्धन है। उस आकाक्षा का नाम और वासना का परित्याग ही सच्चा वैराग्य है। कामनाओ की दासता से मुक्त होना ही ससार से मुक्त होना है। जव साधक के चित्त मे आनन्द की उपलब्धि होती है, जब उसके जीवन मे निराकुलता की भावना आती है, जब साधक के जीवन मे व्याकुलता-रहित शान्त स्थिति आती है और यह आकुलता एव व्याकुलता-रहित अवस्था जितने काल के लिए चित्त मे वनी रहती है, शुद्ध आनन्द का वह एक मधुर क्षण भी मानव-जीवन की क्षणिक मुक्ति ही है। भले ही आज वह स्थायी न हो और साधक का उस पर पूर्ण अधिकार न हो पाया हो, परन्तु जिस दिन वह उस क्षणिकता को स्थायित्व मे वदल कर मुक्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेगा, उसी दिन, उसी क्षण उसकी पूर्ण मुक्ति हो जाएगी। जो अध्यात्म-साधक शरीर मे रह कर भी शरीर मे नही रहता, जो जीवन मे रह कर भी जीवन मे नही रहता और जो ससार मे रहकर भी ससार मे नही रहता, वही वस्तुत विमुक्त आत्मा है। देह के रहते हुए भी, देह की ममता मे वद्ध न होना, सच्ची मुक्ति है। जो देह मे रह कर भी देह-भाव में आसक्त न होकर देहातीत अवस्था मे पहुँच जाता है, वही अरिहन्त है, वही जिन है और वही वीतराग है। अध्यात्म-दर्शन साधक को जगत् से भागते-फिरने की शिक्षा नही देता, वह तो कहता है कि तुम प्रारब्ध कर्मजन्य भोग मे रहकर भी भोग के विकारो और विकल्पो के बन्धन से मुक्त होकर रहो, यही जीवन की सवसे वडी साधना है। जीवन की प्रारब्ध प्रक्रिया से भयभीत होकर कहाँ तक भागते रहोगे और कव तक भागते रहोगे ? आखिर, एक दिन उससे मोर्चा लेना ही होगा। देह आदि की तथाकथित आवश्यकता की पूर्ति करते हुए भी विकारो से निर्लिप्त रहना ही होगा, अन्तर्द्वन्द्व मे विजेता वनना ही होगा, यही जीवन की सच्ची कला है।

भारत के अध्यात्म साधको की जीवन-गाथा एक-से-एक सुन्दर है, एक-से-एक मधुर है। भारत के अध्यात्म-साधक शूली की नुकीली नोक

पर चलकर भी मुक्ति का लक्ष्य अपनाते रहे हैं। भारत के अध्यात्म साधक भूखों की राह पर चलकर भी मुक्ति के मार्ग से विमुख नहीं हो सके हैं। चाहे वे भवन में रहे हों या वन में रहे हों, चाहे वे एकाकी रहे हों या अनेकों के मध्य में रहे हों, चाहे वे सुख में रहे हों या दुःख में रहे हों, जीवन की प्रत्येक स्थिति में वे अपनी मुक्ति के लक्ष्य को भूल नहीं सके हैं। शूलों की तीक्ष्ण नोक पर और फूलों की कोमल सेज पर अथवा रंगीले राजमहलों में या वीरान जंगलों में रहने वाले ये अध्यात्म-साधक अपने जीवन का एक ही लक्ष्य लेकर चले और वह लक्ष्य था—मुक्ति एवं मोक्ष। और तो क्या, भारत की ललनाएँ अपने शिशुओं का पालन में झुलाते हुए भी उन्हें अध्यात्मवाद की लोरियाँ सुनाती रही हैं। मदालसा जैसी महानारियाँ गाती हैं—तू शुद्ध है, निरंजन है और निर्विकार है। इस संसार में तू संसार की माया में आबद्ध होने के लिए नहीं आया है। तेरे जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, भव-बन्धनों का विच्छेद करना, माया के जाल को काट देना और सर्व प्रकार के बन्धनों एवं समस्त द्वन्द्वों से विमुक्त होकर रहना। मैं आपसे यह कह रहा था कि जिस भारत की ललनाएँ अपने दूधमुँहे शिशुओं को पालने में झुलाते हुए लोरियों में भी अध्यात्मवाद के संगीत सुनाती हैं, उस भारत में समस्त मोक्ष एवं मुक्ति से ऊँचा अन्य कोई लक्ष्य हो नहीं सकता।

अब प्रश्न यह उठता है कि जिस मुक्ति की चर्चा भारत का अध्यात्मवादी दर्शन जन्म-घुट्टी में लेकर मृत्यु-पर्यन्त करता रहता है, जीवन के किसी भी क्षण में वह उसे विस्मृत नहीं कर सकता, आखिर उस मुक्ति का उपाय और साधन क्या है? क्योंकि साधन बिना साधक सिद्धि को प्राप्त कैसे कर सकता है? कल्पना कीजिए—साधक समस्त एक बार आया है, जिसने मुक्ति की सत्ता और स्थिति पर विश्वास कर लिया है, जिसने मुक्ति प्राप्ति का अपना लक्ष्य भी स्थिर कर लिया है, यह सब कुछ तो ठीक है—परन्तु यदि उसे यह मालूम न हो कि मुक्ति का साधन और उपाय क्या है, तब उसके सामने एक बड़ी विकट समस्या आ जाती है। साधक के जीवन में इस प्रकार की स्थिति बड़ी [illegible] और बड़ी विकट होती है। जो [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] विश्राम नहीं कर पा रहा हो और [illegible] [illegible] भी पता हो, परन्तु इस प्रकार की स्थिति में यदि मार्ग [illegible] आ जाए, कुहास आ जाए, तब मार्ग जानने को कैसा क्या सकता है? यदि उसके बन्धन का उपाय [illegible]

नही सीखा है, तो। नौका एक माध्यम है जल धारा को पार करने के लिए। परन्तु नौका चलाने की कला यदि ठीक तरह नही सीखी है, तो कैसे पार हो सकता है? यही स्थिति ससार-सागर को शरीर रूपी नौका से पार करते हुए अध्यात्म-साधक की होती है। मुक्ति के लक्ष्य को स्थिर कर लेना ही पर्याप्त नही है, उससे भी बढकर आवश्यक यह है कि एक साधक उसे कैसे प्राप्त कर सके? भारत के अध्यात्मवादी दर्शन मे केवल मुक्ति के लक्ष्य को स्थिर ही नही किया गया, और केवल यही नही कहा गया कि मुक्ति एक लक्ष्य है और वह एक आदर्श है, बल्कि, उस लक्ष्य तक पहुँचने और उसे प्राप्त करने का मार्ग और उपाय भी बताया गया है। मुक्ति के आदर्श को बताकर साधक से यह कभी नही कहा गया कि वह केवल तुम्हारे जीवन का आदर्श है, पर तुम कभी उसे प्राप्त नही कर सकते। क्योकि उसकी प्राप्ति का कोई अमोघ साधन नही है। इसके विपरीत उसे सतत एक ही प्रेरणा दी गई, कि मुक्ति का आदर्श अपने मे बहुत ऊँचा है, किन्तु वह अलभ्य नही है। तुम उसे अपनी साधना के द्वारा एक दिन अवश्य प्राप्त कर सकते हो। जिस आदर्श साध्य की सिद्धि का साधन न हो, वह साध्य ही कैसा!

आश्चर्य है कुछ लोग आदर्श की बडी विचित्र व्याख्या करते हैं। उनके जीवन के शब्द-कोष मे आदर्श का अर्थ है—'मानव-जीवन की वह उच्चता एव पवित्रता, जिसकी कल्पना तो की जा सके, किन्तु जहाँ पहुँचा न जा सके।' मेरे विचार मे आदर्श की यह व्याख्या सर्वथा भ्रान्त है, बिल्कुल गलत है। भारत की अध्यात्म सस्कृति कभी यह स्वीकार नही कर सकती कि 'आदर्श आदर्श है, वह कभी यथार्थ की भूमिका पर नही उतर सकता। हम आदर्श पर न कभी पहुँचे है और न कभी पहुँचेंगे।'

अध्यात्मवादी दर्शन यह कैसे स्वीकार कर सकता है, कि जीवन की जिस उच्चतम और पवित्रता का हम चिन्तन तो कर सके, किन्तु जीवन मे उसका अनुभव न कर सकें। मैं उस साधना को साधना मानने के लिए तैयार नही हूँ, जिसका चिन्तन तो आकर्षक एव उत्कृष्ट हो, किन्तु वह चिन्तन साक्षात्कार एव अनुभव का रूप न ले सके। केवल कल्पना एव स्वप्नलोक के आदर्श मे भारत के अध्यात्मवादी दर्शन की आस्था नही है, होनी भी नही चाहिए। यहाँ तो चिन्तन को अनुभव बनना पडता है और अनुभव को चिन्तन बनना

पकता है। चिन्तन और अनुभव यहाँ सहजन्मा और सदा से सहगामी रहे हैं। उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। मानव जीवन का आदर्श स्वप्नलोक की वस्तु नहीं है कि ज्यों-ज्यों उसकी ओर आगे बढ़ते जाएँ, त्यों-त्यों वह दूर से दूरतर होती जाए। आदर्श उस अनन्त क्षितिज के समान नहीं है, जो दृष्टिगोचर तो होता हो किन्तु कभी सुलभ न हो। धरती और आकाश के मिलन का प्रतीक वह क्षितिज जो केवल दिखलायी तो पड़ता है, किन्तु वास्तव में जिसका कोई अस्तित्व नहीं होता। मानव जीवन का आदर्श इस प्रकार का नहीं है। भारत का अध्यात्मवादी दर्शन मानव-जीवन के आदर्श को भटकने की वस्तु नहीं मानता। वह तो जीवन के यथार्थ जागरण का एक मूल-भूत तत्त्व है। उसे पकड़ा जा सकता है, उसे ग्रहण किया जा सकता है और उसे जीवन के धरातल पर शत-प्रतिशत उतारा जा सकता है। मोक्ष केवल आदर्श ही नहीं बल्कि वह जीवन का एक यथार्थ तथ्य है। यदि मोक्ष केवल आदर्श ही होता यथार्थ न होता तो उसके लिए साधन और साधना का कथन ही व्यर्थ होता। मोक्ष अदृष्ट की हाथों में रहने वाली वस्तु नहीं है, जिसे मनुष्य प्रथम तो अपने जीवन में प्राप्त ही न कर सके अथवा प्राप्त करे भी तो रोने-धोने हाथ पसारने और दया की भीख माँगने पर, अन्यथा नहीं। जैन-दर्शन में स्पष्ट रूप से कहा गया है, कि साधक! मुक्ति किसी दूसरे के हाथों की चीज नहीं है। और न वह केवल कल्पना एवं स्वप्नलोक की ही वस्तु है, बल्कि वह यथार्थ की चीज है। जिसके लिए प्रयत्न और साधना की जा सकती है तथा जिसे सतत अभ्यास के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जैन-दर्शन में स्पष्ट शब्दों में यह उद्घोषणा की है, कि प्रत्येक साधक के अपने ही हाथों में मुक्ति को अधिगत करने का उपाय एवं साधन है। और वह साधन क्या है सम्यक् दर्शन? सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। इन तीनों का समुचित रूप ही मुक्ति का वास्तविक उपाय एवं साधन है।

कुछ विचारक भारत के अध्यात्मवादी दर्शन को निराशावादी दर्शन कहते हैं। भारत का अध्यात्मवादी दर्शन निराशावादी क्यों है? इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना है, कि वह वैराग्य की बात करता है, वह संसार से भागने की बात करता है, वह दुःख और क्लेश की बात करता है। परन्तु वैराग्यवाद और दुःखवाद के कारण उसे निराशावादी दर्शन कहना कहाँ तक उचित है? यह एक विचार-

णीय प्रश्न है। मैं इस तथ्य को स्वीकार करता हूँ कि अवश्य ही अध्यात्मवादी दर्शन ने दुःख, क्लेश और बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने की बात की है। वैराग्य-रस से आप्लावित कुछ जीवन-गाथाएँ इस प्रकार की मिल सकती है, जिनके आधार पर अन्य विचारकों को भारत के अध्यात्मवादी दर्शन को निराशावादी दर्शन कहने का दुस्साहस करना पड़ा। किन्तु वस्तु-स्थिति का स्पर्श करने पर ज्ञात होता है कि यह केवल विदेशी विचारकों का मतिभ्रम-मात्र है। भारतीय अध्यात्मवादी दर्शन का विकास अवश्य ही दुःख एवं क्लेश के मूल में से हुआ है, किन्तु मैं यह कहता हूँ कि भारतीय दर्शन ही क्यों, विश्व के समग्र दर्शनों का जन्म इस दुःख एवं क्लेश में से ही होता है। मानव के वर्तमान दुःखाकुल जीवन से ही संसार के समग्र दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ है। इस तथ्य को कैसे भुलाया जा सकता है, कि हमारे जीवन में दुःख एवं क्लेश नहीं है। यदि दुःख एवं क्लेश है, तो उससे छूटने का उपाय भी सोचना ही होगा। और यही सब कुछ तो अध्यात्मवादी दर्शन ने किया है, फिर उसे निराशावादी दर्शन क्यों कहा जाता है? निराशावादी वह तब होता, जब कि वह दुःख और क्लेश की बात तो करता, विलाप एवं रुदन तो करता, किन्तु उसे दूर करने का कोई उपाय न बतलाता। पर बात ऐसी नहीं है। अध्यात्मवादी दर्शन ने यदि मानव-जीवन के दुःख एवं क्लेशों की ओर संकेत किया है, तो उसने वह मार्ग भी बतलाया है जिस पर चलकर मनुष्य सर्व प्रकार के दुःखों से विमुक्त हो सकता है। और वह मार्ग है—त्याग, वैराग्य, अनासक्ति और जीवन-शोधन का।

अध्यात्मवादी दर्शन कहता है कि—दुःख है, और दुःख का कारण है। दुःख अकारण नहीं है क्योंकि जो अकारण होता है उसका प्रतिकार नहीं किया जा सकता, किन्तु जिसका कारण होता है, यथावसर उसका निराकरण भी अवश्य किया जा सकता है। कल्पना कीजिए—किसी को दूध गरम करना है। तब क्या होगा? दूध को पात्र में डालकर अगीठी पर रख देना होगा और उसके नीचे आग जला देनी होगी। कुछ काल बाद दूध गरम होगा, उसमें उबाल आ जाएगा। दूध का उबलना तब तक चालू रहेगा, जब तक कि उसके नीचे आग जल रही है। नीचे की आग भी जलती रहे और दूध का उबलना बन्द हो जाए, यह कैसे हो सकता है? उष्णता का कारण आग है और जब तक वह नीचे जल रही है, तब तक दूध के उबाल और

उफान को शान्त करना है, तो उसका उपाय यह नहीं है कि दो-चार पानी के छींटे दे दिए जाएँ और बस ! अपितु उसका वास्तविक उपाय यही है, कि नीचे जलने वाली आग को या तो बुझा दिया जाए या उसे नीचे से निकाल दिया जाय। इसी प्रकार अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में दुःख को दूर करने का उस दुःख को दूर करने का जो आदि हीन काल से आत्मा में रहा है, वास्तविक उपाय यही है, कि उसे केवल ऊपरी सतह से दूर करने की अपेक्षा उसके मूलकारण का ही उच्छेद कर लिया जाए। मानव-जीवन में दुःख एवं क्लेश की सत्ता एवं स्थिति इस तथ्य एवं सत्य को प्रमाणित करती है, कि दुःख का मूल कारण अन्यत्र नहीं हमारे अन्दर ही है। जब तक उसे दूर नहीं किया जाएगा दुःख की ज्वाला कभी शान्त नहीं होगी। अध्यात्मवादी दर्शन कहता है—दुःख है, क्योंकि दुःख का कारण है। और वह कारण बाहर में नहीं स्वयं तुम्हारे अन्दर में है। दुःख के कारण का उच्छेद कर देने पर दुःख का उबाल और उफान स्वतः ही शान्त हो जाएगा। एवं दुःख का अस्तित्व समाप्त होकर सहज और निर्मल आनन्द का अमृतसागर ठाठें मारने लगेगा।

शरीर में रोग होता है, तभी उसका इलाज किया जा सकता है। रोग होगा तो रोग का इलाज भी अवश्य होगा। यदि कोई रोगी वैद्य के पास जाए और वैद्य उसे यह कह दे कि आपके शरीर में कोई रोग नहीं है, तो उसका यह कथन गलत होगा। शरीर में यदि रोग की सत्ता और स्थिति है तो उसे स्वीकार करने में कोई बुराई नहीं है। शरीर में रोग की सत्ता स्वीकार करने पर भी यदि वैद्य यह कहता है, कि रोग तो है, किन्तु उसका इलाज नहीं हो सकता तो यह भी गलत है। जब रोग है तब उसका इलाज क्यों नहीं हो सकता ? संसार का कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस तर्क को स्वीकार नहीं कर सकता कि रोग होने पर उसका प्रतिकार न हो सके। रोग को दुस्साध्य भले ही कहा जा सके किन्तु असाध्य नहीं कहा जा सकता। यदि चिकित्सा के द्वारा रोग का प्रतिकार न किया जा सके तो संसार में चिकित्सा-शास्त्र का कोई उपयोग न रहेगा। विचारक लोग उसे व्यर्थ समझ कर छोड़ बैठेंगे। अस्तु चिकित्सा-शास्त्र अपने उपयोग एवं प्रयोग के द्वारा रोग का स्वरूप निश्चित करता है, रोगोत्पत्ति का कारण मालूम करता है, रोग को दूर करने का उपाय एवं साधन बतलाता है, वस्तुतः यही उसकी उपयोगिता है। इसी प्रकार अध्यात्म

शास्त्र मे यदि कहा जाता है, कि दुःख तो है, किन्तु उसे दूर नही किया जा सकता, तो यह एक ऐसा तर्क है—जो किसी भी बुद्धिमान के गले उतर नही सकता। जब दुःख है, तो उसका प्रतिकार क्यो नही किया जा सकता? दुःख के प्रतिकार का सबसे सीधा और सरल मार्ग यही है, कि दुःख के कारण को दूर किया जाए। भारत का अध्यात्मदर्शन दुःख की सत्ता और स्थिति को स्वीकार करके भी उसे दूर करने का प्रयत्न करता है, साधना करता है और उसमे सफलता भी प्राप्त करता है। इसी आधार पर मैं कहता हूँ—भारत का अध्यात्मवादी दर्शन निराशावादी दर्शन नही है, वह शत प्रतिशत आशावादी है। जीवन को मधुर प्रेरणा देने वाला दर्शन है। अध्यात्मवादी दर्शन मानव-मात्र के सामने यह आघोषणा करता है, कि अपने को समझो और अपने मे भिन्न जो पर है, उसे भी समझने का प्रयत्न करो। स्व और पर के विवेक से ही तुम्हारी मुक्ति का भव्य द्वार खुलेगा। शरीर मे रोग है, इसे भी स्वीकार करो, और उसे उचित साधन के द्वारा दूर किया जा सकता है, इस पर भी आस्था रखो। दुःख है, इसे स्वीकार करो, और वह दुःख दूर किया जा सकता है, इस पर भी विश्वास रखो। साधन के द्वारा साध्य को प्राप्त किया जा सकता है, इससे बढकर मानव-जीवन का और आशावाद क्या होगा? भारत का अध्यात्मवादी दर्शन कहता है, कि साधक! तू अपने वर्तमान जीवन मे ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है, आवश्यकता है, केवल अपने जीवन की दिशा को बदलने की।

३

रत्नत्रय की साधना

* * *

साधक साधन द्वारा ही साध्य को प्राप्त कर सकता है। बिना साधन के साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। कार्य छोटा हो या बड़ा उसकी सफलता तभी होती है, जब कि उसके करने की विधि का परिज्ञान हो जाए। यह देखा जाता है कि प्रत्येक कार्य करने से पहले उसके साधन और उपायों पर विचार और चिन्तन किया जाता है। जीवन की किसी भी योजना को कार्यान्वित करने के लिए, उसे लागू करने के नियम और उपनियमों का विचार अवश्य किया जाता है। जीवन के सामान्य धरातल पर भी जब कार्य की सिद्धि के लिए उसके कारण उपाय और साधनों पर विचार किया जाता है, तब मोक्ष जैसी विशाल विराट और उदात्त सिद्धि के लिए, उसके साधन और उपायों पर अवश्य ही गम्भीरतर विचार होना चाहिए।

वर्तमान में हम जो कुछ हैं और जैसे हैं, वैसा रहना ही हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारे जीवन का परिलक्ष्य यह है कि हम अणु से महान बनें, क्षुद्र से विराट बनें और ससीम से असीम बनें। आत्मा ज्ञान रूप से अनन्त है, किन्तु वर्तमान में उसके ज्ञान पर आवरण होने के कारण वह अल्पज्ञ बना हुआ है। आत्मा में अनन्त शक्ति है, पर वर्तमान में उसकी वीर्य शक्ति पर आवरण होने के कारण वह दुर्बल प्रतीत होता है। आत्मा में अनन्त सुख है, किन्तु वर्तमान विपरीत परिणति के कारण उसकी उचित अभिव्यक्ति नहीं होने पाती है, फलतः वह खिन्न और विषण्ण बना हुआ है।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि शक्तिरूप मे आत्मा अनन्त है, अगाध है और अपार है। उस शक्ति की अभिव्यक्ति करने के लिए ही, साधक के लिए साधना का विधान किया गया है। जैसे अणुरूप बीज मे विराट वृक्ष होने की शक्ति है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति तभी होती है, जब कि उसे अनुकूल पानी, प्रकाश और पवन की उपलब्धि होती है। साधना के क्षेत्र मे भी यही सत्य है और यही तथ्य है, कि आत्मा मे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त-वीर्य होने पर भी वर्तमान मे उसकी अभिव्यक्ति नही हो रही है। इस शक्ति की अभिव्यक्ति को ही मैं साधना कहता हूँ। आत्मा का लक्ष्य अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख प्राप्त करना है, किन्तु वह कैसे हो ? इसके लिए जैन-दर्शन मे रत्न-त्रयी की साधना का विधान किया है। रत्न-त्रयी का अर्थ है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। वस्तुत यही मोक्ष-मार्ग है, यही मोक्ष साधन है और यही मोक्ष का उपाय है। रत्न-त्रयी मे आत्मा के समग्र अध्यात्म-गुणो का कथन हो जाता है। अतीत काल के तीर्थंकरो ने, गणधरो ने और श्रुतधर आचार्यो ने इसी रत्न-त्रयी का साध्य की सिद्धि के लिए उपदेश दिया है और अनन्त अनागत काल मे भी इसी का उपदेश दिया जाता रहेगा। जैन-दर्शन की साधना समत्व-योग की साधना है, सामायिक की साधना है एव समभाव की साधना है। साधक चाहे गृहस्थ हो अथवा साधू हो, उसकी साधना का एकमात्र लक्ष्य यही है, कि वह विषमता से समता की ओर अग्रसर हो। विषमभाव से निकलकर समभाव मे रमण करे। इस समत्व योग मे कौन कितना और कब तक रमण कर सकता है, यह प्रश्न अलग है और वह साधक की अन्त शक्ति पर निर्भर करता है। परन्तु निश्चय ही अबल और सबल दोनो ही प्रकार के साधको के जीवन का लक्ष्य आत्मा के निज-गुणस्वरूप अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख को प्राप्त करने का है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए अथवा साध्य की सिद्धि के लिए, जैन दर्शन ने रत्न-त्रयी का विधान किया है। रत्न-त्रयी का नाम ही मोक्षमार्ग है। मार्ग का अर्थ यहाँ पर पथ एव रास्ता नही है, बल्कि, मार्ग का अर्थ है— साधन एव उपाय। मोक्ष का मार्ग कही बाहर मे नही है, वह साधक के अन्तर् चैतन्य मे ही है, उसकी अन्तरात्मा मे ही है। साधक को जो कुछ पाना है, अपने अन्दर से पाना है।

विविध शास्त्र के अध्ययन और चिन्तन से यह ज्ञात होता है, कि आत्मा की उच्चतम एव पवित्रतम स्थिति को सिद्धि, सिद्धत्व, अपुना-

सुसिद्धि, मुक्ति, निर्वाण तथा मोक्ष—इत्यादि विविध संज्ञाओं से कहा गया है। इस सम्बन्ध में अध्यात्मवादी दर्शन में सबसे बड़ा प्रश्न यह है, कि मोक्ष एवं मुक्ति आत्मा का स्थान विशेष है अथवा आत्मा की स्थिति विशेष है? सिद्ध शिला और सिद्ध-लोक जैसे शब्द स्थान विशेष की ओर संकेत करते हैं। तब क्या यह माना जाए कि कर्म विमुक्त आत्मा का भी अपना कोई रहने का स्थान है, जहाँ वह शाश्वत रूप में अनन्त काल तक आवास करता रहता है। व्यवहार नय से यह कथन सत्य है, इसमें किसी प्रकार का भेद एवं विभेद नहीं है। परन्तु निश्चय नय से विचार करने पर मोक्ष आत्मा का स्थान नहीं बल्कि एक स्थिति-विशेष ही है। मोक्ष और उसका मार्ग, साध्य और उसका साधन क्या अलग-अलग हो सकते हैं? निश्चय नय की दृष्टि से साधन और साध्य में किसी प्रकार का भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता। अध्यात्मवादी दर्शन में मोक्ष और उसके मार्ग में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता। मार्ग की साधना की पूर्णता का नाम ही मोक्ष है। उक्त अभेद दृष्टि के अनुसार मोक्ष किसी क्षेत्र अथवा आकाश विशेष में नहीं होता है, वह तो आत्मा में ही होता है। जहाँ आत्मा है, वहीं उसका मोक्ष है। आत्मा कहीं-न-कहीं रहेगा ही। और वह आत्मा के ठहरने का स्थान है क्योंकि आत्मा एक द्रव्य है, और जो द्रव्य होता है, वह कहीं-न-कहीं रहेगा ही। आकाश के किसी न किसी देश विशेष का अवगाहन करेगा ही। यह सम्भव नहीं है, कि आत्मा द्रव्य होकर भी किसी आकाशीय देश विशेष का अवगाहन न करे। जब प्रत्येक द्रव्य आकाश के देश विशेष का अवगाहन करता है तब आत्मा भी एक द्रव्य होने के कारण अनन्त आकाश के किसी न किसी अंश एवं प्रदेश विशेष का अवगाहन अवश्य ही करेगा। आत्म द्रव्य जिस किसी भी आकाश देश में स्थित है वहीं उसका स्थान है और वही उसका धाम है। परन्तु ध्यान रखिए आत्मा एक द्रव्य है, इसी आधार पर उसका एक स्थान विशेष भी है। किन्तु मोक्ष स्थान नहीं है, वह आत्मा का निज-स्वरूप है। अतएव मोक्ष आत्मा का स्थान विशेष नहीं है, बल्कि मोक्ष आत्मा की स्थिति विशेष है। जिस द्रव्य का जो स्वरूप है वह स्वरूप अपने आधारभूत द्रव्य से अलग कैसे हो सकता है? आत्मा पृथक् रहे और उसका स्वरूप मोक्ष उससे कहीं दूर अन्य क्षेत्र में अवस्थित रहे—यह सम्भव नहीं है, न यह शास्त्र सम्मत है और न यह अनुभव-गम्य ही है। इसी आधार पर मैं आपसे यह कह रहा था कि जो

आत्मा है वहीं पर उसका मोक्ष है, वहीं पर उसकी मुक्ति है। मोक्ष और आत्मा को हम अलग-अलग नहीं कर सकते। अतः जहाँ आत्मा है वहाँ उसका शुद्ध स्वरूप मोक्ष भी है और जहाँ पर मोक्ष है वहाँ पर उसका द्रव्य आत्मा भी है। मोक्ष और आत्मा के पार्थक्य भाव की कल्पना नहीं की जा सकती।

विचार कीजिए—आपके सामने अग्नि जल रही है, और आप देख रहे हैं कि उसकी दहकती ज्वालाएँ चारों ओर फैल रही हैं। अग्नि की उष्णता इतनी तीव्र है कि आप सहन नहीं कर पा रहे हैं, इसलिए आप उससे दूर हटने का प्रयत्न कर रहे हैं। आपका अनुभव यह कहता है कि अग्नि की ज्वालाओं से जितनी ही दूर रहा जाएगा, उतना ही हम उसकी उष्णता के परिताप से बच सकेंगे। मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ, कि अग्नि और उसकी उष्णता अलग-अलग रहती हैं अथवा एक ही स्थान पर? अग्नि का क्षेत्र और उसकी उष्णता का क्षेत्र अलग-अलग है, यह कहना गलत होगा। पदार्थ-विज्ञान की दृष्टि से वास्तव में उन दोनों का एक ही क्षेत्र है। क्या आपमें से कोई भी मुझे यह बतला सकता है, कि अग्नि का क्षेत्र तो यह है और उसकी उष्णता का क्षेत्र उससे कहीं दूर अन्यत्र है। इसके विपरीत आपका अनुभव, और आपका ही क्या, संसार के प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव यह कहता है कि जहाँ अग्नि है, वहीं उसकी उष्णता है और जहाँ उष्णता है वहाँ अग्नि है। भले ही उस प्रत्यक्ष अनुभव को अभिव्यक्त करने की शक्ति हर किसी व्यक्ति में न हो। वह अग्नि और उष्णता में रहने वाले तादात्म्य रूप अविनाभाव सम्बन्ध को न बता सकता हो। अग्नि का स्थान बताया जा सकता है, किन्तु अग्नि से पृथक् उसकी उष्णता का स्थान नहीं बताया जा सकता। क्योंकि अग्नि एक द्रव्य है और उष्णता उसका स्वरूप है, अग्नि धर्मी है और उष्णता उसका धर्म है। धर्म बिना धर्मी के नहीं रह सकता। जहा पर धर्मी रहता है, वहीं पर उसका धर्म भी अवश्य रहेगा। अग्नि कहीं पर भी क्यों न रहे, उसमें किसी को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु इतना निश्चित है कि अग्नि का स्वरूप उष्णता अग्नि में ही रहेगा, कहीं बाहर नहीं। यही बात और यही तर्क आत्मा और मोक्ष के सम्बन्ध में भी है। आत्मा द्रव्य है, और मोक्ष उसका स्वरूप है, आत्मा धर्मी है और मोक्ष उसका धर्म है। अतः जहाँ आत्मा है उसका मोक्ष भी वहीं रहेगा। जब कि मोक्ष आत्मा का स्वरूप है, तब वह आत्मा

से बाहर अन्यत्र कहाँ रह सकता है? इस दृष्टि से जब मोक्ष को आत्मा का शुद्ध स्वरूप मान लिया गया है, तब वह शुद्ध स्वरूप अपने स्वरूपी से अलग एवं पृथक कैसे हो सकता है और भिन्न किया भी कैसे जा सकता है? आप एक बात ध्यान में रखिए कि जब कोई अनुभवी सन्त अथवा शास्त्र सिद्ध-लोक, सिद्ध शिला और सिद्ध धाम का वर्णन अथवा कथन करता है, तब वह यह बताता है कि व्यवहार दृष्टि से यह सब कुछ आकाश रूप द्रव्य का ही स्थान-विशेष है। मोक्ष का स्थान विशेष नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो उसका निज स्वरूप ही है और जो स्वरूप होता है, वह कभी अपने स्वरूपी से भिन्न नहीं हो सकता।

अस्तु जहाँ आत्मा है वहीं उसका मोक्ष है और जहाँ आत्मा है वहीं उसका मार्ग भी है। जैन दर्शन में मोक्ष के मार्ग की धारणा एवं विचारणा आत्मा से बाहर कहीं अन्यत्र नहीं की गई है। यहाँ पर मार्ग का अर्थ है— साधन, उपाय, हेतु एवं कारण। निश्चय दृष्टि का सिद्धान्त यह है कि कारण और कार्य को एक स्थान पर रहना चाहिए। यदि कारण कहीं रहे और कार्य उससे दूर कहीं अन्यत्र रहे, तब वह कार्य-कारण भाव कैसे होगा? दूरस्थ कारण कार्य हो तो फिर वह कारण अमुक एक कार्य का ही कारण क्यों हो, दूसरे कार्य का कारण क्यों नहीं? जब कि कारण से कार्य का दूरत्व एवं भिन्नत्व उभयत्र समान ही है। अतः निश्चय की भाषा में जहाँ मोक्ष है, वहीं उसका मार्ग भी रहेगा, वहीं उसका साधन अर्थात् कारण भी रहेगा। मोक्ष रहता है आत्मा में, अतः उसका मार्ग भी आत्मा में ही रहता है। मोक्ष-मार्ग क्या है? सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। तीनों आत्मा के निज स्वरूप ही हैं, फिर आत्मा से अलग कैसे रह सकते हैं। अतः मोक्ष और मोक्ष का मार्ग दोनों सदा आत्मा में ही रहते हैं, आत्मा से कहीं बाहर नहीं रहते।

कारण कार्य की एक स्थानीयता के सम्बन्ध में यहाँ पर मुझे एक अनुभवी सन्त के जीवन का संस्मरण याद आ रहा है। यह संस्मरण एक वह संस्मरण है, जो साधक की मोह-मुग्ध आत्मा को झकझोर कर प्रबुद्ध कर देता है।

एक बार एक सन्त घूमता फिरता और रमता हुआ हरिद्वार जा पहुँचा। वहाँ इधर-उधर घूमते हुए उसने बहुत कुछ देखा और सुना। चिन्तन-शील सन्त का यह स्वभाव होता है, कि वह जो कुछ देखता है अथवा जो कुछ सुनता है उस पर विचार और चिन्तन भी करता

जाता है। देखना और सुनना चेतना का सहज भाव है, किन्तु मनुष्य की चेतना पशु की चेतना से अधिक विकसित है, फलत जहाँ पशु देख और सुन कर भी कुछ विशिष्ट विचार नही कर पाता, वहाँ बुद्धि का धनी मनुष्य जो कुछ देखता और सुनता है, उस पर गम्भीर एव उदात्त विचार भी करता है।

सन्त ने देखा कि एक श्रद्धाशील भक्त गगा के निर्मल प्रवाह में से एक लोटे मे जल भरता है, उसे अपने दोनो हाथो मे ऊँचा उठाकर सूर्य की ओर अपना मस्तक झुकाता है और जल-धारा छोड देता है।

सन्त ने पूछा कि 'यह क्या हो रहा है ?"

गगा तट के पास खडे पण्डो ने कहा कि "आपको पता नही ? सूर्य को जल चढाया जा रहा है।"

अनुभवी एव ज्ञानी सन्त ने यह सब देखा, और सुना तो अपने मन मे उठने वाले तर्क को वह रोक न सका। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति सन्त ने अपनी वाणी के माध्यम से न कर अपनी कृति के माध्यम से की।

वह सन्त गगा की धारा मे गया और कमण्डल मे जल भर कर सूर्य से विपरीत दिशा की ओर फेंकने लगा।

तट पर स्थित पण्डो ने और उनके श्रद्धाशील अनेक भक्तो ने इस अजीबो-गरीब नजारे को देखा तो हँसने लगे। दो-चार पण्डे आगे बढे और मुस्करा कर सन्त से पूछने लगे—"महाराज, आप यह क्या कर रहे हैं ? सूर्य को गगा-जल अर्पण न करके इधर कहाँ और किसे जल चढा रहे हो ? बहुत देर से हम आपके इस अनोखे कार्य को देख रहे हैं, पर कुछ समझ मे नही आया कि आपका क्या तात्पर्य है ?"

अनुभवी एव ज्ञानी सन्त ने गम्भीर होकर पण्डो की बातो को सुना और मुस्करा कर बोले—"मैं बहुत दूर से आया हूँ। मेरे देश मे बहुत सूखा है, जल का अभाव है। अत मैंने सोचा कि गगा का जल बडा ही स्वच्छ और पवित्र है, क्यो न मैं यहाँ बैठा-बैठा गगा के स्वच्छ एव पवित्र जल को अपने देश के सुदूर खेतो मे पहुँचा दूँ ? मुझे सूर्य को जल नही चढाना है, मुझे तो अपने देश के खेतो को जल पहुँचाना है। अत अपने देश की ओर ही जल अर्पण कर रहा हूँ, ताकि मेरे देश के सूखे खेत हरे-भरे हो उठें।"

यह सुनकर सब के सब भक्त और पण्डे हँस पडे और बोले—"मालूम होता है आपका दिमाग ठिकाने पर नही है। भला यहाँ दिया

गया पानी आपके सुदूर देश के खेतों में कैसे पहुँच जाएगा ? यहीं से गंगा का जल आपके देश के खेतों को हराभरा कैसे कर देगा ? आपके देश के खेतों के लिए तो आपके देश का जल ही काम आ सकता है। आप यहाँ इतनी दूर बैठे इस प्रकार गंगा जल अपने देश के खेतों में कैसे पहुँचा सकते हैं।

नानक स्वर में माधुर्य भरते हुए बोले— 'जब आपका दिया हुआ जल दान इस मृत्युलोक से सूर्यलोक में पहुँच सकता है और वहाँ स्थित अतृप्त सूर्यदेव परितृप्त हो सकता है, अथवा सूर्य के माध्यम से पितृलोक में पितरों को जल मिल सकता है, तब मेरा यह जल-दान मेरे देश के खेतों में क्या नहीं पहुँच सकता ? मेरा देश तो आपके सूर्यलोक एवं पितृलोक से बहुत निकट है। मैं समझता हूँ जब यहाँ का जलदान एक लोक से दूसरे लोक में पहुँच सकता है अथवा पहुँचाया जा सकता है, तब इसी धरती का जल इसी धरती के दूसरे देश में क्या नहीं पहुँच सकता अथवा क्या नहीं पहुँचाया जा सकता ?

नानक का तर्क बड़ा ही प्रखर एवं चोटदार था। सब सकपका कर रह गए। किसी से कोई उत्तर नहीं बन सका। सब नानक के मुख की ओर देखने लगे। सबने देखा कि नानक के मुख मण्डल पर और उनके नेत्र तेजों में ज्ञान की आभा चमक रही है।

सबको मौन देखकर नानक ने गंभीरता के साथ कहा— मेरी बात आप लोगों की समझ में आई या नहीं ? मनुष्य को भी इस अन्धानुकरण पथ में बुद्धि और विवेक से ध्यान लगाना चाहिए ?

एक व्यक्ति बोल उठा— महाराज आपकी बात समझ में तो आती है। परन्तु हमारे पास शास्त्र का आधार है। जब कि आपकी बात का आधार नहीं है। शास्त्र एवं पुराणों में मृत को जलदान का विधान किया गया है और हम लोग हजारों पीढ़ी से ऐसा करते आ रहे हैं। अतः शास्त्र की बात को कौन इन्कार कर सकता है? शास्त्रों में प्रावधान किया गया इसलिए ऐसा किया जा रहा है।

पर जो कुछ चल रहा है, उसके अच्छे और बुरे परिणामो को तौलने की तुला हमारी बुद्धि ही है। मानव-जीवन का सबसे बड़ा शास्त्र चिन्तन और अनुभव है। जिसे आज शास्त्र कहा जाता है, आखिर, वह भी तो किसी युग के व्यक्ति-विशेष का चिन्तन और अनुभव ही है। बुद्धि के बिना तो शास्त्र के मर्म को भी नही समझा जा सकता। इस-लिए जीवन और जगत मे शास्त्रो का भी शास्त्र बुद्धि को माना गया है। यदि बुद्धि न होती तो इन शास्त्रो का निर्माण भी कैसे होता ? और फिर जिन्हे हम शास्त्र कहते हैं, उनमे भी जहाँ-तहाँ परस्पर विरोधी बातो का उल्लेख मिल जाता है। वहाँ कैसे निर्णय करोगे ? यदि कहो कि बुद्धि से और तर्क से, तब तो शास्त्र बडा नही, बुद्धि ही बडी रही और वस्तुत बुद्धि ही सबसे बडी है। बुद्धि के बिना ससार का एक भी कार्य सफल नही हो सकता। जीवन और जगत के प्रत्येक व्यवहार मे बुद्धि की बडी आवश्यकता है। यह माना कि शास्त्र बडा है, और उसकी शिक्षा देने वाला गुरु भी बडा है। किन्तु जरा कल्पना तो कीजिए—शास्त्र भी हो और गुरु भी हो, परन्तु शास्त्र के गम्भीर रहस्य को और गुरु के उपदेश के मर्म को समझने के लिए बुद्धि न हो तो क्या प्राप्त हो सकता है ? शास्त्र और गुरु केवल मार्ग-दर्शक हैं। सत्य एव असत्य का निर्णय, अच्छे और बुरे का निश्चय, आखिर बुद्धि को ही करना है। एक ही शास्त्र के एक ही वचन का अर्थ करने मे विचार भेद हो जाने पर उसका निर्णय भी अन्ततोगत्वा बुद्धि ही करती है। शास्त्रो के अनेक वचन देश-काल और व्यक्ति-विशेष के सदर्भ मे साम-यिक भी होते हैं, त्रैकालिक नही। और इस उपयोगिता अनुपयोगिता का निर्णय, हजारो वर्षो बाद कौन करता है ? पाठक की विवेकशील बुद्धि ही उक्त निर्णय करने की क्षमता रखती है। भले ही आज हमारी बुद्धि पुराने महासागरो के सामने एक लघु बिन्दु के समान हो, परन्तु हमारा बिन्दु ही हमारे काम आएगा, जीवन की समस्याओ का फैसला उसे ही करना होगा।"

ज्ञानी एव अनुभवी सत की इस तथ्य पूर्ण बात को सुनकर वे सब श्रद्धाशील भक्त और पण्डे बडे प्रसन्न हुए। सत के अनुभव से अनु-प्राणित तर्क के समक्ष वे सब नतमस्तक थे। सत के कहने का ढग इतना मधुर एव प्रिय था, कि सत की बात उन सब लोगो के गले आसानी से उतर गई और उन लोगो ने यह समझ लिया कि जीवन मे शास्त्र और गुरु का महत्व होते हुए भी, अन्त मे सत्य एव तथ्य का निर्णय बुद्धि ही

को करना पड़ता है।

आप प्रस्तुत कथा सुन कर विचार करेंगे तो पता लगेगा कि इस कथा में क्या रहस्य अन्तर्निहित है? कार्य-कारण की एक-स्थानीयता का यह प्रमुख उदाहरण है। सन्त ने कहा है कि जल यहाँ है और सूर्य दूर है, भला यहाँ का जल सुदूर सूर्य लोक में कैसे तृप्ति का साधन हो सकता है? जल यहाँ है और खेत सुदूर प्रदेश में हैं। यहाँ का गंगा जल उन खेतों की इतनी दूर कैसे सिंचाई कर सकता है? जहाँ कारण है, वहीं उसका कार्य भी हो सकता है। ऐसा नहीं कि कारण कहीं है, और कार्य कहीं अन्यत्र हो जाए। कारण और कार्य में न देश का व्यवधान होना चाहिए और न काल का ही। कारण के अव्यवहित उत्तर क्षण में और उसी कारण के प्रदेश में कार्य हो जाना चाहिए। निश्चय दृष्टि से विचार करते हैं, तो दार्शनिक क्षेत्र का यह निर्णय पूर्ण रूप से अकाट्य निर्णय है। मिट्टी से घड़ा बनता है। व्यवहार-प्रधान साधारण दृष्टि से भले ही खान में पड़ी हुई, या कुम्हार के घर पर पिण्डरूपेण तैयार की हुई मिट्टी को घड़े का कारण कह दें। परन्तु निश्चय दृष्टि से विचार करें, तो वह मिट्टी घट का कारण नहीं है। जिससे कालान्तर में कार्य हो वह कैसे कारण हो सकता है। अस्तु, कार्य-कारण के सिद्धान्तानुसार निश्चय में वही मिट्टी जो चाक पर चढ़कर स्थास कोश कुशूल आदि विभिन्न पर्यायों की अवस्थाओं को पार करती हुई जब घट पर्याय के उत्पत्ति क्षण से पूर्व क्षण में पहुँचती है, जिसके अनन्तर बिना किसी अन्य पर्याय एवं क्षण के घट कार्य होता है, वही पूर्व पर्याय विशिष्ट मिट्टी ही उत्तर पर्याय रूप घट का कारण होती है।

कार्य कारण के सम्बन्ध में विचार-चर्चा काफी सूक्ष्म होती जा रही है। आप सब इतनी गहराई में सम्भव है, नहीं जाना चाहेंगे। अस्तु, संक्षेप में आप इतना ही हृदयंगम कीजिए कि कारण कार्य में देश काल का व्यवधान नहीं होता है। जब कि स्थूल भौतिक कार्य कारण में भी यह सिद्धान्त निश्चित है, तब आत्मा के आध्यात्मिक क्षेत्र में तो यह विपरीत हो ही कैसे सकता है? आत्मा का मोक्ष कार्य है और सम्यग्दर्शनादि धर्म मोक्ष का कारण है। मोक्ष और मोक्ष का साधन धर्म दोनों ही आत्मस्वरूप हैं। क्योंकि जब सम्यग् दर्शन आदि आत्म स्वरूप हैं तो उनका कार्य मोक्ष भी आत्म स्वरूप ही होना चाहिए। अतएव मोक्ष का लोक आत्मा है, आकाश विशेष नहीं। ऐसा नहीं हो

सकता कि कारण चैतन्य मे हो, और उसका कार्य जड मे हो जाए। चित् का कार्य चित् मे ही हो सकता है और वह चिद्रूप ही हो सकता है।

मै आपसे मोक्ष और उसके मार्ग की बात कह रहा था। मैंने आपको यह बतलाने का प्रयत्न किया था कि मोक्ष और मोक्ष का साधन धर्म आत्मा मे ही रहते है, कही बाहर नही। जहाँ कही आगमो मे लोकाग्र भाग मे मोक्ष का स्थानरूपेन उल्लेख है, वह व्यवहार दृष्टि से औपचारिक कथन है, नैश्चयिक नही। तर्क द्वारा प्राप्त निर्णय ही मोक्ष सम्बन्धी स्थान और स्थिति की गुत्थी को सुलझा सकता है। जब आत्मस्वरूप भूत मोक्ष का निवास आत्मा के अन्दर ही है, तब उसका साधन अर्थात् कारण भी आत्मा के अन्दर ही होगा। कभी यह नही हो सकता, कि आत्मा कही रहे, उसका मोक्ष कही रहे, और उसका मार्ग एव उपाय कही अन्यत्र रहे।

चेतन की क्रियाओ का आधार चेतन ही हो सकता है, जिस प्रकार जड की क्रियाओ का आधार जड तत्व होता है। शरीर की क्रियाओ एव चेष्टाओ को जैन-दर्शन आस्रव की कोटि मे डाल देता है, क्योंकि वे जड की क्रियाएँ हैं, आत्मा के निज स्वरूप की क्रियाएँ नही है। जो आत्मा के निज स्वरूप की क्रियाएँ होती है, वे ही मोक्ष मार्ग बनती हैं। इसलिए आत्मा से भिन्न शरीर आदि की जड क्रियाएँ मोक्ष प्रदान नही कर सकती, जब तक कि साधना के मूल मे शुद्धोपयोग एव शुद्ध ज्ञान चेतना की क्रियाशीलता न हो। अध्यात्मवादी दर्शन कहता है, कि जब मोक्ष मे शरीर ही साथ नही जाता और वह यही रह जाता है, तब उसका वेश आदि, जो एक बाह्य, तत्त्व है, एक जड तत्व है, मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है? ये वेश आदि बाह्य उपकरण शरीराश्रित होते हैं, इसलिए निश्चय दृष्टि से वे मोक्ष के अग नही बन सकते। और तो क्या, बाह्य तप भी शरीराश्रित होने से साक्षात् मोक्ष रूप मे स्वीकृत नही है। हाँ, व्यवहार नय से यदि उन्हे मोक्ष का अग माना जाए, तो किसी को किसी प्रकार की आपत्ति नही हो सकती। निश्चय दृष्टि मे तो सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये ही मोक्ष के कारण हैं और ये ही मोक्ष के अग हैं। अशुभ उपयोग से हटकर शुभ उपयोग मे और अन्तत शुभ उपयोग से भी हटकर आत्मा जब शुद्ध उपयोग मे स्थिर हो जाएगा, तभी वस्तुत उसका मोक्ष हो सकेगा। यह निश्चित है, कि अशुभ और शुभ दोनो ही द्वारो को बन्द

करना पड़ेगा। यदि पाप से मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती तो यह भी सुनिश्चित है कि पुण्य से भी मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती। कुछ काल के लिए शुभ साधक की साधना का विश्राम-स्थल भले ही बन जाए, किन्तु वह उसका ध्येय नहीं बन सकता। शुभ अशुभ की निवृत्ति के लिए होना है पुण्यत्व की प्राप्ति के लिए नहीं। अध्यात्म शास्त्र में साधक की साधना का एक मात्र ध्येय है—वीतराग भाव एवं स्वरूप रमणता। अपने स्वरूप में स्व के रमण को ही जैन दर्शन सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र कहता है। सम्यक् दर्शन क्या वस्तु है और उसका क्या स्वरूप है? इसकी चर्चा मैं विस्तार के साथ आगे करूंगा किन्तु यहाँ पर आप सम्यक् दर्शन का इतना ही अर्थ समझें कि अपने आत्म-स्वरूप की प्रतीति, आत्म-स्वरूप का विश्वास और आत्म स्वरूप पर आस्था होना ही सम्यक् दर्शन है। अध्यात्मवादी दर्शन यह कहता है, कि आपको ईश्वर की सत्ता पर आस्था हो या न हो परन्तु स्वयं अपनी आत्मा की सत्ता पर आस्था होना सबसे बड़ी बात है। मैं समझता हूँ कि जिसको अपनी आत्म-सत्ता पर विश्वास है उसे ही परमात्म सत्ता पर भी विश्वास हो सकता है। क्योंकि जो आत्मवादी होता है वही कर्मवादी भी हो सकता है और जो कर्मवादी होता है वही लोकवादी भी हो सकता है। परन्तु जिसको अपनी आत्मा की सत्ता पर ही आस्था नहीं है, उसे कभी भी कर्म पर विश्वास नहीं हो सकता और जिसका कर्म पर विश्वास नहीं है उसका लोक परलोक पर भी विश्वास नहीं हो सकता। मोक्ष पर विश्वास तो होगा ही कहाँ से? अस्तु, सच्चा आत्मवादी ही मोक्ष की साधना कर सकता है। अपने मूल-स्वरूप की प्रतीति ही सबसे मुख्य बात है। जिसने अपनी मूल सत्ता पर आस्था और श्रद्धा नहीं की वह अन्य किसी पर भी सम्यक् विश्वास नहीं कर सकता। 'मैं हूँ' इस पर पूर्ण प्रतीति के साथ विश्वास करो क्योंकि 'मैं' की सत्ता की शुद्ध आस्था ही यथार्थ में सम्यक्-दर्शन है।

सम्यग्-दर्शन आत्म-सत्ता की आस्था है। सम्यक् दर्शन आत्मा का स्वरूप विषयक एक दृढ़ निश्चय है। मैं कौन हूँ? मैं क्या हूँ? मैं कैसा हूँ? इसका अन्तिम निर्णय एवं निश्चय ही सम्यक् दर्शन है। संसार में अनन्त पदार्थ हैं, अनन्त चेतन और अनन्त जड़ हैं। जड़ और चेतन में भेद विज्ञान करना यही सम्यक् दर्शन का वास्तविक उद्देश्य है। स्व और पर का आत्मा और अनात्मा का चैतन्य और जड़ का जब

तक भेद-विज्ञान नही होगा, तब तक यह नही समझा जा सकता कि साधक को स्व-स्वरूप की उपलब्धि हो गई है। स्व-स्वरूप की उपलब्धि होते ही, यह आत्मा अहता और ममता के बन्धनो मे बद्ध नही रह सकता। जिसे आत्म-बोध एव चेतना-बोध हो जाता है, वही आत्मा यह निश्चय कर सकता है, कि मैं शरीर नही हूँ, मैं मन नही हूँ, क्योकि यह सब कुछ भौतिक है एव पुद्गलमय है। इसके विपरीत मैं चेतन हूँ, आत्मा हूँ तथा मैं अभौतिक हूँ, पुद्गल से सर्वथा भिन्न हूँ। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और पुद्गल कभी ज्ञान स्वरूप नही हो सकता। जबकि आत्मा और पुद्गल मे इस प्रकार मूलत एव स्वरूपत विभेद है, तब दोनो को एक मानना अध्यात्म-क्षेत्र मे सबसे बडा अज्ञान है और यही सबसे बडा मिथ्यात्व है। यह अज्ञान और मिथ्यात्व सम्यक्दर्शन-मूलक सम्यक् ज्ञान से ही दूर हो सकता है। सम्यग्-दर्शन और सम्यक्ज्ञान से ही आत्मा यह निश्चय करता है, कि अनन्त अतीत मे भी जब पुद्गल का एक कण मेरा अपना नही हो सका, तब अनन्त अनागत मे वह मेरा कैसे हो सकेगा, और वर्तमान के क्षण मे तो उसके अपना होने की आशा ही कैसे की जा सकती है? मै, मैं हूँ और पुद्गल पुद्गल है। आत्मा कभी पुद्गल नही हो सकता, और पुद्गल कभी आत्मा नही हो सकता। इस प्रकार का बोध-व्यापार ही वस्तुत सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। साधक कही भी जाए और कही पर भी क्यो न रहे, उसके चारो ओर नाना प्रकार के पदार्थों का जमघट लगा रहता है। पुद्गल की सत्ता को कभी मिटाया नही जा सकता। यह कल्पना करना भी दुस्सह है, कि कभी पुद्गल नष्ट हो जाएगा, और जब पुद्गल नष्ट हो जाएगा, तब मेरी मुक्ति हो जाएगी। इस विश्व के कण-कण मे अनन्त-अनन्तकाल से पुद्गल की सत्ता रही है और अनन्त भविष्य मे भी वह रहेगी। तब भव-बन्धन से मुक्ति कैसे मिले? यह प्रश्न साधक के सामने आकर खडा हो जाता है। अध्यात्म-शास्त्र इसका एक ही समाधान देता है, कि पुद्गल के अभाव की चिन्ता मत करो। साधक को केवल इतना ही सोचना और समझना है, कि आत्मा मे अनन्तकाल से पुद्गल के प्रति जो ममता है, उस ममता को दूर किया जाए और जब पुद्गल की ममता ही दूर हो गई, तब एक पुद्गल तो क्या, अनन्त-अनन्त पुद्गल भी आत्मा का कुछ बिगाड नही सकते। सम्यक् ज्ञान का अर्थ है—आत्मा का ज्ञान, आत्मा के विशुद्ध स्वरूप

का ज्ञान। आत्म विज्ञान की उपलब्धि ज्ञान के द्वारा अन्य भौतिक ज्ञान की उपलब्धि न होने पर भी आत्मा का कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। ज्ञान की अल्पता भयकर नहीं है, उसकी अज्ञान-रूप विपरीतता ही भयकर है। आत्म-ज्ञान यदि कम भर है तो वह मन भर भौतिक ज्ञान से भी अधिक श्रेष्ठतर एवं श्रेष्ठतम है। आत्म-साधना में ज्ञान की विपुलता अपेक्षित नहीं है किन्तु ज्ञान की विशुद्धता ही अपेक्षित है।

एक आचार्य के अनेक शिष्य थे। उनमें सभी प्रकार के शिष्य थे कुछ ज्ञानी और कुछ तपस्वी। उनमें एक मन्द बुद्धि शिष्य भी था। उसकी अवस्था परिपक्व थी। गुरु उसे सिखाने का बहुत कुछ प्रयत्न करते थे किन्तु उसे कुछ भी समझ नहीं पड़ती था। अपनी बुद्धि की मन्दता पर उसे बड़ा दुःख था और इसलिए वह सदा खिन्न रहा करता था।

एक दिन उसे खिन्न एवं उदासीन देखकर गुरु ने पूछा—'तू इतना खिन्न और उदासीन क्यों रहता है? तू गृहस्थ की ममता छोड़ कर साधना के क्षेत्र में आया है। यहाँ आकर तुझे सर्वथा स्वस्थ एवं प्रसन्न रहना चाहिए। साधक के जीवन के साथ खिन्नता और उदासीनता का मेल नहीं बैठता है, वत्स!

शिष्य ने कहा—'गुरुदेव! आपका कथन यथार्थ है। मुझे खिन्न और उदासीन नहीं रहना चाहिए। आपके चरणों में मुझे किसी भी प्रकार का अभाव नहीं है। आपका असीम अनुग्रह ही मेरे जीवन की सबसे बड़ी थाती है। परन्तु क्या करूँ अपनी मन्द-बुद्धिता पर मुझे बड़ा दुःख होता है। मैं अधिक शास्त्राध्ययन नहीं कर सकता। मुझे तो थोड़े से में बहुत कुछ आ जाए, आपकी ऐसी कृपा चाहिए।

गुरु ने कहा—"चिन्ता मत कर। मैं तुझे ऐसा ही थोड़ा एक सा सूत्र बतला देता हूँ उसका तू चिन्तन-मनन करो अवश्य ही तेरी आत्मा का कल्याण होगा। समग्र धर्म और दर्शन की चर्चा का सार इस एक सूत्र में आ जाता है।

गुरु ने अपने उस मन्दबुद्धि शिष्य को यह सूत्र बतलाया—'मा रुष मा तुष। इसका अर्थ है—न किसी के प्रति द्वेष कर और न किसी के प्रति राग कर। अर्थात् साधना का सार निर्विकल्प समभाव है।

गुरु ने अनुग्रह करके बहुत ही छोटा किन्तु अर्थ गम्भीर सूत्र बतला

तो दिया, किन्तु वह शिष्य इतना अधिक मन्द-बुद्धि था, कि उसे वह लघु सूत्र भी याद नही रहा। उसके बदले वह "मासतुष" रटने लगा। जिसका अर्थ होता है—उडद का छिलका। इसी को गुरु के द्वारा दिया हुआ सूत्र समझकर वह निरन्तर रटता रहा और जपता रहा। रटते-रटते उसकी भावना विशुद्ध और विशुद्धतर होती गई। अभ्यास मे बडी शक्ति होती है। निरन्तर का अभ्यास और निरन्तर की साधना से, सब कुछ साधा जा सकता है। भले ही गुरु के द्वारा दिए गए सूत्र के शब्द उसे अक्षरश याद न रहे, किन्तु गुरु द्वारा दी गई भावना को उसने पकडे रखा। शक्ति शब्द मे नही रहती, उसकी भावना और अर्थ मे रहती है। शब्द जड है, क्योंकि वह भाषा-रूप होता है, किन्तु जब उस शब्द मे भावना का रस उँडेल दिया जाता है, श्रद्धा एव आस्था का रस डाल दिया जाता है, तब उसमे अनन्त शक्ति प्रकट हो जाती है।

गुरु ने अपने मन्द बुद्धि शिष्य को जो सूत्र दिया था, उसकी भावना यह थी कि—किसी पर द्वेष मत करो और किसी पर राग मत करो। राग और द्वेष यही सबसे बडे बन्धन है। राग और द्वेष के विकल्प जब तक दूर नही होंगे, तब तक अध्यात्म साधना सफल नही हो सकती। राग और द्वेष के विकार को दूर करने के लिए ही साधना की जाती है। शिष्य को अपने गुरु के वचनो पर अटल आस्था थी, इस-लिए उस सूत्र को शब्दश न समझने पर भी रटता रहा, जपता रहा। कथाकार कहते है कि मन्द-बुद्धि शिष्य ने मासतुष के अर्थ पर ही चिन्तन प्रारम्भ कर दिया कि जैसे उडद और उसका छिलका भिन्न है, उसी प्रकार मैं और मेरा शरीर भिन्न है। जैसे काला छिलका दूर होने पर उडद अन्दर से श्वेत निकलता है, वैसे ही काले विकारो के दूर होने पर अन्दर से आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। इस प्रकार शब्द से गलत, किन्तु अर्थ से सत्य उस सूत्र का भावात्मक ध्यान करते हुए एक दिन उस मन्द बुद्धि शिष्य को केवल ज्ञान की वह अमर ज्योति प्राप्त हो गई, जो एक बार प्रज्वलित होकर फिर कभी बुझती नही है, जो एक बार प्रकट होकर फिर कभी नष्ट नही होती है। आचार्य के दूसरे शिष्य, जो बडे-बडे ज्ञानी और पण्डित थे, इस मन्द बुद्धि शिष्य के समक्ष हतप्रतिभ हो गए। केवल ज्ञान की महाप्रभा के समक्ष उनके ज्ञान की प्रभा उसी प्रकार फीकी पड गई, जैसे कि सूर्योदय होने पर तारा-मण्डल की प्रभा फीकी पड जाती है। गुरु को तथा अन्य

अनेक शिष्यों को जब उक्त तथ्य का पता चला तब वे सब आश्चर्य चकित हो गए। गुरु के हृदय में इस बात की परम प्रसन्नता थी कि मेरे शिष्य का अज्ञान सर्वथा दूर हो गया और केवल-ज्ञान की वह अमर ज्योति उसे प्राप्त हो गई जो अभी तक मुझे और अन्य शिष्यों को भी प्राप्त नहीं हो सकी है। इससे बढ़कर गुरु को और क्या प्रसन्नता हो सकती थी?

मैं आपसे कह रहा था कि जब तक अन्तर के विकल्प और विकार दूर नहीं होंगे तब तक आत्म-साधना का फल प्राप्त नहीं हो सकता। यदि ज्ञान आत्मा के राग द्वेषात्मक विकल्पों को दूर नहीं कर सकता तो वह वास्तव में सम्यक ज्ञान ही नहीं है। वह सूर्य ही क्या जिसके उदय हो जाने पर भी रात्रि का अन्धकार शेष रह जाए? सम्यक् ज्ञान की उपयोगिता इसी में है, कि उसके द्वारा साधक अपने विकल्प और विकारों को समझ सके। उन्हें दूर करने की दिशा में उचित विचार कर सके।

आत्म-सत्ता की सम्यक् प्रतीति हो जाने पर और आत्म-स्वरूप की सम्यक उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति हो जाने पर भी जब तक उस प्रतीति और उपलब्धि के अनुसार आचरण नहीं किया जाएगा तब तक साधक की साधना परिपूर्ण नहीं हो सकेगी। प्रतीति और उपलब्धि के साथ आचार आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। हमने यह विश्वास कर लिया कि आत्मा है, हमने यह भी जान लिया कि आत्मा पुद्गल से भिन्न है, परन्तु जब तक उसे पुद्गल से पृथक करने का प्रयत्न नहीं किया जाएगा तब तक साधक को अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। सम्यक् दर्शन होने का सबसे बड़ा फल यही है, कि आत्मा का अज्ञान सम्यक ज्ञान में परिणत हो गया। परन्तु सम्यक् ज्ञान का फल यह है कि आत्मा अपने विभाव को छोड़कर स्वभाव में स्थिर हो जाए। आत्मा अपने विकल्प और विकारों को छोड़कर स्व-स्वरूप में लीन हो जाए। विभाव विकल्प और विकारों से पराङ्मुख होकर अन्तर्मुख होना इसी को स्वरूप रमण कहा जाता है। और स्वरूप में रमण करना अर्थात् स्व-स्वरूप में लीन हो जाना यही आध्यात्मिक भाषा में सम्यक चारित्र है। यही विशुद्ध संयम है और सर्वोत्कृष्ट शील है। चारित्र, आचार, संयम और शील आत्मा से भिन्न नहीं हैं। आत्मा की ही एक शुद्ध शक्ति-विशेष है। जैन-दर्शन कहता है कि—विश्वास को विचार में बदलो और विचार को आचार में बदलो तभी साधना परिपूर्ण होगी।

चारित्र, अथवा आचार का अर्थ केवल बाह्य क्रिया काण्ड ही नही है। बाह्य क्रिया काण्ड तो अनन्त काल से और अनन्त प्रकार का किया गया है, किन्तु उससे लक्ष्य की पूर्ति नही हो सकी। बाह्य क्रिया काण्ड अध्यात्म-साधना मे यथावसर उपयोगी एव सहायक तो हो सकता है, किन्तु वही सब कुछ नही है। सम्यक् चारित्र आत्म-स्थिति रूप है, अत वह आत्मरूप है, अन्य रूप नही।

अध्यात्मवादी दर्शन के समक्ष जीवन का सबसे बडा लक्ष्य स्वरूप की उपलब्धि, स्व-स्वरूप मे लीनता और स्व-स्वरूप मे रमणता है। शास्त्र की परिभाषा मे इसी को भाव चारित्र कहा जाता है। जीवन विकास के लिए द्रव्य और भाव दोनो की आवश्यकता है। परन्तु अनिवार्यता और अपरिहार्यता भाव की ही रहेगी। यदि भाव है तो द्रव्य का भी मूल्य आका जा सकता है। किन्तु,भावशून्य द्रव्य का कुछ भी मूल्य नही है। यदि केवल एक का अक ही है, शून्य नही है, तब भी उस एक अक का मूल्य है, किन्तु अक-शून्य शून्य बिन्दुओ का क्या मूल्य हो सकता है? भले ही उन शून्य बिन्दुओ की कितनी ही सख्या क्यो न हो। यदि शून्य बिन्दुओ के प्रारम्भ मे कोई भी अक होगा, तो जितने शून्य बिन्दु बढते जाएँगे उसकी सख्या का महत्व भी उतना ही अधिक बढता जाएगा। अध्यात्मवादी दर्शन गणित के इसी सिद्धान्त को अध्यात्म-क्षेत्र मे लागू करना चाहता है। वह कहता है कि यदि निश्चय चारित्र नही है, निश्चय-शून्य केवल व्यवहार चारित्र है, तो उससे कभी भी स्व-स्वरूप की अभिव्यक्ति नही हो सकती। व्यवहार का मूल्य अवश्य है, उससे इन्कार नही किया जा सकता, किन्तु उसका मूल्य और महत्त्व निश्चय के साथ ही है, निश्चय से अलग नही। निश्चय से शून्य व्यवहार भी व्यवहार नही है, वह मात्र व्यवहाराभास है, जो आत्मा को और अधिक बन्धन मे डालता है।

मैं आपसे मोक्ष मार्ग की, मुक्ति के उपाय एव साधनो की चर्चा कर रहा था। मैंने सक्षेप मे यह बतलाने का प्रयत्न किया, कि अध्यात्म-क्षेत्र मे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का कितना महत्व है, कितना मूल्य है और कितना उपयोग है? ये तीनो ही मुक्ति के उपाय हैं, पृथक् रूप से नही, समुचित रूप से। सम्यक् दर्शन मिथ्या ज्ञान को भी सम्यक् ज्ञान बना देता है। आकाश मे स्थित सूर्य जब मेघो से आच्छन्न हो जाता है, तब यह नही सोचना चाहिए कि अब अनन्त गगन मे सूर्य की सत्ता नही रही। सूर्य की सत्ता तो है, किन्तु बादलो के

कारण उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। परन्तु जैसे ही सूर्य पर छाये वाले बादल हटने लगते हैं, तो सूर्य का प्रकाश और आतप एक साथ गगन मण्डल और भूमण्डल पर फैल जाता है। ऐसा मत समझिए कि पहले प्रकाश आता है फिर आतप आता है अथवा पहले आतप आता है फिर प्रकाश आता है। दोनों एक साथ ही प्रकट होते हैं। इसी प्रकार ज्यों ही सम्यक् दर्शन होता है त्यों ही—तत्काल ही सम्यक् ज्ञान हो जाता है। उन दोनों के प्रकट होने में क्षण मात्र का भी अन्तर नहीं रह पाता। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान चतुर्थ गुणस्थान में प्रकट हो जाते हैं। किन्तु सम्यक् चारित्र की उपलब्धि पाँचवें गुण स्थान से प्रारम्भ होती है। वैसे तो अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षयोपशमादि की दृष्टि से मोह-क्षोभ हीनता एवं स्वरूप-रमणता रूप चारित्र अंशतः सम्यग् दर्शन एवं सम्यग् ज्ञान के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। दर्शन की परिपूर्णता अधिकतम सातवें गुणस्थान तक हो जाती है और ज्ञान की परिपूर्णता तेरहवें गुण स्थान में होती है तथा चारित्र की परिपूर्णता तेरहवें गुण स्थान के अन्त में एवं शैलेशी अवस्था रूप चौदहवें गुण स्थान में होती है। जैन-दर्शन के अनुसार उक्त तीनों साधनों की परिपूर्णता का नाम ही मोक्ष एवं मुक्ति है। यही अध्यात्म-जीवन का चरम विकास है।

४ विवेक-दृष्टि

* * *

मोक्ष क्या है ? और उसका साधन क्या है ? यही विचारणा आपके समक्ष चल रही है। विषय अत्यन्त गम्भीर है, परन्तु इस गम्भीर विषय को समझे विना मानव अपने जीवन के ध्येय को प्राप्त नही कर सकता, मानव अपने लक्ष्य की पूर्ति नही कर सकता। मनुष्य को विवेक-वुद्धि मिली है। विवेक-वुद्धि के वल से वह कठिन को भी सरल वना सकता है।

मोक्ष और उसके स्वरूप की चर्चा कठिन क्यो लगती है ? क्या वह वस्तुत ही कठिन है ? समझने जैसा नही है ? जो अपना स्वरूप है वह समझ मे न आए, यह कैसे हो सकता है ? वात केवल इतनी ही है, कि उसे समझने का सच्चे हृदय से कभी प्रयत्न नही किया गया। ऐसा कौन सा विषय है, जो प्रयत्न करने पर भी समझ मे न आए। इस मोह-मुग्ध ससारी आत्मा ने अनन्त-अनन्त काल से पुद्गल से प्रीति की है, पुद्गल से ममता-भाव किया है, अत पुद्गल की वात जल्दी समझ मे आती है। मोक्ष और आत्मा की वात अपनी निज की होते हुए भी इसलिए समझ मे नही आती कि उसमे हमारी प्रीति

और अभिरुचि जमती नहीं है, स्वस्वरूप में अन्तर्मन स्थिर नहीं होता है।

मैं आपसे कह रहा था कि मोक्ष क्या है और उसकी प्राप्ति का साधन क्या है? इस विषय पर विचार करना ही सच्ची आध्यात्मिकता है। क्या आपने कभी यह समझने का प्रयत्न किया है, कि आपकी आत्मा में अनन्त ज्ञान होते हुए भी आप अल्पज्ञ क्यों हैं? आपकी आत्मा में अनन्त शक्ति होते हुए भी आप दुर्बल क्यों हैं? आप मूल में निर्मल एवं निर्विकार होते हुए भी मलिन एवं विकारी क्यों हैं? इन समस्त प्रश्नों का एक ही समाधान है, कि आत्मा अनन्त काल से अज्ञान के बन्धन से बद्ध है। उसमें राग और द्वेष आदि कषाय के विकल्पों का तूफान उठता रहता है। आत्मा अपने ही विकार एवं विकल्पों की उलझनों में अनन्त काल से उलझ रहा है। कर्म का यह जाल जिसमें आत्मा बद्ध है, कहीं बाहर से नहीं आया। आत्मा ने स्वयं इसको उत्पन्न किया है और आत्मा स्वयं ही इसको तोड़ भी सकता है। आत्मा अपने विकारों के जाल में उसी प्रकार फँसा हुआ है, जिस प्रकार मकड़ी स्वयं अपने बुने जाल में फँस जाती है। मछियारा अपना जाल किसी सरोवर में अथवा नदी में डालकर जैसे मछलियों को फँसा लेता है, वैसे कोई भी बाह्य शक्ति हमारी आत्मा को बन्धन में नहीं डाल सकती, जाल में नहीं फँसा सकती। मैं कहता हूँ कि आपकी बिना इच्छा के दुनियाँ की कोई भी ताकत आपको बन्धन में बाँध नहीं सकती। जैन-दर्शन एक बहुत बड़ी बात कहता है, कि आत्मा को बन्धन में डालने वाला आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा ईश्वर, परमात्मा तथा देवी और देवता नहीं हो सकता। आत्मा के स्वयं के राग, द्वेष और मोह आदि विकल्प ही बन्धन में कारण हैं, जो स्वयं उसके अन्दर से ही विभाव शक्ति के द्वारा उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक अध्यात्म-साधक को यह चिन्तन और मनन करना चाहिए, कि जिस जाल में तुम फँसे हो, वह तुम्हारे स्वयं के ही संकल्प, विकल्प और अध्यवसाय से बना है।

आत्मा अज्ञान से आवृत है। यह अज्ञान बाहर से नहीं आया गया, आत्मा के अपने वैभाविक परिणामों का ही यह प्रतिफल है। कुछ लोग विचारक यह विचार करते हैं, कि संसार के बाह्य पदार्थ हमें बन्धन में डालते हैं। परन्तु यथार्थ में यह बात सत्य नहीं है। जब तक मनुष्य के मन में राग और द्वेष की वृत्ति उत्पन्न न हो, तब तक

कोई भी बाह्य पदार्थ बाँध नहीं सकता। यदि राग और द्वेष की वृत्ति के बिना भी आत्मा बन्धन बद्ध होने लगे, तब तो बड़ी विचित्र स्थिति होगी। केवल ज्ञानी वीतराग आत्मा, जिसकी केवल ज्ञान-धारा सतत प्रवाहित रहती है, जिसके ज्ञान-रूप उपयोग में संसार के अनन्त-अनन्त पदार्थ प्रतिक्षण प्रतिबिम्बित होते रहते हैं, उसे भी बन्ध होने लगेगा। किन्तु ऐसा कभी होता नहीं है, हो सकता भी नहीं है। मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि किसी पदार्थ को ज्ञान-उपयोग के द्वारा जानने मात्र से तो बन्धन नहीं होता है। पदार्थों का परिज्ञान करना, यह तो आत्मा का अपना सहज स्वभाव है। यदि आत्मा अपनी ज्ञान-शक्ति से अपने से भिन्न संसार के अन्य पदार्थों को भी जानता है और देखता है, तो इसमें बुराई की कोई बात नहीं है, किसी पदार्थ को जानना मात्र बन्धन नहीं है। बन्धन तभी होता है, जब कि जानने के साथ मन में राग और द्वेष की वृत्ति उत्पन्न होती है।

कल्पना कीजिए—एक व्यक्ति आपके समक्ष खड़ा होकर आपके प्रति प्रिय अथवा अप्रिय शब्दों का प्रयोग करता है। इस स्थिति में प्रिय शब्द को सुन कर यदि आपके मन में राग उत्पन्न हो गया, तो वह बन्धन है। यदि अप्रिय शब्द को सुनकर आपके मन में द्वेष उत्पन्न हो गया, तो यह भी बन्धन है। परन्तु निन्दा और प्रशंसा सुनकर भी यदि आपका मन सम रहता है, मध्यस्थ रहता है, तो उस समय आपको न राग का बन्धन है और न द्वेष का बन्धन है। व्यवहार दृष्टि से शब्द प्रिय और अप्रिय हो जाते हैं। भाषा साधारण और असाधारण हो जाती है। निश्चय दृष्टि से तो शब्द और भाषा जड़ हैं, उनका अपना शुभत्व एवं अशुभत्व कुछ नहीं है। भाषा के पुद्गलों की दृष्टि से संसार के एक सामान्य व्यक्ति की भाषा और वीतराग प्रभु की वाणी दोनों ही एक रूप है, परन्तु वीतराग वाणी सुनकर यदि हमारे उपादान की तैयारी है तो कषाय का शमन हो जाता है, हमारे जीवन में एक बहुत बड़ा आध्यात्मिक परिवर्तन आ जाता है। और यदि उपादान की तैयारी नहीं है, शुद्ध उपयोग का परिणमन नहीं है, तो वीतराग वाणी सुनकर कर्मबन्ध भी हो सकता है। मति ज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन के माध्यम से ही होते हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, न मति ज्ञान हो सकता है और न श्रुतज्ञान हो सकता है। मन और इन्द्रियाँ हमारे ज्ञान में माध्यम हैं। इन्द्रिय और मन के होते हुए

भी जब तक उपयोग नहीं होता है, तब तक संसारी आत्मा को मति या श्रुत किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ अपने शब्द आदि विषयों को ग्रहण करती हैं और मन उन पर चिन्तन एवं मनन करता है, परन्तु यह सब उपयोग के द्वारा ही होता है। यदि उपयोग नहीं है, तो किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता।

कल्पना कीजिए आपके सामने मिष्टान्न से भरा थाल रक्खा है। आपने उसमें से अपने मन-पसन्द की एक मिठाई उठाई और मुख में रख ली और खाने भी लगे। किन्तु आपकी उपयोग-धारा विचारधारा उस समय कहीं अन्यत्र है। इस स्थिति में आपकी जिह्वा के साथ पदार्थ का स्पर्श होने पर भी उसमें उपयोग न लगने के कारण उसका परिज्ञान आपको नहीं हो पाता। ज्ञान तभी होता है, जब कि विभिन्न इन्द्रियाँ अपने विभिन्न विषयों को ग्रहण करें और साथ में उपयोग भी उनमें रहे। इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श ये पाँच विषय हैं। इनका ग्रहण इन्द्रियों के द्वारा होते हुए भी इनका परिबोध तब तक नहीं हो पाता जब तक ज्ञानोपयोग का विषयोन्मुख परिणमन न हो।

मैं आपसे कह रहा था कि शब्दादि विषयों के ज्ञान से बन्धन नहीं होता है। बन्धन होता है, उपयोग के पर-चेतना रूप अशुद्ध परिणमन से होने वाले राग और द्वेष आदि विकल्पों के कारण। ज्ञान का कार्य प्रकाश करना है न कि बन्धन। ज्ञान एक ऐसी शक्ति है, ज्ञान आत्मा का एक ऐसा गुण है जिसका स्वभाव है प्रकाश। ज्ञान अन्दर और बाहर दोनों ओर प्रकाश करता है। ज्ञान वह है जो स्वयं अपना बोध भी करता है और अपने से भिन्न पर पदार्थ का बोध भी करता है। जैन-दर्शन के अनुसार ज्ञानोपयोग स्व-पर प्रकाशक है। ज्ञानोपयोग आत्मा का एक बोध रूप व्यापार है। आत्मा का बोध-रूप व्यापार होने से वह आत्म स्वरूप ही है, वह आत्मा से भिन्न नहीं है। ज्ञान जब पर पदार्थ को जान सकता है तब अपने को वह क्यों नहीं जान सकता? जिस प्रकार घर की देहली पर रक्खा हुआ दीपक अपना प्रकाश अन्दर और बाहर दोनों ओर फैलाता है, जिससे घर के अन्दर रखी हुई वस्तुओं का बोध भी हो जाता है और घर से बाहर जो वस्तु है, उनका परिज्ञान भी हो जाता है। उसी प्रकार आत्म-स्थित ज्ञानोपयोग आत्मा के अन्दर की परिणति को भी जानता है और बाहर में स्थित घट-पट आदि पदार्थों को भी जानता है। स्व-पर का प्रकाश करना यह ज्ञान का

अपना निज स्वभाव है। ज्ञान का अर्थ केवल इतना ही है, जो कि पदार्थ जैसा है, वैसा उसका परिज्ञान आपको करा दे। वस्तु की जानकारी हो जाना, बन्धन नहीं है। और तो क्या, कोई पदार्थ अच्छा है या बुरा, यह जानना भी बन्धन नहीं है। बन्धन है, ज्ञात वस्तु के प्रति राग द्वेषात्मक विकल्पो का होना।

अध्यात्म-शास्त्र मे विश्व के अनन्त-अनन्त पदार्थो को तीन विभागो मे विभक्त कर दिया गया है—हेय, ज्ञेय और उपादेय। जानने योग्य पदार्थ को ज्ञेय कहते हैं, छोडने योग्य पदार्थ को हेय कहते हैं, और ग्रहण करने योग्य पदार्थ को उपादेय कहते हैं। हिंसा आदि और हिंसा आदि के साधन जिस हेय पदार्थ का त्याग करना है, उसके सम्बन्ध मे यह विचार करना चाहिए कि वह त्याज्य क्यो है? अहिंसा आदि और अहिंसा आदि के साधन उपादेय पदार्थ के विषय मे भी यह विचार करना चाहिए, कि वह उपादेय क्यो है? मेरे जीवन मे उसकी क्या उपयोगिता होगी? यदि आपने किसी पदार्थ विशेष को छोडने से पूर्व उसकी हेयता का सम्यक् परिबोध कर लिया है, तो वह त्याग आपका एक सच्चा त्याग होगा। यदि आपने किसी पदार्थ को छोडने से पूर्व उसकी हेयता का सम्यक् परिज्ञान नही किया है, केवल उसके प्रति घृणात्मक और द्वेषात्मक दृष्टिकोण के कारण ही आप उसका परित्याग करते हैं, तो आपका यह त्याग सच्चा त्याग नहीं है। इस प्रकार के त्याग से बन्धन-विमुक्ति नही हो सकती, अपितु कर्म बन्धन मे और अधिक अभिवृद्धि होती है। जीवन मे जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब उपादेय नही है, यह भी साधक को समझ लेना चाहिए। पुण्य के प्रकर्ष से जो कुछ भोग और उपभोग की सामग्री प्राप्त हुई है, क्या उसे उपादेय माना जाए? जैन दर्शन कहता है—नही, कदापि नही। जीवन-व्यवहार के लिए भोजन, वसन एव भवन आदि आवश्यक हो सकते हैं, किन्तु उपादेय नही। मुख्यत्वेन उपादेय तत्त्व वही है, जिसके ग्रहण करने से आत्मा का विकास हो, जिसके आचरण से आत्मा का कल्याण हो। अहिंसा, सत्य आदि सम्यक् आचार ही वस्तुत उपादेय हैं। जिस पदार्थ के ग्रहण करने से आत्म-साधना मे बाधा उपस्थित होती हो, उसे उपादेय नही माना जा सकता। ज्ञेय का अर्थ है—जानने योग्य पदार्थ। इस अनन्त विश्व मे चैतन्य और जड यह दो तत्त्व ही हैं जिन्हे ज्ञेय कहा जा सकता है। हेय और उपादेय भी प्रथमत ज्ञेय होते हैं। अपने को समझो और

अपने से भिन्न पर को भी समझो। पर को समझो और पर से भिन्न स्व को भी समझो। इस प्रकार स्व और पर के परिबोध से उत्पन्न होने वाला विवेक ही सच्चा ज्ञान है। जब साधक यह समझ लेता है, कि मैं आत्मा हूँ और पुद्गल मेरे से भिन्न है। पुद्गल से उत्पन्न होने वाली विभिन्न परिणतियाँ भी मेरी अपनी नहीं हैं। आत्म-सत्ता की इस दिव्य आस्था में से और आत्म सत्ता के इस दिव्य परिबोध में से ही साधक के साधना-पथ को आलोकित करने वाला हेय और उपादेय का विवेक उत्पन्न होता है। क्या हेय है और क्या उपादेय है? यह साधक की शक्ति और स्थिति पर निर्भर है, कि वह किस समय क्या छोड़े और क्या ग्रहण करे? परन्तु यह सुनिश्चित है कि ज्ञेय को जानने की, हेय को छोड़ने की और उपादेय को ग्रहण करने की विशुद्ध भावना ही हमारी अध्यात्म-साधना का मूल आधार है।

भगवान महावीर पावापुरी में विराजित थे। इन्द्रभूति गौतम जो उस युग का प्रकाण्ड पण्डित और प्रखर विचारक माना जाता था अपने ज्ञान की गरिमा से भगवान को अभिभूत करने के लिए आया। उसके पास प्रचण्ड पाण्डित्य था इसमें जरा भी सन्देह नहीं किया जा सकता पर साथ ही उस ज्ञानामृत में अहंकार का विष भी मिला हुआ था। जब ज्ञान में जो कि अपने आपमें एक विशुद्ध तत्त्व है, किसी प्रकार का विकार मिल जाता है, उस स्थिति में वह ज्ञान केवल विशुद्ध नहीं रह पाता अपितु विशुद्ध नहीं रह पाता वह मिथ्या हो जाता है। जिस समय इन्द्रभूति भगवान के समक्ष आकर खड़ा हुआ और भगवान की दिव्य वाणी से उसका अहंकार दूर हुआ उस समय इन्द्रभूति को जीवन का वह तत्त्व मिल गया जिसकी उपलब्धि उसे अभी तक नहीं हो पाई थी। भगवान ने इन्द्रभूति को त्रिपदी का ज्ञान दिया। वह त्रिपदी क्या है? हेय ज्ञेय और उपादेय। इस त्रिपदी के ज्ञान से इन्द्रभूति का मिथ्यात्व दूर हो गया उसकी आत्मा में सम्यक्त्व का दिव्य प्रकाश जगमगाने लगा। वह ज्ञानी बन गया। इसका अर्थ यह नहीं है, कि पहले उसे ज्ञान नहीं था। अलंकार की भाषा में कहा जाए तो उसका जीवन सिर की चोटी से लेकर पैर के अँगूठे तक ज्ञानमय था परन्तु उस ज्ञान का उपयोग आत्म विकास के लिए न होकर अहंकार के पोषण के लिए था। अतएव वह ज्ञान अज्ञान बन रहा था। इन्द्रभूति में अपनी प्रतिभा का चमत्कार अभी तक केवल दूसरों को पराजित करने के लिए ही

किया था, किन्तु अपने और दूसरों के आध्यात्मिक उत्थान के लिए नहीं। परन्तु विपदी का परिज्ञान हो जाने पर इन्द्रभूति के ज्ञानोपयोग की धारा ही बदल गई, वह अधोमुखी न रहकर ऊर्ध्वमुखी बन गई, अज्ञान से ज्ञान में परिवर्तित हो गई।

एक प्रश्न और उठता है, वह यह, कि पहले हेय और अन्त में उपादेय रखकर बीच में ज्ञेय क्यों रखा ? इसका उत्तर यह है, कि मध्य का ज्ञेय देहली-दीपक न्याय से दोनों ओर प्रकाश डालता है। इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञान का केन्द्र-बिन्दु सर्वप्रथम स्व और पर का ज्ञान है। अनन्तर हेय क्या है और उपादेय क्या है, इसका भी सम्यक् बोध होना चाहिए। उपादेय को भी अन्धा बनकर ग्रहण मत करो, उसमें भी कब और कितना ग्रहण करने का विवेक आवश्यक है। इसी प्रकार हेय भी ज्ञानपूर्वक ही होना चाहिए। क्या कुछ छोड़ना है, यह भी जानो और क्या कुछ ग्रहण करना है, इसे भी समझो। त्याग या ग्रहण कुछ भी करो, आँख खोलकर करो। आँख बन्द कर चलते रहने से लक्ष्य पर नहीं पहुँचा जा सकता। साधना के पथ पर अन्धे होकर चलने से किसी प्रकार का लाभ न होगा। साधक को उस अन्धे हाथी के समान नहीं होना चाहिए, जो मदमस्त होकर तीव्र गति से दौड़ता है, किन्तु कहाँ जा रहा है इसका परिज्ञान उसे नहीं होता। साधक को अध्यात्म-साधना की जो विवेक-ज्योति प्राप्त है, उसका सही उपयोग एवं प्रयोग करना चाहिए। जब आँख मिली है, तब उसका उपयोग क्यों न किया जाए ? यदि आँख मिलने पर भी व्यक्ति उसका यथोचित उपयोग नहीं करता, तो आँख प्राप्ति का उसे कोई लाभ नहीं हो सकता।

कल्पना कीजिए—एक व्यक्ति अन्धा है, आँखों का आकार तो उसे प्राप्त है, किन्तु देखने की शक्ति उसे प्राप्त नहीं है। इस प्रकार के नेत्र-हीन एवं दृष्टि रहित मनुष्य के सामने यदि सुन्दर-से-सुन्दर दर्पण भी रख दिया जाए, तो उसमें उसको क्या लाभ होगा ? क्या अपने प्रतिबिम्ब को वह उसमें देख सकता है ? यद्यपि दर्पण स्वच्छ एवं सुन्दर है, उसमें उसके मुख का प्रतिबिम्ब भी पड़ रहा है, फिर भी उसमें देखने की शक्ति न होने के कारण उसके जीवन में दर्पण का उपयोग एवं प्रयोग निरर्थक है। दर्पण का उपयोग और प्रयोग वही कर सकता है, जिसके पास देखने की शक्ति है। शास्त्र भी दर्पण के तुल्य है। तुल्य क्या, वास्तव में दर्पण ही है। परन्तु इस शास्त्र रूप दर्पण का प्रयोग एवं उपयोग किसके लिए है,

जिसके पास विवेक का निर्मल नेत्र हो, जिसके पास बुद्धि एवं ज्ञान की ज्योतिर्मय आँख हो। शास्त्र रूपी दर्पण में स्वच्छता और पवित्रता सब कुछ होने पर भी साधक में विवेक शक्ति न होने के कारण उसका उपयोग उसके लिए कुछ भी नहीं हो सकता। जीवन में विवेक हो तभी शास्त्र उपयोगी हो सकता है, अन्यथा नहीं। अनन्त गगन में चन्द्रमा का उदय हो चुका हो उसकी स्वच्छ एवं उज्ज्वल ज्योत्स्ना से सारा भू-मण्डल आप्लावित हो रहा हो। परन्तु उस चन्द्रमा का और उसकी ज्योत्स्ना का प्रत्यक्ष उसी को हो सकता है, जिसमें देखने की शक्ति हो। जो व्यक्ति अन्धा है अथवा जो अन्धा तो नहीं किन्तु जिसकी दृष्टि धुँधली है, वह व्यक्ति चन्द्रमा के उज्ज्वल स्वरूप का आनन्द नहीं ले सकता। यदि कोई दिव्य दृष्टि वाला व्यक्ति धुंधली दृष्टि वाले व्यक्ति को अपने हाथ की उँगली के संकेत से आकाश स्थित उज्ज्वल चन्द्र का ज्ञान कराए, तब भी उसे चन्द्र-ज्ञान से क्या लाभ होगा? जो व्यक्ति अपनी स्वयं की आँखों से चन्द्र को देख रहा है, वस्तुतः उसी का ज्ञान असली ज्ञान कहलाता है। महापुरुष आचार्य और गुरु हम कितना भी शास्त्र ज्ञान दें किन्तु जब तक स्वयं हमारे अन्दर विवेक-शक्ति का उदय नहीं होगा तब तक हम उस ज्ञान का सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। साधक के जीवन-विकास का आधार विवेक-दृष्टि ही है। जिसके पास विवेक दृष्टि है उसके लिए शास्त्र में भी सब कुछ है और शास्त्र से बाहर भी सब कुछ है। इसके विपरीत जिसको विवेक-दृष्टि की उपलब्धि नहीं हुई है, उसके लिए शास्त्र में भी कुछ नहीं और शास्त्र से बाहर भी कुछ नहीं। पोथाकुम्भ भगवान की सेवा में लगभग छह वर्ष तक रहा, परन्तु उसने भगवान् से क्या कुछ प्राप्त किया? ज्ञान के महासिन्धु के तट पर रहकर भी वह अपने जीवन में ज्ञान का एक बिन्दु भी प्राप्त न कर सका, जबकि इन्द्रभूति गौतम ने मिलन के प्रथम क्षण में ही त्रिपदी का परिबोध प्राप्त कर उसके आधार पर चतुर्दश पूर्वों की रचना कर डाली। एक सिन्धु में से बिन्दु भी प्राप्त न कर सका और दूसरे ने सिन्धु में से बिन्दु लेकर श्रुत-सिन्धु की सृष्टि कर दी। यह सब कुछ क्या है और क्यों है? क्या आपने कभी जीवन के इस सत्य को समझने का प्रयत्न किया है? यह सब कुछ विवेक दृष्टि का खेल है, यह सब कुछ विशुद्ध बुद्धि की महिमा है और यह सब कुछ सम्यक् ज्ञान की गरिमा है।

कल्पना कीजिए, एक यात्री किसी भयंकर सघन वन में से यात्रा कर रहा है। आगे चल कर वह मार्ग भूल जाता है और इधर-उधर भटकने लगता है। संयोगवश उसे एक मार्गज्ञ व्यक्ति मिल गया, उसने बहुत अच्छी तरह समझाकर गन्तव्य पथ की सही दिशा बतला दी। फिर भी यदि वह भटकने वाला दिशाविमूढ यात्री उस मार्ग को पकड न सके और उस पर आगे न बढ सके, तथा आगे बढ कर भी अपने लक्ष्य पर न पहुँच सके, तो मार्ग बताने वाले का उसमें क्या दोष है? वीतराग एवं सद्गुरु की अमृतवाणी ने हमें जीवन की सच्ची राह बताई, परन्तु अपने अज्ञान और अविवेक के कारण यदि हम उस पर न चल सकें तो इसमें न मार्ग का दोष है और न सही मार्ग बताने वाले का ही कोई दोष है। दोष है केवल व्यक्ति के अपने अज्ञान का और अपने अविवेक का। जैन-दर्शन कहता है कि सच्चा साधक विवेक-शील होता है और उसके लिए दिशा-दर्शन का संकेत ही पर्याप्त होता है। साधक उस पशु के तुल्य नहीं है, जिसे मार्ग पर लाने के लिए अथवा सही मार्ग पर चलाने के लिए बार बार ताडना करनी पडे। साधक की आत्मा उज्ज्वल और पवित्र होती है, अतः उसके लिए शास्त्र और गुरु का संकेत मात्र ही पर्याप्त है। मार्ग पर कब, कैसे और किधर से चलना, इसका निर्णय साधक की बुद्धि, साधक का विवेक और साधक का ज्ञान यथा प्रसंग स्वयं कर लेता है।

जैन-दर्शन के अनुसार साधक दो प्रकार के होते हैं—परीक्षा प्रधान और आज्ञा-प्रधान। इसका अर्थ यह हुआ कि जीवन-विकास के लिए तर्क और श्रद्धा दोनों की आवश्यकता है। तर्क जीवन को प्रखर बनाता है और श्रद्धा जीवन को सरस बनाती है। तर्क में श्रद्धा का समन्वय और श्रद्धा में तर्क का समन्वय जैन-दर्शन को अभीष्ट रहा है। तर्क करना, इसलिए आवश्यक है, कि साधना के नाम पर किसी प्रकार का अन्धविश्वास हमारे जीवन में प्रवेश न कर जाए। श्रद्धा, इसलिए आवश्यक है कि जीवन का कोई सुदृढ आधार एवं केन्द्र अवश्य होना चाहिए। तर्कशील व्यक्ति तर्क-वितर्क की ऊँची उडान में इतना ऊँचा न उड जाए, कि जिस धरती पर वह आवास करता है, उसका उससे सम्बन्ध-विच्छेद ही हो जाए, इसलिए श्रद्धा की आवश्यकता है। श्रद्धाशील व्यक्ति श्रद्धा एवं भक्ति के प्रवाह में हर किसी व्यक्ति की बात को, अपनी तर्क-बुद्धि का प्रयोग किए बिना स्वीकार कर इधर-उधर लुढक न जाए, इसलिए तर्क की आवश्यकता है। जैन दर्शन का कथन

है, कि जो कुछ सिद्धान्त प्रस्तुत किए जाएँ उनकी पहले परीक्षा करो। परीक्षा करने पर यदि वे आपके जीवन के लिए उपयोगी प्रतीत होते हों तो उन्हें स्वीकार करो। किसी भी ग्रन्थ किसी भी शास्त्र और किसी भी गुरु के वचन को इस आधार पर कभी भी स्वीकार मत करो कि यह हमारी परम्परा का है, हमारे पूर्वज इन्हें मानते रहे हैं, पूजते रहे हैं और इनके आदेशों का अक्षरशः पालन करते रहे हैं। पूर्वजों ने जो कुछ किया है वह सब कुछ हम भी करना ही चाहिए, भले ही आज के जीवन और जगत् में उसकी कोई उपयोगिता न रही हो। यह एक प्रकार का रूढ़िवाद है, यह एक प्रकार की अन्ध परम्परा है और यह एक प्रकार की बुद्धि की समाप्ति है। यह माना कि पुरातनकाल में जो कुछ त्याज्य रहा होगा उसमें बहुत कुछ ग्राह्य भी होता है। परीक्षा प्रधान साधक इस सत्य एवं तथ्य पर गम्भीरता के साथ विचार करता है। जहाँ पर जितना ग्राह्य होता है, वहाँ पर वह उतना ग्रहण करने के लिए सदा तैयार रहता है। परीक्षा-प्रधान साधक उस उपदेश और उस आदेश को कभी मानने के लिए तैयार नहीं होता जिसका उपयोग आज के जीवन और जगत् में निरर्थक हो चुका है। विचार करने के लिए जब मनुष्य के पास बुद्धि है, तर्क शक्ति है तथा सोचने और समझने का तरीका उसे आता है, तब वह क्यों अन्ध श्रद्धा और रूढ़िवाद के चक्कर में फँसेगा। इसके विपरीत आज्ञा प्रधान साधक वह है, जो अपनी बुद्धि का उपयोग एवं प्रयोग न करके जो कुछ और जैसा कुछ उसकी परम्परा के शास्त्र गुरु और महापुरुष ने कहा है, उसे ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेता है। यह एक प्रकार की विचार-जड़ता है, भले ही इस विचार-जड़ता से उसकी कितनी ही बड़ी हानि क्यों न होती हो आज्ञा-प्रधान साधक उस सबको चुपके चुपके सहन कर लेता है। अपनी बुद्धि के प्रकाश एवं आलोक का उसके जीवन में कोई उपयोग नहीं होता। आज्ञा-प्रधान साधक अपनी परम्परा के धर्म-ग्रन्थ और गुरु के वचन को आँख मूँद कर स्वीकार करता चलता है। शास्त्र क्या कहता है और क्यों कहता है? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए उसके पास अवकाश ही नहीं रहता। वह तो एक ही बात सोचता है, जो कुछ कहा गया है उसे स्वीकार करो और उसका पालन करो। परन्तु परीक्षा-प्रधान साधक शास्त्र-वचन को महापुरुष की वाणी को और गुरु के वचन को अपनी बुद्धि की तुला पर तोलता है तथा अपने तर्क की कसौटी पर कसता है, फिर उसमें से

जितना अश अपने लिए वर्तमान मे उपयोगी है, उतना ग्रहण कर लेता है और शेष को एक ओर रख छोडता है। आज्ञा मे धर्म है, इस कथन का अर्थ यह नही है, कि जो कुछ कहा गया है वह सव ज्यो-का-त्यों स्वीकार कर लिया जाए। जैन-दर्शन के अध्यात्म शास्त्र मे यह कहा गया है, कि आज्ञा मे धर्म अवश्य है, किन्तु यह तो विचार करो कि वह आज्ञा किसकी है, किसके प्रति है और उसके पालन से धर्म कैसे हो सकता है ? प्रत्येक सिद्धान्त को पहले अपनी प्रज्ञा की कसौटी पर कसो, फिर उसे अपने जीवन की उर्वर धरती पर उतारने का प्रयत्न करो, यही विवेक का मार्ग है, यही तर्क का पथ है और यही ज्ञान का सच्चा एव सीधा रास्ता है।

मनुष्य एक बुद्धिमान प्राणी है। उसके पास विचार की एक अपूर्व शक्ति है। फिर वह क्यो उसके उपयोग से वचित रहे ? यदि अन्तर् मानस मे से ज्योति प्रकट नही होती है, तो फिर कितना भी शास्त्र-स्वाध्याय कर लो, गुरु का उपदेश सुन लो, उससे किसी प्रकार का लाभ होने वाला नही है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति को विशुद्ध वोध और अमल विवेक प्राप्त हो गया है, उसका विचार स्वय शास्त्र है, उसका विवेक स्वय महापुरुष की वाणी है और उसका चिन्तन स्वय गुरु का कथन है।

आपने यह सुना होगा कि जव मरुदेवी माता ने यह जाना कि उसका पुत्र ऋषभ विनीता नगरी के वाहर उपवन मे ठहरा हुआ है, तव पुत्र-मिलन की तीव्र उत्कठा एव लालसा मरुदेवी माता के मन मे जग उठी। वहुत काल से जिस पुत्र को उसने नही देखा था, आज अपने समीप आया जानकर वह उससे मिलने न जाए, यह कैसे सम्भव हो सकता था ? पुत्र की ममता का परित्याग, माता, अपने जीवन मे यो सहज ही कैसे कर सकती है ? माता के हृदय मे पुत्र के प्रति सहज प्रेम होता है। माता के हृदय के कण-कण मे पुत्र के प्रति वात्सल्य भाव का अमृतरस रमा रहता है। मरुदेवी माता अपने पौत्र भरत चक्रवर्ती के साथ गज पर बैठकर पुत्र से मिलने के लिए गई। मार्ग मे चलते हुए मन आन्दोलित था और उसमें अनेक प्रकार के सकल्प और विकल्प के बुलवुले उठ रहे थे। माता मरुदेवी ने सोचा, क्या इतने वर्षों से ऋषभ के मन मे यह भावना नही जगी, कि मैं स्वय चलकर माता से मिलूँ। कभी वह यह सोचती कि आज मेरे जीवन का कितना मगल-मय दिवस है, कि मैं वर्षों वाद अपने पुत्र ऋषभ से मिलूँगी। आगे

बढने पर उसने देखा कि गगन-मण्डल से देवताओ के विमान नीचे धरती पर उतर रहे है तथा देव और देवी प्रमोद भाव मे मग्न होकर देव दुन्दुभि बजा रहे है। विनीता नगरी के हजारो नर-नारी बाल वृद्ध और तरुण सभी प्रसन्न चित्त से उसी दिशा मे आगे बढते आ रहे है, जिधर मेरा ऋषभ ठहरा हुआ है। पूछने पर भरत ने इस प्रसग पर कहा— 'माताजी आपका पुत्र साधारण व्यक्ति नही है, वह त्रिलोक पूजित है। अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन का दिव्य आलोक उन्हे प्राप्त हो चुका है। अपने जीवन की अध्यात्म-साधना के परम-फलस्वरूप वीतराग भाव को उन्होने अधिगत कर लिया है। आपके पुत्र के केवल महोत्सव को मनाने के लिए ही आज यहाँ पर स्वर्ग के देव तथा धरती के मनुष्य परस्पर मिलकर भगवान् ऋषभ की महिमा एव गरिमा के प्रशस्ति-गीतो के गान की मधुर स्वर-लहरी मे सलग्न है।" मरुदेवी माता ने इस पर सोचा कि 'जब देव और मनुष्य उसकी पूजा करते है तब भला वह मुझे क्यो याद करने लगा ? इधर मैं हूँ कि ममता की लहरो मे डूबी जा रही हूँ। वीतराग केवल ज्ञान केवल ध्यान मोक्ष और धर्म-यह सब मरुदेवी माता नही जानती थी। उसे यह भी पता नही था कि देव क्या है, गुरु क्या है, धर्म क्या है, और शास्त्र क्या है ? जब उक्त बातो का उसे पता ही नही था तब वह किसकी आज्ञा को स्वीकार करती और किसकी आज्ञा को मानती ? आज्ञा मे धर्म है, इस सिद्धान्त का उसके लिए कोई उपयोग न था। तीर्थ स्थापित होने के बाद ही आज्ञा मे धर्म है इस सिद्धान्त का जन्म होता है। अभी तक तीर्थ की स्थापना नही हो पाई थी फिर भी मरुदेवी माता को गज पर बैठे-बैठे ही केवल ज्ञान और केवल दर्शन का दिव्य प्रकाश मिल गया। क्यो मिला और कैसे मिला इसके उत्तर मे यही कहा गया है कि जब उसकी आत्मपरिणति ममता से समता मे बदल गई, जब उसका उपयोग मोह से विवेक मे बदल गया और जब उसका अनिश्चय निश्चय मे बदल गया,तभी उसे वह आध्यात्मिक गौरव एव आध्यात्मिक वैभव प्राप्त हो गया जो शाश्वत और अजर अमर रहता है। माता मरुदेवी का विकास आज्ञा के मूल मे नही चिन्तन के मूल मे है।

मैं आपसे कह रहा था कि जब तक साधक के घट मे विवेक ज्योति का प्रकाश नही जगमगाएगा तब तक कोई भी शास्त्र कोई भी गुरु और कोई भी महापुरुष उसके जीवन का विकास और

कल्याण नहीं कर सकेगा। जीवन का सबसे बड़ा सिद्धान्त यह विवेक और विचार ही है, जिसके उदय होने पर अज्ञान का अन्धकार और मिथ्यात्व का अन्धतमस् दूर भाग जाता है। आत्म-ज्योति के प्रकट होने पर, फिर अन्य किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकाश के सामने अन्य सब प्रकाश फीके पड़ जाते हैं।

करने पर उसने देखा कि गगन-मण्डल से देवताओं के विमान नीचे धरती पर उतर रहे हैं तथा देव और देवी प्रमोद भाव में मग्न होकर देव दुन्दुभि बजा रहे हैं। विनीता नगरी के हजारों नर-नारी बाल वृद्ध और तरुण सभी प्रसन्न चित्त से उसी दिशा में आगे बढ़ते आ रहे हैं, जिधर मेरा ऋषभ ठहरा हुआ है। पूछने पर भरत ने इस प्रसंग पर कहा— माताजी आपका पुत्र साधारण व्यक्ति नहीं है, वह त्रिलोक पूजित है। अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन का दिव्य आलोक उन्हें प्राप्त हो चुका है। अपने जीवन की अध्यात्म-साधना के चरम-फलस्वरूप वीतराग भाव को उन्होंने अधिगत कर लिया है। आपके पुत्र के केवल महोत्सव को मनाने के लिए ही आज यहाँ पर स्वर्ग के देव तथा धरती के मनुष्य परस्पर मिलकर भगवान् ऋषभ की महिमा एवं गरिमा के प्रशस्ति-गीतों के गान की मधुर स्वर-लहरी में संलग्न हैं। मरुदेवी माता ने इस पर सोचा कि "जब देव और मनुष्य उसकी पूजा करते हैं, तब भला वह मुझे क्यों याद करने लगा? इधर मैं हूँ कि ममता की लहरों में डूबी जा रही हूँ।" वीतराग केवल ज्ञान केवल दर्शन मोक्ष और धर्म-यह सब मरुदेवी माता नहीं जानती थी। उसे यह भी पता नहीं था कि देव क्या है, गुरु क्या है, धर्म क्या है और शास्त्र क्या है? जब उक्त बातों का उसे पता ही नहीं था तब वह किसकी आज्ञा को स्वीकार करती और किसकी आज्ञा को मानती? आज्ञा में धर्म है, इस सिद्धान्त का उसके लिए कोई उपयोग न था। तीर्थ स्थापित होने के बाद ही आज्ञा में धर्म है, इस सिद्धान्त का जन्म होता है। अभी तक तीर्थ की स्थापना नहीं हो पाई थी फिर भी मरुदेवी माता को गज पर बैठे-बैठे ही केवल ज्ञान और केवल दर्शन का दिव्य प्रकाश मिल गया। क्यों मिला और कैसे मिला इसके उत्तर में यही कहा गया है, कि जब उसकी आत्मपरिणति ममता से समता में बदल गई, जब उसका उपयोग मोह से विवेक में बदल गया और जब उसका अनिश्चय निश्चय में बदल गया, तभी उसे वह आध्यात्मिक गौरव एवं आध्यात्मिक वैभव प्राप्त हो गया जो शाश्वत और अजर अमर रहता है। माता मरुदेवी का विकास आज्ञा के मूल में नहीं चिन्तन के मूल में है।

मैं आपसे कह रहा था कि जब तक साधक के घट में विवेक ज्योति का प्रकाश नहीं जगमगाएगा तब तक कोई भी शास्त्र कोई भी गुरु और कोई भी महापुरुष उसके जीवन का विकास

केवल शव मात्र रह जाता है। शरीर मे से शिव चला गया, अर्थात् आत्मा चला गया, तो शरीर शव रूप मे यही पडा रह जाता है। जीवन मे प्राण-शक्ति का बडा महत्त्व है। भौतिक प्राणशक्ति के समान आध्यात्मिक प्राणशक्ति भी होती है। इसी सन्दर्भ मे मैं आपसे कह रहा था, कि जैन-धर्म और जैन-दर्शन की भी प्राण-शक्ति है। जब तक यह प्राण-शक्ति है, तब तक वह जीवित रहेगा। प्राण-शक्ति के अभाव मे धर्म और दर्शन का शरीर तो रह सकता है, किन्तु आत्मा नही। धर्म और दर्शन के शरीर को पथ और सम्प्रदाय कहा जाता है। धर्म और दर्शन की आत्मा को विचार और विवेक कहा जाता है।

देव और दानवो के सागर-मथन की पौराणिक कहानी आपने सुनी होगी। बडी ही सरस, रुचिकर और अर्थगम्भीर है वह कहानी। कहा जाता है कि देव और दानवो ने मिलकर अमृत की उपलब्धि के लिए सागर का मथन किया था। सागर-मथन मे से अमृत भी निकला था और विष भी। अमृत पीने के लिए तो देव और दानव सभी लालायित थे, किन्तु विष को पीने के लिए कोई तैयार नही हो सका। आखिर, महादेव शिव ने ही विष पीकर सबके लिए अमृतपान का अवरुद्ध द्वार खोला। विष को पचाने की शक्ति न स्वर्ग के देवो मे है, न धरती के इसानो मे। विष को पचाने की शक्ति तो एक मात्र महादेव मे, शिव मे ही होती है।

मानव-जीवन भी एक सागर है, इसका भी मथन किया जाता है। इसके मथन को हम साधना कहते हैं। जब साधक साधना के पथ पर स्थित होकर अपने अन्तर्जीवन का मथन करता है, तब उसमे से विकल्प का विष, और विचार का ज्ञानामृत प्रकट होता है। इसी प्रकार शास्त्र रूपी सागर का मन्थन भी किया जाता है। द्वादशागी वाणी मे भगवान महावीर के उपदेशो का सग्रह एक प्रकार का महासागर ही है। उस सागर का मथन बुद्धि एव चिन्तन के मन्दराचल मे जब किया जाता है, तब उसमे से सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का अमृत प्रकट होता है। किन्तु याद रखिए शास्त्र-सागर का मथन जितना उदार, तटस्थ, अनाग्रह एव गम्भीर होगा,उसमे से उतना ही अधिक जीवनोपयोगी अमृत प्राप्त होगा। यदि मथन अल्प होता है, तो अमृत भी थोडा ही प्राप्त होता है। और यदि आग्रह बुद्धि के कारण विपरीत प्रक्रिया से मन्थन होता है, तो अमृत नही, विष ही प्राप्त होगा। यहाँ विष की नही, अमृत की चर्चा है। दूध का मक्खन दूध के कण-

५

अध्यात्म साधना

* * *

जैन-दर्शन का प्राण, जैन धर्म का हृदय और जैन-संस्कृति के मर्म का जब तक ठीक से परिज्ञान नहीं हो जाता है, और जब तक उसको अच्छी तरह परख नहीं लिया जाता है, तब तक आप जैन-दर्शन के शरीर को भले ही समझ लें, उसकी अन्तर् आत्मा को आप परख नहीं सकते। मानव का यह भौतिक शरीर कितना ही बलवान, कितना ही मजबूत और कितना ही लम्बा और चौड़ा क्यों न हो, परन्तु इस शरीर की सत्ता तभी तक है, जब तक इसमें प्राण-शक्ति का संचार होता रहता है, इसमें श्वासों की वीणा की झंकार गूंजती रहती है और हृदय चक्र अपनी धुरी पर नियमित गति करता रहता है। जागृत एवं स्वप्न दोनों ही अवस्थाओं में मनुष्य का हृदय गतिशील रहता है। यदि हृदय की यह सतत गतिशीलता एक क्षण के लिए भी बन्द हो जाए, तो जीवन का सारा खेल ही समाप्त हो जाए। शरीर का सारा खेल प्राण-वायु और हृदय की गति पर ही चलता है। और प्राणवायु एवं हृदय की गति का खेल भी तभी तक है, जब तक शरीर में चैतन्य शिव विराजमान है। यदि शरीर में से शिवत्व निकल जाता है, तो

शक्ति को अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता है। हजारो दियासलाइयाँ भी एक साथ क्यो न रखी हो, उनसे ज्योति और प्रकाश नही मिल सकेगा। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही समझना चाहिए, कि उनमे अग्नि की शक्ति नही है। क्योकि उसे रगडने पर प्रकाश जगमगा उठता है। उसके बाद उस जागृत शक्ति से आप जो कुछ काम लेना चाहें, ले सकते हैं। याद रखिए, इस तथ्य को कभी मत भूलिए, कि उसकी शक्ति को अभिव्यक्त करने के लिए और उसमे से प्रकाश प्राप्त करने के लिए, उसे रगडना अवश्य ही पडेगा। यदि आप उसे रगडते नही हैं, तो, उस दियासलाई का अपने आपमे कोई उपयोग और लाभ नही है।

जिस भौतिक सिद्धान्त की चर्चा मैंने ऊपर की है, वही सिद्धान्त अध्यात्म-क्षेत्र मे भी लागू होता है। सिद्धान्त एक ही है, किन्तु उसे लागू करने की विधि भिन्न-भिन्न है।

एक साधक जब अध्यात्म साधना पर अग्रसर होता है, तब पहले वह अपने जीवन को गुरु के चरणो मे समर्पित कर देता है और कहता है कि—"भगवन्! मैं अन्धकार मे डूबा हूँ, मुझे प्रकाश चाहिए। मै इधर-उधर भटक रहा हूँ, मुझे मार्ग चाहिए। मैं आपका शिष्य हूँ, आप मुझे शिक्षा देकर सन्मार्ग पर लगाइए।" गुरु, शिष्य के इस विनय को सुनकर उसे जीवन का सही मार्ग बताता है और जीवन-विकास का एक सूत्र उसे सिखा देता है।

गुरु शिष्य से कहता है—"लो यह विचार सूत्र है, इसका चिन्तन करो।" यदि शिष्य यह कहता है कि "इस अल्पाक्षर क्षीणकाय सूत्र मे क्या रखा है, जो मैं इसका रटन करूँ। मुझे इसमे कुछ भी तो नजर नही आता। जिस तत्त्व की मुझे खोज है, वह तत्त्व इसमे कहाँ है? जिस प्रकाश की मुझे अभिलाषा है, वह प्रकाश इसमे कहाँ है?"

गुरु उत्तर मे कहते हैं—"चुप रहो, जैसा मैं कहता हूँ, चिन्तन करते चलो। एक दिन अवश्य ही इसमें से तत्त्व ज्ञान का स्फुलिंग प्रकट होगा। जीवन का कण कण जगमगा उठेगा, अन्धकार का कही चिन्ह भी शेष नही रहेगा।"

शिष्य पुन: प्रश्न करता है—"गुरुदेव! मैं चिन्तन तो अवश्य करूँगा, आपके आदेश का शिरसा और मनसा पालन करूँगा, परन्तु कृपा करके यह तो बताइए, कि कब तक ऐसा करता रहूँ? इसमें

कण मे परिव्याप्त रहता है, उसका कोई भी भाग नवनीत से खाली नही रहता है। परन्तु यदि दूध मे हाथ डालकर मक्खन निकालना चाहे, तो वह कैसे निकल सकेगा ? दूध मे हाथ डालकर मक्खन निकालने की चेष्टा एक निरर्थक चेष्टा है। उसमे से मक्खन तो तभी निकल सकता है, जब कि उसका मन्थन किया जाए। कुछ लोग धर्म और दर्शन की गहराई मे पहुँचे बिना ही उसका सार निकालने की व्यर्थ चेष्टा करते हैं। कोई भी नास्तिक विचार का व्यक्ति धर्म और दर्शन की अध्यात्म-साधना की गहराई मे पहुँचे बिना ही जब उसमे से सार निकालने की चेष्टा करता है, उस स्थिति मे यदि उसमे से सार नही निकलता तो धर्म दर्शन और साधना को दोष देता है। वह इस तथ्य को नही समझ पाता कि मक्खन निकालने के लिए दूध को दही बनाकर उसे बिलोने की आवश्यकता है। भला विचार तो कीजिए जब तक दूध का दही नही बनेगा और जब तक उस दही का मन्थन नही किया जाएगा तब तक उसमे से नवनीत कैसे निकल सकेगा ? इसी प्रकार शास्त्रों के एक-एक शब्द मे जीवन का अमृत परिव्याप्त है परन्तु जब तक उसका गम्भीर अध्ययन उदार चिन्तन और विराट मन्थन नही होगा तब तक उसके रहस्य को आप प्राप्त नही कर सकते उसके ज्ञान-अमृत को आप अधिगत नही कर सकते। और जब तक ज्ञानामृत प्राप्त नही होता तब तक आप धर्म दर्शन और सस्कृति के अनन्त आनन्द की उपलब्धि नही कर सकते।

आप जानते हैं—दियासलाई के मुख पर जो एक मसाला लगा रहता है, उसके कण-कण मे बीजरूप से अग्नि-तत्त्व परिव्याप्त है। उसे आप देख नही पाते इस आधार पर आप यह नही कह सकते कि उसमे अग्नि तत्त्व नही है। निश्चय ही उसमे अग्नितत्त्व है, शक्ति के रूप मे उसके कण-कण मे अग्नि-तत्त्व स्थित है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति नही हो पा रही है। दियासलाई के हजारो बक्सा भी एकत्रित करके यदि उसमे आप अग्नितत्त्व को देखना चाहे, तो आप देख नही सकेंगे। प्रश्न होता है कि दियासलाई की एक सीक मे अग्नि की सत्ता होने पर भी उसका दर्शन क्यो नही होता ? इसका एक ही समाधान है, कि उस अव्यक्त शक्ति को व्यक्त करने के लिए, किसी की एक रगड़ने की आवश्यकता है। जब तक दियासलाई की एक शलाका लेकर उसे किसी पत्थर या अन्य पदार्थ पर नही रगडेंगे तब तक उसमें से ज्योति और प्रकाश निकल नही सकेगा। शक्ति तो है, किन्तु उस

किन्तु वे स्थायी नही रहने पाते। हमारी अध्यात्म-साधना का यही एक मात्र उद्देश्य है, कि हम उस क्षणिक प्रकाश को स्थायी बना सकें। और यह तभी होगा, जब कि साधक एक ही सूत्र को, एक ही मन्त्र को एक ही लक्ष्य को और एक ही आदर्श को अपने अन्तर्मन मे बार-बार जपता रहेगा, बार-बार अनुशीलन एव परिशीलन करता रहेगा। इसी को जीवन का मथन कहते हैं, इसी को जीवन की रगड कहते हैं और इसी को जीवन का जप कहते है। इस मन्थन और जप मे से ही सिद्धि का अनन्त प्रकाश प्रस्फुरित होगा।"

जो वस्तु ठोस होती है, उसके निर्माण मे पर्याप्त समय लगता है। जिस तत्त्व-शास्त्र एव अध्यात्म शास्त्र की चर्चा आपके सामने चल रही है, उसकी रचना यो ही एक-दो वर्ष मे नही हो सकी है, उसके पीछे दीर्घकाल का चिन्तन एव अनुभव है। किसी भी शास्त्र, मन्त्र एव स्तोत्र को लें, उसके निर्माता का चिन्तन और अनुभव जितना गहरा होगा, वह उतना ही अधिक स्थायी रह सकेगा। जिसके निर्माण मे श्रम एव अभ्यास नहीं, चिन्तन और अनुभव नही, वह शास्त्र एव मत्र पानी के उस बुदबुदे के समान होता है, जो पानी की सतह पर कुछ देर थिरकता है और नष्ट हो जाता है। पानी का बुद्-बुद क्षण-क्षण मे बनता और बिगडता रहता है, क्योंकि उसके पीछे कोई ठोस आधार नही होता। इसके विपरीत वर्षों के अनवरत श्रम और अभ्यास तथा चिन्तन एव अनुभव के बाद जो कुछ निर्मित होता है, उसका अपना एक आधार एव महत्त्व होता है। जिस कृति के पीछे कर्ता का जितना ही अधिक गहन एव गम्भीर चिन्तन और मनन होता है, वह कृति उतनी ही अधिक सुन्दर और चिरस्थायी होती है। यही कारण है कि जन-परम्परा मे भक्तामर-स्तोत्र, कल्याण-मन्दिर स्तोत्र, और उपसर्ग हर स्तोत्र हजारो वर्षों की यात्रा के बाद आज भी ज्यो-के-त्यो चल रहे हैं। आज भी भक्तजन उन्हे उतनी ही श्रद्धा और लगन के साथ पढते हैं, जिस लगन और श्रद्धा के साथ हजारो वर्ष पूर्व पढते थे। इसका कारण उक्त स्तोत्रो की सुन्दर, रुचिकर एव मधुर भाषा नही है, बल्कि प्रणेताओ का गहन गम्भीर चिन्तन और अनुभव ही है। इनका कोई प्रचार नही किया गया, फिर भी जन-मन की स्मृति मे ये आज तक ताजा रहे हैं। चिरन्तन होकर भी ये नवीन हैं और नवीन होकर भी ये चिरन्तन हैं। इसका कारण यह है कि तत्त्व-चिन्तक कवियो के हृदय से जो अन्तर् की भक्ति-धारा प्रवाहित हुई, वह इतने

से सिद्धि का नवनीत मुझे कब मिलेगा ? उसकी कोई सीमा अवश्य होनी चाहिए।

गुरु कहता है—"वत्स ! साधना के क्षेत्र में जल्दी ही सीमा का बन्धन करना भयंकर भूल है। साधना के पथ पर बढ़ते चलो और तब तक बढ़ते चलो जब तक कि सत्य-सिद्धि का दिव्य प्रकाश तुम्हें उपलब्ध न हो जाए। देखो मेरी एक ही बात को याद रखो, सूत्र को रटते रहो, उसका गम्भीरता से चिन्तन-मनन करते रहो और तदनुसार निरन्तर साधना करते रहो। हृदय के कण-कण में यह आस्था बैठ जानी चाहिए कि सिद्धि अवश्य मिलेगी, साधना कभी निरर्थक नहीं होती। यदि इस जीवन में सिद्धि नहीं मिली, तो अगले जीवन में मिलेगी, यदि अगले जीवन में भी नहीं मिली, तो उससे अगले जीवन में मिलेगी। कभी न कभी मिलेगी, अवश्य मिलेगी। कारण है, तो कार्य क्यों नहीं। साधक का एक ही कर्तव्य है कि साधना के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ता रहे। साधना के क्षेत्र में काल का कोई अर्थ नहीं, सीमा का कोई प्रश्न नहीं। केवल एक ही बात का अर्थ है, और वह यह है कि अपनी साधना में कभी सन्देह मत करो, अपनी साधना के फल में कभी संशय मत करो। साधना की रगड़ से अवश्य ही उस दिव्य सिद्धि की उपलब्धि होगी, जिसे पाकर तुम शाश्वत एवं अजर अमर बन जाओगे। शक्ति शास्त्र के शब्दों एवं अक्षरों में नहीं होती, मनुष्य के अन्तर्मन्थन में होती है, मनुष्य के विचार में होती है और मनुष्य के हृदय की ज्ञान मूलक आस्था में होती है। आस्था और तर्क, श्रद्धा और चिन्तन एक दिन अवश्य आत्मा की प्रसुप्त शक्ति की अभिव्यक्ति कर देते हैं। जब मन की चिन्तन क्रिया अन्तर्मनन में निरन्तर चलती है, तब दूरस्थ सिद्धि भी निकटस्थ हो जाती है। विशुद्ध भावना की रगड़ लगने पर यदि एक बार भी ज्योति जल उठती है, तो अनन्त-अनन्त काल के लिए वह जलती ही रहती है। यह बात अलग है कि कुछ दुर्बल साधकों को बार बार रगड़ लगानी पड़ती है और कुछ सबल साधकों को तो एक बार में ही यथावश्यक तीव्र रगड़ लग जाती है। रात्रि के घोर अन्धकार में जब काले बादलों में बिजली चमकती है, तब उसके क्षणिक प्रकाश से सहसा गगन-मण्डल भर जाता है। क्षण भर के लिए अन्धकारमयी सृष्टि प्रकाशमयी हो जाती है। परन्तु वह प्रकाश स्थायी नहीं रहता। इसी प्रकार साधक के जीवन में भी अनेक बार सिद्धि के क्षणिक प्रकाश प्रकट होते हैं,

किन्तु वे स्थायी नही रहने पाते। हमारी अध्यात्म-साधना का यही एक मात्र उद्देश्य है, कि हम उस क्षणिक प्रकाश को स्थायी बना सकें। और यह तभी होगा, जब कि साधक एक ही सूत्र को, एक ही मंत्र को एक ही लक्ष्य को और एक ही आदर्श को अपने अन्तर्मन मे बार-बार जपता रहेगा, बार-बार अनुशीलन एव परिशीलन करता रहेगा। इसी को जीवन का मथन कहते है, इसी को जीवन की रगड कहते हैं और इसी को जीवन का जप कहते हैं। इस मन्थन और जप मे से ही सिद्धि का अनन्त प्रकाश प्रस्फुरित होगा।"

जो वस्तु ठोस होती है, उसके निर्माण मे पर्याप्त समय लगता है। जिस तत्त्व-शास्त्र एव अध्यात्म शास्त्र की चर्चा आपके सामने चल रही है, उसकी रचना यो ही एक-दो वर्ष मे नही हो सकी है, उसके पीछे दीर्घकाल का चिन्तन एव अनुभव है। किसी भी शास्त्र, मन्त्र एव स्रोत को लें, उसके निर्माता का चिन्तन और अनुभव जितना गहरा होगा, वह उतना ही अधिक स्थायी रह सकेगा। जिसके निर्माण मे श्रम एव अभ्यास नही, चिन्तन और अनुभव नही, वह शास्त्र एव मत्र पानी के उस बुदबुदे के समान होता है, जो पानी की सतह पर कुछ देर थिरकता है और नष्ट हो जाता है। पानी का बुद्-बुद क्षण-क्षण मे बनता और बिगडता रहता है, क्योंकि उसके पीछे कोई ठोस आधार नही होता। इसके विपरीत वर्षों के अनवरत श्रम और अभ्यास तथा चिन्तन एव अनुभव के बाद जो कुछ निर्मित होता है, उसका अपना एक आधार एव महत्त्व होता है। जिस कृति के पीछे कर्ता का जितना ही अधिक गहन एव गम्भीर चिन्तन और मनन होता है, वह कृति उतनी ही अधिक सुन्दर और चिरस्थायी होती है। यही कारण है कि जन-परम्परा मे भक्तामर-स्तोत्र, कल्याण-मन्दिर स्तोत्र, और उपसर्ग हर स्तोत्र हजारो वर्षो की यात्रा के बाद आज भी ज्यो-के-त्यों चल रहे है। आज भी भक्तजन उन्हे उतनी ही श्रद्धा और लगन के साथ पढते हैं, जिस लगन और श्रद्धा के साथ हजारो वर्ष पूर्व पढते थे। इसका कारण उक्त स्तोत्रो की सुन्दर, रुचिकर एव मधुर भाषा नही है, बल्कि प्रणेताओ का गहन गम्भीर चिन्तन और अनुभव ही है। इनका कोई प्रचार नही किया गया, फिर भी जन-मन की स्मृति मे ये आज तक ताजा रहे हैं। चिरन्तन होकर भी ये नवीन हैं और नवीन होकर भी ये चिरन्तन हैं। इसका कारण यह है कि तत्त्व-चिन्तक कवियो के हृदय से जो अन्तर् की भक्ति-धारा प्रवाहित हुई, वह इतने

वेग से प्रवाहित हुई कि उसके पीछे उनकी चिरप्रतिष्ठित अध्यात्म-साधनाओं का प्रवाह आज भी बह रहा है। हजारों वर्षों के बाद ये स्तोत्र आज भी लोगों के मन एवं मस्तिष्क में प्रेम और श्रद्धा के मधुर भाव जागृत कर देते हैं। क्योंकि उनके पीछे उनके जीवन का गहन चिन्तन और अनुभव रहा है। इसी आधार पर उनमें आज भी वह ओजस् और शक्ति विद्यमान है, कि पाठक पढ़ते समय आत्मविभोर हो जाता है।

आपने देखा होगा कि पर्वत के अन्दर से झरने फूट पड़ते हैं। दुर्गम एवं कठोर चट्टानों को भेद कर वह तरल जल-धारा बाहर कैसे आ जाती है, यह एक महान् आश्चर्य है। पर्वत की कठोर चट्टानों से बह निकलने वाले झरने भी सब समान नहीं होते। उनमें से कुछ ऊपरी सतह के होते हैं, और कुछ गहन तल से निकलकर बाहर में आते हैं। जो झरने ऊपर-ऊपर बहते हैं वे जल्दी सूख जाते हैं। सूखने के बाद उनका अस्तित्व भी विलुप्त हो जाता है। परन्तु जो झरना पृथ्वी के गर्भ के अन्दर से फूटकर बाहर निकलता है, जिसे अन्दर में से निकालने के लिए बाहर से कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता और न खोद-खोदकर जिसका मार्ग ही बनाना पड़ता है, प्रत्युत जो स्वयं ही अपनी प्रबल शक्ति से फूटकर बाहर निकलता है और अपना मार्ग बनाता है वह झरना स्थायी रहता है और उसका प्रवाह सतत प्रवहमान रहता है। इस प्रकार के झरने में अखूट और अटूट जल राशि भरी रहती है। उसमें से कोई कितना भी जल ग्रहण करे, किन्तु उसके यहाँ जल की क्या कमी आती है, क्योंकि वह अन्दर में बहुत अथाह और अगाध होता है। भूमि को खोदकर एवं तोड़कर कूप को तैयार किया जाता है। परन्तु झरने को इस प्रकार तैयार नहीं करना पड़ता। गंगा जैसे विराट जल प्रवाहों को बताइए, किसने खोदकर हिमवान् से बाहर निकाला है और किसने उनके लिए मार्ग बनाया है? वे स्वयं शक्ति के केन्द्र हैं। उन्हें बाहर से प्रेरित नहीं करना पड़ता।

मैं आपसे अनुभवी तत्त्व जिज्ञासुओं की बात कर रहा था। उनके अगाध अनुभव द्वारा उपदिष्ट मानव-जीवन के उस सत्य एवं तथ्य की बात कह रहा था जिसे प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। वह तथ्य क्या है? यह प्रश्न अतीत में किया जाता रहा है और सम्भवतः भविष्य में भी किया जाता रहेगा। इस प्रश्न का समाधान

एक ही है– हम जीवन का तथ्य उसे कहते हैं, जिसके आधार मे जीवन टिका हुआ है। जीवन का यह तथ्य जब मन एव मस्तिष्क की गहराई से बाहर निकलकर जीवन की समतल धरती पर नित्य निरन्तर प्रवाहित होने लगता है, तब जीवन हरा-भरा हो जाता है, फिर वह विपन्न नही रहता, पूर्ण सम्पन्न बन जाता है।

जीवन के गुप्त रहस्यो को खोजने के लिए कभी-कभी बाहरी साधनो की भी आवश्यकता हो जाती है। मैं देखता हूँ कि कुछ चीजो को विकसित होने के लिए बाहरी सहायता की आवश्यकता रहती है। परन्तु यह सर्वाधिक नियम नही है। कुछ को बाहरी सहायता की आवश्यकता नही भी रहती।

कल्पना कीजिए, आपके सामने एक ढोल रखा है। वह चुपचाप पडा है। इस प्रकार चुपचाप पडे हुए दस-बीस वर्ष भी व्यतीत हो जाएँ, तब भी वह अपने आप बोल नही सकता, उसे बुलाने के लिए उस पर डडे की चोट लगानी ही पडेगी। डडे की चोट पडते ही वह बजने लगता है। मानव-जीवन के सम्बन्ध मे भी कभी यही सत्य लागू होता है। कुछ जीवन स्वत ही क्रियाशील रहते हैं, उन्हे किसी की प्रेरणा की आवश्यकता नही रहती, अपनी अन्दर की शक्ति से ही वे अपना विकास करते हैं। परन्तु कुछ जीवन हैं, जो दूसरे की प्रेरणा और सहायता पर ही अपना विकास कर पाते है। किसी दूसरे के डडे की चोट खाए बिना वे अपने जीवन-पथ पर आगे नही बढ पाते। जो व्यक्ति दूसरे की प्रेरणा और उपदेश के बिना अपने जीवन की यात्रा मे अग्रसर नही हो पाते है, उन्ही लोगो के लिए गुरु के आदेश और उपदेश की आवश्यकता पडती है। ये वे लोग है, जो कूप के समान हैं, जिन्हें खोदना पडता है, जिनके लिए मार्ग बनाना पडता है। परन्तु दूसरे वे लोग हैं, जो झरने के समान होते हैं। उन्हें प्रेरणा की आवश्यकता नही रहती, उन्हे बाहर निकालने और उनके लिए मार्ग बनाने की भी आवश्यकता नही रहती। वे स्वय ही बाहर निकलते हैं और स्वय ही अपना मार्ग बना लेते है। जब अन्दर से त्याग, वैराग्य और प्रेम का उद्दाम झरना बहने लगता है, तब उसका कुछ और ही रूप होता है। जैन-साधना झरने के समान एक अन्तरग का प्रवाह है। साधक के अन्तर् हृदय से जब कभी प्रेम का स्रोत बाहर फूट निकलता है, तब वह समाज और राष्ट्र के जीवन को आप्लावित कर देता है। इस प्रकार के साधको के

लिए कदम-कदम पर न शास्त्र की प्रेरणा की आवश्यकता है और न गुरु के डंडे की ही आवश्यकता है। प्रेरणा पाकर बलात् साधना के मार्ग पर बढ़ने वाले साधक कभी कभी गड़बड़ा जाते हैं, परन्तु अपनी स्वयं प्रेरणा से साधना के मार्ग पर आगे बढ़ने वाले साधक अपने जीवन-पथ पर कभी लड़खड़ाते नहीं हैं। यदि कभी लड़खड़ाते भी हैं तो जल्दी ही सँभलकर पुनः पथारूढ़ हो जाते हैं।

किसी भी जीवन को हीन एवं पतित मत समझो। न जाने कब और किस समय उसके अन्दर से महत्ता और पवित्रता का स्रोत फूट पड़े। कभी-कभी जीवन में यह देखा जाता है, कि जो लड़के या लड़कियाँ कायर और बुजदिल जैसे लगते हैं, वे समय पर बड़े ही वीर और योद्धा बन जाते हैं। जो कंजूस व्यक्ति अपने लोभ और लालच के कारण समाज की आलोचना का सदा पात्र बना रहता है, उसके प्रसुप्त मानस में से भी कभी उदारता का उदात्त भाव फूट पड़ता है। वह लोभी न रहकर दान-वीर बन जाता है। यह भी देखा जाता है, कि जो व्यक्ति भोजनासक्त रहता है, एवं भोजन भट्ट होता है, जिसने कभी अपने जीवन में एक उपवास भी नहीं किया उसके अन्दर से कभी वह प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न होती है, जिसके बल पर वह एक उपवास तो क्या अठाई जैसा बड़ा तप भी बड़ी आसानी के साथ कर लेता है। यहाँ पर आप देखेंगे उसके मन पर न तो शास्त्र का हथौड़ा ही मारा गया और न गुरु के वचन रूप डंडे की मार ही पड़ी। बिना किसी बाहरी प्रेरणा के उसने स्वयं अपनी इच्छा से वह कार्य कर दिखाया जिसे लोग उसके जीवन में असम्भव समझते थे। बात असल में यह है, कि बाहर की प्रेरणा से कोई कब तक चलेगा? बाहर के शास्त्र प्रस्तुत किसी भी नियम और सिद्धान्त को जन जीवन पर लागू भले कर सकते जब तक आत्मा उसे अन्दर से स्वीकार न कर ले। व्यक्ति जब कभी अपने अन्तर्मानस में किसी सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता है तब उसे बाहर के किसी शास्त्रीय प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं रहती। जो प्रमाण इन्सान के दिल पर लिखा जाता है इन्सान के जीवन का निर्माण उसी से होता है। बाहर के प्रमाणों से कभी जीवन का निर्माण नहीं हो सकता। जब कभी साधक के शान्त एवं प्रसन्न मानस में जागृति की लहर उठती है तब उसकी अन्तरात्मा में दिव्य प्रकाश जगमगाने लगता है। राजा प्रदेशी की कहानी का वर्णन आप सुन चुके हैं। जिसका

भयकर, कितना निर्दय और कितना निर्मम था वह, दूसरो के जीवन के प्रति। हजारो हजार हत्याएँ करने के बाद भी उसके दिल और दिमाग मे कभी पश्चात्ताप की एक बूद भी उद्भूत नही हो सकी। परन्तु जब अन्दर से लहर उठी, अन्दर के वेग ने उसे झकझोर दिया और जब आत्मा की अपने अन्दर की प्रचण्ड शक्ति ने उसे प्रबुद्ध कर दिया, तब वह कठोर न रहकर मृदु हो गया, क्रूर न रहकर दयालु बन गया। उसका जीवन इतना अधिक शान्त एव दान्त बन गया, कि अपनी ही प्रेयसी द्वारा विष देने पर भी उसमे विकार और विकल्प की एक धूमिल रेखा भी अकित नहीं हो सकी। साधना के क्षेत्र मे बाहर की प्रेरणा भले ही कुछ दूर तक हमारा साथ दे सके, हमारा मार्ग निर्देशन कर सके, किन्तु अन्त मे साधक को अपनी शक्ति पर ही चलना होगा, साधक को अपनी ताकत पर ही आगे बढना होगा। राजा प्रदेशी को केशी कुमार श्रमण का उपदेश अवश्य मिला था, परन्तु ऐसे उपदेश तो अनेको को मिले हैं, उनका क्यो नही उद्धार हुआ? निमित्त की एक सीमा है, आगे चलकर साधक को स्वय अपने पैरो खडा होना होता है। शिशु को उसके माता-पिता एव अन्य अभिभावक तभी तक अपनी अँगुली का सहारा देते हैं, जब तक कि उसके पैर चलने मे लटखडाते रहते हैं, परन्तु जब उसके पैरो मे जरा स्थिरता आ जाती है, तब उसे सहारा नहीं दिया जाता। धीरे-धीरे वह चलना सीख जाता है और उसे अपनी शक्ति पर विश्वास हो जाता है।

आपने देखा होगा कि कुछ लोग अपने घर के तोते को राम-राम रटा देते हैं। तोता यथावसर राम-शब्द का उच्चारण करता भी रहता है। परन्तु क्या वह उसके भाव और रहस्य को समझ सकता है? उसे जो कुछ रटा दिया गया है, उससे अलग वह कुछ नही कह सकता। उसमे सोचने और समझने की शक्ति नही है। उसके स्वामी ने जो कुछ भी उसे पढा दिया है, उसके अतिरिक्त वह अन्य कुछ न बोल सकता है और न सोच ही सकता है। कुछ साधक भी उस तोते के समान ही होते है। उपदेष्टा और गुरु ने जो कुछ रटा दिया, जो कुछ पढा दिया और जो कुछ सिखा दिया, उसके अतिरिक्त नया चिन्तन एव अनुभव वे प्राप्त नही कर सकते। वे लोग अपनी स्वय की बुद्धि से न कुछ सोच पाते हैं, न अपनी स्वय की वाणी से कुछ बोल पाते हैं और न अपने स्वय के शरीर से कोई निर्धारित कार्य ही कर पाते है। इस

प्रकार के साधन कहीं पर भी हों, किसी भी परम्परा में क्यों न हो, जिनके पास स्वयं का प्रकाश नहीं है, वे दूसरों को प्रकाश कैसे दे सकते हैं? शास्त्र का हथौड़ा और गुरु का डंडा कब तक उन्हें साधना के मार्ग पर अग्रसर करता रहेगा, कब तक उन्हें सत्य की ओर आगे बढ़ाता रहेगा?

मैं आपके समक्ष मोक्ष और उसके साधना की चर्चा कर रहा था। जैन-दर्शन में मोक्ष के साधन तीन हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। चिन्तन और मनन करने के बाद आपको यह ज्ञात होगा कि कुछ विचारक और तत्त्वचिन्तक ज्ञान और चारित्र को ही मोक्ष का मार्ग बतलाते हैं। आगम ग्रन्थों में दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन के अतिरिक्त, तप को भी मोक्ष का अंग, साधन एवं उपाय बतलाया गया है। मेरे विचार में दो, तीन एवं चार में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। दो कहने वाले भी तीन को मानते हैं। उन लोगों का कहना है कि जहाँ सम्यक् ज्ञान होता है, वहाँ सम्यक् दर्शन स्वतः होता ही है, अतः दर्शन को उन्होंने ज्ञान के अन्दर मान लिया। जो लोग तप को चौथा अंग मानते हैं, उनके लिए तीन वालों का कहना है, कि चारित्र में तप स्वतः आ ही जाता है। तप चारित्र से भिन्न नहीं है। और जो तप को मोक्ष का चतुर्थ कारण मानते हैं, वे भी तप को चारित्र से भिन्न नहीं मानते, अपितु तप को विशिष्ट महत्ता देने की दृष्टि से भिन्नरूपेण कथन करते हैं। संक्षेप और विस्तार को छोड़ कर मध्यम दृष्टि से मोक्ष के साधन तीन हैं—दर्शन, ज्ञान और चारित्र। आपने यह सोचा होगा कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ सम्यक् शब्द क्यों जोड़ा गया है? इसकी आवश्यकता भी क्या है? यह प्रश्न आज ही नहीं, हजारों वर्ष पूर्व भी उठा था और जब तक मानव-जीवन है, तब तक अनन्त भविष्य में भी यह प्रश्न उठ सकता है। आज आपके समक्ष भी यह प्रश्न है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र से पूर्व सम्यक् शब्द क्यों जोड़ा गया है?

मैं समझता हूँ आपका प्रश्न युक्तियुक्त है। हर समझदार व्यक्ति को प्रश्न करने का अधिकार है। इस सम्यक् शब्द के रहस्य को समझने के लिए, आपको कुछ गहराई में उतरना होगा। जीवन-समुद्र के ऊपर ऊपर तैरते रहने से सत्य का मोती हाथ लगने वाला नहीं है। भारत के अध्यात्म-शास्त्र में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है, कि ज्ञान आत्मा का निज गुण है। जो निज गुण होता है, वह कभी अपने गुणी से अलग नहीं

हो सकता। अनन्त अतीत मे एक समय भी ऐसा नही रहा, जबकि ज्ञान आत्मा को छोडकर, अलग चला गया हो और अनन्त अनागत मे एक क्षण का भी समय ऐसा नही आएगा, जब कि ज्ञान आत्मा को छोडकर अलग हो जाएगा। जीवन के वर्तमान क्षण मे भी आत्मा मे ज्ञान है ही। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है, कि ज्ञान की आत्मा मे त्रैकालिक सत्ता है। इसी प्रकार दर्शन भी आत्मा का निज गुण है। ज्ञान के समान दर्शन भी आत्मा मे सदा रहा है और सदा रहेगा तथा वर्तमान मे भी उसकी सत्ता है। चारित्र भी आत्मा का गुण है, जहाँ आत्मा है वहाँ चारित्र अवश्य रहेगा। आत्मा की सत्ता अनन्त काल से है और अनन्त काल तक रहेगी। चारित्र भी अनन्त काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। इस प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो आत्मा के निज गुण हैं। जो गुण हैं, वे अपने गुणी से कभी अलग नही हो सकते। क्योंकि गुण और गुणी मे अविना भाव सम्बन्ध होता है, जिसका अर्थ है—गुण गुणी के बिना नही रह सकता, और गुणी भी बिना गुण के नही रह सकता। क्या कभी उष्णता अग्नि को छोड कर रह सकती है ? और क्या कभी अग्नि उष्णता हीन हो सकती है ? इसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र कभी आत्मा को छोडकर अन्यत्र नही रह सकते और आत्मा भी उक्त तीनो गुणो को छोडकर कभी नही रह सकता। इसी को अविना भाव सम्बन्ध कहा जाता है। गुण और गुणी न सर्वथा भिन्न हैं, और न सर्वथा अभिन्न है। जैन-दर्शन गुण और गुणी मे व्यवहार नय से कथञ्चित् भेद और निश्चय नय से कथञ्चित् अभेद स्वीकार करता है। जैन-दर्शन की यही अनेकान्त-दृष्टि है। भेद-कथन व्यावहारिक है और अभेद-कथन नैश्चियक है।

मैं आपसे कह रहा था कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा के निज गुण है, वे कभी आत्मा को छोडकर अन्यत्र नही रह सकते। दर्शन का अर्थ प्रतीति, रुचि एव विश्वास होता है। वह दर्शन रहा तो अवश्य, परन्तु आत्माभिमुख न रहकर शरीराभिमुख रहा। आत्मा का यह दर्शन गुण निगोद की स्थिति मे भी रहा। निगोद, चैतन्य-जीवन की सबसे निकृष्ट स्थिति मानी जाती है। निगोद की स्थिति मे चेतना शक्ति इतनी हीन एव क्षीण स्थिति मे पहुँच जाती है, कि वहाँ प्रत्येक चैतन्य के पास अपने पृथक्-पृथक् शरीर भी नही रहते, बल्कि, एक ही शरीर मे अनन्त-अनन्त चेतनो को अधिवास करना पडता है। अनन्त आत्माओ के साझेदारी का यह शरीर भी इतना

सूक्ष्म होता है, कि चर्म-चक्षु से उसे देखा नहीं जा सकता। उसे विशिष्ट ज्ञानी ही देख सकते है। परन्तु चेतना की इस हीन एवं क्षीण अवस्था मे भी उसके पास उसका दर्शन-गुण रहा है उस समय भी उसके पास प्रतीति रुचि और विश्वास रहा है। परन्तु वह विश्वास स्वाभिमुख न रह कर पराभिमुख रहा। आत्मा में न रह कर शरीर मे रहा। जब तक यह विश्वास यह आस्था और यह श्रद्धा शरीर मे रहती है अथवा शरीर से सम्बद्ध भौतिक भोग-साधनो मे रहती है, तब तक अध्यात्म-शास्त्र उसे सम्यक् श्रद्धा सम्यक् आस्था एव सम्यक् दर्शन न कह कर मिथ्या दर्शन कहता है।

ज्ञान भी आत्मा का निज गुण है और वह आज से नही अनन्त अनन्त काल से इस आत्मा मे रहा है और इस आत्मा मे ही रहेगा। ससार का एक भी प्राणी ऐसा नही है, जिसमें ज्ञान न हो। उपयोग आत्मा मे अवश्य रहता है, क्योकि ज्ञान-रूप उपयोग आत्मा का एक बोधरूप व्यापार है। किन्तु उस ज्ञान-रूप उपयोग की धारा आत्मा मे न रहकर जब तक शरीर मे प्रवाहित होती है शरीर से सम्बद्ध भौतिक भोग-साधनो मे प्रवाहित होती है, तब तक वह ज्ञान सम्यक् ज्ञान नही कहलाता। ज्ञान की धारा तो रही किन्तु वह सम्यक् न होकर मिथ्या रही। यह नही कहा जा सकता कि आत्मा का ज्ञान कभी नष्ट हो गया। यदि ज्ञान नष्ट हो गया होता, तो न नवीन कर्म का बन्ध होता और न पुराने कर्मों का भोग ही होता। ज्ञान की उपस्थिति मे ही नवीन कर्मों का बन्ध एव पुराने कर्मों का भोग एव क्षय होता है। कर्म और कर्म-फल चेतना के ही परिणाम है। इसका अर्थ यही है, कि आत्मा कभी ज्ञान-हीन नही हुआ और न कभी ज्ञान-हीन हो ही सकेगा। क्योकि ज्ञान आत्मा का निज गुण है, ज्ञान आत्मा का निज स्वरूप है, भले ही चेतना की हीन अवस्था में वह ज्ञान सुरूप न होकर कुरूप रहा हो सम्यक् न होकर मिथ्या रहा हो। परन्तु चैतन्य में ज्ञान की सत्ता से इन्कार नही किया जा सकता। जहाँ चैतन्य है वहाँ ज्ञान अवश्य रहेगा।

चारित्र का अर्थ है—आचार एव क्रिया। आचार एव क्रिया का अस्तित्व जीव मे किसी-न-किसी प्रकार रहता ही है। कभी ऐसा नही हो सकता कि चारित्र आत्मा को छोडकर अन्यत्र रहता हो। अहिंसा और हिंसा सत्य और असत्य दोनो ही चारित्र है। एक सम्यक् है और दूसरा असम्यक्। क्रिया का सीधा होना सम्यक् चारित्र है और क्रिया

का उल्टा होना मिथ्या चारित्र है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार शुभ मे प्रवृत्ति और अशुभ मे निवृत्ति को चारित्र कहते है। चारित्र, आचार एव क्रिया भले ही वह सम्यक् हो या मिथ्या, जब कभी होगी जीव मे ही होगी, अजीव मे नही। इसी आधार पर चारित्र को आत्मा का गुण माना गया है। मिथ्या चारित्र का अर्थ है—पर मे रमण और सम्यक् चारित्र का अर्थ है—स्व मे रमण। जिस आत्मा मे सम्यक् चारित्र होता है, उस आत्मा की गति=प्रवृत्ति मोक्षाभिमुखी होती है और जिस आत्मा मे मिथ्या चारित्र होता है, उस आत्मा की गति=प्रवृत्ति ससाराभिमुखी रहती है। चारित्र की साधना का एक मात्र लक्ष्य है, आत्मा के स्वस्वरूप की उपलब्धि। इस स्वस्वरूप की उपलब्धि वीतराग भाव से ही हो सकती है। वीतराग भाव का अर्थ है—वह सयम, जिसमे साधक इतनी ऊँचाई पर पहुँच जाता है, कि उसके जीवन मे किसी के प्रति भी राग एव द्वेष नही रहता। इसके विपरीत सराग सयम का अर्थ है—वह सयम जिसमे राग और द्वेष अल्प मात्रा मे बना रहता है। परन्तु जितने अश मे राग है, वह चारित्र नही है। सराग सयम मे जितना वीतराग भाव है, उतना ही चारित्र है। सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान के साथ सम्यक् चारित्र की परिपूर्णता को ही जैन दर्शन मे मोक्ष एव मुक्ति कहा गया है। दर्शन की पूर्णता चतुर्थ गुण-स्थान से लेकर सप्तम गुण स्थान तक अवश्य हो जाती है। ज्ञान की पूर्णता त्रयोदश गुण स्थान मे हो जाती है। किन्तु चारित्र की परिपूर्णता तेरहवें गुण स्थान के अन्त मे चौदहवें गुणस्थान मे होती है। इस प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र की परिपूर्णता को ही मोक्ष कहा गया है। आत्म-गुणो के पूर्ण विकास का नाम ही जब मोक्ष है, तब वह मोक्ष कही बाहर मे न रहकर साधक के अन्दर मे ही रहता है।

मैं आपके समक्ष दर्शन, ज्ञान और चारित्र की चर्चा कर रहा था। मैं यह बतलाने का प्रयत्न कर रहा था, कि उक्त तीनो के पूर्व सम्यक् पद लगाने का क्या महत्व है? दर्शन, ज्ञान और चारित्र से पूर्व जब सम्यक् शब्द जोड दिया जाता है, तब उनमे क्या विशेषता आ जाती है? यदि केवल दर्शन, ज्ञान एव चारित्र को ही मोक्ष का अग मान लिया जाए, और उनसे पूर्व सम्यक् शब्द न जोडा जाए, तो मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र भी मोक्ष का अग माना जाएगा। क्योंकि दर्शन का दर्शनत्व, ज्ञान का ज्ञानत्व और चारित्र का चारित्रत्व वहाँ पर भी रहता ही है। परन्तु अध्यात्म-दर्शन मे मिथ्या दर्शन,

मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र को मोक्ष का अंग न मान कर, संसार का ही अंग माना गया है। इसके विपरीत सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को ही मोक्ष के अंगरूपेण मान्यता दी है। दर्शन ज्ञान और चारित्र आत्मा के निज गुण होने पर भी मिथ्यात्व दशा में वे आत्मलक्षी न होकर परलक्षी बने रहते हैं। समस्त गुणों का आत्म लक्षी होना ही सम्यक्त्व है और परलक्षी होना ही मिथ्यात्व है। मोक्ष की साधना में दर्शन का होना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसका आत्मलक्षी होना परमावश्यक है। मोक्ष की साधना में ज्ञान का होना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसका आत्मलक्षी होना भी आवश्यक है। मोक्ष की साधना में चारित्र का रहना ही आवश्यक नहीं है, बल्कि उसका आत्म लक्षी होना भी आवश्यक है। आत्मा में दर्शन तो रहा परन्तु वह स्व की ओर न रहकर पर की ओर रहा और आत्म-लक्षी के बदले परलक्षी रहा। परन्तु यही दृष्टि जब स्वलक्षी हो जाती है, तब उसे सम्यक् दर्शन कहते हैं। आत्मा में ज्ञान तो अनन्त काल से रहा परन्तु उसने स्व को नहीं जाना इसीलिए वह मिथ्या रहा। और जब ज्ञान स्व को समझ लेता है तब वह सम्यक् बन जाता है। आत्मा में चारित्र तो रहा किन्तु वह स्व में रमण नहीं कर सका पर में रमण करता रहा इसीलिए सम्यक् नहीं हो सका और जब तक सम्यक् नहीं हो सका तब तक वह मोक्ष का अंग भी नहीं बन सका। अध्यात्म-शास्त्र कहता है, कि आत्म-लक्षी परिणति के अभाव में दर्शन ज्ञान और चारित्र मिथ्या बने रहे, वे सम्यक् नहीं बन सके।

दर्शन ज्ञान और चारित्र से पूर्व सम्यक् शब्द लगाने से सारी स्थिति ही बदल जाती है। इसका अभिप्राय यही है, कि दर्शन ज्ञान और चारित्र मोक्ष के अंग नहीं बल्कि सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्ष के अंग हैं। सम्यक् शब्द का अर्थ व्याकरण-शास्त्र के अनुसार प्रशस्त संगत और विशुद्ध होता है। सम्यक् शब्द इस अभिप्राय को प्रतिपादित करता है, कि जब तक उक्त गुण प्रशस्त एवं विशुद्ध नहीं होंगे तब तक वे मोक्ष के अंग नहीं बन सकते।

एक प्रश्न अध्यात्म-शास्त्र में बड़े ही महत्त्व का उठाया गया है, कि मोक्ष की साधना में पहले सम्यग् दर्शन को माना जाए अथवा सम्यग् ज्ञान को माना जाए? हमारी अध्यात्म-साधना का क्रम सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रहे अथवा सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन

और सम्यक् चारित्र रहे। चारित्र के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार का विचार-भेद उपलब्ध नही होता। जितना भी विचार-भेद है, वह सब ज्ञान और दर्शन के पूर्वा-पर के सम्बन्ध मे है। यदि तात्विक दृष्टि से विचार किया जाए, तो किसी भी प्रकार के विचार-भेद को अवकाश नही है। आगम ग्रन्थो मे, मोक्ष के अगो मे कही तो दर्शन से पूर्व ज्ञान को रखा गया है और कही ज्ञान से पूर्व दर्शन को रखा गया है। परन्तु दार्शनिक ग्रन्थो मे सर्वत्र एक ही शैली उपलब्ध होती है। वहाँ सर्वत्र दर्शन से पूर्व ज्ञान को रखा गया है। इस पक्ष का तर्क यह है, कि ज्ञान तो आत्मा मे अनन्तकाल से था ही, किन्तु उसे सम्यक् बनाने वाली शक्ति सम्यग् दर्शन ही है। अत ज्ञान से पूर्व उस सम्यग् दर्शन को रखा जाना चाहिए, जिसकी महिमा से अज्ञान भी सम्यक्ज्ञान बन जाता है। इस दृष्टि से ज्ञान से पूर्व दर्शन शब्द को रखने मे किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति उत्पन्न नही हो सकती। परन्तु ज्ञान को दर्शन से पूर्व मानने वाले पक्ष का तर्क यह है, कि दर्शन का अर्थ है सत्य की प्रतिपत्ति, सत्य की दृष्टि। परन्तु कौन दृष्टि सत्य है, कौन दृष्टि असत्य है, इसका निर्णय ज्ञान से ही हो सकता है, अत दर्शन से पूर्व ज्ञान होना चाहिए। जैन-दर्शन कहता है, कि सत्य तो सत्य है, परन्तु उस पर विचार करो कि वह सत्य किस प्रकार का है? आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र मे आत्मा का सत्य ही सर्वोपरि सत्य है। इस दृष्टि से दर्शन से पूर्व ज्ञान का कथन करने वालो का अभिप्राय यही है, कि किसी भी वस्तु के निर्णय करने मे ज्ञान की प्राथमिकता रहती है। अत आस्था, श्रद्धा और विश्वास से पूर्व ज्ञान होना चाहिए। परन्तु यदि गम्भीर विचार के साथ वस्तु-स्थिति का अवलोकन किया जाए तो सार तत्त्व यही निकलता है, कि दर्शन और ज्ञान मे क्रम-भाव एव पूर्वापर-भाव है ही नही।

कल्पना कीजिए आकाश मे सूर्य स्थित है, उसे चारो ओर बादलो ने घेर लिया है। किन्तु जब बादल हटते हैं, तब सूर्य का प्रकाश और आतप एक साथ भूमण्डल पर फैल जाते हैं। यदि कोई यह कहे कि पहले प्रकाश आता है, फिर आतप आता है, अथवा पहले आतप आता है, और फिर प्रकाश आता है, तो ये दोनो ही बाते गलत हैं। जहाँ प्रकाश है, वहाँ आतप रहता ही है और जहाँ आतप रहता है, वहाँ प्रकाश भी अवश्य रहता ही है। दोनो का अस्तित्व एक समय मे एव युगपत् रहता है। इस दृष्टि से सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान मे किसी प्रकार

का एकान्त क्रम भाव या पूर्वापर भाव मानना उचित नहीं है। जिस क्षण दर्शन सम्यग्-दर्शन में परिणत होता है उसी क्षण एक क्षण का भी अन्तर नहीं ज्ञान सम्यग् ज्ञान में परिणत हो जाता है। प्रत्येक अध्यात्म शास्त्र में सम्यग् दर्शन का महत्व इस आधार पर माना गया है कि उसके होने पर ही ज्ञान सम्यग् ज्ञान बनता है और उसके होने पर ही चारित्र सम्यक् चारित्र बनता है। मेरे कहने का अभिप्राय यही है, कि जैन-दर्शन दृष्टि को महत्व देता है, जिसकी जैसी दृष्टि होती है उसके लिए सृष्टि भी वैसी ही बन जाती है। जैन-दर्शन यह कहता है, कि सत्य को सत्य के रूप में परखना ही सबसे बड़ा साध्य है और साधक जीवन का यही सबसे बड़ा कर्तव्य है। विशुद्ध दृष्टि के अभाव में जप तप और स्वाध्याय सब व्यर्थ रहता है। दृष्टि-विहीन आत्मा कितना भी कठोर एवं घोर तप क्यों न करे, किन्तु उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके विपरीत दृष्टि-सम्पन्न आत्मा का अल्प तप एवं अल्प जप भी महान फल प्रदान करता है। साधक-जीवन में दृष्टि की विशुद्ध दृष्टि की अपार महिमा है और अपार गरिमा है।

६

साधना का लक्ष्य

* * *

साधना के जीवन मे किसी भी एक लक्ष्य और ध्येय का बड़ा महत्त्व होता है। ध्येय-हीन एव लक्ष्य-हीन जीवन इधर-उधर भटकता रहता है, वह अपनी जिन्दगी की किसी एक निश्चित मजिल पर नही पहुँच सकता। सब कुछ करने पर भी उसे कुछ प्राप्त नही हो पाता। इसका मुख्य कारण यही है, कि उसे क्या होना है और कैसा होना है तथा कब होना है? इस विषय मे वह अच्छी तरह न कोई विचार कर पाता है और न कोई निर्णय ही ले पाता है। इस प्रकार का लक्ष्य-हीन एव ध्येय-हीन साधक अनन्त-अनन्तकाल मे भटक रहा है और अनन्त-अनन्तकाल तक भटकता रहेगा। उसकी जीवन-नौका कभी किनारे नही लग सकती। अतएव साधक के समक्ष सबसे बड़ा प्रश्न यही रहता है, कि उसका ध्येय एव लक्ष्य क्या है? ससार के भोगचक्र मे उलझे रहना ही उसके जीवन का लक्ष्य है? अथवा ससार के भव-बन्धनों को काट कर अजर, अमर, शाश्वत सुख प्राप्त करना उसका लक्ष्य है? मैं

समझता हूँ कि अध्यात्म-साधना का जितना महत्व है, उससे भी अधिक महत्व इस बात का है, कि साधक यह समझे कि उसे क्या करना है, कैसे करना है और कब करना है ? पहले मार्ग स्थिर करो और फिर आगे बढ़ो। अध्यात्म-जीवन का यही एक-मात्र प्रशस्त राज मार्ग है।

आत्मा में काम एवं क्रोध आदि के विकार एवं विकार भाव से नहीं अनन्त काल से रहे हैं। इन विकारों को जीतने का अनेक बार प्रयत्न किया गया किन्तु सफलता नहीं मिली। अनन्तकाल से यह मोह-मुग्ध आत्मा संसार सागर की उत्ताल तरंगों पर उठता और गिरता रहा है। अनन्तबार यह संसार-सागर में बहुत गहरा डूबा है और अनेक बार उससे निकलने का यथासम्भव प्रयत्न भी वह कर चुका है। क्या कारण है कि वह फिर भी अभी तक निकल नहीं पाया। प्रयत्न करने पर भी उसे अनुकूल फल क्यों नहीं मिला ? यह एक विकट प्रश्न है। अध्यात्म शास्त्र इस विषय में बतलाता है कि प्रयत्न तो किया गया किन्तु उस प्रयत्न से पूर्व उचित विवेक नहीं रखा गया। साधना के क्षेत्र में विवेक का मूल अर्थ है अपने वास्तविक लक्ष्य को जानना एवं अपने विशुद्ध ध्येय को पहचानना। जीव ने सुखी होने की अनन्तबार अभिलाषा की फिर भी वह सुखी क्यों नहीं हो सका ? क्या आपने कभी इस प्रश्न पर, अपने जीवन की इस समस्या पर गम्भीरता के साथ विचार किया है ? क्या कभी आपने यह जानने का प्रयत्न किया है कि मैं कौन हूँ और क्या हूँ ? आज के इस भौतिक युग का मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त करना चाहता है, उसके एक-से-एक गूढ़ रहस्य को खोज निकालना चाहता है, परन्तु क्या कभी उसने अपने पर विजय प्राप्त करने का विचार किया ? अपने अन्तरतम के रहस्य को जानने का प्रयत्न किया ? इस भौतिकता-वादी युग में क्वाचित् ही कोई आत्मा अपने को समझने का प्रयत्न करता है और अपने को परखने का प्रयत्न करता है। आज के इस भौतिकवादी विज्ञान ने अनन्त आकाश में उड़ने के लिए वायुयान बनाया, समुद्र की अपार जल राशि में तैरने के लिए जलयान और एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र से सामीप्यता स्थापित करने के लिये अनेक भौतिक साधनों का आविष्कार किया। परन्तु क्या कभी उसने यह भी सोचा एवं समझा कि मैं क्रोध क्यों करता हूँ, मैं लोभ क्यों करता हूँ, मैं राग क्या करता हूँ और मैं द्वेष क्यों करता हूँ ? विकार और विकल्प मेरे अपने हैं अथवा मेरे से भिन्न

हैं। क्या कभी यह समझने का प्रयत्न किया गया, कि जीवन मे उत्थान कैसे आता है और जीवन का पतन क्यो होता है ?

यह सत्य है कि हम ससार मे हैं और ससार के बन्धनो मे बद्ध हैं। भव के विविध भाव हमारे अन्दर उत्पन्न होते हैं और विलीन भी होते हैं। परन्तु यह सब क्यो है ? इस तथ्य को समझने के लिये हम अपने व्यस्त जीवन मे से क्या कभी कुछ क्षण निकाल सके हैं। यह सत्य है कि ऐसा नही किया गया। हम दुःखी है, जीवन यात्रा मे कदम-कदम पर एव क्षण-क्षण मे दुःख की अनुभूति हमे होती है। परन्तु यह दुःख कहाँ से आया ? क्यो आया ? यह सत्य है कि इस सम्बन्ध मे कभी विचार नहीं किया गया। क्रोध आने पर हम शान्त नही रह सके, अभिमान आने पर हम विनम्र नही रह सके, कुटिलता एव वक्रता के आने पर हम सरल नही बन सके, लोभ के आने पर हम सन्तोष को धारण नही कर सके। यह सत्य है कि अनुकूल पदार्थ पर हमने राग किया और प्रतिकूल पदार्थ पर हमने द्वेष किया। राग और द्वेष के तूफानी झंझावातो से हम अपने अध्यात्म-भाव की रक्षा नही कर सके, यह सत्य है।

मैं आपसे अध्यात्म-जीवन की बात कह रहा था और यह बता रहा था कि अभिलाषा करने पर भी हमारे जीवन मे भौतिकता के विरोध मे अध्यात्म भाव क्यो नही पनपता ? इसका कारण एक ही है—साधक के अपने जीवन की लक्ष्य-हीनता एव ध्येय-हीनता। भारत के कुछ विचारक और तत्त्वचिन्तक, भारत के ही नही, बल्कि समग्र विश्व के तत्वचिन्तक इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि जीवन चाहे कितना ही अपवित्र क्यो न बन गया हो, किन्तु उसे पवित्र बनाया जा सकता है। जीवन अन्धकार से कितना भी क्यो न घिर गया हो, उसे प्रकाशमान बनाया जा सकता है। साधक अपने लक्ष्य से कितना ही क्यो न भटक गया हो, किन्तु उसे फिर अपने लक्ष्य पर लाया जा सकता है। इसी आशा और विश्वास के आधार पर अध्यात्मशास्त्र टिका हुआ है। ससार सागर की तूफानी लहरो मे फँस कर भी साधक अपने अध्यात्म-भाव के बल पर उस सकट मे बच सकता है। परन्तु उसके अन्दर अपने प्रति और अपनी अध्यात्म-शक्ति के प्रति विश्वास जागृत होना चाहिए। जैन-दर्शन इस तथ्य का जय-घोष करता है कि तुम क्षुद्र होकर भी विराट बन सकते हो, तुम पतित होकर भी पवित्र बन सकते हो, तुम हीन होकर भी महान् बन सकते हो।

अपने में विश्वास करना सीखो। यदि अपने में विश्वास नहीं है, तो दुनिया की कोई ताकत तुम्हारा उत्थान नहीं कर सकती, तुम्हें विकास के मार्ग पर नहीं ले जा सकती।

मैं आपसे स्पष्ट कहता हूँ कि यदि विश्व का कोई भी विचारक आपसे यह कहता है, तुम दीन हो और अनन्त भविष्य में भी दीन ही रहोगे, तुम हीन हो और अनन्त भविष्य में भी हीन ही रहोगे, तुम पतित हो और अनन्त भविष्य में भी तुम पतित ही रहोगे, तो आप उसकी इन बातों को मानने से स्पष्ट इन्कार कर दें। जो दर्शन आपके उत्थान और विकास के लिए, आपको यथोचित आशा और विश्वास नहीं दिला सकता, आपके उत्थान के लिए आपको उत्तेजित एवं प्रेरित नहीं कर सकता, आपको भव बन्धन से मुक्त होने के लिए कोई सुन्दर सन्देश नहीं दे सकता, तो निश्चय ही उसकी कमजोर बात को स्वीकार करने से आपको कोई लाभ नहीं हो सकता। उनके प्राणहीन विचारों को ग्रहण करने से आपका अभीष्ट उत्थान नहीं हो सकेगा।

मैं आपसे आत्मा के लक्ष्य एवं ध्येय की बात कह रहा था। मानव जीवन के समक्ष सबसे बड़ा प्रश्न यह है, कि इस अनन्त संसार में आत्मा का ध्येय और लक्ष्य क्या है? क्या आत्मा सदा संसार की सुख दुःख की अँधेरी गलियों में भटकते आता ही रहेगा? क्या यह आत्मा काम, क्रोध, मोह आदि विकारों से कभी मुक्त नहीं हो सकेगा? क्या आत्मा इस अनन्त संसार-सागर में डूबता उतराता ही रहेगा, कभी सदा के लिए पार नहीं हो सकेगा? जिधर हम देखते हैं उधर संसार में दुःख एवं कष्ट ही दृष्टिगोचर होते हैं। क्या संसार में कहीं सुख शान्ति एवं आनन्द भी है? इस प्रकार अनेक प्रश्न अध्यात्म साधकों के मानस में उठा करते हैं। कुछ विचारक ऐसे रहे हैं जिनका यह विश्वास था कि आत्मा अपने अशुभ कर्म से नरक में जाता है और अपने शुभ कर्म से स्वर्ग में जाता है, कभी स्वर्ग लोक में और कभी नरक लोक में, कभी मनुष्य लोक में और कभी पशु-पक्षी की योनि में और कभी कीट पतंगों की योनि में यह आत्मा अपने पुण्य और पाप की हानि वृद्धि के कारण जन्म-मरण करता रहता है। इस प्रकार संसार में आत्मा के परिभ्रमण के स्थान दुःख तथा विनाश से भरे अवश्य हैं पर [illegible] आत्मा [illegible] की परिभावना नहीं थी। पाप और पुण्य से परे सर्वथा शुद्ध आत्म स्वरूप के आदर्श का विचार नहीं कर सके। अध्यात्म का आदर्श उक्त विचारकों

से भिन्न है। वह कहता है, कि यह आत्मा अनन्त बार नरक के भयंकर दुःखो की आग मे जल चुका है और अनन्त बार स्वर्ग-सुखो के भूलो पर भी भूल चुका है। अनन्त अनन्त बार मानव पशु-पक्षी, कीट पतग भी बन चुका है। यह सत्य है, परन्तु यह नही कहा जा सकता, कि जो आत्मा अनन्त काल से ससार मे रहता आया है, वह अनन्त भविष्य मे भी ससार मे ही रहेगा। जैन-दर्शन इस तथ्य को स्वीकार नही करता, कि आत्मा का जन्म-चक्र और मृत्यु-चक्र कभी नही टूटेगा। वह यह मानता है कि अध्यात्म-साधना के द्वारा यह आत्मा सर्व प्रकार के बन्धनो से सदा के लिए मुक्त हो सकता है।

चिन्तन और अनुभव करना, आत्मा का सहज स्वभाव है। जब बुरे चिन्तन का बुरा अनुभव हो सकता है, तब अच्छे चिन्तन का अच्छा अनुभव क्यो नही होगा। आत्मा अनुभव करता है, उसमे अनुभव करने की सहज शक्ति है। अपने अन्तर की आवाज़ को यदि कोई सुने, तो वह अवश्य ही यह अनुभव करेगा, कि अन्दर भी कोई चित् शक्ति है, और वह अनन्त है। जब वह शक्ति काम, क्रोध, वासना और घृणा मे फँस सकती है, तब उसमे से एक दिन वह निकल भी सकती है। यदि अध्यात्म-साधक गम्भीरता के साथ अपने विकार और विकल्पो पर विचार करे, तो वह इसी निर्णय पर पहुँचेगा कि यह विकार और विकल्प आत्मा के अपने नही है। निश्चय ही ससार की प्रत्येक आत्मा बन्धन-मुक्त होने के लिए छटपटाती रहती है। एक साधारण चीटी को भी यदि आप देखेंगे, तो आपको पता चलेगा कि चलते-चलते जब उसके मार्ग मे कोई रुकावट आ जाती है, अथवा कोई व्यक्ति उसे रोकने का प्रयत्न करता है, तो वह उससे बच निकलने के लिए कोशिश करती है। ससार का चीटी-जैसा एक साधारण जन्तु भी बन्धन मे नही रहना चाहता। आप पक्षी को पिंजरे मे बन्द रखना चाहते है, उसके भोजन एव जल की व्यवस्था भी आप पिंजरे मे ही कर देते हैं। उसके लिए सभी प्रकार की सुख-सुविधाओ का आप पूरा ध्यान रखते है। और कुछ दिनो के बाद आप यह समझ लेते हैं कि अब यह पालतू हो गया है, जैसे हमारे घर के अन्य सदस्य हैं, वैसे ही यह भी एक सदस्य है। आप यह विश्वास कर लेते है कि यह अब कही जा नही सकता। मगर जरा मौका मिला नही कि वह पक्षी अनन्त गगन मे उड जाता है। जिस पक्षी को आपने इतने प्रेम और स्नेह से पाला पोषा, वह बन्धन खुलते

ही आपसे दूर हो गया। इसका अर्थ यही है कि पक्षी को भी बन्धन पसन्द नहीं है। बन्धन की स्थिति में भौतिक सुख साधन कितने भी क्यों न मिलें परन्तु मन में एक भावना बनी रहती है, कि मैं बन्धन बद्ध हूँ। यह परतन्त्रता ही संसार का सबसे बड़ा कष्ट एवं दुःख है। जब आप किसी पक्षी को पकड़ कर पहली बार पिंजरे में डालते हैं तब आपने देखा होगा कि पिंजरे के अन्दर मेवा और मिष्टान्न होते हुए भी वह पक्षी उस पिंजरे के अन्दर छटपटाता रहता है पंख फड़फड़ाता रहता है और इधर-उधर चोंच मारता रहता है। आप इसका क्या अर्थ समझते हैं? इसका अर्थ इतना ही है कि भौतिक भोग की उपलब्धि होने पर भी वह अपने को पराधीन मानता है। अपने आपको बन्धन-बद्ध मानता है। बन्धनमुक्त स्थिति में स्वतन्त्र रहकर भूख-प्यास सहन करना वह अच्छा समझता है, पर बन्धन की दशा में स्वर्ण-पिंजरे में रहकर भी वह अपने आपको विपन्न और दुःखी समझता है। जब पशु-पक्षी की अल्प चैतन्य आत्मा भी बन्धन को स्वीकार नहीं कर सकती, तब अधिक विकसित चेतना-शील मन मस्तिष्क वाले मानव आत्मा को बन्धन कैसे स्वीकार हो सकता है? काम क्रोध और राग-द्वेष आदि विकार और विकल्प ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के मन में रह सकते हैं, भले ही विचार करने का दृष्टिकोण विभिन्न हो पर दोनों ही यह विचार करते हैं, कि बन्धन कैसा ही क्यों न हो वह कभी हितकर एवं सुखकर नहीं हो सकता।

किसी आत्मा का कितना भी पतन क्यों न हो गया हो वह कितना भी पापाचार में क्यों न फँस गया हो किन्तु बन्धन से मुक्त होने की एक सहज अभिलाषा कहीं पर भी व्यक्त होती है। संसार में जितना भी दुःख एवं क्लेश है, वह सब बन्धन का ही है। अध्यात्मशास्त्र यह कहता है कि केवल नरक में जाना ही बन्धन नहीं है, स्वर्ग में जाना भी एक प्रकार का बन्धन ही है। किसी अपराधी के पैरों में लोहे की बेड़ी डाल दी जाए अथवा किसी के पैरों में सोने की बेड़ी डाल दी जाए—दोनों में विवेकदृष्टि से अन्तर भी क्या है? बन्धन दोनों जगह है दोनों अवस्थाओं में ही आत्मा की स्वतन्त्रता नहीं रह पाती। सोने की बेड़ी वाला यदि यह अहंकार करता है कि मैं लोहे की बेड़ी वाले से अधिक सुखी हूँ क्योंकि मेरे पैरों में सोने की बेड़ी पड़ी हुई है तो यह भावना और समझना उसकी भारी भूल ही है। इसी प्रकार नरक में जाना यह भी बन्धन है और स्वर्ग में जाना यह भी

बन्धन है। स्वर्ग और नरक दोनो प्रकार के बन्धनो को तोडना, यही आत्मा का सहज स्वभाव है। भारत का अध्यात्मवादी दर्शन यह कहता है, कि ससार के सुख और भोग विलास भी उसी प्रकार त्याज्य हैं, जिस प्रकार दु ख और क्लेश त्याज्य हैं। कल्पना कीजिए—किसी व्यक्ति के पैर मे कांटा लग जाता है, और वह व्यक्ति वेदना से छटपटाता है। दूसरा व्यक्ति शूल (लोहे की पैनी सुई या पिन) को लेकर उसके पैर के काटे को निकाल देता है। कांटा निकलने पर वह व्यक्ति यदि कहे कि इस शूल ने पैर मे चुभकर कांटे को निकाला है, इसलिए यह अच्छा है, अस्तु, इसे मैं अपने पैर मे ही चुभाए रखूंगा, अलग नही करूंगा। यदि इस प्रकार किया जाता है, तो यह एक प्रकार की मूढता ही होगी। ज्ञानी और विवेकशील आत्मा की दृष्टि मे कांटा निकालने वाला शूल भी उसी प्रकार त्याज्य है, जिस प्रकार कि पैर मे लगने वाला कांटा। ससार के पुण्य और पाप तथा तज्जन्य सुख और दु ख की भी यही कहानी है। अध्यात्म दृष्टि मे पाप और पुण्य दोनो ही कांटे हैं। किन्तु पाप के बदले पुण्य के कांटे को अपने अन्तर की गहराई मे लगाए रखना बुद्धिमत्ता नही कही जा सकती। ससार के सुख और दु ख तब तक समाप्त नही होंगे, जब तक कि यह आत्मा भव बन्धनो से सर्वथा मुक्त न हो जाएगा। अध्यात्मवादी साधक की दृष्टि मे ससार के दु ख ही त्याज्य नही हैं, किन्तु ससार के क्षणिक सुख भी अन्तत त्याज्य हैं, छोडने के योग्य हैं। यदि कोई व्यक्ति एक ओर से ससार के दु खो को तो छोडता रहे, किन्तु दूसरी ओर ससार के सुखो को समेटता रहे, तो वह व्यक्ति उसी पागल अपराधी के समान है, जो अपने पैर मे सोने की बेडी होने के कारण अपने आपको उन अपराधियो से श्रेष्ठ समझता है जिनके पैरो मे लोहे की बेडियाँ हैं। अध्यात्म-दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है, कि ससार के सुख भी, सुख रूप न होकर दु ख रूप ही होते हैं। जिन स्वर्ग-सुखो की मोह-मुग्ध आत्मा अपने दिमाग मे रगीन कल्पनाएँ करता है, आखिर, उन स्वर्ग के देवो के सुखो का भी एक दिन अन्त अवश्य ही होता है। अनन्त अतीत मे सेठ, साहूकार, राजा और महाराजाओ का सुख क्या कभी स्थायी रहा है, और क्या अनन्त भविष्य मे भी वह स्थायी हो सकेगा ? ससार के यह विषय और भोग ज्ञानी की दृष्टि मे विष ही हैं, वे कभी अमृत नही हो सकते। और जो विष है, वह सदा त्याज्य होता है।

बन्धन और मुक्ति दोनों सापेक्ष शब्द हैं। बन्धन है, इसीलिए मुक्ति की उपयोगिता है। परन्तु साधक के समक्ष सबसे बड़ा प्रश्न यह रहता है कि बन्धन से मुक्ति कैसे मिले? इन स्वर्ग और नरक आदि के बन्धनों को कैसे तोड़ा जाए? बन्धन है, यह सत्य है। इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु जो बन्धन आया है उसे दूर करने की समस्या ही मुख्य समस्या है। यह निश्चय है कि जो आया है, वह दूर भी किया जा सकता है। जो कर्म बँधा है, उसे क्षय भी किया जा सकता है। किन्तु बद्ध कर्म को क्षय करने की समस्या उन्हीं तत्त्व चिन्तकों के समक्ष प्रस्तुत होती है, जो स्वर्ग और नरक से आगे बढ़कर अपवर्ग मोक्ष मुक्ति एवं आत्मा के निर्वाण में विश्वास रखते हैं। जिन लोगों ने अपवर्ग मोक्ष की सत्ता को स्वीकार नहीं किया उन विचारकों के समक्ष बन्धन मुक्त होने का सवाल ही कभी पैदा नहीं होता। उन्होंने आत्मा के जन्म एवं मरण का एक ऐसा चक्र स्वीकार कर लिया है, जिसे कभी तोड़ा नहीं जा सकता जिसे कभी मिटाया नहीं जा सकता। मैं आपके समक्ष उस अध्यात्मवादी दर्शन की चर्चा कर रहा हूँ जो आत्मा की परम्परागत बद्ध दशा को भी स्वीकार करता है और उतनी ही तीव्रता के साथ आत्मा की मुक्त दशा को भी स्वीकार करता है। केवल स्वीकार ही नहीं करता आत्मा के बन्धन को काटने के लिए प्रयत्न करने में भी विश्वास रखता है।

आत्मा के बन्धन कैसे दूर हों? उक्त समस्या के समाधान के लिए अध्यात्मवादी दर्शन में दो मार्ग बतलाए हैं—भोग और निर्जरा। भोग और निर्जरा के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय बन्धन से मुक्त होने का नहीं है। इस विषय की लम्बी व्याख्या करने से पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है, कि भोग क्या है और निर्जरा क्या है? अध्यात्मवादी साधक कर्म से विमुक्त होने के लिए भोग और निर्जरा के दो उपायों में से किस उपाय को ग्रहण करे और अपनी साधना में किस प्रकार उसे लागू करे?

अध्यात्मवादी दर्शन में भोग का अर्थ वह स्थिति-विशेष है जिसमें बद्ध आत्मा अपने पूर्व-संचित कर्मों का सुख एवं दुःख आदि के रूप में फल भोग करता है। यह निश्चित है किसी भी पूर्व-संचित कर्म का फल-भोग शुभ एवं अशुभ रूप में ही हो सकता है। अपने पुण्य-पाप रूप कृत कर्मों के फल का वेदन करना ही भोग है।

निर्जरा का अर्थ है, पूर्वबद्ध कर्मों की वह स्थिति विशेष जिसमें

बद्ध कर्म के फल का वेदन नही किया जाता। अपितु फल-भोग से पूर्व ही कर्मों को क्षय किया जाता है। कर्म अपना शुभाशुभ फल दे, उससे पूर्व ही आत्म-संश्लिष्ट उस कर्म को, आत्मा से अलग कर देने की एक आध्यात्मिक प्रक्रिया निर्जरा है।

भोग और निर्जरा के अर्थ को समझने के बाद अब मुख्य प्रश्न यह उठता है, कि बद्ध कर्म को आत्मा से अलग किस उपाय से किया जाए? भोग से अथवा निर्जरा से? दर्शन शास्त्र मे इस विषय पर गहन से गहनतम चर्चाएँ की गई हैं। अनेक विकल्पो का समाधान किया गया है। मैं आपको उस गम्भीर चर्चा की अधिक गहराई तक ले जाना नही चाहता। किन्तु कुछ गहराई मे तो आपको निश्चय ही उतरना पडेगा। किसी महासागर के तट पर बैठ कर अथवा उसके जल की सतह पर तैर कर, आप उसके बहुमूल्य मणि-मुक्ताओ को प्राप्त नही कर सकते। उन की उपलब्धि के लिए, आपको गहरी डुबकी लगानी पडेगी। जीवन की अध्यात्म-साधना मे भी यही सिद्धान्त लागू होता है।

भोग और निर्जरा ये दो मार्ग ही ऐसे हैं, जिनके द्वारा आत्मा कर्म के बन्धन से विमुक्त हो सकता है। भोग और निर्जरा मे से किस मार्ग को अंगीकार किया जाए, जिससे कि आत्मा शीघ्र ही बन्धन-मुक्त हो सके। कुछ विचारक इस तथ्य पर जोर डालते हैं, कि जब तक पूर्व-बद्ध कर्मों का पूर्ण रूप से फल नही भोग लिया जाएगा, तब तक आत्मा का अपवर्ग और मोक्ष नही हो सकता। परन्तु मेरे विचार मे यदि फल भोग कर ही कर्म बन्धनो को तोडेंगे, तो कर्मों का कभी अन्त नही हो सकेगा। मूल कर्म आठ अवश्य हैं, परन्तु उनके उत्तरोत्तर असख्य प्रकार हैं। असख्यात योजनात्मक समग्र लोक को बार-बार खाली करके बार-बार भरा जाए, और इस प्रकार असख्य बार भरा जाए, इतना विस्तार एव प्रसार है एक-एक कर्म का। और प्रत्येक कर्म की स्थिति भी इतनी लम्बी है कि जिसको कल्पना के माध्य से भी समझना आसान नही है। आठ कर्मों मे सबसे विकट और भयकर कर्म मोहनीय कर्म है। अकेले उस मोहनीय कर्म की दीर्घ स्थिति सत्तर क्रोडा क्रोड, सागरोपम की है। इसके अतिरिक्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म की स्थिति भी बडी लम्बी है। इन सबको एक जीवन मे कैसे भोगा जा सकता है? इन सबके भोगने मे एक जन्म तो क्या, अनन्त अनन्त जन्म भी पर्याप्त नही हो सकते। एक दूसरी बात भी विचारणीय है और वह यह कि कर्मों

का बन्ध प्रतिक्षण होता ही रहता है। एक तरफ भोग और दूसरी तरफ बन्ध। साधारण भोगासक्त आत्मा जितना एक जीवन में कर्मफल को भोगता है, उससे कहीं बहुत अधिक वह नवीन कर्मों का बन्ध कर लेता है। एक ओर भोग चलता रहे और दूसरी ओर तीव्रगति से नवीन कर्मों का आगमन एवं बन्धन चलता रहे तब उन कर्मों का अन्त कैसे आएगा और कब आएगा कुछ नहीं कहा जा सकता। कर्मों के भोग का मार्ग कर्मों के अन्त का मार्ग नहीं बन सकता। कल्पना कीजिए, आप किसी ऐसी सभा में बैठे हुए हैं, जहाँ पर पहले से ही इतने अधिक मनुष्य बैठे हुए हैं, जिनकी संख्या का सही सही अंकन आप नहीं कर सकते। इस सभा में यदि एक मिनट में एक व्यक्ति बाहर जाए और बदले में दस व्यक्ति बाहर से अन्दर में आएँ तो क्या कभी इस सभा की समाप्ति हो सकेगी? क्या कभी वह स्थान खाली हो सकेगा? यह एक स्थूल उदाहरण है। कर्म के सम्बन्ध में यह अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता कि प्रतिक्षण आत्मा में कितने नवीन कर्मों का आगमन एवं बन्धन हो रहा है। अतः जहाँ निर्गमन कम हो और आगमन अधिक हो वहाँ अन्त की कल्पना कैसे की जा सकती है?

भोग पर कर्मों को समाप्त करना मेरे विचार में किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण जीवन की बात छोड़िए। प्रातः काल से सायं काल तक एक दिन के जीवन में भी एक आत्मा कितने अधिक नवीन कर्मों का उपार्जन कर लेता है, इसकी परिकल्पना करना भी हमारे लिए शक्य नहीं है। एक क्षण में भी इतने अधिक कर्मदलिकों का संचय एवं उपार्जन हो जाता है, कि सम्पूर्ण जीवन में भी उसे भोगा नहीं जा सकता। फिर सम्पूर्ण जीवन के कर्मों को भोगकर समाप्त करने की आशा करना क्या दुराशामात्र नहीं है। अतः भोग भोग कर कर्मों को तोड़ना और उनके अन्त की आशा करना उचित नहीं कहा जा सकता। कर्मों का अन्त जब कभी भी जहाँ कहीं भी और जिस किसी भी आत्मा ने किया है, तब भोग से नहीं निर्जरा से ही किया है। अतः कर्मों का अन्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय भोग नहीं निर्जरा ही है। निर्जरा से ही कर्मों का अन्त किया जा सकता है।

निर्जरा दो प्रकार की है—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। सविपाक निर्जरा का अर्थ है—जिसमें कर्मों को भोगकर समाप्त किया जाता है। विपाक का अर्थ है—फल रस एवं

कर्म का उदयकाल। विपाक सहित को सविपाक कहा गया है। कर्मों के उदयकाल मे कर्म के शुभ एव अशुभ वेदन को ही विपाक कहा गया है। उस विपाक के द्वारा जो कर्मक्षय होता है, उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। सविपाक निर्जरा की क्रिया सदा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पति, निगोद तथा स्वर्ग, नरक, मनुष्य और और तिर्यञ्च आदि सभी गतियो मे सर्वत्र एव सर्वदा चलती ही रहती है। कर्मों को भोग-कर समाप्त करने की क्रिया सदा काल से चलती आ रही है, यह सवि-पाक निर्जरा है। इसी के सम्बन्ध मे कर्मफल के भोग को लेकर पहले विवेचना कर आए हैं। जीवन मे यह सविपाक निर्जरा प्रतिक्षण होती ही रहती है। एक ओर कर्म का नवीन आगमन भी चालू रहता है, दूसरी ओर सविपाक निर्जरा भी प्रतिक्षण चालू रहती है। सविपाक निर्जरा के द्वारा जीव जिन कर्मों का फल भोगता है, उससे कही अधिक आस्रव से नवीन कर्म का वन्ध हो जाता है। अत सविपाक निर्जरा के द्वारा कभी कर्मों का अन्त नही हो सकता।

दूसरी निर्जरा है—अविपाक निर्जरा। इसके द्वारा कर्म को विना भोगे ही समाप्त कर दिया जाता है। जैन-दर्शन की साधना मे दो तत्त्व मुख्य हैं—सवर और निर्जरा। मोक्ष के लिए इन दोनो को ही मुख्य साधन माना गया है। सवर एक वह साधना है, जिसके द्वारा नवीन कर्म के आगमन को रोक दिया जाता है। जैसे किसी तालाव मे नाली के द्वारा जल आता रहता है और वह नवीन जल पुरातन जल मे मिलकर एकमेक हो जाता है। यदि नाली के मुख को वन्द कर दिया जाए, तव तालाव मे किसी भी प्रकार से नवीन जल नही आ सकेगा। पुरातन जल धीरे-धीरे सूर्य के आतप से एव पवन के स्पर्श से सूखता चला जाएगा और एक दिन ऐसा होगा, कि वह तालाव सर्वथा जल से रिक्त हो जाएगा। यही सिद्धान्त कर्म और आत्मा के सम्वन्ध मे लागू पडता है। आत्मा एक तालाव है, जिसमे शुभ एव अशुभ आस्रव के द्वारा नवीन कर्म आकर पुरातन कर्म के साथ मिलता चला जाता है। यदि नवीन कर्म के आगमन को रोकना हो, तो उसके लिए सर्व-प्रथम सवर की साधना आवश्यक है। सवर का अर्थ है—आत्मा मे नवीन कर्मों के आगमन को रोकना। साधक जव सवर की साधना के द्वारा नवीन कर्म के आगमन को रोक देता है, तव उसके सामने पुरा-तन सचित कर्म के क्षय की समस्या ही रह जाती है। पुरातन सचित कर्म का क्षय करना, यह निर्जरा का कार्य है। जव साधक पूर्व वद्ध

कर्म फल को भोगे बिना ही एवं उसके उदय-काल से पूर्व ही उसका क्षय कर देता है, तब शास्त्र में उसे अविपाक निर्जरा कहा जाता है। तप, ध्यान एवं स्वाध्याय आदि की साधना से कर्म को उसके विपाक-काल से पहले ही समाप्त कर दिया जाता है। मोक्ष का मार्ग सविपाक निर्जरा नहीं, अविपाक निर्जरा है। जब साधक के हृदय में वैराग्य की दिव्य ज्योति जगमगा उठती है, जब आत्मा अपने विभाव भावों से विरक्त होकर स्वस्वभाव में लीन हो जाता है, जब साधक के हृदय में संसार की आशा और तृष्णा का अन्त हो जाता है, जब साधक का चित्त सविकल्प समाधि से निकल कर निर्विकल्प समाधि में पहुँच जाता है, तब वह अपने पूर्व-संचित कर्मों को निर्जरा की साधना से सर्वथा क्षय कर डालता है। इसके विपरीत यदि चित्त में निर्विकल्प समाधि भाव नहीं आया अथवा स्व-स्वभाव में रमण नहीं हुआ, तो कभी भी संसार की तृष्णा और आशा का अन्त नहीं हो सकेगा, भले ही वह साधक कितना भी तप करे, कितना भी जप करे, कितना भी ध्यान करे, कितना भी स्वाध्याय करे और कितना भी उत्कृष्ट आचार का आचरण करे। क्या कारण है कि साधक अपने जीवन में पचास साठ वर्ष के जैसे दीर्घ जीवन को साधना में लगाने पर भी उसका कुछ भी फल प्राप्त नहीं कर पाता। यह तो वही बात हुई, जैसे किसी व्यापारी ने पचास वर्ष तक किसी फर्म को चलाया और अन्त में पूछने पर यह कहे, कि मैं तो कुछ कमा नहीं सका? व्यापारी के जीवन की यह सबसे अधिक भयंकर विडम्बना है। रोनी सूरत बनाकर व्यापार करने वाला जैसे अपने व्यापार-कार्य में सफल नहीं होता है, वैसे ही रोनी सूरत बना कर साधना के मार्ग पर बढ़ने वाला साधक भी अपनी साधना में असफल रहता है। साधना के क्षेत्र में उदास और कृपण भयंकर दोष माने जाते हैं। साधक को जो कुछ करना है, वह सब प्रसन्न भाव से करना चाहिए। रोते रोते साधना करने से किसी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता। भला यह भी कोई साधना है कि एक ओर सामायिक तथा प्रतिक्रमण आदि की लम्बी एवं उग्र साधना चलती रहे और दूसरी ओर चित्त में राग एवं द्वेष के भयंकर तूफान उठते रहें। इस प्रकार की साधना से कभी अविपाक निर्जरा नहीं हो सकती। अविपाक निर्जरा के लिए मन की स्वच्छता और पवित्रता की नितान्त आवश्यकता रहती है। साधना के प्रति वफादारी चाहिए, उस में रस लीजिए, तभी उसका सुन्दर परिणाम दृष्टिगोचर होगा। जब मन का

उल्लास जागृत होता है, भले ही वह कुछ क्षणो के लिए ही क्यो न हो, तभी आलोक की दिव्य ज्योति जगती है। यह मत समझिए कि जब अनन्तकाल से अन्धकार मे रहे हैं, तब अब प्रकाश कैसे मिल सकता है ? इस प्रकार का निराशापूर्ण विचार साधना के लिए एक प्रकार का विघ्न ही सिद्ध होता है। साधक को अपनी साधना मे आस्था, निष्ठा और श्रद्धा रखनी चाहिए, तभी जीवन के अन्दर मौलिक परिवर्तन आ सकेगा। यह परिवर्तन एक वह परिवर्तन होगा, जिससे जीवन का समस्त अन्धकार दूर हो जाएगा और मानवीय जीवन दिव्य आलोक से जगमगा उठेगा। वह दिव्य आलोक क्या है ? उस दिव्य आलोक को जानने की उत्कठा और जिज्ञासा प्रत्येक साधक के हृदय मे बनी रहती है। वह दिव्य आलोक और कुछ नही, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्दर्शन ही है। दर्शन और ज्ञान की सत्ता अनन्त-अनन्त काल से आत्मा मे रही है, परन्तु कर्मो के आवरण के कारण वे असम्यक् हो गए हैं। उनके असम्यक्पन को निर्जरा की साधना द्वारा दूर करना है। परन्तु जब तक इन्द्रिय के भोगो मे आसक्ति बनी रहेगी, तब तक साधक अविपाक निर्जरा की साधना नही कर सकता। अविपाक निर्जरा के लिए अन्तश्चेतना की स्वच्छता, पावनता और निर्दोषता आवश्यक मानी जाती है।

मैं आपसे यह कह रहा था कि दर्शन की सत्ता आत्मा मे अनन्तकाल से है। दर्शन गुण कही बाहर से आने वाला नही है। दर्शन की उपलब्धि का अर्थ केवल इतना ही है—कि उसके मिथ्यात्व भाव को हटाकर उसे सम्यक् बनाना है। उस दिव्य आलोक के ऊपर जो एक आवरण आ गया है, उस आवरण को दूर करना है। यदि हम अपनी साधना के द्वारा उस अनन्तकालीन आवरण को दूर कर सके, तो आत्मा का दिव्य आलोक अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था मे आ जाएगा। आवृत अवस्था को छोडकर अनावृत अवस्था मे पहुँच जाएगा।

सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग् दर्शन स्वय अपने आपको देख नही सकता है। सम्यक्त्व की अनुभूति होनी चाहिए, किन्तु अनुभूति का काम सम्यक्त्व का नही, बल्कि ज्ञान का है। ज्ञान जितना ही निर्मल होगा, अनुभव उतना ही अधिक उज्ज्वल होगा। ज्ञान निर्मल कैसे हो ? इसके लिए कहा गया है, कि स्वाध्याय और ध्यान करो। जब अन्तर्ज्ञान खुल जाएगे, तब सब कुछ समझ मे आ जाएगा। जब अन्त-

स्वचेतना म सत्य के प्रति अभिरुचि जागृत हो जाए और स्वयं की शुद्ध सत्ता पर अटूट आस्था जम जाए, तब समझिए कि आपको सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो चुकी है। जड़ और चेतन का भेद विज्ञान ही सम्यक् दर्शन का मूल स्वरूप है। सम्यग् ज्ञान के द्वारा ही इस परम स्वरूप की अनुभूति होती है। ज्ञान ही स्वयं का अनुभव करता है और पता लगाता है, कि मैं क्या हूँ और क्या नहीं हूँ। ज्ञान के दिव्य आलोक म साधक अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है। बहुत से साधक यह कहा करते हैं कि "पता नहीं मुझे सम्यक्त्व हुआ है या नहीं? और यह भी पता नहीं कि हम भव्य भी है या नहीं? मेरे विचार मे इससे बढ़कर अज्ञानता और नहीं हो सकती। साधक साधना के मार्ग पर चले और साथ म यह भी कहे कि मुझे कुछ मिला भी है या नहीं मालूम नहीं। इसका अर्थ है—वह साधना के मार्ग पर चला ही नहीं। यदि चला भी है, तो केवल तन से चला है मन से नहीं चला। प्रकाश की ओर चलने वाला व्यक्ति प्रकाश की अनुभूति न करे यह कैसे हो सकता है? सच्चा साधक अपने हृदय मे कभी दीनता एवं हीनता का अनुभव नहीं कर सकता। वह आशावादी होता है और जीवन भर आशावादी रहना ही सच्ची साधना है। जैन-दर्शन आस्था निष्ठा श्रद्धा और विश्वास को इतना अधिक महत्त्व देता है कि इसके बिना वह साधना का आरम्भ नहीं मानता। साधना का आरम्भ विश्वास है, साधना का मध्य विचार है और साधना का अन्त आचार है। आचार को विचार-मूलक होना चाहिए और विचार को विश्वास मूलक होना चाहिए।

एक विचारशील साधक ने एक बार मुझसे पूछा कि महाराज! मुझे कभी मोक्ष मिलेगा कि नहीं मुझे कभी केवल ज्ञान होगा कि नहीं?

मैंने उसके प्रश्न के उत्तर मे कहा कि 'आपके विषय मे तो मैं अभी कुछ नहीं कह सकता किन्तु मुझे तो मोक्ष अवश्य मिलेगा मैं तो केवल-ज्ञान अवश्य प्राप्त करूँगा।

मेरे आन्तरिक विश्वास की इस दृढ़ भाषा को सुनकर वह साधक मेरे मुख की ओर देखने लगा और बोला— महाराज इतना बड़ा दावा?

मैंने कहा— यदि इतना बड़ा दावा और इतना बड़ा विश्वास

नही होना, तो मैं इस साधना के पथ पर आता ही क्यो ? अविश्वास के अन्धकार से घिरे मार्ग पर चलना मुझे पसन्द नही है।"

हमारे अन्दर सब कुछ होने पर भी, हम दरिद्रता का अनुभव क्यो करें ? यदि हम अपनी साधना मे दरिद्र एव कगाल बन कर आगे बढ रहे हैं, तो वास्तव मे हम कुछ प्राप्त नही कर सकेंगे। यह भी क्या मजाक है, कि साधना की राह पर आगे भी बढते रहे और उस पर विश्वास भी न करे। यह तो यात्रा नहीं, एक प्रकार से भटकना ही है। भटकना साधक का काम नही होता। साधक अपनी साधना के पथ पर दृढता के साथ आगे बढता है, फिर मोक्ष क्यो नही मिलेगा, फिर केवल ज्ञान क्यो नहीं मिलेगा, और फिर स्वस्वरूप की उपलब्धि क्यो नही होगी ? सिद्धान्त यह है कि जिस चीज का सकल्प मन मे जागृत हो जाता है, वह चीज कभी न कभी अवश्य ही प्राप्त हो जाती है। मनुष्य के सकल्प मे अपार शक्ति है, अपार पराक्रम है और अपार बल है। जिस किसी भी वस्तु को आप प्राप्त करना चाहते हैं, पहले उसका शुद्ध सकल्प कीजिए, फिर उसे प्राप्त करने का अध्यवसाय कीजिए और निरन्तर प्रबल प्रयत्न कीजिए, फिर देखिए कि अभीष्ट वस्तु कैसे प्राप्त नही होती है ? हमारी साधना की सबसे बडी दुर्बलता यही है, जिसके मधुर फल को हम प्राप्त करना चाहते हैं, उसके लिए सकल्प नहीं करते, उसके लिए अध्यवसाय नही करते और उसके लिए प्रयत्न नही करते। फिर वस्तु मिले तो कैसे मिले ? साधक सामायिक करता है, पौषध करता है एव प्रतिक्रमण करता है, परन्तु सब अधूरे मन से करता है। साधना मे हृदय के रस को नही उँडेलता। किसी भी साधना मे जब तक हृदय के रस को नहीं उँडेला जाएगा, तब तक कुछ भी होने जाने वाला नही है। जीवन मे सफलता प्राप्त करने के लिए एक ही मत्र की आवश्यकता है— उठो, जागो और बढो। जो उठ खडा हुआ है, जाग उठा है और जो आगे बढ रहा है, सिद्धि उसी का वरण करती है।

मैं आपसे अविपाक निर्जरा की बात कह रहा था। अविपाक निर्जरा ही मोक्ष एव मुक्ति का अचूक साधन है। जब तक अविपाक निर्जरा करने की क्षमता और योग्यता प्राप्त नही होती है, तब तक मोक्ष दूर ही है। मोक्ष की साधना के लिए आप अन्य कुछ करें या न करें, किन्तु अविपाक निर्जरा की साधना, उसके लिए परमावश्यक है। अविपाक निर्जरा क्या है, यह मैं आपको बतला चुका हूँ। सविपाक

और अविपाक को समझने से पहले आपको यह समझ लेना चाहिए, कि निर्जरा और मोक्ष में परस्पर क्या सम्बन्ध है? निर्जरा और मोक्ष में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध माना गया है। निर्जरा कारण है और मोक्ष उसका कार्य है। कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता। निर्जरा के बिना मोक्ष भी नहीं हो सकता है। आत्म-सम्बद्ध कर्मों का एक देश से दूर होते जाना निर्जरा है और कर्मों का सर्वतोभावेन आत्मा से दूर हो जाना मोक्ष है। धीरे-धीरे निर्जरा ही मोक्ष रूप में परिवर्तित हो जाती है। एक-एक आत्म-प्रदेश के अश-अश रूप में क्रमिक कर्म-क्षय को निर्जरा कहते हैं और जब सभी प्रदेशों के सभी कर्मों का क्षय हो जाता है, तब वही मुक्ति है। निर्जरा और मोक्ष दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। निर्जरा का अन्तिम परिपाक ही मोक्ष है और मोक्ष का प्रारम्भ ही निर्जरा है। साधक के लिए जितना महत्त्व मोक्ष का है, निर्जरा का भी उतना ही महत्त्व है। निर्जरा के अभाव में मोक्ष नहीं और मोक्ष के अभाव में निर्जरा नहीं। जहाँ एक का अस्तित्व है, वहाँ दूसरे का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। परन्तु सबसे बड़ा प्रश्न यह है—कि कौन सी निर्जरा मोक्ष का अग है? मैंने इस सम्बन्ध में आपसे कहा था कि सविपाक निर्जरा मोक्ष का अग नहीं है, अविपाक निर्जरा ही मोक्ष का अग है। साधना के द्वारा सम्यक्त्व का भाव जगने की स्थिति में जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म टूटता है, वही मोक्ष का अग है। और जो चारित्रमोह का क्षयोपशम आदि होने पर चारित्र मोह टूटता है एव चारित्र की उपलब्धि होती है, वही मोक्ष का अग है। सविपाक निर्जरा के द्वारा कर्मों को भोग भोगकर पूरा किया जाता मोक्ष का अग नहीं हो सकता क्योंकि भोग-भोगकर निर्जरा तो अनन्त अनन्तकाल से होती आ रही है। यदि सविपाक निर्जरा से मोक्ष होता, तो वह कभी का हो गया होता परन्तु भोगकर कर्म कभी मूलतः समाप्त नहीं होते। अन्य कर्मों की बात छोड़िए। पहले मोहनीय कर्म को ही लीजिए। आप इसको कब तक भोगेंगे और कहाँ तक भोगेंगे! जिस आत्मा ने मोहनीय कर्म की दीर्घ स्थिति का बन्ध किया है, वह कब तक इसे भोगता रहेगा? अकेले मोहनीय कर्म की दीर्घ स्थिति, सत्तर कोड़ा-कोड़ सागरोपम की मानी जाती है। इसे कोई कब तक भोगेगा कितने जन्मों तक भोगेगा? कल्पना कीजिए यदि लाखों-करोड़ों जन्मों में भोग भी ले किन्तु इन जन्मों में वह नवीन कर्म का भी तो बन्ध करता रहेगा। जितना भोगा उससे कहीं अधिक—फिर

बांध लिया, इस प्रकार बन्ध और भोग की कभी समाप्ति नही हो सकती। इसी आधार पर शास्त्रकारो ने सविपाक निर्जरा को मोक्ष का अग नही माना है। उसके विपरीत अविपाक निर्जरा मोक्ष का अग इस आधार पर बन जाता है, कि उसमे कर्मों को भोगकर समाप्त नही किया जाता, बल्कि कर्म के उदयकाल से पूर्व ही आध्यात्मिक तप एव ध्यान आदि की विशुद्ध क्रियाओ मे उसे क्षय कर दिया जाता है। हजारो-लाखो-करोडो जन्मो के कर्म दलिको को अविपाक निर्जरा के द्वारा एक क्षण मे ही समाप्त कर दिया जाता है। जिस प्रकार किसी गिरि कन्दरा मे रहने वाले अन्धकार को, जो असख्य वर्षों से उसमे रहता चला आया है, प्रकाश की एक ज्योति क्षण भर मे ही नष्ट कर देती है। उसी प्रकार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की निर्मल ज्योति से असख्य जन्मो के पूर्व सचित कर्म भी अविपाक निर्जरा की साधना के द्वारा एक ही क्षण मे क्षय किए जा सकते हैं। अध्यात्मशास्त्र मे अविपाक निर्जरा की अपार महिमा है और अपार-गरिमा है। अविपाक निर्जरा एक वह दिव्य प्रकाश है, जिसके प्रज्वलित हो जाने पर अनादिकाल से आने वाले कर्मो का अन्धकार क्षणभर मे ही नष्ट हो सकता है।

अध्यात्म-साधना उस महत्त्वपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए है, जो आत्मा का अपना निज स्वरूप है। और जब मुक्ति आत्मा का निज स्वरूप है, तब उसका प्राप्त क्या करना? यहाँ प्राप्त करने का अर्थ इतना ही है—आत्मा का अपना निजस्वरूप, जो कर्मों से आवृत है, उसे अनावृत कर देना ही मोक्ष एव मुक्ति है।

कुछ विचारक यह कहते हैं, कि आत्मा नित्य बद्ध ही रहता है, उसकी मुक्ति नही होगी। इसके विपरीत जैन-दर्शन का कथन है कि मुक्ति क्यो नही होगी, वह तो आत्मा का स्वभाव ही है। एक भी क्षण ऐसा नही है जिसमे आत्मा अपने पुरातन कर्मों का क्षय न कर रहा हो। आत्मा मे जहाँ नवीन कर्म को बाँधने की शक्ति है, वहाँ उसमे कर्म को क्षय करने की शक्ति भी है। प्रतिक्षण कर्म को क्षय करते रहने की शक्ति प्रत्येक आत्मा मे विद्यमान है। भले ही वह कर्म क्षय सविपाक निर्जरा से हो रहा हो, भोग-भोग कर ही क्षय किया जा रहा हो अथवा अविपाक निर्जरा से बिना भोगे ही क्षय कर दिया गया हो। दोनो ही स्थिति मे कर्मक्षय की प्रक्रिया चालू रहती है। और जब [illegible] रूप से कर्मक्षय की, अर्थात् कर्म मुक्ति

की प्रक्रिया चालू है तो एक दिन पूर्ण रूप से भी कर्म क्षय हो सकता है। यह ठीक है कि सविपाक भोग से पूर्ण क्षय नहीं होता है। बात यह है *कि दुःख एवं सुख को जब भोग कर समाप्त किया जाता है तब* दुःख में विलाप करने से और सुख में अहंकार करने से पुनः कर्म का बन्ध हो जाता है। इसीलिए मैं आपसे यह कह रहा था कि कर्म को भोगकर उसे कभी मूलतः क्षय नहीं किया जा सकता। उसे तो बिना भोगे ही समाप्त किया जा सकता है। कर्मों का क्षय करते समय कर्मों के नवीन बन्ध को रोकने के लिए संवर की साधना का विधान किया गया है। संवर उस निरवद्य साधना को कहा जाता है, जिसके होते हुए किसी प्रकार के कर्म-मल के लगने की आशंका नहीं रहती। पुरातन कर्मों को भोगकर समाप्त करना यह भी अध्यात्म-जीवन की कला अवश्य है, किन्तु अध्यात्म जीवन की सर्वश्रेष्ठ कला यही है कि कर्मों को बिना भोगे ही नवीन कर्मों को बिना बाँधे हुए ही उनको समाप्त कर दिया जाए। भोगकर समाप्त करने में वासना एवं आसक्ति की कामना बनी रहती है। भोगते समय यदि आत्मा निर्लिप्त रह सके तो उससे भी बहुत बड़ा लाभ मिलता है। भोगों में निर्लिप्त रहना ही अध्यात्म-साधना का प्रधान लक्ष्य है और यही चरम उद्देश्य है। अविपाक निर्जरा से बद्ध कर्मों को बिना भोगे ही क्षय कर दो उदय प्राप्त कर्मों को निर्लिप्त भाव से भोगकर क्षय कर दो संवर की साधना से भविष्य में कर्म बन्ध न होने दो बस फिर आत्मा से परमात्मा होने में कोई शंका नहीं है।

जब यह कहा जाता है कि प्रत्येक आत्मा में अपने पुरातन संचित कर्म को तोड़ने की शक्ति है, तब इसका अर्थ यह होता है कि विश्व की प्रत्येक आत्मा में तथा विश्व के प्रत्येक चेतन में ईश्वर एवं परमात्मा बनने की शक्ति है। प्रश्न किया जा सकता है और किया जाता है कि यदि प्रत्येक आत्मा में ईश्वर और परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है, तब वह क्यों नहीं बन जाता? इसका समाधान यह किया गया है कि—शक्ति तो है, परन्तु अपने प्रबल आध्यात्मिक पुरुषार्थ के द्वारा उसे जागृत नहीं करने पाता। उस शक्ति का जागृत हो जाना ही वस्तुतः मोक्ष का मार्ग है। प्रत्येक चेतना में यह आध्यात्मिक जागरण होना चाहिए कि—मैं आत्मा हूँ और मेरा निज स्वरूप मुक्ति है, बन्धन नहीं। यद्यपि व्यवहार नय से आत्मा कर्मों से बद्ध है, कर्म की दल दल में पड़ा है, तथापि निश्चय नय से यह आत्मा शुद्ध बुद्ध

निरंजन एवं निर्विकार है। किसी भी चेतन आत्मा के अन्तर में जब यह भाव जागृत होता है कि मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निरंजन हूँ, निर्विकार हूँ और ज्योति स्वरूप हूँ तथा मैं जड पुद्गल से भिन्न निर्मल एवं अमर चेतन हूँ, तब ज्ञाता द्रष्टा आत्मा के इस दिव्य भाव को शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार सम्यक्त्व कहा जाता है। इस दिव्य दृष्टि के बिना तथा सम्यक्त्व के इस दिव्य आलोक के बिना, किसी भी आत्मा को न अनन्त अतीत मे मुक्ति मिली है और न अनन्त अनागत मे मुक्ति मिल सकेगी। सम्यक् दर्शन ही मुक्ति एव मोक्ष का मूल आधार है। इसके बिना मोक्ष कैसे हो सकता है?

जब-जब आत्मा यह विचार करता है, कि मैं शरीर हूँ, मैं इन्द्रिय हूँ, मैं मन हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं बन्धन से बद्ध हूँ, और मैं कभी बन्धन से विमुक्त नही हो सकता, तब यह समझना चाहिए कि वह आत्मा मोक्ष की साधना से अभी बहुत दूर है। यदि तन एव मन के तथा अहता एव ममता के बन्धन नही टूटे है तो वह एक मिथ्या दृष्टि है। जब तक हमे अपनी अनन्त चित् शक्ति पर विश्वास नही है, जब तक चेतना के शाश्वत सद्‌गुणो पर आस्था निष्ठा और श्रद्धा स्थिर नही होती है, तब तक मिथ्या दृष्टि कैसे दूर हो सकती है? प्रत्येक चेतन मे अनन्त शक्ति है, परन्तु वह प्रसुप्त पड़ी है, उसे जागृत करने की आवश्यकता है। जब तक बन्धन को तोडने का श्रद्धान और विश्वास प्रबल नही हो जाता, तब तक बन्धन कभी टूट नही सकेगा। बन्धन तभी टूट सकता है, जब कि उसे बन्धन समझा जाए और उस से विमुक्त होने के लिए चित्त मे दृढ विश्वास एव श्रद्धा जागृत हो। मनुष्य जो कुछ एव जैसा बना है, वह उसके अतीत विश्वास का ही फल है। मनुष्य जो कुछ एव जैसा बनना चाहता है, वह उसके वर्तमान के विश्वास का ही फल होगा। इसी को शास्त्रीय भाषा मे सम्यक् दर्शन कहा जाता है। ईश्वरत्व पर विश्वास करना, बाहर के परमात्मा पर नही, बल्कि अन्दर के परमात्मा पर विश्वास करना ही, अध्यात्म शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त है। जो आत्मा कर्म को बलवान समझता है और अपने आपको हीन-दीन समझता है, वह कभी भी बन्धन से विमुक्त नही हो सकता। जब साधक यह विश्वास करता है, कि निश्चय मे मैं परमात्मा हूँ, तब एक दिन बाहर से आने वाले बन्धन से विमुक्त भी हो सकता है। अध्यात्म-शास्त्र साधक के मन मे इसी आस्था एव निष्ठा को उत्पन्न करता है और कहता है कि

तुझे किसी और ने बाँधा नहीं है, तू स्वयं ही बँधा है, तो एक दिन तू स्वयं ही मुक्त भी हो सकता है। यह विश्वास ही मुक्ति का सबसे बड़ा कारण है। यदि कोई आत्मा मोह-जन्य अहंकार करता है, तो यह एक पाप है। इससे नवीन कर्म का बन्ध होता है। किन्तु यदि कोई आत्मा आत्म-हीनता की भावना रखता है एवं आत्म दैन्य की परिकल्पना करता है, तो यह भी एक पाप है। इससे भी नवीन कर्म का बन्ध होता है। अपने आपको हीन एवं दीन समझना संसार का सबसे भयंकर पाप है। युगों के युग व्यतीत हो जाने पर भी आत्मा आत्म-हीनता के पाप से छुटकारा प्राप्त नहीं कर सका है। अतः अध्यात्म साधना के पथ पर अपना कदम बढ़ा कर कभी भी अपने आपको हीन एवं दीन मत समझो। अपने को अनन्त चित् ज्योतिर्मय आत्मा समझो। अपने को आत्मा ही नहीं अपितु शुद्ध बुद्ध निरंजन निर्विकार परमात्मा समझो। श्रद्धा के अनुसार ही जीवन का निर्माण होता है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धि र्भवति तादृशी।'

इस सम्बन्ध में मुझे एक रूपक स्मृत हो आया है। एक राजा की राज सभा में एक विद्वान आया। राज-सभा में पहले भी विद्वानों एवं पण्डितों की कमी नहीं थी। एक से एक बढ़ कर विद्वान उस सभा के अन्दर थे। किन्तु नवागन्तुक पण्डित ने राज-सभा में आकर यह प्रश्न पूछा कि 'आत्मा कभी मुक्त हो सकता है कि नहीं? यदि नहीं हो सकता तो क्यों और यदि हो सकता है, तो कैसे?

राजा की सभा के सभी पण्डित चकरा गए। कुछ देर मौन रहने के बाद राज सभा के प्रधान पण्डित ने कहा—कि आत्मा कभी मुक्त नहीं हो सकता।

इस बात को सुन कर नवागन्तुक विद्वान ने कहा कि—'यह आत्म हीनता की भावना ही आपको मुक्त नहीं होने देती है। आपने यह कैसे समझ लिया और विश्वास कर लिया कि मैं मुक्त नहीं हो सकता। यदि आपके मन में गुलामी का यह विश्वास है, कि मैं कभी मुक्त नहीं हो सकता तो फिर जीवन में जप तप आदि पवित्र क्रियाओं के करने का अर्थ ही क्या रहेगा?

आत्मा और उसकी मुक्ति के सम्बन्ध में यह तर्क और वितर्क बहुत दिनों तक चलता रहा परन्तु किसी की समझ में नहीं आया कि कर्म बद्ध आत्मा कर्म मुक्त कैसे हो सकता है?'

एक दिन अध्यात्मवादी उस नवागन्तुक पण्डित ने अपनी एक

अनोखी सूझ से काम लिया। उसने कहा—"राजा साहब! सिर के बाल बढ़ गए है और वे बड़े अटपटे लगते हैं। नाई को बुलाया जाए, मुझे सिर का मुण्डन कराना है। उसकी इस बात को सुनकर समस्त सभासद, समग्र पण्डित और स्वय राजा भी बडा आश्चर्य चकित हुआ। वे सब एक दूसरे का मुख देखकर कहने लगे—"यह पण्डित है या मूर्ख? यह यहाँ शास्त्रार्थ करने के लिए आया है, अथवा अपने सिर के बाल कटवाने के लिए आया है?" सब उसकी नुक्ता चीनी करने लगे, उसकी आलोचना और टीका करने लगे। फिर भी वह विचलित नही हुआ। वह मुस्कराता रहा, अपनी कटु आलोचना और परिहास सुनकर भी उसके मुख पर विषाद की एव रोष की रेखा नही झलकी। उस सभा मे एक वृद्ध एव अनुभवी पण्डित भी बैठा हुआ था। उसने वस्तु-स्थिति को सोचा और समझा। उसने अपने मन मे विचार किया, निश्चय ही यह पण्डित असाधारण है और जीवन के असाधारण रहस्य को खोलना चाहता है। उसने राजा से प्रार्थना की—"राजन्! नाई को अवश्य बुलाया जाना चाहिए।" राजा के आदेश से नाई आ गया और आकर बोला—"क्या आदेश है?"

अध्यात्मवादी नवागन्तुक पण्डित ने नाई के आते ही उठकर उसका स्वागत किया, प्रणाम किया और प्रशसात्मक शब्दो मे बोला—"आइए, पधारिए। आप ईश्वर है, परमात्मा हैं और भगवान हैं।"

नाई ने यह सुना तो भौचक्का रह गया। पण्डित जी के चरणो का स्पर्श करते हुए गिडगिडाकर बोला—"आप यह क्या कह रहे हैं? इस प्रकार कह कर आप मुझे लज्जित क्यो करते हैं? मैं तो आप सब का दास हूँ, गुलाम हूँ। ईश्वर या परमात्मा जो भी कुछ हैं, आप हैं, राजा साहब हैं, मैं नही।"

अध्यात्मवादी नवागन्तुक पण्डित ने सभा के समस्त सभासदो को एव स्वय राजा को सम्बोधित करते हुए कहा—"राजन्! आपकी राज-सभा के इन राज पण्डितो मे और आपके इस नाई मे कोई भेद नही है। नाई कहता है—"मैं दास हूँ, मैं भगवान् कैसे हो सकता हूँ? मैं गुलाम हूँ।" आपके राज-पण्डित भी यही कहते है कि "हम दास हैं, हम गुलाम हैं। हम ससारी बद्धजीव भगवान नही हो सकते।" भला जिन के मन मे दासता और गुलामी की यह भावना गहरी बैठ गई है, वे मुक्त कैसे हो सकते हैं? वे अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न कैसे कर सकते हैं? मन मे दासता और गुलामी की भावना भी बनी रहे और मुक्ति के लिए

प्रयत्न भी होता रहे, यह सम्भव नहीं है। जिन मनुष्यों के मन में यह आस्था एवं निष्ठा है कि हम अनन्त काल से बद्ध हैं और अनन्तकाल तक बद्ध ही रहेंगे। ईश्वर, ईश्वर ही रहेगा और भक्त, भक्त ही रहेगा। उनकी यह भावना ही उन्हें मुक्ति-मार्ग पर आगे नहीं बढ़ने देती है। राजन्! मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि आपकी राज-सभा के ये राज-पण्डित पोथी और शास्त्रों की विशाल ज्ञान राशि को अपनी बुद्धि में ठूँसने के बाद भी जीवन के उसी निम्न धरातल पर खड़े हैं जहाँ पर आपका यह दास गुलाम और अपढ़ नाई खड़ा है।

मैं आपसे यह कह रहा था कि—जब साधक के हृदय में यह आस्था बैठ जाती है, कि मैं अनन्तकाल से बद्ध हूँ और कभी मुक्त नहीं हो सकता तो कभी भी वह अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न नहीं कर सकता। मुक्ति के लिए प्रयत्न वही कर सकता है, जिसके मन और मस्तिष्क में मुक्ति के लिए प्रबल संकल्प जागृत हो चुका है।

७

साध्य और साधन

* * *

साध्य की सिद्धि के लिए साधन की आवश्यकता रहती है। साधन के अभाव मे साधक शक्तिशाली होकर भी अपने साध्य की उपलब्धि नही कर सकता। साध्य का परिज्ञान हो जाने पर एव लक्ष्य का निश्चय हो जाने पर ही साधक के समक्ष साधन का विचार प्रस्तुत होता है। किस साध्य का क्या साधन हो ? इसका विवेचन करना साध्य की सिद्धि के लिए आवश्यक हो जाता है। साध्य जितना ऊँचा होता है और जितना गम्भीर होता है, साधन भी उतना ही ऊँचा एव गम्भीर होना चाहिए। साध्य-सिद्धि की ओर लक्ष्य देना आवश्यक अवश्य है, किन्तु साधन की ओर लक्ष्य देना भी कम महत्वपूर्ण नही है। साध्य, साधक का ध्येय होता है, किन्तु उस ध्येय पर पहुँचने के लिए शक्ति और भक्ति की आवश्यकता रहती है। शक्ति का अर्थ है—प्रयत्न, और भक्ति का अर्थ है—एकनिष्ठता। ध्याता, ध्यान द्वारा अपने ध्येय की उपलब्धि करता है। योगी योग के द्वारा अपने परम भगवान को प्राप्त करता है। ज्ञाता ज्ञान के द्वारा ज्ञेय को जान सकता है। साधक साधन के द्वारा साध्य की उपलब्धि करता है। साधक साधना के द्वारा जिस

सिद्धि को प्राप्त करना चाहता है, उस सिद्धि की स्पष्ट विचारणा पहिले हो जानी चाहिए। ऐसा न हो कि साधना प्रारम्भ कर दी गई और साध्य का पता ही न हो। जहाँ जाना है अथवा जहाँ पहुँचना है वहाँ का स्पष्ट चित्र साधना-पथ पर कदम बढ़ाने से पहले हो जाना चाहिए — साधक के मानस-पटल पर अंकित, चित्रित और लिखित।

दर्शन शास्त्र में साध्य और साधन का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। यदि मनुष्य के समक्ष कोई साध्य या लक्ष्य नहीं है तो उसकी साधना का कुछ भी प्रतिफल न होगा। मेरे जीवन की दौड़ धूप किस ओर हो रही है, मैं उस मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए कितना और कैसा प्रयत्न कर रहा हूँ तथा उस पथ पर आगे बढ़कर मुझे क्या कुछ मिल सकता है, इतना स्पष्ट विचार यदि साधक के मन में नहीं है, तो उसकी साधना का फल उसे कुछ मिलेगा नहीं। जीवन में गति एवं प्रगति का महत्त्व अवश्य है किन्तु उससे पूर्व यह जान लेना भी परमावश्यक है, कि हमारी गति किस दिशा की ओर हो रही है तथा हमारी गति का आधार क्या है? अध्यात्म-साधक के लिए गति के आधार का अर्थ है— पथ का निश्चय करना और अध्यात्म-साधना की यात्रा में जिन उपकरणों की आवश्यकता है उनका अवलम्बन लेना। प्रारम्भिक स्थिति में जब तक कि साधक की साधना निश्चय रूप से परिपक्व नहीं होती है, उसे अवलम्बन एवं साधन की आवश्यकता रहती ही है। कुछ साधक इस प्रकार के हैं जो साधन को तो पकड़ लेते हैं किन्तु साध्य को नहीं पकड़ पाते। दूसरे प्रकार के साधक वे हैं जो साध्य को तो पकड़ लेते हैं किन्तु साधन के सम्बन्ध में वे कुछ भी ध्यान नहीं देते। उक्त दोनों प्रकार के साधकों से सिद्धि का लक्ष्य दूर बहुत दूर रहता है। जैन दर्शन का कथन है कि साध्य और साधन में साधक को समतुलन रखना चाहिए। परन्तु यह स्पष्ट है कि साधक के जीवन में साध्य के निर्धारण का बहुत अधिक महत्त्व रहता है। साध्य निश्चय की प्रधानता रहनी भी चाहिए क्योंकि हमारी साधना का मुख्य आधार साध्य ही होता है।

कल्पना कीजिए यदि कोई व्यक्ति अपने किसी मित्र के लिए दूर देश का एक अच्छा पत्र लिखता है। पत्र बड़े सुन्दर कागज पर लिखा गया, सुन्दर अक्षरों में लिखा गया और चमकदार स्याही से लिखा गया, फिर उसे एक बहुत ही सुन्दर लिफाफे के अन्दर बन्द कर दिया गया, इतना सब कुछ करने पर भी यदि उस लिफाफे पर जिस

मित्र को वह पत्र भेजा जा रहा है, उसका पता नही लिखा गया, अथवा पता शुद्ध नही लिखा गया और उसे पत्र-पेटी मे यो ही डाल दिया गया, तब क्या होगा ? क्या वह पत्र अपने अभीष्ट स्थान पर पहुच सकेगा ? क्या वह पत्र उसके मित्र को मिल सकेगा ? कभी नही। वह पत्र पोस्ट ऑफिस मे पहुँच कर भी रद्दी मे डाल दिया जाएगा, जहाँ उसकी कोई उपयोगिता न रहेगी। सुन्दर कागज, सुवाच्य अक्षर, चमकदार स्याही और लिखने वाले का श्रम केवल इस आधार पर निष्फल हो गया, कि लिफाफे के ऊपर प्राप्त करने वाले का पता नही था। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन मे कठोर साधना करता हो, बहुत बडा तप करता हो, निरन्तर जप करता हो, ऊँचे से ऊँचे अध्यात्म-ग्रन्थो का स्वाध्याय करता हो तथा ध्यान और समाधि की दीर्घ साधना भी वह करता हो, यह सब कुछ करते हुए भी यदि उसे इस बात का परिज्ञान नही हो, कि यह सब कुछ मैं किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर रहा हूँ, तो उसकी वह साधना निष्फल एव निष्प्राण हो जाती है। बिना लक्ष्य के, बिना साध्य के और बिना ध्येय के किया गया बडे मे बडा क्रिया-काण्ड और अनुष्ठान भी निष्फल हो जाता है। उसकी यह समस्त साधना उस कोरे लिफाफे के समान है, जिस पर पहुँचने का पता नही है। अध्यात्म-शास्त्र मे यह कहा गया है, कि किसी भी प्रकार की साधना करने के पहले अपने साध्य को स्थिर कर लो। यदि आप अपने जीवन की यात्रा मे जप, तप, सयम और सेवा आदि का परिपालन बिना लक्ष्य को स्थिर किये हुए कर रहे हैं, तो उसका कोई उचित लाभ नही होगा।

आप यात्रा कर रहे है। आपकी यात्रा मे आपको कोई दूसरा ऐसा यात्री मिल जाए, जो बहुत दूर से चला आ रहा हो, जो पसीने से तरबतर हो और चलता-चलता हैरान एव परेशान हो चुका हो। यात्री की इस दशा को देखकर आपके मानस मे प्रश्न उठा, कि यह कौन है ? और कहाँ जा रहा है ? अपने मन की सतह पर उठने वाले इस प्रश्न को आप रोक नही सके और आगे बढकर उस यात्री से आपने पूछ ही लिया कि आप कहाँ जा रहे है ? इसके उत्तर मे यदि वह आपको यह कहे, कि मुझे नही मालूम कि मैं कहाँ जा रहा हूँ, तो उस यात्री को आप क्या कहेंगे ? आप उसे एक यात्री कहना पसन्द करेंगे अथवा उसे एक पागल कहना पसन्द करेंगे ? एक पागल व्यक्ति भी चलता है और एक समझदार व्यक्ति भी चलता है, किन्तु दोनो के चलने मे

बड़ा अन्तर है। पागल चलता तो रहता है, निरन्तर चलता रहता है, किन्तु उसे यह पता नहीं रहता मैं कहाँ चल रहा हूँ ? और कहाँ जा रहा हूँ ? इसके विपरीत किसी भी समझदार यात्री के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसे अपनी यात्रा के उद्देश्य का और पथ का पूर्ण ज्ञान रहता है। समझदार व्यक्ति से यदि पूछा जाए, कि आप कहाँ जा रहे हैं, तो वह आपको स्पष्ट उत्तर देगा कि मैं अमुक स्थान पर जा रहा हूँ। और यदि आप उससे आगे प्रश्न करें तो वह आपको यह भी बतलाएगा कि मेरे वहाँ जाने का उद्देश्य क्या है ? इस विराट विश्व का प्रत्येक चेतन प्राणी यात्रा कर रहा है, आज से नहीं अनन्त अनन्त काल से। क्या मनुष्य क्या पशु, क्या पक्षी और क्या कीट पतंग सभी अपने जीवन की यात्रा में दिन और रात चलते ही रहते हैं। परन्तु चलना अलग है, और चलने का ज्ञान रहना अलग है। चलना तभी सार्थक एवं सफल हो सकता है, जब कि मार्ग का ज्ञान हो और जहाँ पहुँचना है उस स्थान का भी परिज्ञान हो। मैं पूछ रहा हूँ आपसे कि आपकी जीवन यात्रा में यदि आपको कहीं पर लक्ष्यहीन पागल यात्री मिल जाता है तो उसकी बात सुन कर आपके मन पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? आप यही कहेंगे न कि यह एक पागल है, जिसे यह भी पता नहीं कि मैं कौन हूँ ? और कहाँ जा रहा हूँ। इस प्रकार के पागल यात्री के जीवन की सारी दौड़-धूप व्यर्थ होती है। उसका श्रम और उसका कष्ट सहन उसे कोई बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं दे सकता। यही बात अध्यात्म जीवन की साधना के सम्बन्ध में भी है। अध्यात्म दर्शन कहता है, कि साधक की साधना का लक्ष्य काम क्रोध मद लोभ एवं मोह आदि विकार और विकल्पों के बन्धन को तोड़ कर आत्म स्वरूप और शुद्धि की उपलब्धि करना है। बाहर के आवरण का हटा कर अन्दर में प्रसुप्त ईश्वरत्व को जगाना है। साधक के जीवन का एक मात्र साध्य एवं लक्ष्य यही है कि वह अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़े, मृत्यु से अमरता की ओर बढ़े और असत्य से सत्य की ओर बढ़े। विभिन्न युगों के युग पुरुषों ने अपने-अपने युग की जन चेतना को यही सन्देश दिया है और यही उपदेश दिया है कि प्रथम अपने लक्ष्य को स्थिर करो और फिर दृढ़ता के फौलादी कदमों से साधना-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ते रहो। इस प्रकार विवेक और विचार के साथ अपने साधना पथ पर निरन्तर आगे बढ़ने वाला साधक आत्मा से परमात्मा बन जाता है, भक्त से भगवान् बन जाता है और

क्षुद्र जीव से परब्रह्म बन जाता है। ईश्वरत्व कहीं बाहर से नहीं आता, वह तो सदा काल से हमारे अन्दर है ही, किन्तु वह प्रसुप्त पड़ा है, उसे प्रबुद्ध-भर करना है। आत्म-स्वरूप की उपलब्धि का अर्थ यह नहीं होता, कि वह स्वरूप पहले अन्दर में नहीं था और साधना के द्वारा कहीं बाहर से वह अन्दर आ गया। बाहर की चीज कभी स्थायी नहीं हो सकती। हमें जो कुछ पाना है, अपने अन्दर से ही पाना है। पाने का अर्थ इतना ही है—जो स्वरूप कर्म मल से ढँका हुआ था, उसे प्रकट कर देना है।

अब तक के विवेचन पर से यह सिद्ध हो जाता है कि साध्य का महत्त्व बहुत बड़ा है। परन्तु आप इस बात को भी न भूलें, कि अध्यात्म-शास्त्र ने साध्य के साथ-साथ साधन को भी बताया है। यदि केवल साध्य बता दिया जाए और साधन का ज्ञान न कराया जाए, तो साध्य की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? केवल साध्य को बता देने मात्र से तो वह प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए साध्य के साथ साधन का परिज्ञान भी परमावश्यक है।

मैं आपसे जिस अध्यात्मवाद की चर्चा कर रहा था, उसमें साध्य के साथ-साथ साधन का भी प्रतिपादन किया गया है। हमारे साध्य का साधन क्या है ? मोक्ष के साधन क्या हैं ? सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। सीधी सादी भाषा में इसको विश्वास, विचार और आचार कहा जा सकता है। प्रश्न होता है, कि विश्वास किसका, विचार किसका, और आचार किसका ? संसार में अनन्त-अनन्त पदार्थ हैं, उनमें से किस पर विश्वास करें, किस पर विचार करें और किसका आचरण करें ? इस प्रश्न के समाधान में अध्यात्म-शास्त्र का एक ही उत्तर है अथवा एक ही समाधान है, और वह यह कि—अपने आप पर विश्वास करो, अपने आपको समझो और अपने आपको निर्मल बनाने का प्रयत्न करो। अनन्त-अनन्त काल से हम चेतन से भिन्न जड़ तत्व पुद्गल पर विश्वास करते आए हैं, उसी पर विचार करते आए हैं और उसी का अधिकाधिक संग्रह करते आए हैं, इस आशा से कि इसी से हमें सुख, सन्तोष और शान्ति मिलेगी। परन्तु पुद्गल से प्रेम करने पर भी, जीवन में उसका अधिकाधिक संचय करने पर भी जीवन में सुख, सन्तोष और शान्ति की उपलब्धि नहीं हो सकी। इससे कुछ आगे बढ़े, तो हमने सम्प्रदाय पर विश्वास किया, पंथ पर विश्वास किया, पंथ की वेश-भूषा पर विश्वास किया और उसके अर्थहीन जड़ क्रिया-

काण्डों पर विश्वास किया। हमने सोचा और समझा कि सम्प्रदाय और पंथ के अर्थ-हीन क्रिया-काण्डों से ही हमें मुक्ति की उपलब्धि हो सकेगी। किन्तु यह हो नहीं सका और भविष्य में भी हो नहीं सकेगा। इससे कुछ और आगे बढ़े तो हमने अपने तन पर विश्वास किया। अपनी इन्द्रियों पर विश्वास किया और अपने मन पर विश्वास किया इन्हीं को समझने का हमने प्रयत्न किया और इनकी वृत्तियों के अनुसार ही हमने अपना आचरण भी बनाया। हम अपने तन के कारागार में फँसकर उसमें इतने उलझे कि तन की सत्ता से ऊपर किसी भी दिव्य सत्ता में हमारी आस्था जम नहीं सकी। अहता और ममता के भयकर बन्धनों में हम इतने जकड़ गए, कि अपने विशुद्ध अजर, अमर अविनाशी और अजन्मा आत्म-तत्त्व पर न हमारी आस्था रही न हमारी विचारणा रही और न हमारी कृति ही स्वस्वरूपानुकूल बन सकी। जो आस्था जो निष्ठा और जो श्रद्धा अपने ऊपर होनी चाहिए थी वह अपने से भिन्न पर के ऊपर बनी रही। यही हमारे पतन का सबसे बड़ा कारण है। जब तक साधक तन मन और इन्द्रिय के भोगों से ऊपर उठकर अपने विशुद्ध स्वरूप को समझने का प्रयत्न नहीं करेगा तब तक मोक्ष और मुक्ति की अध्यात्म-साधना सफल नहीं हो सकेगी। सिर के दर्द को दूर करने के लिए पेट के दर्द को दूर करने की दवा लेने से कोई लाभ नहीं हो सकता। आत्मा के विकार और विकल्पों को दूर करने के लिए बाह्य पुद्गलों का संग्रह उपयोगी नहीं है। उसके लिए आवश्यक है—आत्म-विश्वास आत्म विचार और आत्म-स्वरूपानुरूप आचरण। विश्वास विचार और आचार—ये तीनों मिल कर ही मोक्ष के साधन बन सकते हैं। कल्पना कीजिए, कोई व्यक्ति अपने पर तो विश्वास नहीं करता किन्तु दूसरे पर विश्वास करता है, वह अपने को तो नहीं समझता किन्तु दूसरे को समझने की मगज पच्ची करता रहता है, वह अपने को तो नहीं सुधारता किन्तु दूसरे को सुधारने के लिए रात और दिन उपदेश देता फिरता है। इस प्रकार के प्रयत्न से क्या होने वाला है? इसीलिए मैं कहता हूँ कि अपने पर विश्वास करो अपने को समझो और अपने आपका सुधार करो। यही है मुक्ति का साधन और यही है मोक्ष का मार्ग। आत्म श्रद्धा आत्म ज्ञान और स्वस्वरूप में रमणता यही मोक्ष का मार्ग है।

भारत के कुछ तत्त्व-चिन्तक मोक्ष और उसके साधनों के सम्बन्ध में समय-समय पर अपने विभिन्न विचारों का प्रदर्शन करते रहे हैं।

एक ने कहा—'भक्ति से ही मुक्ति मिल सकती है।' दूसरे ने कहा—'ज्ञान से ही मुक्ति मिल सकती है' और तीसरे ने कहा—'कर्म से ही मुक्ति मिल सकती है।' भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनो को मुक्ति का साधन तो माना गया, किन्तु अलग-अलग करके, खण्ड-खण्ड करके। भक्ति-योग की साधना करने वाला भक्त समझता है—'भक्ति ही सब कुछ है, भक्ति ही परम तत्त्व है।' ज्ञान-योग की साधना करने वाला साधक कहता है—'ज्ञान ही सब कुछ है, ज्ञान ही परमतत्त्व है।' कर्म-योग की साधना करने वाला कहता है—'कर्म ही सब कुछ है, कर्म ही परमतत्त्व है।' भक्ति मे विश्वास का बल है, ज्ञान मे देखने की शक्ति है और कर्म मे चलने की शक्ति है। यदि तीनो तीन मार्ग पर भटक जाएँगे, तो कैसे काम चलेगा ? जीवन की समस्या का समाधान इस प्रकार नही किया जा सकता।

कल्पना कीजिए—एक विकट वन है। उस निर्जन वन मे सयोग-वश पैरो से लाचार एक पगु व्यक्ति और दूसरा अन्धा एक स्थान पर रह रहे थे। सयोग की बात कि एक दिन वन मे भयकर आग लग गई। पगु मनुष्य ने देखा, कि आग फैल रही है और अपनी ओर आ रही है। अन्धा इधर-उधर घूम-फिर रहा था कि वह आग की ओर ही बढने लगा। पगु ने जोर से हल्ला मचाया कि आग है, तो अन्धा घबरा गया, रोने लगा। दोनो के सामने अपने-अपने प्राण बचाने की समस्या थी। परन्तु प्राण कैसे बचे ? जीवन की रक्षा कैसे हो ? अन्धे आदमी मे देखने की शक्ति नही है। वह चल तो सकता है, किन्तु किधर चलना, और कैसे चलना, यह वह नही जानता। पगु आदमी देख सकता है और वह देख भी रहा है, कि वन मे भयकर आग लगी है और सर्वग्रासी अग्नि कुछ ही क्षणो मे हम दोनो को जलाकर भस्म कर देगी। परन्तु वह पैरो से लाचार है, चल नही सकता है। अस्तु, दोनो एक दूसरे से यह कहते हैं, परस्पर के सहयोग से ही इस विकट स्थिति मे हमारे प्राणो की रक्षा हो सकती है। अन्धे ने पगु से कहा 'मै चल सकता हूँ, पर देख नही सकता'। पगु ने अन्धे से कहा 'मैं देख सकता हू किन्तु चल नही सकता, क्यो न हम अपने प्राणो की रक्षा के लिए एक दूसरे से सहयोग और सहकार करें।' आखिर अन्धे ने पगु को अपने कन्धो पर बैठा लिया और पगु उसे मार्ग-दर्शन देता रहा, इस प्रकार दोनो ने समन्वय करके अपने जीवन की रक्षा कर ली। अध्यात्म-शास्त्र मे इसको 'अध-पगु न्याय' कहते हैं।

अध्यात्म-साधना के सम्बन्ध में भी इसी समन्वय और संतुलन की आवश्यकता है। कर्म अन्धा है, वह देख नहीं सकता और ज्ञान जिसमें भक्ति भी सम्मिलित है, पंगु है, वह चल नहीं सकता और एक विद्वान् के शब्दों में भक्ति अन्धी भी है और बहरी भी है। न वह कुछ देख पाती है और न वह कुछ सुन ही पाती है। यदि भक्ति, ज्ञान और कर्म एक दूसरे को निरर्थक और अर्थहीन कहते रहेंगे तो उनमें समन्वय नहीं हो सकेगा। यदि उनमें सन्तुलन नहीं होता है, तो साधक अपने अभीष्ट की सिद्धि भी नहीं कर सकता। यदि किसी साधक के जीवन में विश्वास तो हो किन्तु उस विश्वास के अच्छेपन और बुरेपन को परखने के लिए विचार न हो और यदि किसी के पास विचार का प्रकाश तो हो अपने गन्तव्य पथ को देखने की शक्ति तो हो परन्तु उसके पास उस पर चलने की शक्ति नहीं है, तब वह सुदूर में स्थित अपने लक्ष्य पर कैसे पहुँचेगा? अतः मैं यह कहता हूँ कि भक्ति अपने आपमें बुरी नहीं है, ज्ञान अपने आपमें बुरा नहीं है और कर्म भी अपने आपमें बुरा नहीं है, किन्तु उन सबके मध्य में जो एकान्तवाद है, वही बुरा है। यदि यह एकान्तवाद अनेकान्तवाद में परिणत हो जाए तो साध्य की सिद्धि में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होगी। भक्तियोग का अर्थ है— सम्यक् दर्शन एवं श्रद्धा। ज्ञान योग का अर्थ है—सम्यक् ज्ञान एवं विवेक। कर्म-योग का अर्थ है-सम्यक् चारित्र एवं आचार। शब्दों में कुछ भेद होने पर भी गम्भीर विचार करने पर उनमें एकात्मता का परिबोध होता है। इन तीनों के सुन्दर समन्वय से ही जीवन सुन्दर, मधुर और रुचिकर बन सकता है। जीवन विकास के लिए तीनों ही परमावश्यक हैं। विश्वास को विचार बनने दीजिए और विचार को आचार बनने दीजिए। इसी प्रकार आचार, विचार में प्रतिबिम्बित हो और विचार विश्वास में प्रतिबिम्बित हो। मधु के माधुर्य का परिबोध केवल यह कहने भर से नहीं हो सकता कि मधु मधुर होता है। उसके माधुर्य का परिबोध तभी होगा जब कि एक बिन्दु मधु रसना पर डाला जाएगा। उस समय किसी को यह विश्वास दिलाने की आवश्यकता न रहेगी कि मधु मीठा होता है। अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में विश्वास की मधुरता की और ज्ञान की उज्ज्वलता की अनुभूति तभी हो सकती है, जब कि दोनों को आचार में परिणत किया जा सके। जिस प्रकार अन्धा मार्ग नहीं देख सकता उसी प्रकार विचार और विवेकहीन व्यक्ति भी मुक्ति

मार्ग को नही देख सकता। कल्पना कीजिए, नदी मे नाव पडी हो किन्तु चलाने वाला मल्लाह न हो, तो नाव इस किनारे से उस किनारे पर कैसे पहुँच सकती है? स्वस्वरूप साध्य की सिद्धि के लिए सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का समन्वय आवश्यक है। अतएव अपने पर विश्वास करो, अपने को समझो और अपने को सुधारो, यही अध्यात्म-शास्त्र का दिव्य सन्देश है।

८ अध्यात्मवाद का आधार

* * *

अध्यात्मवादी दर्शन की अध्यात्म-साधना का मूल आधार सम्यग् दर्शन है। सम्यग् दर्शन का अर्थ है—सम्यक्त्व। सम्यक्त्व का अर्थ है—सत्य-दृष्टि। सामान्य भाषा में आस्था निष्ठा श्रद्धा और विश्वास भी इसी को कहा जाता है। अध्यात्म साधना का मूल आधार सम्यग् दर्शन क्यों है? उक्त प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि मनुष्य के जीवन में दो प्रधान तत्त्व है—दृष्टि और सृष्टि। दृष्टि का अर्थ है—बोध विवेक विश्वास और विचार। सृष्टि का अर्थ है—क्रिया कृति संयम और आचार। जिस मनुष्य का आचार जैसा होता है, उसको परखने की कसौटी उसका विचार और विश्वास होता है। मनुष्य क्या है? वह अपने विश्वास विचार और आचार का प्रतिफल होता है। दृष्टि की निर्मलता से ही जीवन अमल और धवल बन सकता है। यही कारण है, कि जैन दर्शन में विचार और आचार से पहले दृष्टि की विशुद्धि पर विशेष लक्ष्य और विशेष बल दिया जाता है। तुम क्या होना चाहते हो उससे पहले यह देखो कि तुम्हारा विश्वास और विचार कैसा है? जब तक व्यक्ति अपने को समझने का प्रयत्न नहीं करता है, तब तक वह अपने आपको अच्छा नहीं बना सकता।

अपने विशुद्ध स्वरूप को समझने के लिए निश्चय दृष्टि की आवश्यकता है। मैं इस सत्य को स्वीकार करता हूँ, कि व्यवहार को छोडना एक वडी भूल हो सकती है, परन्तु मेरा विश्वास है, कि निश्चय को छोडना उससे भी कही अधिक भयकर भूल है। अनन्त जन्मो मे अनन्त वार हमने व्यवहार को तो पकडने का प्रयत्न किया, किन्तु निश्चय दृष्टि को पकडने का और समझने का प्रयत्न अनन्त वार मे मे एक वार भी नही किया। यही कारण है, कि आत्मा के शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि हमे नही हो सकी। और यह तव तक प्राप्त नही हो सकेगी, जव तक कि हम आत्मा के विभाव के द्वार को पार करके उसके स्वभाव के भव्य द्वार मे प्रवेश नही कर लेंगे।

पाप आत्मा को अच्छा नही लगता, क्योकि उसका परिणाम दु ख एव क्लेश है। पुण्य आत्मा को अच्छा लगता है, क्योकि उसका परिणाम सुख एव समृद्धि है। इस दृष्टि से ससारी आत्मा पाप को छोडता है और पुण्य को पकडता है। किन्तु विवेकशील ज्ञानी आत्मा विचार करता है, कि जिस प्रकार पाप वन्धन है, उसी प्रकार पुण्य भी एक प्रकार का वन्धन ही है। यह सत्य है कि पुण्य हमारे जीवन-विकास मे उपयोगी है, सहायक है। यह सव कुछ होते हुए भी यह निश्चित है, कि वह उपादेय नही है, वल्कि अन्तत हेय ही है। उसे अवश्य छोडना है, आज नही तो कल। और जिस वस्तु को छोडना है, वह अपनी कैसे हो सकती है ? पुण्य और पाप दोनो आस्रव हैं। अन्तर इतना ही है कि एक अशुभ है, दूसरा शुभ है। आस्रव आखिर आस्रव ही है, वह आत्मा का विकार है, वह आत्मा का विभाव है, आत्मा का वह स्वभाव नही है। और जो स्वभाव नही है, अवश्य ही वह विभाव है। और जो विभाव है वह एक दिन आया था, वह एक दिन चला भी जाएगा। इसके विपरीत जो स्वभाव है, वह न कभी आया था और न कभी जाएगा। जो अपना है वह जा नही सकता, और जो पराया है वह कभी ठहर नही सकता। यही भेद-विज्ञान है, यही विवेक-दृष्टि है और यही निश्चय दृष्टि है।

निश्चय-दृष्टि सम्पन्न आत्मा विचार करता है, कि यह शरीर मेरा नही है, यह इन्द्रियां मेरी नही हैं और शरीर एव इन्द्रियो के भोग भी मेरे नही हैं। यह सव जड हैं और मैं इनसे भिन्न चेतन हूँ। मैं पर से भिन्न हूँ, मेरे स्वस्वरूप मे काल और कर्म वाधक नही हो सकते। क्योकि कर्म जड है, अत वह 'स्व' मे भिन्न 'पर' है। आत्मा सदा

अपने स्व-चतुष्टय रूप में है, पर चतुष्टय रूप में नहीं है। और जो स्व में नहीं है, वह स्व को तीन काल और तीन लोक में बाधा नहीं पहुँचा सकता। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपनी अपेक्षा से है, पर की अपेक्षा से नहीं है। अतः निश्चय दृष्टि से कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के हानि एवं लाभ का कारण नहीं है। फिर भी विपरीत कल्पना के आधार पर और विपरीत मान्यता के आधार पर अथवा व्यवहार के आधार पर यह कहा जाता है कि मेरे लिए कर्म बाधक हैं, जड़ कर्मों ने मुझे मार डाला। परन्तु अज्ञानी आत्मा यह नहीं सोचता कि अपनी भूल के कारण और अपने ही राग एवं द्वेष के कारण इस विकार रूप संसार का अस्तित्व है। आत्मा अपनी महानता को भूलकर अपने से भिन्न पर की महानता में विश्वास करता है। अपनी प्रभुसत्ता को भूल कर जब यह आत्मा जड़ पदार्थों के अधीन बन जाता है, तब उसकी यही स्थिति होती है और यही दशा होती है। जो अपनी आत्मा को परमार्थतः सिद्ध समझकर उसका निरन्तर ध्यान करता रहता है, वह एक दिन अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। ज्ञानी कहता है कि हे आत्मन्! तू प्रभु है, तू परमात्मा है और तू परब्रह्म है। विश्व की समस्त आत्माएँ अपने शुद्ध स्वरूप से परमात्म स्वरूप हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। तूने अपने अज्ञान के कारण ही अपने से भिन्न जड़ तत्त्व में आनन्द मान रखा है। परन्तु वास्तव में जड़ में से कभी आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती। आश्चर्य है कि जड़ से सर्वथा भिन्न अपने विशुद्ध चिदानन्द रूप एवं ज्ञातृ-भाव रूप स्व स्वरूप को छोड़कर आत्मा पर रूप जड़ में भटक गया है। जब तक पर से हटकर वह स्व में स्थिर नहीं हो जाता है, तब तक उसे सच्चा सुख और आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। अपने मोह, अज्ञान और राग-द्वेष के कारण ही यह आत्मा जन्म एवं मरण के चक्कर में फँसा हुआ है। कर्म जन्य इन विभिन्न परिस्थितियों को यह आत्मा अपना स्वरूप समझता रहा है किन्तु वास्तव में वह आत्मा का अपना स्वरूप नहीं है।

कल्पना कीजिए, एक मनुष्य धन उपार्जन के लिए स्वदेश का द्वार घर छोड़कर गया। परदेश में वह इधर उधर काफी भटका। एक नगर से दूसरे नगर में और दूसरे से तीसरे में गया। यथोचित वहाँ उसे काफी सफलता मिली। पर्याप्त धन उपार्जन करने के बाद उसके मन में विचार आया कि अब मुझे अपने घर जाना चाहिए। विदेश में रहना मेरे जीवन का उद्देश्य नहीं है। जिस भाव को लेकर मैं स्वदेश

को छोडकर विदेश आया था, वह पूर्ण हो गया है। वह अपने घर आया, जहाँ उसने विश्रान्ति और शान्ति का अनुभव किया। एक दिन वह विचार करने लगा कि मैंने बहुत सा धन कमाया है, अब उसका उपभोग भी करना चाहिए। उसका उपभोग कैसे किया जाए? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए उसके मन और मस्तिष्क मे विविध प्रकार के विकल्प उठने लगे। उसने विचार किया, मुझे एक भव्य प्रासाद बनवाना चाहिए। क्योंकि मुझे अब जीवन पर्यन्त यहीं पर रहना है। सुन्दर वस्त्र और रम्य आभरण भी मेरे पास होने चाहिएँ। मेरा खान-पान और रहन-सहन भी सुन्दर, रुचिकर और मधुर होना चाहिए। धन और भोग विलास के व्यामोह मे वह अपने आपको अजर अमर समझने लगा, मृत्यु को भूल गया। उसे यह पता नही रहा कि उसका आयुष्य कब पूर्ण हो जायगा, और वह यहाँ से न जाने कब कहाँ चला जायगा? यह एक निश्चय सिद्धान्त है कि जो ससार मे आया है, वह एक दिन ससार से विदा भी अवश्य होगा। खेद है कि फिर भी वह मोह विमुग्ध आत्मा अपने परभव और परलोक का ज्ञान नही कर पाता। अध्यात्म-शास्त्र कहता है, यदि तुमने अपने इस वर्तमान जीवन मे, इस वर्तमान भव के अभाव का निर्णय नही किया, तो यह जीवन किस काम का? विपुल द्रव्य भी प्राप्त कर लिया और कदाचित् स्वर्गोपम सुख भी प्राप्त कर लिया, तो भी किस काम का? जब तक अवतार का, जन्म का और भव का अन्त नहीं किया जाता है, तब तक भौतिक दृष्टि से सब कुछ प्राप्त करके भी इस आत्मा ने कुछ भी प्राप्त नही किया। यह मत समझो कि इस ससार मे हम अजर-अमर होकर आए हैं, बल्कि यह समझो कि हम एक दिन आए है और एक दिन अवश्य ही यहाँ से विदा होगे।

अपने को सम्पन्न और सुखी बनाने का आत्मा ने अनन्त बार पुरुषार्थ और प्रयत्न किया होगा, परन्तु यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है, कि यदि आत्मा एक बार भी यथार्थ पुरुषार्थ कर लेता, तो फिर उसे अन्य पुरुषार्थ नही करना पडता। और वह यथार्थ पुरुषार्थ है—भव के अन्त का, जन्म एव मरण की परम्परा के अन्त का। विचार कीजिए—दूध या दही को विलोकर उसमे से मक्खन निकाला, उसे तपाया और जब एक बार घी बना लिया, तब फिर उस घी का मक्खन नही बन सकता। इसी भाँति एक बार आत्मा के समग्र विकार और आवरण का विनाश किया, कि फिर ससार में आना नही होता।

यह आत्मा फिर अनन्त-अनन्त काल के लिए स्वस्वरूप मे लीन हो जाता है। संसार से विमुख होना ही आत्मा का सबसे महान् उद्देश्य है। परन्तु वह संसार क्या है? पुत्र एवं कलत्र' यह संसार नहीं है, धन एवं वैभव यह संसार नहीं है, नगर एवं ग्राम यह संसार नहीं है, स्वदेश और परदेश यह संसार नहीं है, स्वर्ग और नरक' यह भी मूल संसार नहीं है। उक्त औपाधिक कर्मोदयजन्य संसार का भी मूल कारण वास्तविक संसार है—आत्मा का अपना अज्ञान आत्मा का अपना मोह तथा आत्मा का अपना राग एवं द्वेष। जिस क्षण और जिस समय आत्मा मे पर्याय दृष्टि से संसार-दशा है, उसी क्षण और उसी समय आत्मा मे द्रव्य दृष्टि से सिद्ध-दशा भी है। एक विकारी दशा है और दूसरी विशुद्ध दशा है। जब विकार एवं विभाव के कारण पर्याय मे न रहेंगे तब आत्मा पर्याय रूप मे भी बद्ध दशा मे न रहेगा। जिस प्रकार जल मे उष्ण होने की योग्यता के कारण अग्नि के निमित्त से वर्तमान मे उष्णता प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार संसारी जीव मे अपनी विभाव स्थिति के कारण अशुद्धता रहती है, परन्तु जैसे उष्ण जल को शीत बनाने के लिए यह आवश्यक है, कि अग्नि का संयोग उससे हटा दिया जाए वैसे ही एक अशुद्ध आत्मा को शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है, कि उसमे से अज्ञान मोह तथा राग एवं द्वेष को दूर कर दिया जाए। जैन दर्शन मे मोक्ष एवं मुक्ति को अपवर्ग भी कहा जाता है यह आत्मा की एक विशुद्ध स्थिति है। अपवर्ग शब्द मे दो शब्द हैं—अप और वर्ग। वर्ग का अर्थ है—धर्म अर्थ और काम। उनसे रहित जो है, उसे अपवर्ग कहा जाता है। अपवर्ग आत्मा की वह विशुद्ध स्थिति है—जहाँ न इन्द्रियो का भोग अर्थात् काम रहता है और न उसका साधन-अर्थ रहता है तथा जहाँ न काम और अर्थ को उत्पन्न करने वाला पुण्य रूप व्यवहार धर्म ही रहता है।

जैन-दर्शन की दृष्टि से आत्मा का कर्म के साथ परम्परागत अनादि सम्बन्ध है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा कभी कर्म विमुक्त नहीं होगा। यदि आत्मा कर्म विमुक्त न हो तो फिर किसी भी प्रकार की साधना करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। उस स्थिति मे ज्ञान का पुरुषार्थ पराक्रम और प्रयत्न सब व्यर्थ सिद्ध होता है। आत्मा अपने प्रयत्न से बन्धन विमुक्त हो सकता है। वह मोक्ष एवं अपवर्ग को प्राप्त कर सकता है, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। आवश्यकता है आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को समझने की।

मोक्ष और अपवर्ग प्राप्त करने के लिए सबसे पहले आत्म-बोध एव आत्म-निश्चय की आवश्यकता है। उसके बाद ही अन्य ज्ञान की आवश्यकता है। क्योकि भेद-विज्ञान के विषय मुख्य रूप से दो ही हैं— आत्मा और अनात्मा, स्व और पर तथा जीव और पुद्गल। प्रश्न होता है, हम अपने आपको कैसे जानें ? अध्यात्म-शास्त्र उक्त प्रश्न का समाधान करता है, कि अपने आपको अपने आपसे ही जानो। क्या कभी दीपक को देखने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता रहती है ? अपने आपको देखने के लिए भी अन्य किसी प्रकाश की आवश्यकता नही है। आत्मा अपनी जिस चेतना-शक्ति से जगत के पर पदार्थो को जानता है, उसी से वह अपने आपको भी जान सकता है। आत्मा का मुख्य परिणमन ज्ञान है। ज्ञान ही आत्मा को अन्य पदार्थों से पृथक् करता है। जब कि ज्ञान को हम आत्मा का निज गुण स्वीकार कर लेते हैं, तब इसका अर्थ यही है, कि आत्मा अपने आपको अपने आपसे ही जानता है। यही आत्मा का निज स्वरूप है। परन्तु अनन्त काल से आत्मा की परिणति आत्मा से भिन्न पुद्गल मे निजत्व का अध्यास कर रही है। वस्तुत यही आत्मा की मलिनता है। जब आत्मा स्व को पर मे आरोपित करता है, और पर को स्व मे आरोपित करता है, तब आत्मा का यह मिथ्यात्व-भाव ही उसका सबसे बडा बन्धन हो जाता है। यह मिथ्यात्व-भाव जब तक आत्मा में विद्यमान है, तब तक आत्मा के ससार-पर्याय का कभी अन्त नही हो सकता। ससार पर्याय का अन्त ही वस्तुत मोक्ष है।

आत्मा मे अनन्त शक्ति है, परन्तु वह कर्म के आवरण से आच्छादित रहती है। यह कर्म का आवरण इतना विचित्र एव इतना विकट होता है, कि आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट नही होने देता। जिस प्रकार सूर्य का दिव्य प्रकाश मेघाच्छन्न होने के कारण अप्रकट रहता है, उसी प्रकार कर्मो के आवरण के कारण आत्मा की अनन्त शक्ति प्रकट नही हो पाती। आवरण हटते ही आत्मा की शक्ति प्रकट होने लगती है और वह अपने स्वरूप को पहचान लेता है। आत्मा पर सबसे बडे भयकर बन्धन अहं-बुद्धि और मम-बुद्धि के हैं। अहता और ममता के कारण आत्मा अपने निज स्वरूप को पहचान नही पाता। आत्म-बोध न होने के कारण आत्मा अनन्त काल से ससार मे परिभ्रमण करता रहा है। जिस प्रकार बालक मिट्टी के घरोंदे बनाते और बिगाडते रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा ने ही यह ससार बनाया है और

आत्मा ही इस संसार का अन्त भी कर सकता है। आत्मा नाना प्रकार के मनोरथ करता है परन्तु इन मनोरथों का कभी अन्त नहीं होता। संकल्प और विकल्प के खेल रात और दिन हमारे मन के मैदान में होते रहते हैं। इन खेलों को बनाने वाले भी हम हैं और इन खेलों को बिगाड़ने वाले भी हम स्वयं ही हैं। मोह-बुद्धि समस्त पापों की जड़ है। मोह-बुद्धि को तोड़ने के लिए ही साधना की जाती है। यह निश्चय है कि ममत्व-बुद्धि एवं मोह-बुद्धि के कारण ही हमें पर पदार्थों में सुख एवं दुःख की प्रतीति होती है। पर पदार्थ में दुःख और सुख की प्रतीति भ्रान्तिरूप है। सुख दुःख के प्रश्न का एक ही समाधान है कि—दुःख एवं सुख किसी पदार्थ विशेष में नहीं होते वे होते हैं ममत्व भाव में। अतः ममत्व भाव ही समस्त सांसारिक सुख-दुःखों का मूल केन्द्र है। सांसारिक सुख भी मूलरूपतः दुःख ही है।

पर पदार्थ में ममत्व होने से दुःख कैसे होता है? इस सम्बन्ध में मुझे एक कथानक का स्मरण हो आया है। एक बार एक व्यक्ति किसी कार्यवश विदेश में गया था वहाँ वह कुछ दिनों तक रहा। यद्यपि वह अपने देश शीघ्र ही लौटना चाहता था परन्तु प्रयोजनवश वह शीघ्र नहीं लौट सका। विदेश में रहते हुए भी उसका मन सदा अपने घर में ही लगा रहता था। घर से दूर रहने पर भी वह घर को भूल नहीं सका। यह सब उसकी मोह-बुद्धि का खेल था। एक बार उसे घर से समाचार मिला कि उसकी पत्नी का देहान्त हो गया है। पत्नी के वियोग को वह सहन नहीं कर सका। विलाप करने लगा उसने खाना पीना सब कुछ छोड़ दिया। वह शोक विह्वल हो गया। न किसी से बात करता न किसी से बोलता और न किसी कार्य के करने में ही उसका मन लगता था। उसकी इस विचित्र स्थिति को देखकर, उसके मित्र ने कहा—

'स्त्री के वियोग से इतने अधीर क्यों बनते हो? मरना और जीना क्या किसी के हाथ की बात है? जो जन्मा है वह एक दिन मरेगा भी अवश्य ही। जन्म के बाद मरण और मरण के बाद जन्म यह तो एक संसार-चक्र है, चलता रहा है और चलता रहेगा। जन्म-मरण के चक्र को कौन कैसे मिटा सकता है? यदि स्त्री का वियोग असह्य है और स्त्री के बिना तुम नहीं रह सकते तो दूसरा विवाह कर लो। परन्तु व्यर्थ में परेशान एवं हैरान होने की जरूरत क्या है।

स्त्री-वियोगी व्यक्ति ने अपने मित्र से कहा— बात तुम्हारी ठीक

है। यह सब कुछ मैं समझता हूँ। मेरे दुःख का कारण मेरी स्त्री नहीं है। मेरे दुःख का कारण है, उसमें मेरी ममत्व बुद्धि। जिसमें जिस व्यक्ति का ममत्व होता है, उसके वियोग में उसे दुःख होता है। किसी भी व्यक्ति को न किसी के जन्म पर हर्ष होता है और न किसी की मृत्यु पर विषाद होता है। जिस वस्तु में मन की प्रीति होती है, जिस वस्तु में मन की रति होती है और जिस वस्तु में मन की अनुरक्ति होती है, वस्तुतः उसी वस्तु के संयोग में सुख और वियोग में दुःख एवं विषाद हुआ करता है। जब तक संसार के किसी भी पदार्थ के प्रति मन में अनुरक्ति बनी हुई है, तब तक विरक्ति नहीं हो सकती। और जब तक विरक्ति नहीं होगी, तब तक आत्मा की कर्मों से विमुक्ति भी नहीं हो सकती।"

वियोगी व्यक्ति का कथन सही है। परन्तु यदि वह बौद्धिक न होकर अन्तर्मन की गहराई में उतरा होता तो उसे कुछ भी परेशानी न होती। अस्तु निश्चित है कि दुःख का कारण और कुछ नहीं, मनुष्य के मन का ममत्व भाव ही है। यह ममत्व-भाव चाहे किसी जड़ पदार्थ में हो, अथवा किसी चेतन में, दुःख का मूल कारण यह ममत्व-भाव ही है। जब ममत्व-भाव हट गया, तो वस्तु के रहने अथवा न रहने से हमें सुख और दुःख भी नहीं होते। चक्रवर्ती के पास कितना विशाल वैभव होता है, किन्तु जब उसके हृदय में निर्मल वैराग्य का उदय होता है, तब क्षण भर में ही वह उसे छोड़ देता है। विशाल साम्राज्य को छोड़ने पर उसे जरा भी दुःख एवं क्लेश नहीं होता, क्योंकि दुःख एवं क्लेश का मूल कारण ममत्व-भाव है, और ममत्व-भाव का उसने परित्याग कर दिया है।

मैं आपसे कह रहा था कि आत्मा का बन्धन और आत्मा का मोक्ष कहीं बाहर में नहीं, हमारे अन्दर की भावना में ही रहता है। बड़ी विचित्र बात है, कि मनुष्य अन्य सब कुछ समझ लेता है किन्तु अपने आपको नहीं समझ पाता। जिसने अपने को पहचान लिया, उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया। आत्मा में परमात्मा होने की शक्ति है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, परन्तु आवश्यकता है पर के आवरण को हटाकर अपने निज स्वरूप को जानने की। कल्पना कीजिए, किसी सरोवर में जल भरा हुआ है। अन्दर में जल स्वच्छ एवं निर्मल है, परन्तु उसके ऊपर काई आ चुकी है। ऊपर काई जम जाने के कारण जल मलिन दीखता है, परन्तु जब काई दूर हो जाती है, तब

जल स्वच्छ का स्वच्छ हो जाता है। उसकी स्वच्छता कहीं बाहर नहीं थी, वह अन्दर में ही थी, पर काई आ जाने से उसकी स्वच्छता का दर्शन नहीं हो पाता था। वायु के वेग से जब काई छँट कर एक तरफ हो गई, तब सरोवर के स्वच्छ जल की प्रतीति होने लगी। इसी प्रकार आत्मा स्वच्छ एवं पावन है, परन्तु राग और द्वेष की काई से मलिन बन गया है। राग और द्वेष नष्ट होते ही उसकी स्वच्छता प्रकट हो जाती है। वस्त्र जब मलिन हो जाता है, तब सोडा और साबुन लगा कर उसे स्वच्छ बना लिया जाता है। वस्त्र की स्वच्छता कहीं बाहर से नहीं आई, वह उसके अन्दर ही थी, पर मल के कारण प्रकट नहीं हो पा रही थी। मल के दूर होते ही वह प्रकट हो गई। इसी प्रकार जब तक आत्मा पर राग एवं द्वेष का मल लगा हुआ है, तभी तक वह अस्वच्छ एवं अपावन प्रतीत होती है, परन्तु मल के हटते ही उसकी स्वाभाविक स्वच्छता प्रकट हो जाती है। राग क्या है? प्रीति रूप परिणाम का होना राग है। द्वेष क्या है? अप्रीति रूप परिणाम का होना द्वेष है। संसार का मूल कारण यह राग और द्वेष ही है। यह राग और द्वेष क्षय होते ही आत्मा को मोक्ष एवं अपवर्ग की शाश्वत स्थिति प्राप्त हो जाती है।

मैं अभी आपसे आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में चर्चा कर रहा था। आत्मा का शुद्ध स्वरूप क्या है? यह समझना उतना आसान नहीं है, जितना आसान इसे समझ लिया गया है। आत्मा की चर्चा करना आसान है, परन्तु आत्मा को समझना बड़ा कठिन है। जब तक आत्मा में रागरहित प्रीति न हो, जब तक आत्मा में अनुराग रहित अनुरक्ति न हो और जब तक पर पदार्थों से द्वेष रहित स्वस्वभावरूप विरक्ति एवं विभक्ति न हो, तब तक आत्मा को कैसे समझा जा सकता है। अध्यात्मवाद की चन्द पोथियों के पन्ने उलटने मात्र से कोई अध्यात्मवादी नहीं हो सकता। सार्वजनिक सभा में किसी ऊँचे मंच पर चढ़कर जोरदार भाषा में और आकर्षक शैली में आत्मा पर भाषण देने मात्र से ही कोई अध्यात्मवादी नहीं बन सकता। शास्त्रार्थ के अखाड़े में उतर कर अपने तर्क-जाल से किसी को पराजित कर देना भी अध्यात्मवादी होने का लक्षण नहीं माना जा सकता। अज्ञान, अविद्या, माया और वासना की चर्चा बहुत की जाती है, परन्तु उस जीवन से दूर हटाने का जितना प्रयत्न किया गया है, मुख्य प्रश्न वही है। माया को छोड़ने की वचन से बात करना आसान

है, किन्तु मन से माया को छोडना आसान नही है। जीवन मे दु ख और क्लेश का वातावरण उपस्थित होने पर क्षण भर के लिए वैराग्य-शील वनकर ससार की असारता का कथन करना, आजकल एक फैशन वन गया है। जव कभी किसी पडोसी के यहाँ पर उसके किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाती है, तव उसे धैर्य वँधाने के लिए और उसके उद्विग्न मन को शान्त करने के लिए, उसके प्रति सवेदना प्रकट करने आने वाले लोग, उसे हजारो हजार उपदेश देते हैं, ससार की क्षण-भगुरता का। परन्तु जव अपने ही घर मे, अपने ही किसी प्रियजन का वियोग होता है, तव हमारा वह ज्ञान और विवेक कहाँ भाग जाता है। अपने प्रियजन की मृत्यु पर हम अधीर और विह्वल क्यो हो जाते हैं? क्या यह सव कुछ सोचने और समभने का कभी प्रयत्न किया है? जिस विवेक और वैराग्य की चर्चा हम अपनी प्रतिदिन वाणी मे करते है, वह विवेक और वैराग्य हमारे जीवन की धरती पर क्यो नही उतर पाता? इसका कारण एक ही है, कि अभी तक आपके हृदय मे आत्म-श्रद्धा, आत्म-निष्ठा और आत्म-आस्था उत्पन्न नही हुई है। हमने स्वभिन्न पर को समभा है और स्वभिन्न पर के ऊपर विश्वास करना भी सीखा है। परन्तु इसके विपरीत हमने आज तक अपने 'स्व' पर विश्वास करने का प्रयत्न नही किया। मैं समभता हूँ जव तक सम्यग् दर्शन नही होगा, आत्मप्रीति नही होगी, तव तक आत्म-ज्ञान भी नही हो सकता, आत्म-वोध भी नही हो सकता और जव तक आत्म-वोध नही होता है, तव तक आचार और चारित्र भी नही होता है। फिर मुक्ति मिले तो कैसे मिले?

अध्यात्म शास्त्र मे सम्यग् दर्शन और श्रद्धा को जीवन का प्राणभूत सिद्धान्त माना गया है। सामान्य रूप से श्रद्धा एव श्रद्धान का अर्थ होता है—'विश्वास करना।' प्रश्न होता है—'श्रद्धा एव विश्वास किस पर किया जाए?' उत्तर मे कहा जाता है कि—'तत्वभूत पदार्थों पर।' तत्वभूत पदार्थों पर श्रद्धा करना ही सम्यग् दर्शन होता है। सम्यग् दर्शन की उक्त परिभाषा मे सवसे वडी वाधा यह है, कि पदार्थो पर श्रद्धा को सम्यग् दर्शन कहा गया है। ससार मे पदार्थ अनन्त हैं, किस पर श्रद्धा की जाए, किस पर विश्वास किया जाए? यदि कहो कि तत्वभूत पदार्थ पर विश्वास करो, तो उसमे से प्रश्न उठता है कि तत्वभूत किसे कहा जाए? यदि तत्वभूत का यह अर्थ लिया जाए कि जिसकी जिस पर रुचि है, उसके लिए वही तत्वभूत है, तव

तो बड़ी गड़बड़ी होगी। बच्चे को मिठाई पर श्रद्धा रहती है, धन-लोलुप को धन पर श्रद्धा रहती है, कामुक को कामिनी पर श्रद्धा रहती है, चोर को पर-धन पर श्रद्धा रहती है और भोगी को इन्द्रियों के विविध भोगों पर श्रद्धा रहती है। तो क्या इस सबको सम्यग्-दर्शन और श्रद्धा कहा जा सकता है? निश्चय ही नहीं। तब किस पर विश्वास किया जाए, किस पर श्रद्धा की जाए? इसके उत्तर में अध्यात्म-शास्त्र कहता है—सब कुछ को छोड़कर केवल एक पर ही विश्वास करो। और वह एक क्या है? वह एक है आत्मा, चेतन और जीव। अनन्त काल से हमने 'पर' पर ही विश्वास किया है, 'स्व' पर हमारा विश्वास नहीं जम सका। अनन्त काल से हमने देह और देह के भोगों पर, इन्द्रिय और इन्द्रिय के भोगों पर तथा मन और मन के भोगों पर ही विश्वास किया है। कुछ आगे बढ़े तो अपने परिजन और परिवार पर विश्वास किया है। कुछ और आगे बढ़े तो समाज, राष्ट्र और विश्व पर विश्वास कर लिया। इस प्रकार का विश्वास एक बार नहीं, अनन्त अनन्त बार किया गया है। विश्व, राष्ट्र, समाज, व्यक्ति और व्यक्ति के शरीर, इन्द्रिय एवं मन पर तो विश्वास किया, परन्तु इन सबके मूल केन्द्र आत्मा पर अभी तक श्रद्धा और विश्वास नहीं किया गया। याद रखिए—आत्मा की सत्ता से ही इन सबकी सत्ता है, आत्मा के अस्तित्व पर ही इन सबका अस्तित्व है। चिद्रहित शरीर शव कहलाता है। शव की इन्द्रियाँ होते हुए भी वे अपना काम नहीं कर पातीं। शव को घर में नहीं रखा जाता, श्मशान में ले जाकर जला डाला जाता है। जब शरीर में चित् नहीं रहा, तो उस शव के लिए परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व का भी क्या उपयोग रहा? इसीलिए मैं कहता हूँ कि आत्मा के होने पर ही सब कुछ है। आत्मा के नहीं होने पर सब कुछ भी नहीं कुछ है। अतः सबसे बड़ी श्रद्धा आत्मा की श्रद्धा है, सबसे बड़ा विश्वास आत्मा का विश्वास है। आत्मा की सत्ता का बोध होने पर ही और आत्मा की प्रीति होने पर ही आस्रव को रोका जाता है तथा संवर एवं निर्जरा की साधना की जाती है। यदि आत्मा पर विश्वास नहीं जमा, तो बाहर में संवर और निर्जरा की साधना से भी हमारी आत्मा में क्या सुधार होगा? मेरे विचार में यथार्थ श्रद्धा एवं यथार्थ विश्वास वही है, जिसमें आत्मा की स्वच्छता, पवित्रता और अमरता का परिज्ञान होता है। साधना के लिए सर्वश्रेष्ठ तत्त्वभूत पदार्थ आत्मा

ही है। आत्मा के अस्तित्व से ही पुद्गल का भी मूल्य है। इस विश्व में तत्वभूत पदार्थ दो ही हैं—जीव और पुद्गल, किन्तु उन दोनों में भी जीव ही मुख्य है। क्योंकि जीव भोक्ता है और पुद्गल भोग्य है। यदि भोक्ता नहीं है, तो भोग्य का अपने आप में कोई अर्थ नहीं होता। जीव और पुद्गल की संयोग-अवस्था को ही आस्रव कहा जाता है तथा जीव और पुद्गल के क्रमिक एवं सम्पूर्ण वियोग को ही संवर, निर्जरा एवं मोक्ष कहा जाता है। मेरे कथन का अभिप्राय इतना ही है, कि तत्वभूत पदार्थों में प्रधानता जीव एवं आत्मा की ही है। आत्मा पर श्रद्धा करना और आत्मा पर विश्वास करना ही, निश्चय दृष्टि से सम्यग् दर्शन है। व्यवहार दृष्टि से देव, गुरु और धर्म पर विश्वास को भी सम्यग् दर्शन कहा जा सकता है।

आज का साधक भले ही वह श्रमण हो या श्रावक, निश्चय विश्वास को छोडकर व्यवहार-विश्वास पर आ टिका है। वह यह नहीं समझ पाता, कि व्यवहार का आधार भी तो निश्चय ही है। उसने मूल आधार को भुला दिया और व्यवहार को पकड कर बैठ गया। आज वह हर वस्तु की नाप-तोल निश्चय से नहीं, व्यवहार से करता है। वह वृक्ष के मूल को नहीं देखता, उसके बाह्य सौन्दर्य को ही देखकर मुग्ध हो जाता है। वह देखता है कि वृक्ष पर हरे भरे पत्ते हैं, सुरभित कुसुम हैं और मधुर फल हैं। किन्तु यदि उस वृक्ष का मूल न हो, तो यह सब कुछ कैसे रहेगा ? जिस वृक्ष की जड सूख गई, उसमें हरे पत्ते कब तक रहेंगे ? उसमें सुरभित पुष्प कब तक महकेंगे और उसमें मधुर फल कब तक लगे रहेंगे। यही बात आज के साधकों के सम्बन्ध में है। वे अपने पथ पर विश्वास करते हैं, वे अपने सम्प्रदाय पर विश्वास करते हैं, वे अपने सम्प्रदाय के आचार्यों पर भी विश्वास करते हैं और वे अपने सम्प्रदाय के गले-सडे पोथी-पन्नों पर विश्वास करते हैं। किन्तु वे इस नर में जो नारायण है, उस पर विश्वास नहीं कर पाते। इस शव में जो शिव है, उसको वे भूल जाते हैं। कुछ लोग तर्क करते हैं, कि हम तो सत्य-ग्राही हैं, इसलिए सत्य को ही पकडते हैं। किन्तु मैं पूछता हूँ कि आपका सत्य क्या है ? तो मुझे उत्तर मिलता है—हमारे गुरु ने जो कुछ कहा वही सत्य है, हमारे पथ के पोथी-पन्ने जो कुछ कहते हैं वही सत्य है और हमारे पथ के पुरातन पुरुषों ने जो कुछ कहा है वही सत्य है। उसके बाहर जो भी कुछ है, जितना भी है और जैसा भी है, वह सब असत्य है, उस पर हमें

विश्वास नहीं है। कितनी विचित्र बात है कि सम्यग् दर्शन और श्रद्धा के नाम पर लोग काष्ठ के पाषाण एवं भाग्यपद आदि विभिन्न सत्ता पर विश्वास करते हैं, देश के तीर्थ आदि खण्डों पर विश्वास करते हैं, किन्तु अखण्ड आत्मा पर विश्वास करने के लिए कोई तैयार नहीं होता। आग्रहशील बुद्धि के लोग इतना तक कहने का दावा करते हैं कि जो कुछ हमारे गुरु ने कहा है और जो कुछ हमारे पोथी-पत्रों में उल्लिखित है, उससे बाहर सत्य है ही नहीं? विचित्र बात है कि वे लोग अपनी धर्मान्धता के कारण असीम एवं अनन्त सत्य को भी सान्त एवं सीमित बना रहे हैं। वे लोग यह भी कहते हैं कि भले ही युग बदल जाए, परिस्थिति बदल जाए, समाज एवं राष्ट्र बदल जाए और सब कुछ बदल जाए किन्तु हमारी पोथी का सत्य कभी नहीं बदल सकता। हमारा सत्य, हमारा पथ और हमारे गुरु का कथन ही त्रैकालिक सत्य है। इस प्रकार के मतान्ध लोगों की बात को सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। मैं तो क्या स्वयं भगवान भी उन्हें समझा नहीं सकते। जिसका सत्य सीमित है, कदाग्रह से परिवेष्टित है, उसे समझाने की क्षमता किसी में भी नहीं है।

यह एक प्रकार की कूपमण्डूकता है। जो कुछ हमारा है, वही पूर्ण एवं त्रैकालिक सत्य है—इससे बढ़कर मिथ्यात्व और क्या हो सकता है? एक समुद्र का मेढक भाग्य-योग से किसी पार्श्वस्थ कूप के मेढक के पास पहुँच गया। कूप के मेढक ने नवागन्तुक मेढक से पूछा— आप कौन हैं? कहाँ से आए हैं?

समुद्र के मेढक ने शान्त और गम्भीर स्वर में कहा— मैं तुम्हारी जाति का ही एक प्राणी हूँ। अलबत्ता मेरे रहने का स्थान आपसे भिन्न अवश्य है, परन्तु यह निश्चित है, तुम और हम एक ही जाति के बन्धु हैं।

कूप के मेढक ने कहा— यह तो मैं मानता हूँ कि तुम और हम एक ही जाति के जीव हैं, किन्तु जरा यह तो बतलाइए कि आपके रहने का स्थान कहाँ है?

समुद्र के मेढक ने कहा— मेरे रहने का स्थान है—विशाल सागर।

कूप के मेढक ने पूछा—"सागर क्या होता है?

उसने कहा— 'जल की विशाल राशि को सागर कहा जाता है।

कूप के मेढक ने कहा— 'तब क्या आपका सागर मेरे इस कूप से

भी विशाल है ?"

समुद्र के मेंढक ने हँस कर कहा—"विशाल, विशाल ही विशाल और बहुत विशाल! मेरे प्यारे मित्र! जिस प्रकार एक चींटी की गाड़ी में नहीं लादा जा सकता, जैसे एक रज-कण को महागिरि से नहीं तोला जा सकता, उसी प्रकार मेरे विशाल सागर के जल की और तुम्हारे इस क्षुद्र कूप के जल की तुलना नहीं की जा सकती।"

कूप के मेंढक को उसकी यह बात सुनकर क्रोध आ गया और वह रोषारुण होकर बोला—"तुम झूठे हो, तुम्हारी सभी बात झूठ है। इस मेरे कूप से बढ़कर संसार में अन्य कोई विशाल जलराशि नहीं हो सकती। मैं तेरी झूठी बात पर विश्वास नहीं कर सकता।"

आप मेंढकों की इन बातों को सुनकर हँसते हैं और हँसी की बात भी है। परन्तु इस रूपक के मर्म को समझने का प्रयत्न कीजिए। आज का पंथवादी व्यक्ति उस कूप मण्डूक से कम नासमझ नहीं है। जिसने पंथ के क्षुद्र कूप में बन्द होकर जो कुछ देखा सुना है, उसके बाहर के सत्य को मानने के लिए वह कभी तैयार नहीं हो सकता। पंथवादी एवं रूढ़िवादी व्यक्ति अखण्ड सत्य को अपनी दुर्बुद्धि से खण्डित कर डालता है। और जो खण्ड एवं टुकड़ा भाग्य योग से उसके हाथ पड़ गया, उसके अतिरिक्त अन्य खण्डों को वह कभी भी सत्य मानने के लिए तैयार नहीं हो सकता। पंथ के कूप में बन्द लोगों के समक्ष कदाचित् साक्षात् भगवान भी आ जाए और दुर्भाग्यवश उस भगवान की वेशभूषा उनकी परिकल्पना से विपरीत हो, तो वह भगवान को मानने से भी इन्कार कर देगा। अपने परिकल्पित पोथी पन्नों के कूप में बन्द रहने वाले ये मेंढक अनन्त सत्य को नहीं समझ सकते, अनन्त सत्य को नहीं जान सकते। उन लोगों की स्थिति यही होती है, कि चले थे, अचल हिमाचल की चोटी पर चढ़ने के लिए, किन्तु अपनी बुद्धि के विपर्यास से पहुँच गये सागर के किनारे। इस संसार में हरि का भजन करने के लिए आने वाले भक्त, दुर्भाग्य से संसार की माया की कपास को ओटने लगे हैं। आए थे बन्धन से मुक्त होने के लिए, किन्तु और भी अधिक प्रगाढ़ बन्धन में बद्ध हो गए। आये थे आत्मा को स्वच्छ और पवित्र बनाने के लिए, किन्तु अपने अन्ध विश्वास के कारण आत्मा को पहले से भी अधिक अस्वच्छ और मलिन बना डाला। आये थे सत्य की साधना करने के लिए, किन्तु दुर्भाग्य से असत्य की साधना करने लगे। मैं पूछता हूँ आप लोगों से, कि क्या इस प्रकार पंथ के कूप

में बन्द रहने वाले लोगों की भव-बन्धनों से कभी मुक्ति हो सकती ? नहीं, कदापि नहीं। मैं तो यही कहूँगा कि पंथ को मत समझो, पंथ की आत्मा को समझो। गुरु को मत समझो, गुरु की आत्मा को समझो। पंथ को समझने का प्रयत्न मत करो, इस पंथ में रहने वाले शिव को समझने का प्रयत्न करो। याद रखिए, जिसने आत्मा पर विश्वास किया है, जिसने आत्मा पर श्रद्धा की है, उसी ने तत्त्व भूत पदार्थ पर श्रद्धा की है और तत्त्व भूत पदार्थ पर विश्वास किया है। साधना के मार्गों की विविधता एवं विभिन्नता भयंकर नहीं होगी, यदि साध्य एक है तो। अनन्त गगन में असंख्य तारक जगमग करते रहते हैं, किन्तु उनका आधार भूत आकाश तो एक ही है। इसी प्रकार व्यवहार कितने भी क्यों न हो ? देश, काल और परिस्थिति कैसी भी क्यों न हो ? यदि आत्मा पर श्रद्धा और विश्वास कर लिया है, तो फिर भव बन्धन से विमुक्त होने में किसी भी प्रकार का सन्देह एवं संशय नहीं रह सकता है।

१

सम्यग्दर्शन : सत्य-दृष्टि

* * *

भौतिकता के इस युग मे अध्यात्मवाद के पुनरुदय की नितान्त आवश्यकता है। मानवीय जीवन का मलक्ष्य है, चेतना के उच्चतम शिखर पर पहुँचना। मानव-जीवन जब विश्व-जीवन बन जाएगा, तब वह अपने जीवन के ध्येय को प्राप्त कर सकेगा। मनुष्य को जीना है, और ठीक से जीना है। उसके जीवन का अर्थ और उद्देश्य है—अपने जीवन की स्वच्छता और पवित्रता को प्राप्त करना, किन्तु वर्तमान युग की बोध-शून्यता ने मानव-चेतना को आज सन्निपात-ग्रस्त कर दिया है। भोग-वादी भौतिकवाद की चकाचौंध मे वह अपने जीवन के उद्देश्य को और अपने गन्तव्य पथ को भूल बैठा है। मानव-मन का अध्यात्म-वाद आज के भौतिकवाद से इतना अधिक प्रभावित हो गया है, कि वह आज जर्जर और मरणोन्मुख है। मेरे विचार मे जब तक मानव-जीवन का कण-कण आस्था, श्रद्धा, निष्ठा और विश्वास से ओतप्रोत नही होगा, तब तक चेतना-शक्ति का दिव्य आभास उसे अधिगत नही होगा। जीवन को सुन्दर, रुचिर एव मधुर बनाने के लिए जिस सहज बोध की आवश्यकता है, वह आज के मानव के पास नहीहै। इसी-

लिए उसके जीवन को कष्ट में निराशा में और अनास्था में उसके स्थिर जीवन को उलझा दिया है। मेरे विचार में आज के युग का सबसे बड़ा समाज-शास्त्र है विश्व-बन्धुत्व। आज के युग का सबसे बड़ा धर्म है—विश्व-मानवता। आज के युग का सबसे बड़ा दर्शन है, विश्व-चेतना। भोगवादी जीवन की इन्द्रधनुषी आभा चिरस्थायी नहीं है। चिरस्थायी है एक मात्र आत्मा का दिव्य भाव। आत्मा का यह दिव्यभाव जब तक कुण्ठित एवं कुण्ठित का स्पर्श नहीं करेगा तब तक मानवीय मन की स्वार्थपरता के स्थान पर सहज बोध नहीं आ सकेगा। जब तक विश्व का प्राणी सारी मानवता के परम भाव के प्रति प्रेम की भावना से प्रेरित नहीं होगा तब तक विश्व जीवन सत्य-युक्त नहीं हो सकेगा। जन मंगल और जन कल्याण की भावना मनुष्य के मन के अन्तराल में उगी समान होते हुए भी उसकी सफलता तब तक नहीं हो सकती जब तक कि मनुष्य स्वयं अपने जीवन को पावन एवं पवित्र न बना ले। जीवन की पावनता और पवित्रता का मूल आधार क्या है? उसका आदि स्रोत कहाँ है? इस जीवन में वह पावनता और पवित्रता अंकुरित होकर पल्लवित पुष्पित एवं फलित हो सकती है क्या? ये प्रश्न आज के नहीं चिरन्तन प्रश्न हैं। प्रत्येक युग की युग-चेतना ने उक्त प्रश्नों का सुन्दर एवं सत्य समाधान करने का प्रयास किया है। आज के युग की युग-चेतना भी मानव जीवन के उस पवित्र एवं पावन आदि स्रोत को प्राप्त करने के लिए आतुर व्याकुल बनी हुई है। मानव के मानस में जब तक सहज भाव के रवि का आलोकमय उदय नहीं होगा तब तक उसके जीवन सदन की रजनी का अन्त नहीं हो सकेगा। मानव अपने सहज स्वभाव में स्थिरता चाहता है। स्थिर बनने की उसकी अभिलाषा भी है, फिर भी सत्कुल प्रयत्न न होने के कारण वह स्थिरता उसे आज तक प्राप्त नहीं हो सकी। यदि अनन्त जीवन में कभी विद्युत् प्रकाश के समान क्षणिक स्थिरता की प्राप्ति हुई भी है तो वह स्थायी नहीं बन सकी।

अध्यात्मवादी दर्शन में सबसे पहले सबसे विकट और सबसे विराट् प्रश्न यही है कि जीवन की स्थिरता का आधार क्या है? उक्त प्रश्न का एक ही उत्तर है और एक ही समाधान है कि—सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान ही दिव्य भाव की स्थिरता का मूल आधार है। क्योंकि सम्यक् दर्शन में अनन्त शक्ति है एवं अनन्त बल है। अनन्त काल की आदि-हीन जन्म मरण की परम्परा का उच्छेद सम्यक् दर्शन के अभाव में

किसी भी प्रकार नही हो सकता। जीवन के अन्धकार को प्रकाश मे बदलने की और जीवन की गति को प्रगति मे परिवर्तित करने की अपार क्षमता सम्यक् दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी मे नही है। एक क्षण मात्र का सम्यक् दर्शन भी अनन्त-अनन्त जन्म-मरण का नाश करने वाला है। चेतन ने अनन्त वार अनन्त प्रकार की भावना की है, किन्तु सम्यक् दर्शन के अभाव मे वह फलवती नही हो सकी। जिस प्रकार रात्रि के घोर अन्धकार मे विद्युत् के चचल प्रकाश की क्षण रेखा क्षण भर के लिए ही लोक को आलोकित करती है, किन्तु उससे यह तो सिद्ध हो गया कि अन्धकार से भी बढकर एक प्रकार की शक्ति है, जिसे पाकर मनुष्य के जीवन की रजनी के अन्धकार को मिटाया जा सकता है, दूर किया जा सकता है। अध्यात्म-भाषा मे इसी दिव्य प्रकाश को सम्यक् दर्शन कहा जाता है। यदि एक क्षण मात्र भी जीव सम्यक् दर्शन को प्रकट करे, तो उसकी मुक्ति हुए विना न रहे। सम्यक् दर्शन ही अध्यात्म-साधना का दिव्य आलोक है, जिससे जीव अपने सहज स्वरूप की उपलब्धि कर सकता है। अत मानव-जीवन की पवित्रता और पावनता का एक मात्र मूल आधार सम्यक् दर्शन ही है। मानव-जीवन ही क्या, चेतना के समग्र विकास का एव प्रगति का एक मात्र आधार सम्यक् दर्शन ही है। अतीत काल मे जिस किसी भी चेतन ने मोक्ष प्राप्त किया है, वह सम्यक् दर्शन के आधार पर ही किया है और अनन्त अनागत मे जो कोई भी चेतना मोक्ष को प्राप्त कर सकेगी, उसका मूल आधार भी एक मात्र सम्यक् दर्शन ही रहेगा। जैन-दर्शन के अनुसार जीवन-मात्र के विकास का बीज सम्यक् दर्शन ही है।

मैं अभी आपसे सम्यक् दर्शन की चर्चा कर रहा था। सम्यक् दर्शन क्या है? सम्यक् दर्शन से जीवन मे कितना और कैसा परिवर्तन होता है? यह एक गम्भीर विषय है। किन्तु इस गम्भीर विषय को समझे विना, हमारे जीवन मे गति एव प्रगति भी तो नही हो सकती। अध्यात्म-साधक अन्य कुछ समझे या न समझे, किन्तु सम्यक्दर्शन के स्वरूप को उसे अवश्य ही समझना होगा। सम्यक् दर्शन को पाया, तो सब कुछ पाया। यदि इसे नही पाया, तो कुछ भी नही पाया। इस चेतन आत्मा ने अनन्त जन्मो मे अनन्त वार स्वर्ग का सुख पाया, भूमण्डल पर राज-राजेश्वर का वैभव पाया, परन्तु सम्यक् दर्शन के अभाव मे अपनी आत्मा का दिव्य रूप नही पा सका। नरक के दुख और स्वर्ग के सुख पवित्रता प्रदान नही कर सकते, जिस प्रकार दुख आत्मा का एक

मलिन भाव है, उसी प्रकार सुख भी आत्मा का एक मलिन भाव ही है। भले ही सुख जीव को प्रिय रहा हो और दुःख जीव को अप्रिय रहा हो, दुःख और सुख आखिर दोनों ही चेतना के मलिन भाव हैं। चेतना की मलिनता को दूर करने का एक मात्र साधन यदि कोई हो सकता है तो वह सम्यक् दर्शन ही है। यदि आप अध्यात्म-साधना के मन्दिर में प्रवेश करके आत्म-देवता की पूजा एवं उपासना करना चाहते हैं तो उस मन्दिर में प्रवेश करने के लिए आपको सम्यक् दर्शन के द्वार से ही प्रवेश करना होगा। यदि सम्यक् दर्शन का प्रकाश अन्तर् हृदय और आत्मा में जगमगा उठा है, और अपने सहज स्वरूप एवं शक्ति की पहचान हो गई है, तो फिर जीवन में किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। सम्यक् दर्शन को पाकर भयभीत आत्मा अभय हो जाता है। भय आत्मा का एक विकार है। जब तक साधक के जीवन में भय का सद्भाव है तब तक निश्चय ही यह नहीं कहा जा सकता कि उसने सम्यक् दर्शन को प्राप्त कर लिया है। निश्चय ही जिसने सम्यक् दर्शन के दिव्य आलोक को प्राप्त कर लिया है, उसके जीवन में किसी प्रकार का भय नहीं रह सकता। अतः सम्यक् दर्शन की साधना अभय की साधना है। कदम-कदम पर भयभीत होने वाला साधक अपनी साधना में कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, साधना के दिव्य पथ पर वह बहुत आगे नहीं बढ़ सकता। मोक्ष की साधना में सबसे पहली शर्त है, निर्भय होने की और निर्भयता का जन्म सम्यक् दर्शन से ही होता है।

आत्मा अनादिकाल से चिद्-रूप में सदा एक सा रहा है। वह कभी जीव से अजीव और चेतन से जड़ नहीं बना है। उसके स्वरूप में कभी कोई कमी नहीं हुई। उसका एक अंश भी कभी बना और बिगड़ा नहीं है। जीव सदा से जीव ही रहा है, आत्मा सदा से आत्मा ही रहा है। आत्मा कभी अनात्मा नहीं बन सकता और अनात्मा भी कभी आत्मा नहीं बन सकता। फिर न मालूम जीवन में कमी किस बात की है कि यह संसारी आत्मा क्यों रोता एवं बिलखता है? आत्मा को अजन्मा और अविनाशी मान लेने पर जीवन में किसी प्रकार का अभाव नहीं रहना चाहिए, फिर भी न जाने क्यों यह मनुष्य भटकता ही रहता है। दो ही बातें हो सकती हैं या तो उसे अपनी आत्मा की अमरता पर विश्वास नहीं है और यदि विश्वास है तो फिर वह अभी तक उसे मुक्त नहीं कर सका है। आत्मा की अमरता पर विश्वास हो जाने पर जब

तक उसकी दिव्य उपलब्धि नहीं होती है, तब तक जीवन-संघर्ष मिट नहीं सकेंगे। आत्मा की अमरता का ज्ञान एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। परन्तु आपको इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आत्मा की सत्ता का ज्ञान और उसकी अनन्त शक्ति का भान, एक चीज नहीं, अलग-अलग चीजें हैं। आत्मा की अमर सत्ता की प्रतीति होने पर भी, जब तक उसकी अनन्त शक्ति का भान नहीं होता है एवं उसके प्रयोग की विधि का परिज्ञान नहीं है, तो शक्ति के रहते हुए भी वह कुछ कर नहीं सकता। तीर्थंकर, गुरु और शास्त्र और कुछ नहीं करते। वे इतना ही करते हैं कि विस्मृत आत्मा को वे उसकी अनन्त शक्ति का स्मरण करा देते हैं। जिस प्रकार ज्योतिहीन दीपक को एक बार ज्योति का स्पर्श कराने मात्र से वह स्वयं ज्योतित हो जाता है, उसी प्रकार देव, गुरु और शास्त्र इन्द्रियों के भोगों में आसक्त आत्मा का उसके आन्तरिक दिव्य भाव से स्पर्श मात्र कराने का प्रयत्न ही करते हैं। भक्ति की भाषा में इसी को प्रभु की कृपा, गुरु का अनुग्रह और शास्त्र का सहारा कहा जाता है।

आपने भ्रान्त सिंह-शावक की वह कहानी सुनी होगी, जिसमें कहा गया है कि एक सिंह-शिशु किसी प्रकार भेड़ों में आकर मिल गया और उनके चिर सहवास से अपने आपको भी भेड़ समझने लगा। सौभाग्य से एक दिन जब उसे अपने ही सजातीय सिंह का दर्शन हुआ, और उसकी गर्जना सुनी, तो वह भी उसी प्रकार भयभीत होकर भागा, जिस प्रकार अन्य भेड़े भयभीत होकर भागीं।

कहा जाता है, तब वन के राजा सिंह ने भेड़ बने सिंह-शिशु से कहा—"अरे नादान! तू क्यों डरता है, तू क्यों भयभीत होता है? तुझमें और मुझमें क्या भेद है? मैं हूँ सो तू है और तू है सो मैं हूँ, फिर भला भय किस बात का?"

सिंह-शिशु को सिंह की इस बात पर विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि उसे अपने स्वरूप का ज्ञान एवं अपनी शक्ति का भान ही नहीं था। बहुत विश्वास दिलाने पर भी जब सिंह-शिशु को विश्वास नहीं हुआ, तब कहानीकार का कहना है, कि सिंह ने उस सिंह-शिशु को ले जाकर एक नदी के तट पर खड़ा कर दिया और उसकी निर्मल जल-धारा में उसे अपना प्रतिबिम्ब देखने के लिए कहा और बोला—"देख, तेरा और मेरा एक ही रूप है। तू अपनी अज्ञानता के कारण ही एक साधारण पामर प्राणी बना हुआ है।"

सिंह-शावक ने नदी के पास में जब अपना और सिंह का रूप देखा तो चकित हो गया। उसे अपने मूल स्वरूप का ज्ञान हुआ तो अपने को भेड़ नहीं सिंह समझ गया। अब जो सिंह-शावक ने गर्जना की तो वन प्रान्तर गूँज उठा।

तीर्थङ्कर, गणधर और गुरु इस संसार की आसक्ति में आसक्त एवं विश्व के विविध भावों में मुग्ध आत्मा को भी यही उद्बोधन देते हैं, "तू अपने स्वरूप को भूल गया है। इसीलिए तू मरणशील न होकर अपने ... मरणशील मानता है। तू दीन-हीन न होकर भी अपने ... है। देख बाहर की ओर देखना बन्द कर ... देख अन्दर का पट खुलते ही तुझे ... शक्ति का भान हो जाएगा। तू किसी ... विवेक के दीपक को प्रज्वलित ... क्या है? सम्यक्-दर्शन ... भाव को प्राप्त कर तू ...

... नहीं है, कि आत्मा को ... दूर कर दिया जाए। ... जिसकी मूलस्थिति ... नहीं है, परन्तु जिसे ... लिया है, उस ... दर्शन प्राप्त करने ... और अब वह नया ... का अर्थ यह होगा ... है। सम्यक् दर्शन की ... का जन्म नहीं है, बल्कि सम्यक् ... कि वह विकृत से अविकृत हो गया ... हो गया है, और वह मिथ्या से ... जो अज्ञान गुण है, आत्मा का जो ... बोला उसकी पर्याय है। मिथ्या ... बना हुआ है, जिसका अर्थ ... गयी है, तो कभी सम्यक् भी हो सकता ... का धर्म है, मिथ्यात्व तथा सम्यक् दर्शन का धर्म है ... इतना समझ लेना चाहिए कि दर्शन गुण की उक्त दोनों

पर्याय एक साथ नही रह सकती। जब सम्यक् पर्याय है, तब मिथ्या पर्याय नहीं रहेगी और जब मिथ्या पर्याय है तब सम्यक् पर्याय नहीं रह सकती। जहाँ रवि है वहाँ रजनी नही रह सकती और जहाँ रजनी है वहाँ रवि नही रह सकता। जिस घट मे काम है, वहाँ राम का अधिवास नहीं हो सकता और जिस घट मे राम है, उस घट मे काम का कोई काम नहीं रहता। इसी प्रकार जब दर्शन की सम्यक् पर्याय है, तब उसकी मिथ्या पर्याय नही रह सकती। और जब उसकी मिथ्या पर्याय रहती है, तब उसकी सम्यक् पर्याय नही रहती। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि वस्तु मे उत्पाद और व्यय पर्याय-दृष्टि से रहता है, द्रव्य दृष्टि एव गुण दृष्टि मे नही। द्रव्य दृष्टि से विश्व की प्रत्येक वस्तु सत् है, असत् नही। क्यो कि जो सत् है, वह तीन काल मे भी असत् नहीं हो सकता और जो असत् है वह तीन काल में भी सत् नही हो सकता। किन्तु पर्याय-दृष्टि से प्रत्येक वस्तु सत् एव असत् दोनो हो सकती है। जब आप यह कहते हैं कि मैंने सम्यक् दर्शन प्राप्त कर लिया, तब इसका अर्थ यह नही होगा कि पहले आप मे दर्शन नही था और आज वह नया उत्पन्न हो गया। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि आत्मा का जो दर्शन-गुण आत्मा में अनन्त काल से था, उस दर्शन-गुण की मिथ्यात्व पर्याय को त्यागकर आपने उस की सम्यक् पर्याय को प्राप्त कर लिया है। शास्त्रीय परिभाषा मे इसी को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि एव प्राप्ति कहा जाता है। जैन दर्शन कहता है, कि मूलत कोई नई चीज प्राप्त करने जैसी बात नही है, बल्कि जो सदा से विद्यमान है, उसी को अपने मे जानने, पहचानने और देखने की बात है। सम्यक् दर्शन का यही अर्थ यहाँ अभीष्ट है।

मैं आपसे कह रहा था कि कोई भी महापुरुष, गुरु अथवा किसी भी साधक मे नई बात पैदा नहीं कर सकते, बल्कि जो है उसी की प्रतीति कराते है, जो कुछ विस्मृत है उसी का स्मरण करा देते हैं। जो शक्ति अन्दर तो है, परन्तु स्मृति से ओझल हो चुकी है, उसका स्मरण करा देना ही तीर्थंकर, गुरु और सन्त का काम है। कल्पना कीजिए, आप कही बाहर मे घूम फिर कर अपने घर लौटे। घर में प्रवेश करते ही आपने देखा कि वहाँ अन्धकार है, कुछ दीख नही पडता है, सब शून्य ही शून्य नजर आता है। यद्यपि घर मे बहुत सी वस्तुएँ रखी हैं, किन्तु अन्ध

उनकी प्रतीति नहीं हो पा रही है। घर में सब कुछ रखा है पर वह सभी अन्धकार में डूब गया है, परन्तु जैसे ही आप दीपक जलाते हैं, तो सारा घर प्रकाश से भर जाता है। अन्धकार उस घर को छोड़कर न जाने कहाँ भाग जाता है। प्रकाश के सद्भाव में आपके घर का अन्धकार ही दूर नहीं भागा किन्तु उस घर में जो बहुत सी वस्तुएँ हैं सत्ता होते हुए भी अन्धकार के कारण जिनकी प्रतीति नहीं हो पा रही थी अब दीपक के प्रभाव और प्रकाश के सद्भाव से उनकी प्रतीति होने लगी है। दीपक के प्रकाश ने किसी नई वस्तु को उत्पन्न नहीं किया बल्कि पहले से जो कुछ था उसी की प्रतीति करा दी। इसी प्रकार भगवान की वाणी गुरु का उपदेश और शास्त्र का स्वाध्याय साधक के जीवन में कोई नया तत्त्व नहीं उँडेलते बल्कि जो कुछ ढका हुआ होता है उसी को प्रकट करने में सहायता करते हैं। वे कहते हैं कि साधक! हम तुम्हारे जीवन में किसी नई वस्तु का प्रवेश नहीं करा सकते बल्कि जो कुछ तुम्हारे पास है, कुछ ही क्यों सब कुछ तुम्हारे पास है, किन्तु उसका ज्ञान और भान तुम्हें नहीं है। उस अनन्त सत्ता का ज्ञान एवं भान कराना ही हमारा मुख्य उद्देश्य है। कल्पना कीजिए उस दरिद्र भिखारी की जिसके घर की भूमि के नीचे अनन्त रत्न-राशि दबी पड़ी है, परन्तु परिज्ञान न होने के कारण ही वह दरिद्र एवं भिखारी बना हुआ है। यदि उस अनन्त रत्न राशि का उसे परिज्ञान हो जाए तो क्या कभी वह दरिद्र कंगाल और भिखारी रह सकता है? फिर क्या कभी वह दूसरे लोगों के द्वार-द्वार पर जाकर जूठे टुकड़े माँगता फिरेगा? मैं समझता हूँ अपनी अनन्त रत्न-राशि का स्वामी बन कर वह कभी भीख नहीं माँग सकता क्योंकि उसकी दरिद्रता सम्पत्ति में बदल जाएगी। तब वह स्वयं भिखारी न बनकर दाता बन जाएगा। जो भिखारी की बात है, वही साधक की भी बात है। आत्मा में सद्गुणों की अनन्त रत्न राशि भरी हुई है, किन्तु उसका परिज्ञान एवं परिबोध न होने के कारण ही वह संसार की तृष्णा की अग्नि में झुलसता रहता है। आत्मा के अन्दर अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान और अनन्त चारित्र की अक्षयनिधि एवं अपार भण्डार भरा पड़ा है किन्तु इस अज्ञानी जीव को उसका परिज्ञान नहीं है। इसीलिए अक्षय एवं अनन्त शक्ति का प्रभु होकर भी यह आत्मा आज से ही नहीं अनन्त अनन्तकाल से अपने को दीन-हीन एवं अनाथ समझता चला

आया है। ससार मे जितना भी दुख है, वह सब स्वरूप के अज्ञान का है। स्वरूप का सम्यक् बोध होने पर, स्वरूप की सम्यक् दृष्टि प्राप्त होने पर किसी प्रकार का दुख और क्लेश नही रहता।

मैं आपसे सम्यक् दर्शन की बात कह रहा था और यह बता रहा था कि साधक-जीवन मे सम्यक् दर्शन की कितनी महिमा है, कितनी गरिमा है और उसकी कितनी गुरुता है। सम्यक् दर्शन एक वह दिव्य कला है, जिससे आत्मा स्व और पर के भेद-विज्ञान को अधिगत कर लेता है। सम्यक् दर्शन एक वह कला है, जिसके उपयोग एव प्रयोग से आत्मा ससार के समस्त बन्धनो से विमुक्त हो जाता है तथा ससार के दुख एव क्लेशो से रहित हो जाता है। सम्यक् दर्शन की उपलब्धि होते ही यह पता चलने लगता है, कि आत्मा मे अपार शक्ति है एव अमित बल है। जब आत्मा अपने को जड न समझकर चेतन एव परम चेतन समझने लगता है, तब समस्त प्रकार की सिद्धियो के द्वार उसके लिए खुल जाते हैं। जरा अपने अन्दर झाँककर देखो और अपने हृदय की अतल गहराई मे उतर कर एक बार दृढ विश्वास के साथ यह कहो, कि मैं केवल आत्मा हू, अन्य कुछ नहीं। मैं केवल चेतन हूँ, जड नही। मैं सदा शाश्वत हूँ, क्षण-भगुर नही। न मेरा कभी जन्म होता है और न मेरा कभी मरण होता है। जन्म और मरण मेरे नही हैं, ये तो मेरे तन के खेल हैं। शरीर का जन्म होता है और शरीर का ही एक दिन मरण होता है। जन्मने वाला और मरने वाला मैं नही, मेरा यह शरीर है। जिसने अपनी अध्यात्म-साधना के द्वारा अपने सहज विश्वास और सहज बोध को प्राप्त कर लिया, वह यही कहता है कि मैं प्रभु हूँ, मैं सर्व शक्तिमान् हूँ, मैं अनन्त हूँ, मैं अजर, अमर एव शाश्वत हूँ। वस्तुत मैं आत्मा हूँ, यह विश्वास करना ही सम्यक् दर्शन है। अपनी सत्ता की प्रतीति होना ही अध्यात्म-जीवन की सर्वोच्च एव सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। भला आत्म-दर्शन से श्रेष्ठ अन्य हो भी क्या सकता है?

परन्तु स्पष्ट है कि परम्परावादी व्यक्ति सम्यक् दर्शन का अर्थ कुछ भिन्न ही प्रकार का समझता है। वह अपने अन्दर न देखकर बाहर की ओर देखता है। वह कहता है कि मेरु पर्वत की सत्ता पर विश्वास करना ही सम्यक् दर्शन है, वह कहता है कि सूर्य और चन्द्रमा की सत्ता पर विश्वास करना ही सम्यक् दर्शन है, वह कहता है कि सरिता और सरोवरो का जैसा वर्णन किया गया है, उन्हे वैसा मानना ही सम्यक् दर्शन है। माना कि यह सब कुछ प्रकृति के बाह्य रूप की प्रतीति सम्यक्

दर्शन का एक व्यावहारिक अंग तो हो सकता है, किन्तु निश्चय दृष्टि से समग्र एवं अखण्ड सम्यक् दर्शन नहीं हो सकता। मेरा अभिप्राय यह है कि सम्यक् दर्शन को मात्र व्यवहार की तुला पर तोलने वाले सम्यक् दर्शन के मूल्य का वास्तविक अंकन नहीं कर सकते। सम्यक् दर्शन व्यवहार की वस्तु नहीं निश्चय की वस्तु है। वस्तु स्थिति यह है कि सम्यक् दर्शन को किसी नदी समुद्र देवी देवता पर्वत और सूर्य आदि की धारणा विशेष के साथ बाँध देना जैन-दर्शन की मूल प्रक्रिया से अलग हट जाना है। जैन दर्शन का कथन है कि सबसे पहले आत्म स्वरूप का बोध होना चाहिए। सबसे पहले अपने आपको समझने का प्रयत्न होना चाहिए। आत्म-सत्ता का सम्यक् विश्वास और आत्म सत्ता का सम्यक् बोध ही वास्तविक एवं मौलिक सम्यक् दर्शन है। पर्वत नदी आदि का परिज्ञान न होने पर भी आत्मशुद्धि होने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती परन्तु अपने को न समझने से सब कुछ गड़बड़ा जाता है। अपने को न समझने से सब कुछ जान कर भी सब कुछ शून्य ही शून्य है। आत्मा के जानने पर सब कुछ जाना जा सकता है और आत्मा को न जानकर एवं न समझकर समग्र भौतिक विश्व का ज्ञान भी व्यर्थ है। सम्यक् दर्शन की साधना एक वह साधना है, जिसके द्वारा साधक अपने आपको समझने का सफल प्रयत्न करता है। मेरु पर्वत कैसा है, उसकी कितनी ऊँचाई है और उसकी कितनी गहराई है—इसकी अपेक्षा यह समझने का प्रयत्न करो कि आत्मा क्या है, उसकी ऊँचाई कितनी है और उसकी गहराई कितनी है? समुद्र की गहराई का परिज्ञान उस व्यक्ति को नहीं हो सकता जो छलाँग लगाकर उसे पार करने का प्रयत्न करता है। उसकी अतल गहराई का परिज्ञान उसी को हो सकता है, जो कदम कदम आगे रखकर उसमें प्रवेश करता जाता है। किसी भी पर्वत पर, किसी भी नदी पर, किसी भी सागर पर और किसी भी ग्रह एवं नक्षत्र पर विश्वास करने का अर्थ होता है—स्व से भिन्न जड़ वस्तु पर विश्वास करना। जड़ वस्तु पर विश्वास अनन्त अनन्त काल से रहा है, किन्तु फिर भी सम्यक् दर्शन की उपलब्धि क्यों नहीं हुई? स्पष्ट ही इसका फलितार्थ यही निकलता है कि पर-सत्ता पर विश्वास करना सम्यक् दर्शन नहीं बल्कि चैतन्य-सत्ता पर विश्वास करना ही सम्यक् दर्शन है। सत्य तो यह है कि जब तक कोई स्व को नहीं समझ पाता है, तब तक यथार्थ में पर को भी वह समझ नहीं पाता है। जिस घट में सम्यक्

दर्शन की दिव्य ज्योति जगमगाती है, वही अपने जीवन के घनघोर अन्धकार को चीर कर प्रकाश-किरण के समान अपने आपको आलोकित कर सकता है तथा अपने साथ-साथ पर को भी आलोकित कर सकता है।

मिथ्या-दृष्टि आत्मा दु ख आने पर घबरा जाता है और सुख आने पर फूल जाता है, किन्तु सम्यक् दृष्टि आत्मा सुख आने पर फूलता नही है और दु ख आने पर घबराता नही है। अनन्त ज्योति का अधिष्ठान यह दिव्य आत्मा अपनी दिव्यता को अधिगत करके धन्य हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता है। जो कुछ पाना था, पा लिया। उसके लिए फिर कुछ अन्य पाना शेप नही रहता। कहा जाता है कि एक युवक ने बहुत बडे तप की साधना करके किसी देवता को प्रसन्न कर लिया। देवता उस युवक की भक्ति पर प्रसन्न होकर बोला- "बोलो, क्या चाहते हो? तुम्हारी क्या कामना है? तुम्हारी क्या अभिलाषा है? जो कुछ तुम माँगोगे वही मैं तुम्हे दूँगा।" युवक ने सोचा—बडा सद्भाग्य है मेरा, कि वर्षों की साधना के बाद देवता प्रसन्न हुआ है और वह स्वय वरदान माँगने के लिए मुझसे कहता है, इस क्षण से बढकर मेरे जीवन मे अन्य ,कौन-सा क्षण आएगा। निश्चय ही मैं बडा भाग्यशाली हूँ कि देवता मुझ पर प्रसन्न हुआ है। हाथ जोडकर, नतमस्तक होकर विनम्र वाणी मे वह बोला-"आपकी प्रसन्नता और फिर वरदान देने की इच्छा, इससे बढकर मेरे जीवन मे अन्य क्या हो सकता है। यदि आप प्रसन्न होकर वरदान दे रहे हैं, तो मैं आपसे केवल एक ही वरदान चाहता हूँ, कि इस असीम धरती पर जहाँ कही भी मैं पैर से ठोकर मारूँ, वही पर खजाना निकल आए।" भला जिस व्यक्ति को देवता का ऐसा वरदान उपलब्ध हो जाता है, फिर उसे जेब मे पैसा रखने की क्या आवश्यकता है? फिर उसे बैंक का चैक रखने की क्या जरूरत है? मेरे विचार मे तो उस व्यक्ति को अपने शरीर पर सोने और चादी के आभूषणो के भार लादने की भी आवश्यकता नही है। जिसके कदम-कदम पर खजाना है, उसे फिर दुनिया की किस चीज की आवश्यकता शेप रह जाती है? यह एक रूपक है, एक कथानक है, जिसके मर्म को समझने का प्रयत्न कीजिए। ससार के प्रत्येक साधक की भी वही स्थिति है जो उस युवक की थी, ससार का प्रत्येक साधक साधना करता है—सिद्धि प्राप्त करने के लिए। अध्यात्म-भाव की साधना करते-करते

जब स्वयं अपना आत्म-चेतना तुष्ट और प्रसन्न हो जाए और उसे सम्यक् दर्शन की अमूल्य निधि मिल जाए, तो भला उस अध्यात्म साधक को फिर और क्या चाहिए? मेरे विचार में जिस साधक को सम्यक् दर्शन की अक्षय निधि मिल गयी, उसे सब कुछ मिल गया, उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया। अनन्त ज्योति का खजाना पाकर फिर तो जीवन ज्योतिर्मय सदा हो जाएगा। उस अनन्त ज्योति के प्रकाश में जीवन के किसी भी कोने में अन्धकार नहीं रह सकता। सम्यक् दर्शन की अनन्त धनराशि उपलब्ध होने पर जीवन में दरिद्रता कैसे रह सकती है? एक भक्त कवि प्रभु से प्रार्थना करता है— प्रभो! मैं आपकी स्तुति करता हूँ, मैं आपकी प्रार्थना करता हूँ किन्तु यह इसलिए नहीं कि आप मुझे धन दें, जन दें और मृदु भाषिणी सुन्दरी दें। यह तो संसार के तुच्छ फल हैं, इनकी कामना और भावना मेरे हृदय में नहीं है। पहली बात तो यह है कि आपकी स्तुति का और आपके गुणानुकीर्तन का मैं कोई प्रतिदान चाहता ही नहीं, यदि फिर भी आप प्रतिफल के रूप में कुछ देना ही चाहें, तो मैं केवल इतना ही चाहूँगा कि एक बार मुझे आप अपने चरणों का धाम दिखला दें और अपना दर्शन प्रदान कर दें। अन्य कुछ भी मुझे नहीं चाहिए। मैं पूछता हूँ आप लोगों से कि कुछ न माँग कर भी क्या छोड़ा है? सभी कुछ तो माँग लिया। उसने अपने जीवन के महा प्रासाद का सबसे पहला सोपान या द्वार सम्यक् दर्शन माँग लिया और अन्तिम शिखर मोक्ष भी माँग लिया। फिर बतलाइए जीवन में अब क्या कुछ पाना शेष रह गया? यह एक कवि की भाषा है एवं काव्य शैली है। वस्तुतः सम्यक् दर्शन किसी से देने लेने जैसी चीज नहीं है। कवि की इस अलंकृत भाषा का यही अभिप्राय है कि जिसने अपने आत्मभाव में सम्यक् दर्शन प्राप्त कर लिया उसने सभी कुछ प्राप्त कर लिया।

मैं आपसे सम्यक् दर्शन की अक्षय निधि की बात कह रहा था। जिस किसी भी भव्य आत्मा ने सम्यक् दर्शन के शान्त एवं सुन्दर सरोवर में एक बार भी डुबकी लगा ली है, तो फिर यह निश्चित है उसके जीवन के दुःख एवं क्लेशों का अन्त भी शीघ्र ही हो जाएगा। एक भक्त कवि ने आत्म गुणों की स्तुति करते हुए कहा है, कि 'सम्यग् दर्शन अन्य समस्त गुणों से श्रेष्ठ इसलिए है कि यह जीवन के विकास का मूल आधार है। सम्यक् दर्शन के सद्भाव

मे ही ज्ञान, सम्यक् ज्ञान हो जाता है और चारित्र, सम्यक् चारित्र हो जाता है।" आप लोग इस बात का निश्चय कर ले, कि यदि जीवन मे सम्यक् दर्शन है तो सब कुछ है और यदि सम्यक् दर्शन नही है, तो कुछ भी नही है। अध्यात्म-शास्त्र मे सम्यक् दर्शन को चिन्तामणि रत्न कहा गया है। चिन्तामणि रत्न का अर्थ यही है कि जो कुछ सकल्प हो, वह पूर्ण हो जाए। चिन्तामणि रत्न एक भौतिक पदार्थ है, वह आज है, कल हाथ से निकल भी सकता है। किन्तु सम्यक् दर्शन तो एक ऐसा आध्यात्मिक रत्न है, जो एक बार परिपूर्ण शुद्ध रूप से प्राप्त होने पर फिर कभी जाता ही नही। मेरा अभिप्राय क्षायिक सम्यक् दर्शन से है। यह एक ऐसी शक्ति है, जिसके प्राप्त होने पर ससार के अन्य किसी भौतिक पदार्थ की अभिलाषा रहती ही नही है। कल्पना कीजिए—एक जन्मान्ध व्यक्ति है। उसे कुछ भी दीखता नही है। परन्तु पुण्योदय से यदि उसे नेत्र ज्योति प्राप्त हो जाए, तो उसे कितना हर्ष होगा, उसे कितनी प्रसन्नता होगी और उसे कितनी खुशी होगी? उसकी प्रसन्नता और खुशी का कोई पार न होगा। अन्धे व्यक्ति को सहसा नेत्र-ज्योति उपलब्ध होने पर जितना हर्ष होता है, उससे कही अनन्त गुण अधिक हर्ष एव आनन्द उस व्यक्ति को होता है, जिसने अपना अनन्त जीवन मिथ्यात्व के घोर अन्धकार मे व्यतीत करने के बाद प्रथम बार सम्यक् दर्शन की निर्मल ज्योति को देखा है।

साधक-जीवन मे कभी सुख आता है, तो कभी दुःख भी आता है। कभी अनुकूलता आती है तो कभी प्रतिकूलता भी आती है। कभी हर्ष आता है तो कभी विषाद भी आता है। जीवन के गगन मे सुख-दुःख के मेघो का सचार निरन्तर होता ही रहता है। ऐसा नही हो सकता, कि जीवन मे सदा सुख ही सुख रहे, कभी दुःख न आए। और यह भी सम्भव नही है, कि जीवन सदा दुःख की घनघोर घटाओ से ही घिरा एव भरा रहे। सुख भी आता है और दुःख भी आता है। साधक का कार्य है सुख एव दुःख मे सतुलन रखने का। सच्चा साधक वही है जो कभी दुःखो से व्याकुल नही होता और जो कभी सुखो मे मस्त नही होता। साधक जीवन की यह स्थिति तभी होगी, जब कि उसे सम्यक् दर्शन की अमल ज्योति प्राप्त हो जाएगी। सम्यक् दर्शन के उस दिव्य आलोक मे बाह्य दुःखो के बीच भी आन्तरिक सुखो के अजस्र स्रोत फूटेंगे। जीवन मे कदम-कदम

पर आध्यात्मिक आनन्द एवं शान्ति की अनुभूति होगी। सम्यक्-दृष्टि आत्मा नरक में भी सुख एवं शान्ति का अनुभव करता है। इसके विपरीत मिथ्या-दृष्टि आत्मा स्वर्ग में जाकर भी परिताप एवं विलाप करता है। सम्यक्-दृष्टि आत्मा प्रतिकूलता में भी अनुकूलता का अनुभव करता है और मिथ्या-दृष्टि आत्मा अनुकूलता में भी प्रतिकूलता का अनुभव करता है। सम्यक् दृष्टि आत्मा जहाँ कहीं भी रहता है सदा सुखी शान्त एवं प्रसन्न होकर ही रहता है।

आपने भगवान महावीर के साधक जीवन की उस कहानी को सुना होगा जिसमें बताया गया है कि एक संगम नाम का देव उनके साधना बल एवं धर्मबल की परीक्षा लेने के लिए स्वर्ग से चलकर मानवों की धरती पर आया था। उस संगम देव ने परम साधक अपनी साधना में अचल हिमाचल के समान स्थिर तथा विचार और विवेक में सागर से भी गम्भीर भगवान महावीर को कितना भयंकर कष्ट दिया कितना भयंकर दुःख दिया। उन कष्ट और दुःखों की दुःखद कहानी जब कभी पढ़ने और सुनने को मिलती है, तो हृदय प्रकम्पित हो जाता है। जो घटना सुनने में भी इतनी भयंकर है, तो जिस व्यक्ति पर जब वह घटित हुई होगी तब उसका दृश्य कितना भयंकर होगा एवं कितना भयावह होगा? कष्ट और दुःखों की यह परम्परा दो-चार घण्टों में अथवा दो चार दिनों में ही परिसमाप्त नहीं हो सकी बल्कि निरन्तर छह मास तक चलती रही। छह महीनों तक लगातार वह भगवान को कष्ट देता रहा किन्तु भगवान के शरीर का एक रोम भी उन कष्टों और दुःखों से प्रभावित एवं प्रकम्पित नहीं हो सका। कथाकार कहता है कि—अनन्त दुःख सहने वाले की अपेक्षा दुःख देने वाला ही विचलित हो गया। जिस जीवन-ज्योति को संगम बुझाना चाहता था वह बुझ न सकी बल्कि और भी अधिक बहु ज्योतिर्मय एवं आलोकमय सिद्ध हुई। स्वर्ण जैसे अग्नि में तपकर और अधिक चमकता एवं दमकता है, वैसे ही भगवान महावीर का साधक जीवन उस भयंकर कष्ट एवं दुःख की अग्नि में तप कर और भी अधिक चमका और दमका। यह सब कुछ कैसे हुआ और क्यों हुआ? संगम देव देव होकर भी अपरिमित भौतिक शक्ति का स्वामी होकर भी अध्यात्म साधक वर्धमान को साधना-पथ से विचलित क्यों नहीं कर सका? यह प्रश्न जब कभी मेरे मन और मस्तिष्क में उठ खड़े होते हैं तब मैं समाधान पाने का प्रयत्न करता हूँ, कि आखिर ऐसी कौन सी

बात थी, जिनसे कि एक देव, एक मानव से पराजित हो गया, पराजित ही नही हुआ, बल्कि, वह अपने कृत्यो मे स्वय लज्जित भी हुआ। मैं इसे अध्यात्म भाषा मे अशुभ पर शुभ की विजय कहता हूँ। भौतिकता पर आध्यात्मिकता की विजय कहता हूँ। परन्तु मूल प्रश्न यह है कि किसी भी देव-शक्ति पर मानव-शक्ति की विजय का अर्थ यह है, कि निश्चय ही भगवान मे कोई ऐसा विशिष्ट गुण था, जो अपने आप मे साधारण न होकर असाधारण था। वह गुण अन्य कुछ नही, वह गुण है समता का एव समत्व योग का। समता एव समत्व योग जीवन की एक ऐसी कला है, जिसके प्राप्त हो जाने पर, जीवन-विकास के समस्त भव्य द्वार खुल जाते है। वर्धमान के जीवन मे इस समता-गुण का चरम विकास एव चरम परिपाक हो चुका था। जिसके जीवन के कण-कण मे समता गुण परिव्याप्त हो जाए, उसे एक देव तो क्या, हजार-हजार देव भी आकर स्वीकृत पथ से विचलित नही कर सकते। समता के महासागर मे निमज्जन करने वाले साधको के जीवन मे किसी भी प्रकार का ताप, सताप और परिताप नही आ सकता। समताधारी साधक अपने ताप से द्रवित नही होता, किन्तु दूसरे के ताप से वह द्रवित हो जाता है। सगम का ताप, सताप और परिताप वर्धमान को उनकी अध्यात्म-साधना से विचलित नही कर सका। वे अपने परिताप से द्रवित नही हुए, अपितु सगम के अपने ही कर्मोदय-जन्य भावी दुःखो की विचारणा से द्रवित हो गए। उस क्षमा के अमर देवता के रोम-रोम मे सगम के लिए क्षमा के स्वर मुखरित हो गए। विषमता हार गई और समता जीत गई। सम्यक् दर्शन की अमर ज्योति के समक्ष भौतिक बल का अधकार कब तक और कैसे ठहर सकता है? इस घटना पर यदि आप गम्भीरता के साथ विचार करेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि हर साधक वर्धमान है, यदि उसके हृदय मे समता का अमृत भरा है तो। और इस ससार का हर इन्सान सगम देव है, यदि उसके जीवन मे विषमता और मिथ्यात्व का अधकार है तो।

जो आत्मा मिथ्या दृष्टि होता है, जिसे अपने आध्यात्मिक स्वरूप का भान नही है, अथवा जिसने आध्यात्मिक प्रकाश को प्राप्त नही किया है, वह व्यक्ति दुःख, कष्ट और विपत्ति की ज्वाला मे घास, लकडी और कागज की तरह जलकर राख हो जाता है तथा उसके जीवन पर दोषो के काले धब्बे पड जाते हैं। उसको कष्टो मे मुक्ति नही मिल पाती। जो अपने स्वरूप की उपलब्धि नही कर पाते,

वासना मे फँसे रहते है, वे सुख-दुःख की अग्नि मे पककर और भी अधिक मलिन बन जाते है। मिथ्या-दृष्टि आत्मा को दुःख ही नही सताता सुख भी उसे गला डालता है। जिसके मन मे समता नही है, उस विषमताधारी व्यक्ति को दुःख भी परेशान करता है और सुख भी उसे हैरान करता है। कष्ट बुरे नही होते वे लोगो को जगाने का काम करते है। जिस इन्सान की जिन्दगी गफलत मे है, आफत उसे आकर जगा देती है। दुःख ससार का एक बहुत बड़ा शिक्षक है, वह यह बोध-पाठ सिखाता है, कि जो कुछ तुमने किया वही तो तुम पा रहे हो। तुम्हारे अतीत का कर्म ही तो आज फलीभूत हो रहा है। जिस समय तुमने यह अशुभ कर्म किया था उस समय तुमने यह विचार क्यो नही किया कि आखिर इसका फल एक दिन मुझे भोगना ही होगा। ससार का यह एक शाश्वत और अटल नियम है, कि जो बोता है वही काटता है, जो देता है वही लेता है और जो करता है वही भोगता है। इस नियम के अनुसार सम्यक्-दृष्टि आत्मा दुःख और कष्ट आने पर सोचता है, कि मेरा किया हुआ ही तो मैं भोग रहा हूँ मेरा किया हुआ ही तो मैं ले रहा हूँ और मेरा बोया हुआ ही तो मैं काट रहा हूँ। ये दुःख एव कष्ट के बीज जब मैने अपने जीवन की धरती पर बोए है, तब उसके कटीले वृक्षो के फल भी मुझे ही भोगने है। यदि मुझे मेरे जीवन मे कही से भी किधर से भी और किसी से भी दुःख एव कष्ट मिल रहा है, तो इससे मैं दुःखी क्यो बनू ? क्या हैरान एव परेशान होने से मेरी जिन्दगी की राह मे आने वाली आफत दूर हो सकती है ? नही वह दूर नही होगी। कृतकर्म को और उसके शुभ एव अशुभ फल को समभाव के साथ भोग लेना ही सम्यक् दृष्टि का परम कर्तव्य है, जिससे कि भविष्य के लिए फिर उस कर्म का बन्ध न हो। यह अध्यात्म दृष्टि बिना सम्यक् दर्शन के प्राप्त नही हो सकती है। इसके विपरीत मिथ्या दृष्टि क्या सोचता है ? वह सोचता है कि इस व्यक्ति ने मुझे सुख दिया है उस व्यक्ति ने मुझे दुःख दिया है। इस व्यक्ति ने मुझसे प्रेम किया है उस व्यक्ति ने मुझ से घृणा एव नफरत की है। इसने मुझे दिया है और उसने मुझसे छीना है। इस प्रकार के द्वैतात्मक विविध विकल्प मिथ्या दृष्टि के मानस के रेगिस्तान मे तूफान बनकर उठते रहते है। सुख देने वाले पर वह राग करता है और दुःख देने वाले से वह द्वेष करता है। प्यार करने वाले से वह प्यार करता है और नफरत करने वाले से

वह नफरत करता है। इसलिए जिन्दगी का प्यार भी उसे बांधता है और जिन्दगी की नफरत भी उसे बांधती है। न उसे प्यार में सुख है और न उसे नफरत में सुख है। क्योंकि मिथ्या दृष्टि आत्मा मूल उपादान को नहीं पकड़ता, वह बाह्य निमित्त को पकड़ता है। उसके विपरीत सम्यक्दृष्टि आत्मा मूल उपादान को पकड़कर चलता है, बाह्य निमित्त को पकड़ने का वह प्रयत्न नहीं करता। इसीलिए उसे अपनी जिन्दगी की राह पर चलते हुए न किसी का प्यार पकड़ता है, और न किसी की नफरत ही रोक सकती है। संसार का सुख उसे बांध नहीं सकता और संसार का दुःख उसे रोक नहीं सकता। अनुकूलता का वातावरण उसे भुलावा नहीं दे सकता और प्रतिकूलता का वातावरण उसे बहका नहीं सकता। प्यार और नफरत, सुख और दुःख तथा अनुकूलता और प्रतिकूलता—इन समस्त प्रकार के द्वन्द्वों से, विकल्पों से और अच्छे एवं बुरे विचारों से वह दूर, बहुत दूर चला जाता है, वह ऊँचा और बहुत ऊँचा उठ जाता है, वह गहरा और बहुत गहरा उतर जाता है। उसके जीवन की इस दूरी को, ऊँचाई को और गहराई को दुनिया की कोई भी ताकत चुनौती नहीं दे सकती। इसीलिए मैं कहता हूँ, सुख और दुःख दोनों हमारे जीवन को मोड़ देने का कार्य करते हैं। ज्ञानी के जीवन में यदि सुख आता है, तो वह भी उसे कुछ शिक्षा दे जाता है, यदि दुःख आता है तो वह भी उसे शिक्षा दे जाता है। सुख और दुःख दोनों साधक के जीवन के शिक्षक हैं, बल्कि मैं तो इससे भी आगे एक बात और कहता हूँ कि सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक योग्य शिक्षक है। सुख में फँसा हुआ भक्त कभी अपने प्रभु को विस्मृत भी कर देता है। किन्तु दुःख-ग्रस्त भक्त एक क्षण के लिए भी अपने प्रभु को विस्मृत नहीं करता है। बतलाइए, जो अपने आराध्य प्रभु को भुलाये वह अच्छा है अथवा जो प्रभु का स्मरण कराता है वह अधिक अच्छा है? धर्मराज युधिष्ठिर की माता कुन्ती ने एक बार श्रीकृष्ण से यही वरदान माँगा था कि मुझे सुख मत दीजिये, मुझे दुःख ही दीजिये। सुख में मैं आपको भूल सकती हूँ किन्तु दुःख के क्षणों में आपको कभी नहीं भूल सकूँगी। परन्तु सम्यक् दृष्टि का जीवन तो एक वह जीवन है, जो संसार के दुःख को भी पी जाता है और सुख को भी। सुख और दुःख दोनों का विषपान करके वह उस शुभकर शिव के समान अचल, अडोल और अडिग रहता है, जो अपने मन एवं मस्तिष्क पर न सुख का प्रभाव

पकड़ने देता है और न दुःख का ही अकन होने देता है। सम्यक् दृष्टि जीवन की यह सबसे ऊँची कला है। जिस व्यक्ति ने सम्यक् दर्शन के अमर प्रकाश को प्राप्त कर लिया, वह सुख और दुःख दोनों की स्थिति में चमकता रहता है।

आपने राजा श्रेणिक के जीवन की कहानी पढ़ी होगी, यदि नहीं पढ़ी है, तो किसी से सुनी होगी। वह भगवान महावीर का परम भक्त था। भगवान महावीर के प्रति उसके मन में अगाध और अथाह आस्था थी। वह भगवान को अपना परम आराध्य समझता था। उसे सम्यक्-दर्शन की वह अमर ज्योति प्राप्त हो चुकी थी, जिसके समक्ष स्वर्ग के भी सुख तुच्छ थे और नरक के भयकर दुःख भी उपेक्षणीय थे। सम्यक् दर्शन की अमर ज्योति जिस में प्रज्वलित हो जाती है, उस साधक के मन को न स्वर्गों के रंगीन सुख लुभा सकते हैं और न नरक के दुःखों को भयकर आग तपा सकती है। राजा श्रेणिक अपने कृत कर्मों के कारण नरक में गया, किन्तु नरक के दुःख एवं कष्ट उसे प्रभावित नहीं कर सके। सम्यक् दर्शन की उपलब्धि के समक्ष संसार के सुख और दुःख उपेक्षणीय हो जाते हैं। यही स्थिति राजा श्रेणिक के जीवन की थी। राजा श्रेणिक के ही जीवन की क्या, प्रत्येक सम्यक् दृष्टि के जीवन की यही कहानी है। यदि अध्यात्म-दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है, तो उस आत्मा का दुःख में तो पतन होता ही है, किन्तु सुख में भी उसका पतन हो जाता है। मैं तो यह कहूँगा कि जिस आत्मा को सम्यक् दर्शन प्राप्त हो चुका है, उसके लिए नरक भी स्वर्ग है। किन्तु मिथ्या दृष्टि के लिए स्वर्ग भी नरक से बढ़कर है। क्योंकि सम्यक् दृष्टि आत्मा ऊर्ध्वमुखी होता है, जब कि मिथ्या-दृष्टि आत्मा अधोमुखी होता है।

बहुत से लोग नित्य और प्रात अध्यात्म ग्रन्थों का पारायण एवं पाठ करते रहते हैं, किन्तु फिर भी उनकी दृष्टि में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। याद रखिए, संसार के किसी भी पथ से किसी भी पुस्तक से और संसार की किसी भी वाणी से अध्यात्म-दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती। दुनिया की किसी भी पोथी में यह ताकत नहीं है कि वह हमारे मानस के अन्धकार को दूर कर सके। जब कभी भी दृष्टि प्राप्त होती है, जब कभी भी विवेक एवं बोध प्राप्त होता है, तब अपनी आत्मा के जागरण से ही प्राप्त होता है। आत्मा के जागरण का क्या अर्थ है? मिथ्या-दृष्टि से सम्यक् दृष्टि होना, मिथ्या दर्शन मिट कर

सम्यक् दर्शन प्राप्त होना। सम्यक् दर्शन प्राप्त होते ही सहज दृष्टि एव सहज वोध प्राप्त हो जाता है और जव मनुष्य की दृष्टि वदल जाती है, तव उमके लिए सारी सृष्टि ही वदल जाती है। इसीलिए कहा गया है कि सृष्टि को वदलने से पहले अपनी दृष्टि को वदलो। जिस व्यक्ति की दृष्टि वदल चुकी है उसके लिए ससार मे कही पर भी, किसी भी स्थिति मे प्रतिकूलता नही रहती, वह सर्वत्र अनुकूलता की ही अनुभूति करता है। सम्यक् दृष्टि आत्मा मिथ्या शास्त्र को पढकर भी उसे सम्यक् रूप मे परिणत कर लेता है। इसके विपरीत मिथ्या दृष्टि आत्मा सम्यक् शास्त्र को पढकर भी मिथ्या रूप मे परिणत करता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी सृष्टि मे परिवर्तन करना चाहता है, तो सवसे पहले उसे अपनी दृष्टि मे परिवर्तन करना चाहिए। देखिए, सम्यक्-दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि दोनो ही इस ससार को देखते हैं और इस ससार मे रहते हैं। परन्तु दोनो के देखने और रहने मे वडा अन्तर है। दोनो के जीवन मे एक ही प्रकार का ऐश्वर्य और सम्पत्ति होने पर भी दृष्टि का भेद होने से उनके उपभोग एव प्रयोग मे वडा अन्तर पैदा हो जाता है। इसलिए साधक के जीवन मे दृष्टि का वडा महत्व है। समाज और राष्ट्र मे रहते हुए भी सम्यक् दृष्टि अपने अध्यात्मवादी उत्तरदायित्व को भली-भाति समझता है, जव कि मिथ्या दृष्टि आत्मा परिवार, समाज और राष्ट्र मे रह कर उसकी मोह-माया एव उसके सुख-दुःख के चक्रो मे फँस जाता है। अपने परिवार का पालन सम्यक् दृष्टि आत्मा भी करता है और मिथ्या दृष्टि आत्मा भी करता है, किन्तु दोनो के दृष्टिकोण मे वडा अन्तर है। सम्यक् दृष्टि आत्मा समता के आधार पर अपने परिवार का पालन-पोषण करता है, किन्तु मिथ्या-दृष्टि आत्मा का आधार विषमता होता है। सम्यक् दृष्टि आत्मा ससार से सुख-दुःखात्मक भोग को भोगते हुए भी अपनी वैराग्य-भावना के आधार पर भोगो के प्रति उदासीन वना रहता है, जव कि मिथ्या दृष्टि आत्मा अपनी आसक्ति के कारण उन सुख-दुःखात्मक भोगो मे रच-पच जाता है। सम्यक् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि मे एक वहुत वडा भेद और भी है। देखिए, सम्यक्दृष्टि भी अपने घर मे रहता है, और मिथ्या-दृष्टि भी अपने घर मे रहता है, किन्तु दोनो की दृष्टि मे वडा अन्तर है। सम्यक्दृष्टि समझता है, कि जिस घर मे मैं रह रहा हूँ, यहाँ रहना ही मेरा उद्देश्य नही है, एक दिन इस घर

को छोड़कर जाना होगा। इस घर के समस्त वैभव और विलास को छोड़ना होगा। परिवार समाज और राष्ट्र के ये संयोग एक दिन अवश्य ही वियोग में बदल जाएँगे। जब संयोग को वियोग में बदलना है तो फिर इस घर को मैं अपना घर क्यों समझूँ और इस घर के वैभव और विलास पर अपनी ममता की मुद्रा क्यों लगाऊँ ? जब संयोग आया है, तो वियोग भी अवश्य आएगा। यह विवेक-दृष्टि ही वस्तुतः सम्यक् दर्शन है। इसके विपरीत मिथ्या दृष्टि आत्मा क्या सोचता है ? वह सोचता है कि—यह घर मेरा है, इस घर के वैभव और विलास सब मेरे हैं। परिवार और समाज मेरा अपना है। वह मिथ्या दृष्टि आत्मा संसार के संयोग को तो देखता है किन्तु उसके अवश्यम्भावी वियोग को वह देख नहीं पाता अथवा देख कर भी उस पर विश्वास नहीं कर पाता। इसलिए संसार की प्रत्येक वस्तु पर, फिर भले ही वह वस्तु चेतन हो अथवा अचेतन सजीव हो अथवा अजीव सब पर वह अपनी ममता की मुद्रा लगाता चला जाता है। यही संसार का सबसे बड़ा बन्धन है और यही संसार का सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। सम्यक् दृष्टि आत्मा अपने जीवन रूप घर में स्वामी की तरह आता है, स्वामी की तरह रहता है, और स्वामी की तरह ही समय पर इस घर से विदा भी हो जाता है। स्वामी से मेरा तात्पर्य यह है, कि सम्यक् दृष्टि आत्मा घर के उस स्वामी के समान स्वतन्त्र होता है, जो कभी भी अपने घर में प्रवेश कर सकता है और चाहे जब अपने घर से बाहर भी निकल सकता है। इसके विपरीत मिथ्या दृष्टि आत्मा अपने जीवन रूप घर में कैदी के समान आता है, कैदी के समान रहता है और कैदी के समान ही अपने घर से विदा होता है। कोई भी व्यक्ति अपने अपराध के कारण जब कैद में आता है, तो वहाँ अपनी इच्छा से नहीं आता अपनी इच्छा से नहीं रहता और अपनी इच्छा से कैद से निकल भी नहीं सकता। यही स्थिति मिथ्यादृष्टि की होती है। मिथ्यादृष्टि आत्मा अपने घर में रहकर भी बन्धनों से बद्ध है। सम्यक् दृष्टि आत्मा में और मिथ्या दृष्टि आत्मा में यह अन्तर उनकी दृष्टि का अन्तर है। मिथ्या दृष्टि आत्मा अपनी जिन्दगी का गुलाम होता है और सम्यक् दृष्टि आत्मा अपनी जिन्दगी का बादशाह होता है। समान शक्ति और समान साधन होने पर भी दृष्टि के कारण दोनों के जीवन में यह अन्तर रेखा पड़ जाती है।

मैं आपसे कह रहा था, कि अध्यात्मवादी व्यक्ति का जीवन ऊर्ध्वमुखी होता है और भोगवादी व्यक्ति का जीवन अधोमुखी होता है। भोगवादी व्यक्ति इस ससार को भोग की दृष्टि से देखता है और अध्यात्मवादी व्यक्ति इस ससार को वैराग्य की दृष्टि से देखता है। आप लोगो ने अपामार्ग का नाम सुना होगा। यह एक प्रकार की औषधि होती है। सस्कृत भाषा मे उसे अपामार्ग कहते हैं और हिन्दी मे उसे ओघाकाँटा कहते है। उस मे काँटे भरे रहते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने हाथ मे उसकी शाखा को पकड कर अपने हाथ को ऊपर से नीचे की ओर ले जाए तो उसका हाथ काँटो से छिलता चला जाएगा, उसका हाथ लहूलुहान हो जाएगा। और यदि वह उस टहनी को पकड कर अपने हाथ को नीचे से ऊपर की ओर ले जाए तो उसके हाथ मे एक भी काटा नही लगेगा। यद्यपि उसका हाथ नुकीले काँटो के ऊपर से गुजरेगा, तथापि उसके हाथ मे काँटे छिदते नही हैं। ऊपर से नीचे की ओर आने मे हाथ काँटो से छिल जाता है और नीचे से ऊपर की ओर ले जाने मे हाथ काँटो से विधता नही है। यह कितनी विलक्षण बात है? यह जीवन का एक मर्म भरा रहस्य है। सम्यक् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि के जीवन मे भी यही सब कुछ घटित होता है। मिथ्या दृष्टि ऊपर से नीचे की ओर अभिमुख होता है—इसलिए वह ससार के सुख-दु खात्मक अपामार्ग के काँटो से विध जाता है किन्तु सम्यक् दृष्टि नीचे से ऊपर की ओर चढता है—अत ससार के अपामार्ग के काँटो से उसे किसी प्रकार की हानि एव क्षति नही होती। यह ससार अपामार्ग के काँटो की झाडी के समान है। इसमे सुख दुख के इतने काँटे हैं, कि समस्त झाडी काँटो से भरी पडी है एव लदी पडी है। परन्तु ससारी अपामार्ग के पुण्य एव पाप के तथा सुख एव दु ख के ये नुकीले काँटे, उन्हे ही बीधते हैं जो अधोमुखी होते हैं तथा जिनकी दृष्टि ससार के भोगो की ओर लगी हुई है। जिसकी दृष्टि ऊर्ध्वमुखी चेतना से हटकर अधोमुखी है वह व्यक्ति ससार और परिवार के सुख-दु खात्मक हजारो-हजार काँटो मे विधता रहता है एव छिलता रहता है। परन्तु जब सम्यक् दृष्टि आत्मा इस ससार और परिवार मे रहता है, तब वह ऊर्ध्वमुखी बनकर रहता है जिससे ससार के सुख-दु खात्मक अपामार्ग के काँटो का उसके अध्यात्म जीवन पर जरा सा भी प्रभाव नही पड पाता। अध्यात्म-जीवन की यह सबसे बडी कला है। अध्यात्म-शास्त्र मे जीवन

की इस दशा को सम्यक् दर्शन कहा गया है। मिथ्या दृष्टि आत्मा स्वर्ग में ऊँचे चढ़कर भी नीचे गिरता है और सम्यक् दृष्टि आत्मा नीचे नरक में जाकर भी अपने ऊर्ध्वमुखी जीवन के कारण नीचे से ऊँचे की ओर अग्रसर होता रहता है। यह सब कुछ दृष्टि का भेद है यह सब कुछ दृष्टि का खेल है।

मैं आपसे सम्यक् दर्शन और मिथ्या दर्शन की चर्चा कर रहा था। सम्यक् दर्शन का एवं मिथ्या दर्शन का विषय बड़ा गम्भीर है। गम्भीर और गहन होने पर भी यह परम सत्य है, कि सम्यक् दर्शन को बिना समझे आप अध्यात्मवादी जन दर्शन की आत्मा को नहीं समझ सकते। आप यह भली भाँति जानते हैं कि व्यापार करने में आपको कष्ट उठाना पड़ता है और कितना दुःख झेलना पड़ता है। व्यापार करने के लिए आपको अपने देश से सुदूर विदेश में जाना पड़ता है। विदेश की यात्रा में और वहाँ रहने में अगणित कष्ट एवं दुःखों की अनुभूति आपको होती है किन्तु धन की प्राप्ति होने पर आप उन समग्र दुःखों एवं कष्टों को भूल जाते हैं, क्योंकि जिस ध्येय के लिए आपने कष्ट उठाया उस ध्येय की पूर्ति में आप सफल हुए हैं। ध्येय में सफलता प्राप्त होने पर आप अपने समग्र कष्टों एवं दुःखों को भूल जाते हैं। यही स्थिति अध्यात्म जीवन में भी होती है। अध्यात्मवादी व्यक्ति अपने अध्यात्ममय जीवन के जिस उच्चतर लक्ष्य की ओर जब प्रयाण करता है, तब मार्ग में अनेक प्रकार के विघ्न एवं बाधाएँ उपस्थित होती हैं तथा कष्ट एवं दुःख उपस्थित होते हैं, परन्तु लक्ष्य पर पहुँच कर, साध्य की सिद्धि हो जाने पर वह इन सभी प्रकार के कष्ट एवं दुःखों को भूल जाता है। सम्यक् दर्शन की दिव्य ज्योति प्राप्त हो जाने पर अपने समस्त कष्टों को भूल जाता है, बल्कि अधिक सत्य तो यह है कि वह अपने पथ की बाधाओं को कष्ट समझता ही नहीं है। उसके सामने एक ही रट एवं एक ही धुन रहती है, कि किसी भी प्रकार मैं अन्धकार की सीमा को पार करके अध्यात्म जीवन के दिव्य आलोक में पहुँच जाऊँ। इसी आशा और विश्वास के आधार पर अध्यात्म-साधक निरन्तर आगे बढ़ता जाता है। भला विष को छोड़ कर अमृत को कौन ग्रहण नहीं करना चाहता अन्धकार को छोड़कर प्रकाश को कौन प्राप्त नहीं करना चाहता? यह विषोपजीवी संसारी आत्मा जब तक अमृतोपजीवी नहीं बनेगा तब तक सम्यक् दर्शन का दिव्य आलोक इसके जीवन के प्रांगण में प्रवेश नहीं

करेगा। मिथ्या दर्शन विष है, इसीलिए वह आत्मा का अहित करता है। सम्यक् दर्शन अमृत है, इसीलिए वह आत्मा का हित करता है।

एक वार अकवर ने अपने मत्री वीरवल से कहा—"वीरवल! आज रात्रि को मैंने एक वडा विचित्र स्वप्न देखा है। जीवन मे स्वप्न वहुत देखे हैं, किन्तु इतना विचित्र स्वप्न आज तक नही देखा था।" वादशाह अकवर की इस वात को सुन कर वीरवल ही नही, सभा के सभी सभासद विस्मित और चकित हुए। सवके मन मे एक सहज जिज्ञासा थी, वादशाह के स्वप्न को सुनने की। वीरवल विनम्र वाणी मे वोला—"जहाँपनाह! फरमाइए आपने स्वप्न मे क्या देखा?" वादशाह वोला—"मैंने स्वप्न मे देखा कि तुम और मैं दोनो कही घूमने जा रहे है, घूमते-घूमते और चलते-चलते हम एक विकट वन मे पहुँच गए। एक ऐसे जगल मे जा पहुँचे, जहाँ मार्ग मे दो कुण्ड वने हुए थे। परन्तु उन कुण्डो की वात क्या सुनाऊँ? वे कुण्ड वडे विचित्र थे।" "जहाँपनाह! उन कुण्डो मे आपने क्या विचित्रता देखी?"—वीरवल ने पूछा। वादशाह अकवर वोला—"वीरवल! उन दोनो कुण्डो मे से एक मे गन्दगी भरी हुई थी और दूसरे मे अमृत भरा हुआ था। भाग्य की वात है—तू गन्दगी के कुण्ड मे जा पडा और मैं अमृत के कुण्ड मे गिर पडा। इस विचित्र स्वप्न को देखकर मेरी निद्रा सहसा खुल गई।"

वादशाह के इस विचित्र स्वप्न की कल्पित कथा को सुनकर वीरवल ही क्या, सारी सभा ही खिलखिला उठी। कुछ मौलवी, जो वीरवल से खार खाते थे और भी अधिक खिलखिला कर हँस उठे। वे लोग अपने मन मे सोचते थे, कि वादशाह ने वहुत अच्छी स्वप्न-चर्चा उपस्थित की। उन लोगो के मन मे वादशाह के अमृत कुण्ड मे गिरने की इतनी खुशी नही थी, जितनी खुशी उन्हें वीरवल के गन्दगी के कुण्ड मे गिरने की थी। हँसी के फुव्वारो के वीच वात को सँभालते हुए वीरवल ने अविचलित भाव से कहा—"जहाँपनाह! मैंने भी आज रात्रि को ऐसा ही एक वडा विचित्र स्वप्न देखा है। मेरे स्वप्न मे और आपके स्वप्न मे और सव वात तो समान हैं, केवल अन्त मे थोडा सा अन्तर है। आप और मैं घूमने निकले, एक निर्जन जगल मे पहुँचे, गन्दगी और अमृत के दो कुण्ड मिले और यह भी सत्य है कि मैं गन्दगी के कुण्ड मे गिरा और आप अमृत के कुण्ड में गिरे। किन्तु मैंने इससे आगे भी कुछ स्वप्न देखा है। और वह यह है कि—कुण्ड मे

गिरने के बाद मैं आपको चाट रहा हूँ और आप मुझे चाट रहे हैं। इस बात को सुनकर सारी सभा खिलखिला उठी। अकबर बादशाह और उनके मौलवी मुल्ला बीरबल की बुद्धि पर स्तब्ध रह गए।

इस रूपक को सुनकर हँसी आ जाना सहज है परन्तु इसका उद्देश्य केवल मनोरंजन मात्र ही नहीं है। इसके पीछे जीवन का एक बहुत बड़ा मर्म छुपा हुआ है। सम्यक् दृष्टि जीव बीरबल के समान है, जो अन्धकार में नहीं प्रकाश में चलता है। सम्यक् दृष्टि जीव की बुद्धि की चमक कभी मन्द नहीं पड़ती। वह संसार के गन्दगी के कुण्ड में रहकर भी अमृत का पान करता है। संसार में रहकर उसने विष को छोड़कर मात्र अमृत अंश का ही ग्रहण करना साधक-जीवन की बहुत बड़ी कला है। इस कला को जिस किसी भी व्यक्ति ने अधिगत कर लिया है, फिर भले ही वह चाहे परिवार के कुण्ड में एवं समाज के कुण्ड में रहे, और चाहे किसी अन्य कुण्ड में रहे, उसके जीवन पर किसी भी प्रकार के विष का प्रभाव नहीं पड़ सकता। मिथ्यादृष्टि जीव उस बादशाह के समान है, जो अमृत कुण्ड में पड़कर भी गन्दगी को चाटता है। मिथ्या दृष्टि और सम्यक् दृष्टि दोनों के स्वरूप समान हैं, बस थोड़ा सा ही अन्तर रह जाता है और वह अन्तर यही है, कि सम्यक् दृष्टि गन्दगी के कुण्ड में पड़कर भी अमृत के कुण्ड का आनन्द लेता है जब कि मिथ्या दृष्टि अमृत कुण्ड में रह कर भी गन्दगी का अनुभव करता है। यह सब क्यों होता है? मेरा एक ही उत्तर है कि यह सब अपनी-अपनी दृष्टि का खेल है। दृष्टि के आधार पर ही तो मनुष्य अपने जीवन की सृष्टि का निर्माण करता है। विचार ही से तो आचार बनता है। सम्यक् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि के जीवन में बाह्य दृष्टि से किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता वह अन्तर होता है केवल आन्तरिक दृष्टि का। सम्यक् दृष्टि संसार के प्रत्येक पदार्थ को विवेक और वैराग्य की तुला पर तोलता है, उसके बाद उसे ग्रहण करता है। इसके विपरीत मिथ्या दृष्टि संसार के भोग्यपदार्थों को भोगभाव की तुला पर ही तोलता रहता है। सम्यक् दृष्टि भी भोजन करता है और मिथ्या दृष्टि भी भोजन करता है, सम्यक् दृष्टि भोजन करता है केवल शरीर की पूर्ति के लिए, जब कि मिथ्या दृष्टि भोजन करता है केवल स्वाद के लिए। सम्यक् दृष्टि कहता है, कि जीवन में सुख आए तब भी ठीक और दुःख आए तब भी ठीक। उन दोनों में समत्व योग की

ाधना करना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। इसके विपरीत मिथ्या-दृष्टि ससार के क्षणिक सुखो मे सुखी और दुखो मे दुखी रहता है। कर्म के फल को दोनो ही भोगते है, एक समभाव से भोगता है और दूसरा विषम भाव से। इसलिए एक कर्म-फल को भोगकर आगे के लिए कर्म के चक्र को तोड डालता है और दूसरा कर्म-फल को भोग कर भी भविष्य के लिए नए कर्मो का वन्ध कर लेता है। मिथ्या-दृष्टि भोग के कुण्ड मे जन्म भर पडा-पडा सडा करता है, किन्तु सम्यक् दृष्टि भोग के कुण्ड मे जन्म लेकर भी त्याग और वैराग्य के अमृत-कुण्ड की ओर अग्रसर होता रहता है। सम्यक् दृष्टि कहता है—कि मेरा स्वप्न मिथ्या दृष्टि के समान होते हुए भी कुछ विशेषता रखता है। सम्यक् दृष्टि सोचता है, कि पुराना प्रारब्ध विना भोगे कर्मों से छुटकारा नही मिल सकता। मैं भोग के कुण्ड मे अवश्य पड गया, परतु इस गन्दगी मे पडकर तथा जन्म लेकर भी रसास्वादन मुझे अध्यात्मिक अमृत का ही करना है। इस प्रकार सम्यक् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि मे मूल भेद दृष्टि का ही है।

मैं आपसे मिथ्या दृष्टि और सम्यक् दृष्टि की चर्चा कर रहा था। मिथ्या दृष्टि और सम्यक् दृष्टि के जीवन के स्वरूप को विना समझे, हम अपने अध्यात्म-जीवन मे प्रवेश नही कर सकते। मोक्ष की साधना प्रारम्भ करने से पूर्व यह जाँच लेना आवश्यक है, कि हमारी दृष्टि मिथ्या है अथवा सम्यक् है। ससार मे रहकर भी ससार के भोगो मे जो आसक्त नही होता, वही व्यक्ति मोक्ष की साधना मे सफलता प्राप्त कर सकता है। सम्यक् दृष्टि का जीवन एक वह जीवन है, जिसका जन्म तो भोग के कीचड मे हुआ है, किन्तु जो इस भोग के कीचड से ऊपर उठकर कमल के समान मुस्कराता रहता है। गृहस्थ हो अथवा त्यागी हो, दोनो के जीवन की आधार-शिला सम्यक् दर्शन ही है। यदि सम्यक् दर्शन प्राप्त नही किया है, तो श्रावक वनकर भी कुछ नही पाया और श्रमण वन कर भी कुछ नही पाया। यह कहना गलत है, कि गृहस्थ-जीवन माया, ममता और वासनामय जीवन है, उसमे त्याग एव वैराग्य की साधना नही की जा सकती। इस वात को भले ही कोई दूसरा स्वीकार कर ले, किन्तु मुझ जैसा व्यक्ति इस वात को स्वीकार नही कर सकता। भारतीय सन्कृति मे चक्रवर्ती भरत का जीवन और विदेह देश के राजा जनक का जीवन एक आदर्श जीवन माना जाता है। भरत और जनक

का आदर्श जीवन केवल आकाश की ऊँची उड़ान ही नहीं थी बल्कि वह इसी धरती का ठोस यथार्थ था। जो कुछ भरत और जनक के जीवन के सम्बन्ध में कहा सुना जाता है वह केवल कल्पनात्मक नहीं बल्कि प्रयोगात्मक ही था। स्वर्ण सिंहासन पर बैठकर भी विनीता नगरी के भरत ने और मिथिला नगरी के जनक ने अनासक्ति, वैराग्य और त्याग का एक ऊँचा आदर्श प्रस्तुत किया था जिससे आज भी भारतीय साहित्य के पृष्ठ आलोकित हो रहे हैं। गृहस्थ जीवन में यदि सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो चुकी है, तो गृहस्थ जीवन में भी मुक्ति के द्वार खुले हुए हैं। इसके विपरीत यदि कोई श्रमण बन जाता है, तो केवल वेश धारण करने मात्र से ही उसके लिए मुक्ति के द्वार नहीं खुल जाते। साधु-वेश ग्रहण करके भी यदि भोग-दृष्टि बनी हुई है तथा माया ममता और वासना के विष को जीवन से नहीं निकाला गया है, तो वह साधु जीवन भी किस काम का है? मैं आपसे स्पष्ट कह रहा हूँ कि जीवन के बाने बदलने से समस्या का हल नहीं है, समस्या का हल होगा जीवन की बान बदलने से। बान बदलने का अर्थ क्या है? उसका अर्थ यही है—कि दृष्टि को बदलो मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व को प्राप्त करो। जीवन एक अनमोल निधि है, फिर भले ही वह गृहस्थ का हो या साधु का। मुख्य बात यह है, कि जीवन में रहकर भी हजारों लोगों ने अपने जीवन का विनाश किया है और जीवन में रहकर भी हजारों लोगों ने अपने जीवन का विकास किया है। संसार में विष भोगी भी हैं और अमृत भोगी भी हैं। भोग के विष का पान करने वालों की संसार में कभी कमी नहीं रही और कभी कमी नहीं रहेगी। इसी प्रकार वैराग्य अमृत का पान करने वाले लोगों की भी कमी संसार में कभी नहीं रही और कभी कमी नहीं रहेगी। विनाश को विकास में बदलने के लिए और विष को अमृत बनाने के लिए एक मात्र सम्यक् दर्शन की आवश्यकता है। अन्यथा दृष्टि के न बदलने पर जीवन में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं आ सकता फिर भले ही जीवन चाहे किसी वनवासी का हो और चाहे किसी भवनवासी का हो। मान सरोवर पर हंस भी रहता है और बगुला भी रहता है। दोनों की देह धवल होती है। तन दोनों का श्वेत होने पर भी दोनों के मन में बड़ा अन्तर रहता है। हंस की दृष्टि मोती पर रहती है, जब कि बगुले की दृष्टि मछली पर रहती है। मानसरोवर जैसे अमृत कुण्ड के पास पहुँचकर भी बगुला वहाँ

गन्दगी को ही ग्रहण करता है। सम्यक् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि मे, राजहस और बक जैसा ही भेद है। क्योकि एक की दृष्टि मे अमृत है और दूसरे की दृष्टि मे विष है। जिसके मन मे विष है, वह अपने मुख मे और तन से ससार को अमृत कैसे दे सकता है? और जिसके मन मे अमृत है, उसके तन मे भी अमृत रहता है और उसके मुख मे भी अमृत रहता है। सम्यक् दृष्टि का जीवन अमृतमय जीवन है और मिथ्या-दृष्टि का जीवन एक विषमय जीवन है। क्योकि सम्यक् दृष्टि के पास सम्यक् दर्शन का अमृत है और 'मिथ्या दृष्टि के पास मिथ्या दर्शन का विष है। इसी के आधार पर दोनो के जीवन की दिशा भी भिन्न हो जाती है।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि 'जीवन का परिवर्तन केवल गृहस्थ बनने या केवल साधु बनने से नहीं आता है। वह परिवर्तन आता है, विमल विवेक और अमल वैराग्य मे से। ससार के पदार्थों की ममता को छोडना, सबसे मुख्य प्रश्न है। यदि वह ममता गृहस्थ जीवन मे रह कर छूट जाए तो भी ठीक और साधु जीवन अगीकार करके छूटे, तो भी ठीक। मुख्य प्रश्न समागी पदार्थों के प्रति माया और ममता के छोडने का है। आप गृहस्थ हैं, आपकी बात तो बहुत दूर की है। किन्तु साधु-जीवन अगीकार करने वाले व्यक्ति के जीवन मे भी जब कभी मैं माया और ममता का ताण्डव नृत्य देखता हूँ, तब मुझे बडा आश्चर्य होता है। मैं सोचा करता हूँ, कि जीवन के मान सरोवर के स्वच्छ तट पर यह राज हस बनकर के आया है अथवा छली बक बनकर आया है। जब कभी मैं अपने जीवन के एकान्त शान्त क्षणो मे इन त्यागी कहे जाने वाले सन्तो के विगत जीवन की परतो पर विचार करता हूँ तो मुझे बडे ही अजीबोगरीब नजारे देखने को मिलते हैं। अजब गजब की बात है, कि उन्होने अपना धन छोडा, सम्पत्ति छोडी और अपने परिवार का प्रेम छोडा, जिस घर मे जन्म लिया था उस घर को भी छोडा, परन्तु यह सब कुछ छोडकर भी, यदि माया छोडी नही, यदि ममता छोडी नही, यदि वासना छोडी नही तो मैं पूछता हूँ आपसे कि उन्होने क्या छोडा? केवल घर छोडकर वेघर होने मे ही कोई साधु नही बन जाता एव त्यागी नही बन जाता। साधु-जीवन इतना सरल नही है, जितना उसे समझ लिया गया है।

- यहाँ पर मुझे प्रसगवश एक साधु के जीवन की उस घटना का स्मरण हो आया है, जिस घटना ने आज से अनेक वर्षों पूर्व मेरे मन

और मस्तिष्क पर एक गहरी विचार रेखा अंकित की थी। वह घटना इस प्रकार है।

एक बार हम कुछ साधु विहार-यात्रा कर रहे थे। विहार-यात्रा करते-करते एक ऐसी पहाड़ी के पास पहुँचे जहाँ उस पर चढ़कर ही आगे का रास्ता नापा जा सकता था। अन्य कोई मार्ग न होने के कारण साथ के वृद्ध सन्तों को भी पहाड़ पर चढ़ना पड़ा। मैं तो उस समय युवक था पहाड़ पर चढ़ने की समस्या मेरे सामने कोई समस्या न थी किन्तु प्रश्न वृद्ध सन्तों का था।

एक सन्त कुछ अधिक वृद्ध थे अतः उन्होंने अपने उपकरण अपने तरुण शिष्य को दिए और कहा कि जरा सँभल कर चलना और पात्र जरा सँभाल कर रखना।

संयोग की बात है। उस पर्वत का पार करते हुए जिस समय संतों की टोली चली जा रही थी तब उस वृद्ध गुरु का तरुण शिष्य पैर में चट्टान की ठोकर लगने से गिर पड़ा और उसके हाथ का बल मंडित काष्ठ पात्र भी टूटकर खण्ड-खण्ड हो गया। इस दृश्य को देखकर वृद्ध गुरु से रहा नहीं गया। वह अभिक्रुद्ध होकर बोला— अन्धे! दीखता नहीं है तुझे! मैंने कहा था कि सँभल कर चलना किन्तु जवानी की मस्ती में अन्धा होकर चला और बिल्कुल नया पात्र तोड़ डाला। इस पात्र को मैंने कितने प्रेम और कितने परिश्रम से रंगकर तैयार किया था किन्तु दुष्ट तूने इसे तोड़कर मेरे सारे परिश्रम को व्यर्थ कर दिया।

वृद्ध गुरु अपने तरुण शिष्य पर काफी देर तक चिल्लाते रहे। अपने जड़ पात्र के टूटने का तो उनके मन में बड़ा दर्द था किन्तु दूसरी ओर चेतन—पात्र जो उनका अपना ही शिष्य था चट्टान की ठोकर लगने से जिसके पैर में बहुत बड़ी चोट लगी थी और जो वेदना से कराह रहा था उससे अधम-वृद्ध गुरु ने यह भी नहीं पूछा कि 'तेरे कहाँ चोट तो नहीं लगी है। पात्र तो जड़ वस्तु है यह फूट गया तो दूसरा मिल जाएगा किन्तु वत्स तू यह बता तेरे चोट कहाँ लगी है?

कहने को यह जीवन की एक छोटी सी घटना है और जब यह घटी थी तब इसका पूर्णरूप प्रत्यक्ष था किन्तु इतने वर्षों के बीत जाने के बाद आज इसका कुछ भी प्रत्यक्ष रूप नहीं रहा है। इतिहास की हर घटना वर्तमान से अतीत में सीरकर विस्मृति के गहन गह्वर में विलुप्त हो जाती है। परन्तु यह सत्य है कि इतिहास की प्रत्येक घटना मानव के मानस मन एवं मस्तिष्क पर एक चोट-दाग अवश्य अंकित है।

कर जाती है, जिसे मनुष्य अपने जीवन मे कभी नही भूल सकता, कभी विस्मृत नही कर सकता।

गुरु और शिष्य के जीवन की इस घटना मे से क्या वोध मिलता है? यह एक प्रश्न है। मैं सोचता हूँ, मेरे श्रोताओ मे से वहुत से श्रोताओ ने इस तथ्य को समझ भी लिया होगा। जव श्रोता शान्त एव स्थिर मन से वक्ता की वात को सुनता है, तव उसका रहस्य उसकी समझ मे आसानी से आ जाता है। मैं सोचता हूँ, उक्त घटना का वास्तविक अर्थ समझने मे किसी वहुत वडे वुद्धिवल की आवश्यकता नही है। यह तो जीवन की एक सामान्य घटना है और आपमे से हर किसी व्यक्ति के जीवन मे इस प्रकार की कोई-न-कोई घटना घटती ही रहती है। आपके घर के नौकर से काँच का एक गिलास टूट जाता है, तव आप आग वबूला हो जाते हैं। घर के अन्य किसी भी व्यक्ति से जव किसी प्रकार का नुकसान हो जाता है, तव आपको क्रोध आ जाता है। तव आप अपने आवेश को नियत्रण मे नही रख सकते और उस व्यक्ति को, जिसके हाथ से नुकसान हुआ है, आप वहुत कुछ अट-नट भला-बुरा कह डालते हैं। क्रोध के आवेग मे कुछ ऐसी वातें भी आपके मुख से निकल जाती है, जो वस्तुत नही निकलनी चाहिएँ। यह जीवन का एक परम सत्य है, कि जैसा मन मे होता है, वैसा ही मुख मे आता है। मन मे यदि अमगल है, तो मुख से भी अमगल की ही वर्षा होती है और यदि मन मे मगल है, तो मुख से भी अमृत रस की धार ही वहती है।

मैं सोचता हूँ, ऐसा क्यो होता है? आप भी सोचते होंगे कि ऐसा क्यो होता है? किन्तु जरा जीवन के अन्तस्तल मे उतर कर देखिए, आपको इस प्रश्न का समाधान स्वय ही मिल जाएगा। मेरा अभिप्राय यही है—आप अपने मन से पूछिए, कि वह इस जगत के जड पदार्थो मे कितनी ममता करता है? एक तरफ जड पदार्थ है और दूसरी ओर चेतन व्यक्ति है, जव तक दृष्टि मे चेतन की अपेक्षा जड पर अधिक ममता रहेगी, तव तक यही कुछ होगा, जो कुछ मैं अभी कह चुका हूँ। जड पदार्थ के प्रति ममता मे से ही यह भावना पैदा होती है कि मेरा पात्र टूट गया, मेरा गिलास टूट गया अथवा मेरा अन्य कोई पदार्थ नष्ट हो गया। उस व्यक्ति के द्वारा वह पदार्थ किस प्रकार टूटा, उस पर ध्यान नही दिया जाता। सोचा यही जाता है, कि इसने मेरा नुकसान कर दिया। मैं आपसे पूछता हूँ, कि जीवन मे अधिक

मूल्य किसका है? अधिक उपयोगिता किसकी है? जड़ की अथवा चेतन की? यदि जड़ के कारण चेतन पर क्रोध किया जाता है, तो इसे समझदारी नहीं कहा जा सकता। उस वृद्ध गुरु के शिष्य के शरीर पर चोट लगी, रक्त भी बह निकला, किन्तु उस चेतन के दर्द की ओर ध्यान न जाकर जड़ पदार्थ की ओर ध्यान का जाना यह प्रमाणित करता है कि उस गुरु के मन में अपने चेतन पात्र शिष्य की अपेक्षा उस जड़ पात्र से प्रेम अधिक था। इसी प्रकार अपने घर के सचेतन नौकर की अपेक्षा उसके हाथ से टूटने वाले जड़ काच के गिलास में आपकी ममता अधिक थी। अध्यात्म शास्त्र स्पष्ट भाषा में यह कहता है, कि साधक को ममता माया का त्याग करना है फिर भले ही वह ममता चाहे किसी जड़ पदार्थ के प्रति हो अथवा किसी चेतन व्यक्ति के प्रति हो। ममता तो ममता है, चाहे वह किसी जड़ में अटकी हुई हो अथवा किसी चेतन व्यक्ति में अटकी हुई हो। माया ममता और वासना एक विष का कुण्ड है, इसमें से निकलना ही साधक के जीवन का मुख्य उद्देश्य है। किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि एक ओर चेतन व्यक्ति है तथा दूसरी ओर एक जड़ पदार्थ है, इन दोनों में से पहले किसकी ममता का परित्याग किया जाना चाहिए? अध्यात्म-शास्त्र इसका स्पष्ट समाधान देता है कि पहले जड़ की ममता का त्याग करो और फिर चेतन की ममता का त्याग करो। जड़ की अपेक्षा चेतन का अधिक मूल्य है, जड़ की अपेक्षा चेतन की अधिक उपयोगिता है। चेतन यदि एक दिन भूल कर सकता है, तो एक दिन वह अपनी भूल को सुधार भी सकता है। चेतन यदि आज पतन के पथ पर चल रहा है, तो एक दिन वह उत्थान के पथ का पथिक भी बन सकता है, किन्तु जड़ में यह शक्ति कहाँ है? उसका न उत्थान है न पतन, उसका न विकास है न ह्रास। जड़ जड़ है और चेतन चेतन है। इस तथ्य को, इस सत्य को और इस मर्म को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि से ही समझा जा सकता है। सम्यक् दर्शन के अमल विमल आलोक में चलकर ही यह संसारी आत्मा मरण के कुण्ड से अमृत के कुण्ड की ओर, भोग के कुण्ड से वैराग्य के कुण्ड की ओर तथा विष के सघन सागर से अमृत के क्षीर सागर की ओर गतिशील एवं अग्रसर हो सकता है। सम्यक् दर्शन के दिव्य प्रकाश से ही यह आत्मा जड़ और चेतन के भेद को समझ कर, जड़ की अपेक्षा चेतन के मूल्य का अधिक

अंकन कर सकता है। दुनिया भर के अध्यात्म-शास्त्र, दुनिया भर के गुरु और दुनियाभर के पोथी-पन्ने आपको एक ही बात कहते हैं—कि सत्य का दर्शन करो, सत्य को ग्रहण करो। सत्य पाया तो सब कुछ पा लिया। यदि सत्य नहीं मिला तो कुछ भी नही मिला। यदि अपनी अध्यात्म-साधना मे अग्रसर होते हुए अपने जीवन के पचास-साठ वसन्त भी पार कर दिए, किन्तु जीवन के धरातल पर सत्य का वसन्त नही उतरा, तो कुछ भी नहीं पाया। अध्यात्म-साधना का कुछ भी लाभ नहो उठाया गया। सम्यक् दर्शन आत्मा की एक वह शक्ति है, जो जीवन को भोग से योग की ओर तथा विष से अमृत की ओर ले जाती है। सम्यक् दर्शन जीवन के तथ्य को देखने एव परखने की एक अद्भुत कसौटी है। सम्यक् दर्शन एक वह ज्योति है, जिससे अन्दर और बाहर दोनो ओर प्रकाश पडता है। सम्यक् दर्शन एक वह निर्मल धारा है, जिसमे निमज्जित होकर साधक अपने मन के मैल को धो डालता है। सम्यक्दर्शन को पाकर फिर जो कुछ पाना शेष रह जाता है, उसे पाने के लिए आत्मा को मूलत किसी और अधिक तैय्यारी की क्या आवश्यकता रहती है? सम्यक् दर्शन के देवता का प्रसाद मिलने पर फिर अन्य किसी देवता के प्रसाद की भिक्षा क्यो चाहिए? सम्यक् दर्शन के क्षायिक विकास से ही अन्तत भव के बन्धनो का अभाव होता है। परम पवित्र क्षायिक सम्यक् दर्शन से ही आचार की पवित्रता के शिखर पर पहुँच कर पूर्ण सिद्धि एव मुक्ति की उपलब्धि होती है। अतीत काल मे जिस किसी भी साधक ने मोक्ष प्राप्त किया है, उसका मूल आधार सम्यक् दर्शन ही रहा है और भविष्य मे भी कोई साधक मुक्ति प्राप्त करेगा, उसका भी मूल आधार सम्यक् दर्शन ही रहेगा। हमारे जीवन के आदि मे भी सम्यक् दर्शन हो, मध्य मे भी सम्यक् दर्शन हो और अन्त मे भी सम्यक् दर्शन हो, तभी हमारा जीवन मगलमय होगा।

१०

धर्म-साधना का आधार

• • •

आज मुझे जिस विषय पर बोलना है, वह है धर्म। धर्म वस्तुतः बोलने का विषय नहीं है, आचरण का विषय है, किन्तु जिसको जाना नहीं, उसका आचरण ही कैसे किया जा सकता है? जिसका आचरण करना है, उसको जानना भी आवश्यक है। ज्ञान के बिना क्रिया कैसी और क्रिया के बिना ज्ञान कैसा? जो कुछ जाना जाता है वही किया जाता है और जो कुछ किया जा रहा है यह निश्चित है, कि वह पहले जान लिया गया है। अतः धर्म विचार और आचार का विषय तो है, पर बोलने का विषय नहीं है, क्योंकि बोलने से वाद बनता है और वाद से विवाद खड़ा हो जाता है। धर्म वाद एवं विवाद की वस्तु नहीं है। जब धर्म वाद और विवाद की वस्तु बन जाता है तो वह धर्म, धर्म न रहकर सम्प्रदाय और पंथ बन जाता है। तब उसमें होती है खींचतान और उलझन। सच्चा साधक मुख से कहता नहीं है स्वयं उसका चरित्र ही बोलने लगता है।

सबसे बड़ा विकट प्रश्न यह है, कि धर्म क्या है? किसी पंथ का

कर्म काण्ड धर्म नही है, वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है। पानी ठंडा रहता है और आग गरम। जल का धर्म शीतलता है और अग्नि का धर्म उष्णता। इसी प्रकार मनुष्य का धर्म मनुष्यता है। यह मनुष्यता क्या है? यह भी एक विचित्र समस्या है। मनुष्य मे मनुष्यत्व की सीमा क्या है? इसका अकन करना सरल नही है। फिर भी धर्म की कुछ सीमा, कुछ परिभाषा साधारण जन के लिए आवश्यक-सी है। स्वार्थ और परार्थ मे से यदि किसी एक का चुनाव करना हो, तो परार्थ का चुनाव कीजिए, क्योंकि परार्थ ही स्वार्थ से निर्मल है। किन्तु जैन-दर्शन इससे भी ऊँची एक बात कहता है और वह है परमार्थ की। अपने सुख तक सीमित रहना स्वार्थ है, अपने साथी के सुख का ध्यान रखना परार्थ है और जगत के प्रत्येक प्राणी के कल्याण का ध्यान रखना परमार्थ है। क्योंकि सबके कल्याण मे मेरा भी कल्याण है और मेरे साथी का भी कल्याण है।

इसलिए मैं कहता हूँ कि जब तक मनुष्य अपने स्वभाव मे स्थिर नही होगा, तब तक उसका जीवन कल्याणमय एवं स्वस्थ नही बन सकता और जब तक जीवन स्वस्थ न हो, तब तक धर्म की आराधना नही की जा सकती। मानव आत्मा का स्वभावस्थ होना, स्वस्थ होना ही धर्म है। याद रखिए शरीर ही मनुष्य नही है, वह कुछ और भी है। आप जो कुछ देखते हैं उससे सूक्ष्म और भिन्न भी एक जीवन है, जिसे आत्मा कहा जाता है। आत्मा जड नही, चेतन है। शरीर बनता है और बिगडता है, किन्तु आत्मा न कभी बनता है और न कभी बिगडता है। इस संसार मे एक नही, अनेक पथ हैं, अनेक सम्प्रदाय हैं, सबकी अलग-अलग बाडाबन्दी है। सब एक स्वर से एक ही बात कहते हैं, कि हमारे पथ मे आओ, हमारे पथ की सीमाओ मे आने पर ही तुम्हे मुक्ति मिल सकती है। दावा सब पथो का यही है। प्रश्न है कि कौन झूठा है और कौन सच्चा है? मेरे विचार मे वह पथ असत्य है, जो केवल तन की बात कहता है और तन से आगे बढकर मन की बात कहता है, परन्तु जो उससे भी आगे बढकर आत्मा की बात कहता है, वही सच्चा है। याद रखिए, धर्म कही बाहर नही है, वह तो हृदय-गुहा मे रहता है। भीतर झाको तो वहाँ से प्रकाश की एक उज्ज्वल किरण प्राप्त होगी और यह किरण चेतन-चेतन के भीतर है। आत्मा की आवाज सबके भीतर है। उसे सुनते चलो, और आगे बढते चलो। अन्दर की आवाज को सुनने मे ही बाहरी उलझन का सुलझाव मिल

सकेगा। जो कुछ बाहर दीख रहा है, उस पर आँख मूँदनी होगी और जो कुछ बाहर सुनाई दे रहा है, उसे अनसुना करना होगा, तभी आप अन्दर को देख सकेंगे और अन्दर को सुन सकेंगे। इन्सान ने इस धरती पर अपने अहंकार से जो कुछ खड़ा किया है, वह सब कुछ एक दिन खण्डहर बन जाएगा। इस दुनिया में क्या रहा है? सम्राटों के प्रासादों में अतुल वैभव कहाँ है? उनके महलों की रंगीन दुनिया कहाँ है? उनकी शक्ति का वह दर्प जिससे अन्ध बनकर उन लोगों ने दुनिया को कुचलना चाहा था, बताइए आज कहाँ है? सब कुछ धूल में मिल गया। काल ने सबको समेट डाला है। यह सब कुछ होने पर भी हमारे जीवन का एक दूसरा भी दृष्टिकोण है, और वह है मृत्यु के बीच अमर बनने की कला। भगवान पार्श्वनाथ के पास यही कला थी, भगवान महावीर के पास यही कला थी, मेघकुमार श्रमण के पास यही कला थी और यही कला थी गणधर गौतम के पास। मृत्यु से अमर बनने की कला जिसके हाथ लग जाती है, वस्तुतः उसी व्यक्ति को मैं धर्मशील साधक कहता हूँ।

हमारे सामने दो तत्व हैं—एक धर्म और दूसरा धन। जीवन का सन्तुलन किसमें है, धर्म में अथवा धन में? इन्सान की जिन्दगी को शानदार बनाने वाली धर्म की कमाई है अथवा धन की कमाई? धर्म की सत्ता होते हुए भी वह बाहर दिखलाई नहीं पड़ता, किन्तु धन भौतिक जीवन की ऊपरी सतह पर खड़ा रहता है, इसीलिए धर्म की अपेक्षा संसारी आत्मा को धन की प्रतीति अधिक होती है। जिस प्रकार धरती में डाला गया बीज दिखलाई नहीं पड़ता, किन्तु उसके वृक्ष बन जाने पर वह दृष्टिगत होने लगता है, इसी प्रकार धर्म भले ही दिखलाई न पड़ता हो, किन्तु धर्म का शुभ एवं शुद्ध परिणाम अवश्य ही अनुभव का विषय होता है। धर्म की महिमा अपार है, धर्म का बीज इतना छोटा है कि उसे देखने के लिए ऊपर की आँख नहीं, भीतर की आँख चाहिए। धर्म की बात करना आसान है, किन्तु धर्म पर आस्था होना बड़ा कठिन है। इस भौतिकवादी युग में भौतिकवादी मानव धर्म को भूलकर माया के प्रतीक धन की पूजा कर रहा है। आज के जन-जीवन में किधर भी मैं देखता हूँ, मुझे दीखता है कि सर्वत्र धन-पूजा और काम-पूजा हो रही है। आज के जन-जीवन की यह इन्द्रियपरता पनपता है। जहाँ इन्द्रियपरायणता है, वहाँ धर्म स्थिर कैसे रह सकता है? धर्म को स्थिर करने के लिए त्याग, वैराग्य और संयम की आवश्य

कता है, आगे चलकर खण्ड पदार्थ को छोडकर भी अखण्ड परमार्थ को ग्रहण करने की आवश्यकता है। आज का मनुष्य अहकार और ममकार मे डूबा हुआ है। अहकार और ममकार का सर्प जब तक मानव-मन की बाँबी मे बैठा हुआ है, तब तक जिन्दगी के हर मार्ग पर खतरा ही खतरा है। धर्म तत्व यह है, कि अहकार को छोडो और विनम्रता को पकडो तथा ममता को छोडो और अनासक्ति को पकडो। आज के समाज मे कितनी विषमता दीख रही है, एक के पास धन का ढेर लगा है, दूसरे के पास खाने को अन्न का एक कण भी नही है। जब तक हमारे आस-पास भूखी भीड की भूख मँडराती रहेगी, तब तक न महल मे शान्ति हो पाएगी और न झोपडी मे शान्ति हो पाएगी। धनिक को अपने धन का अहकार रहता है और गरीब को अपनी गरीबी का दैन्य रहता है, दोनो ही दुनिया के भयकर पाप है और इन सब विषमताओ और द्वन्द्वो का मूल क्षुद्र मानव-मन की आसक्ति-मूलक अहता एव ममता ही है। इन सब द्वन्द्वो से बचने का रास्ता धर्म ही दिखला सकता है। किन्तु प्रश्न है, कि धर्म किसका, तन का या मन का ? तत्वदर्शी पुरुषो ने इसका एक ही समाधान किया है, कि तन की भूख सीमित होती है, उसे आसानी से मिटाया जा सकता है, किन्तु मन की भूख अथाह और अगाध है। तन की भूख की दवा धन हो सकता है, किन्तु मन की भूख की दवा तो धर्म ही है। इसलिए धन की अपेक्षा धर्म ही बडा है। तन की अपेक्षा मन की सीमा ही अधिक है। जब तक धन के आधार पर मानव के जीवन का मूल्याकन होता रहेगा, तब तक धर्म की महिमा बढ नही सकती। जिसके पास परिग्रह का जितना अधिक बोझ है, उसकी आत्मा सत्य से उतनी ही दूर है। धर्म हमे यह कहता है, कि इन्द्रियो को वश मे करो, आत्म-स्वरूप को पहचानो। अपने को समझने पर सब कुछ समझना आसान है। धन को समझने से जीवन-समस्या का हल नही है, धर्म को समझने से ही जीवन-समस्या का हल होगा। मानव-जीवन की यह कितनी भयकर विडम्बना है, कि कौडी को तो सँभाल कर रखता है, किन्तु रत्न को लुटाता फिरता है। याद रखिए, धन कभी जीवन की रक्षा नही कर सकेगा। धर्म ही जीवन की रक्षा कर सकेगा। आत्मा को खोकर ससार का साम्राज्य भी पाया तो क्या पाया ? आत्मा को खोकर अन्य सब कुछ पाया तो क्या पाया ? आत्मा के खोने पर धर्म की रक्षा नही हो सकेगी। धर्म की रक्षा के लिए आत्मा को समझो।

मैं आपसे धर्म के विषय में कुछ कह रहा था। धर्म क्या है? अहिंसा, संयम और तप यही तो धर्म है। मुख्य प्रश्न यहाँ पर यह है, कि धर्म का आधार क्या है? जैन-दर्शन के अनुसार धर्म का आधार सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन है, तभी अहिंसा का पालन किया जा सकता है। सम्यक् दर्शन है, तभी संयम का पालन किया जा सकता है। सम्यक् दर्शन है, तभी तप किया जा सकता है। सम्यक् दर्शन के अभाव में अहिंसा, संयम और तप धर्म नहीं रह सकते। मेरे कहने का अभिप्राय यही है, कि धर्म का आधार सम्यक् दर्शन है। जितनी भी साधना है, उस सबके मूल में यदि सम्यक् दर्शन नहीं है, तो वह साधना मोक्ष की साधना नहीं हो सकती। मोक्ष की साधना के लिए अन्य किसी सद्गुण की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी सम्यक् दर्शन की। सम्यक् दर्शन को धर्म का मूल कहा गया है।

कल्पना कीजिए, एक वृक्ष है। वह हरा भरा है, फूल और फलों से लदा है, देखने में बड़ा सुन्दर लगता है। क्या कभी आपने यह विचार किया, कि यह वृक्ष इतना समृद्ध क्यों है? वृक्ष की समृद्धि का मूल कारण उसका ऊपरी भाग नहीं है, उसकी समृद्धि का मूल कारण है उसकी जड़ जो पृथ्वी के अन्दर गहरी समायी हुई है। जिस वृक्ष की जड़ जितनी गहरी होगी, वह उतना ही अधिक पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है। जिस वृक्ष की जड़ें नीचे भूगर्भ तक पहुँच चुकी हैं, उस वृक्ष पर आँधी और तूफान का भी कुछ असर नहीं होता। जिस वृक्ष की जड़ जितनी गहरी रहती है, उसका विकास और उसमें फल एवं फूलों की उत्पत्ति भी उतनी ही अधिक होती है। दुर्भाग्य से जिस वृक्ष की जड़ जमीन में गहरी नहीं उतरी है, वह आँधी और तूफान के झटके सहन नहीं कर सकता। यह मैं मानता हूँ कि वृक्ष का अस्तित्व केवल उसके जड़ भाग में नहीं है, उसका ऊपरी भाग भी महत्वपूर्ण है, परन्तु यह तभी, जब कि उसकी जड़ शक्ति-सम्पन्न रहती है और उसमें पृथ्वी से अपना पोषण तत्व प्राप्त करने की शक्ति रहती है। पतझड़ आता है और हरे भरे वृक्ष को ठूँठ बनाकर चला जाता है, परन्तु वसन्त आने पर वह वृक्ष फिर हरा भरा हो जाता है, उसमें नई-नई कोंपलें फूट आती हैं? नये पुष्प और नये फलों से वह फिर भर जाता है। यह इसलिए होता है कि उसकी जड़ों में अभी पृथ्वी से अपना पोषण-तत्व ग्रहण करने की शक्ति है। इसके विपरीत जिस वृक्ष की जड़ों में शक्ति नहीं रहती, जिस वृक्ष की जड़ें खोखली हो

जाती है, उसे महामेघ की कितनी भी स्वच्छ जल-धारा मिले, सूर्य का कितना भी प्राण-प्रद प्रकाश मिले और जीवन को ताजा कर देने वाला कितना भी स्वच्छ पवन मिले, वह वृक्ष अधिक दिनों तक हरा-भरा नहीं रह सकता।

साधना के वृक्ष के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। साधना-वृक्ष तभी तक हरा-भरा रहता है, जब तक कि सम्यक् दर्शन स्थिर एवं प्राणवान है। सम्यक् दर्शन ही वस्तुतः अध्यात्म-साधना के वृक्ष का मूल है। जब तक सम्यक् दर्शन का मूल स्थिर है और अन्तर्निविष्ट है, तब तक अहिंसा, संयम और तप की साधना निरन्तर विस्तृत होती चली जाएगी और धीरे-धीरे मोक्ष तक भी उसका विकास हो सकेगा। परन्तु सम्यक् दर्शन के अभाव में साधना-वृक्ष स्थिर नहीं रह सकता अथवा उसे स्थिर नहीं रखा जा सकता। जिस आत्मा का सम्यक् दर्शन विशुद्ध नहीं है, वह आत्मा अपने स्वरूप को भी कैसे जान सकेगा? जिस आत्मा ने स्व-स्वरूप को नहीं समझा, वह आत्मा धर्म की आराधना नहीं कर सकता। उसकी अहिंसा, अहिंसा नहीं रह सकती, उसका संयम, संयम नहीं रह सकता और उसका तप, तप नहीं रह सकता। यदि अध्यात्मवृक्ष का सम्यक् दर्शन रूप मूल से विच्छेद हो जाए तो वह सूख जाएगा, उसका विकास रुक जाएगा और क्षीण होकर वह धराशायी हो जाएगा। इसी आधार पर मैं आपसे यह कह रहा था, कि किसी भी धर्म की साधना करने से पूर्व यह जानने का प्रयत्न करो, कि सम्यक् दर्शन की ज्योति का तुम्हारी दिव्य आत्मा में प्रकाश जगमगाया है या नहीं।

युद्ध-क्षेत्र में वही सेना विजय प्राप्त कर पाती है, जो निरन्तर आगे तो बढ़ती रहे, किन्तु जिसका अपने मूल केन्द्र से सम्बन्ध विच्छेद न हो। जिस सेना का अपने मूल केन्द्र से सम्बन्ध बना रहता है, वह सेना कितना भी लम्बा आक्रमण करे और कितनी भी दूर क्यों न चली जाए, परन्तु उसे पराजित करने की शक्ति किसी में नहीं होती। कल्पना कीजिए, सेना निरन्तर आगे बढ़ रही है, किन्तु दुर्भाग्य से उसका सम्बन्ध उसके मूल केन्द्र से टूट गया, तो निश्चित समझिए, उस सेना का भविष्य खतरे में पड़ जाता है और उसकी विजय कभी नहीं हो पाती। अतः चतुर सेनापति इस बात का निरन्तर ध्यान रखता है, कि उसकी सेना का सम्बन्ध मूल केन्द्र से सदा बना रहे। यही बात साधना-क्षेत्र में लागू पड़ती है। साधना का क्षेत्र कितना

भी व्यापक और कितना भी विशाल क्यों न हो ? यदि उसका सम्बन्ध अपने मूल केन्द्र सम्यक् दर्शन से बना हुआ है, तो वह साधना अवश्य फलवती होती है । सम्यक् दर्शन के अभाव मे विराट साधना तो क्या अल्प साधना भी सफल नही होती । जीवन का एक मोर्चा नही है, हजारों-हजार मोर्चे है—कही काम का कही क्रोध का कही लोभ का और कही मोह का । उक्त सभी मोर्चों पर होने वाले युद्ध मे आप तभी सफल हो सकते है, जब कि आपका सम्बन्ध आपके मूल केन्द्र सम्यक् दर्शन से बना हुआ है । सम्यक् दर्शन हमारे जीवन के युद्ध का एक वह मोर्चा है, जहाँ पर सुरक्षित खडे होकर हम अपने जीवन की दुर्बलताओ पर घातक प्रहार करते है । जीवन के एक-एक दोष को देखकर उसका संशोधन एवं परिमार्जन करना ही हमे विजय की ओर ले जाने वाला सबसे अधिक प्रशस्त मार्ग है । जीवन के विविध मोर्चों पर लडने वाला यह आत्मा यदि सम्यक् दर्शन के मूल केन्द्र पर खडा है, तो संसार की कोई भी ताकत उसे पराजय के मार्ग पर घसीट नही सकती । ज्ञानवान होना और चारित्रवान होना अच्छा है किन्तु उससे पहले सम्यक् दर्शनधारी बनना आवश्यक है । यदि सम्यक् दर्शन की निर्मल ज्योति नही है, तो सामान्य ज्ञान तो क्या पूर्वों का सागरोपम ज्ञान भी दुर्गति से हमारी रक्षा नही कर सकता । सम्यक् दर्शन के अभाव मे मोक्ष कभी सम्भव ही नही है । सम्यक् दर्शन के मूलकेन्द्र से सम्बन्ध टूट जाने पर, फिर धर्म की रक्षा का कोई आधार ही हमारे पास नही रहता । सम्यक् दर्शन के अभाव मे पूर्वधर ज्ञानी भी मर कर नरक मे जा सकता है । इस कथन का रहस्य यही है, कि सम्यक् दर्शन के अभाव मे ज्ञान ज्ञान नही रहता और चारित्र चारित्र नही रहता । प्रश्न किया जा सकता है, कि पूर्व श्रुत जितना विशाल ज्ञान प्राप्त करके भी यह आत्मा नरक-गामी क्यो होता है ? उक्त प्रश्न के समाधान मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि शास्त्र-स्वाध्याय और ज्ञान की साधना निरन्तर होने पर भी आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को नही पहचान पाता और अपने स्वरूप को न पहचानने के कारण ही उस आत्मा की दुर्गति होती है वह पतन पथ का पथिक बन जाता है । तप बहुत किया जप बहुत किया त्याग बहुत किया किन्तु सम्यक् दर्शन के अभाव मे वह सब एक प्रकार का नाटक का खेल रहा । क्योकि जब तक धर्म वचन तन तक ही सीमित रहता है उसका प्रवेश आत्मा की सीमा मे नही होता तब तक व्यवहार दृष्टि से तो वह

त्याग कहलाता है, किन्तु निश्चय दृष्टि से वह त्याग नहीं है। व्यवहार भी नहीं, व्यवहाराभास है, और इसके सेवन एक बार नहीं, अनेक बार, और अनेक बार भी क्या, अगण्य बार देख चुके है, किन्तु उनसे हमारी आत्मा मे क्या परिवर्तन आया ? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

आपने आचार्य 'अगारमर्दन' का नाम सुना होगा। वह अपने युग के एक बहुत बड़े आचार्य थे, उनके पाण्डित्य का प्रभाव सर्वत्र फैला हुआ था। बड़े-बड़े राजा और महाराजा उनके भक्त थे, उनका शिष्य-परिवार भी बहुत बड़ा था। एक से एक सुन्दर राजकुमार उनकी तर्क-बुद्धि के चमत्कार से प्रभावित होकर उनके शिष्य बन गए थे। प्रतिभा और बुद्धि के साथ-साथ आचार्य मे प्रवचन की शक्ति भी अद्भुत थी। जिस किसी भी विषय को आचार्य जन-चेतना के समक्ष उपस्थित करते थे, तो वह विषय इतना सजीव एव साकार हो जाता था, कि श्रोता उसे सुनकर गद्गद हो जाते थे, मुग्ध हो जाते थे। जिस किसी भी देश मे और देश की राजधानी मे आचार्य का पदार्पण होता था, तो उनकी वाणी का अमृत-पान करने के लिए जनता बन्धनमुक्त जल-प्रवाह की तरह उमड पड़ती थी। इतनी अद्भुत शक्ति थी आचार्य अगारमर्दन मे। अगारमर्दन उनका मूल नाम नहीं था, वह तो बाद की एक घटना पर पड़ा, जिसका वर्णन मैं आपके समक्ष कर रहा हूँ।

एक बार एक राजा ने स्वप्न मे देखा, कि पाँच सौ सिंह एक गीदड की उपासना कर रहे है। राजा ने पहले कभी अपने जीवन मे इस प्रकार का विचित्र स्वप्न नहीं देखा था। पाँच सौ सिंह और उनका अधिपति एक गीदड, बड़े अजब-गजब की बात थी। राजा ने यह स्वप्न देखा, तो उसके आश्चर्य और विस्मय का पार न रहा। उसने अपने मन्त्रियो से तथा अपनी सभा के अन्य बुद्धिमान सभासदो से इस विषय मे चर्चा की और पूछा, कि इस स्वप्न का क्या अर्थ है ? इस गूढ रहस्य को कैसे जाना जाए ? कुछ समझ मे नहीं आ रहा था, कि मन्त्री और सभासद राजा के उस विचित्र स्वप्न का क्या अर्थ लगाएँ। एक सिंह भी जिस वन मे रहता है, उसकी गर्जना को सुन कर हजारो-हजार गीदड दूर भाग जाते हैं और इस स्वप्न मे राजा ने पाँच सौ सिंहो का आधिपत्य करते हुए एक गीदड को देखा था। स्वप्न क्या था, एक विचित्र पहेली थी, स्वय राजा के लिए भी और उसके मन्त्री एव सभासदो के लिए भी। मन्त्रियो को और सभासदो को मौन देखकर राजा ने फिर उनसे अपने प्रश्न का समाधान देने के

लिए कहा किन्तु किसी की कुछ भी समझ में न आया।

सब विचारमग्न थे। इतने में ही वन-पालक ने आकर राजा को शुभ समाचार दिया कि नगर से बाहर आपके उपवन में एक महान् आचार्य अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ पधारे हुए हैं। राजा ने ज्यों ही यह समाचार सुना त्यों ही उसे रात्रि में देखे हुए स्वप्न के गूढ रहस्य का अता-पता सा लगा। वह इस विचार पर पहुँचा कि कहीं आचार्य ही तो मेरे स्वप्न का वह शीदड़ नहीं है, जो अपने पाँच सौ सिंह रूप शिष्यों पर आधिपत्य कर रहा है। आने वाली पूर्णिमा की चाँदनी रात में कहा जाता है कि राजा ने आचार्य जी के मकान के बाहर कोयलों के छोटे छोटे कण बिखेर दिए। रात्रि में शिष्य बाहर जाने को जाते और लौट आते। उन कणों में उन्हें सूक्ष्म जीवों की प्रतीति होती और दया का झरना मन में उमड़ पड़ता। परन्तु आचार्य बाहर आए तो वह मसलते-मसलते चले गये। उन्होंने जीवों के सम्बन्ध में कोई भी सोच नहीं की। शिष्यों को यह कहते हुए आगे बढ़ गये कि जीव हैं और मरते हैं तो हम क्या करें? वे यहाँ आए ही क्यों? और जब अपने पर कोयले मालूम हुए तो अपने शिष्यों पर खूब हँसे।

आचार्य के पास बुद्धि प्रतिभा एवं पाण्डित्य की कमी नहीं थी। वाणी का जादू भी उनके पास बहुत था किन्तु यह सब कुछ होकर भी जीवन शोधन की वह अध्यात्म कला उनके पास नहीं थी जिसे सम्यक् दर्शन कहा जाता है। गुरु पद पर पहुँच कर भी आचार्य का चैतन्य की शुद्ध सत्ता पर आस्था न थी। आत्मा की विशुद्ध स्थिति एवं आत्मा के विशुद्ध स्वरूप मोक्ष एवं मुक्ति पर विश्वास न था। साधना तो की जा रही थी किन्तु उसका लक्ष्य आत्मा की पवित्रता एवं स्वच्छता न होकर लौकिक सुख भोग कीर्ति ख्याति और प्रसिद्धि मात्र था। दिखावा बहुत कुछ था किन्तु अन्दर में सब कुछ शून्य ही शून्य था। आस्रव और संवर की व्याख्या करते थे। बन्ध और मोक्ष की चर्चा करते थे। मन में कुछ न था किन्तु मुख में सब कुछ था। इसीलिए आचार्य अंगारमर्दक को अभव्य आत्मा कहा गया है। इस कथानक का फलितार्थ इतना ही है, कि आचार्य के पास बाह्य ज्ञान भी था और द्रव्य चारित्र भी था किन्तु सम्यक् दर्शन के अभाव में वे मोक्ष के अंग न हो सके। सम्यक् दर्शन के बिना साधना शून्य बिन्दु से अधिक नहीं है। सम्यक् दर्शन ही वस्तुतः अध्यात्म-साधना का मूल है। मूल के बिना शाखा और प्रशाखा कैसे होगी?

मैं आपको यह बतला रहा था कि सम्यक् दर्शन की ज्योति के बिना जीवन विकसित नही बन सकता, उसमे धर्म के बीज अकुरित नही हो सकते । जब आत्मा पर ही आस्था नही है, तो फिर धर्म पर भी विश्वास कैसे होगा ? मैं यह समझता हूँ, कि प्रत्येक साधक को अपने हृदय मे यह विचार करना चाहिए, कि साधना किसके लिए की जाती है ? शरीर के लिए अथवा आत्मा के लिए ? शरीर की साधना का कोई महत्त्व नही है । वह तो अनन्त काल से अनन्त बार होती ही रही हैं। साधना तो आत्मा की होनी चाहिए। पुण्य के खेल इतने चमकदार होते है, कि साधक इसके प्रकाश से आगे के एक दिव्य प्रकाश को देख नही पाता। ससारी आत्मा पाप करता हुआ भी पाप के फल को नही चाहता, किन्तु पुण्य के फल को चाहता है, क्योकि वह उसे मधुर और रुचिकर लगता है। भोगासक्त आत्मा चक्रवर्ती के वैभव को और स्वर्ग के सुख को ही चरम सिद्धि समझता है। सुख की अभिलाषा मे यह ससारी आत्मा इतना आसक्त हो जाता है, कि सुख के अतिरिक्त इसे अन्य कोई वस्तु अच्छी नही लगती । सुख चाहिए, केवल सुख चाहिए । भले ही वह सुख बन्धन मे ही डालने वाला क्यो न हो । यह आत्मा की मोह-मुग्ध दशा है। मोह-मुग्ध आत्मा ससार और ससार के सुखो मे इतना आसक्त हो जाता है, कि उसे भव-बन्धनो का परिज्ञान ही नही होने पाता । ससारी आत्मा दुःख को छोडना चाहता है, किन्तु सुख को पकडना चाहता है । तत्वदर्शी आत्मा वह है, जो दुःख के समान ससारी सुख को भी त्याज्य समझता है । वह ससारी सुख प्राप्त करके अहकार नही करता, बल्कि सोचता है, कि यह भी एक प्रकार का बन्धन ही है । बन्धन को बन्धन समझना, यही सबसे बडा सम्यक् दर्शन है । इस सम्यक् दर्शन के अभाव मे आत्मा अनन्त काल से भटकती रही है और अनन्त काल तक भटकती रहेगी ।

• मुझे एक लोक-कथानक की स्मृति आ रही है । एक बार की बात है, कि बादशाह अकबर रात्रि के समय अपने महल मे सो रहा था । रात्रि को सहसा नीद खुल जाने पर उसने देखा, कि रात काफी व्यतीत हो चुकी है, किन्तु अभी सवेरा होने मे कुछ देर है । उसी समय राज-मार्ग पर से किसी लडकी के रोने की आवाज सुनाई दी । रोने की आवाज सुनकर बादशाह विचार करता है, कि यह लडकी कौन है, और भला स्वर्णिम प्रभात के आगमन के समय पर क्यो रो रही है ? पूछ-ताछ करने पर बादशाह को मालूम हुआ, कि लडकी के रोने का यह कारण है कि उसका पति उसे विदा कर अपने साथ ले जा रहा है ।

संसार की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ विचार अवश्य देती है। बादशाह इसी विषय पर विचार करने लगा और सोचने लगा कि किसी भी व्यक्ति के घर पर दामाद का आना अच्छा नहीं है। यह दामाद बड़े खराब हैं जो गरीब लड़की को इस प्रकार रुलाते हैं। यदि संसार के सभी दामादों का सफाया करा दिया जाए, तो फिर कभी किसी लड़की को न उसके माता-पिता से वियोग होगा और न कभी इस प्रकार रोने का प्रसंग ही उपस्थित होगा।

प्रातःकाल जब बादशाह अपनी राजसभा में आया तो सबसे पहले उसने बीरबल को अपने पास बुलवाया और आदेश दिया कि मेरे राज्य के सभी दामादों को शूली पर चढ़ा दिया जाए। बादशाह के आदेश को सुनकर सभी आश्चर्यचकित थे और सभी एक दूसरे के मुख की ओर देखकर बादशाह द्वारा सहसा दिए जाने वाले इस विचित्र आदेश के गूढ़ रहस्य को जानने का प्रयत्न कर रहे थे।

बीरबल ने बादशाह के आदेश को सुना और उसका पालन करने के लिए राजधानी से बाहर एक विशाल मैदान में शूली लगवाना प्रारम्भ कर दिया। बीरबल ने जिन शूलियों को लगाया था उन शूलियों में कुछ सोने की थी कुछ चाँदी की थी और शेष सभी लोहे की थी। जब बीरबल ने अपने कार्य को सम्पन्न कर लिया तब दिखाने के लिए बादशाह को बुलाया गया। बादशाह अकबर को बड़ा आश्चर्य हुआ कि उन शूलियों में कुछ शूलियाँ सोने और चाँदी की भी हैं। बादशाह ने सोचा तो बहुत कुछ, किन्तु बीरबल की बुद्धि के रहस्य को समझना आसान न था। आखिर बादशाह ने बीरबल से पूछ ही लिया कि—"शूलियों में कुछ सोने और चाँदी की क्यों लगाई गई हैं?

बीरबल ने विनम्र वाणी में कहा—'जहाँपनाह! शूली लगाने का तो आपका आदेश है ही, किन्तु मैंने सोचा कि शूली लगवाते समय पद और प्रतिष्ठा का भी ध्यान रखना चाहिए। इसीलिए मैंने कुछ सोने की और कुछ चाँदी की शूलियाँ भी लगवा दी हैं।

बादशाह अकबर ने जिज्ञासा के स्वर में पूछा—'क्या मतलब तुम्हारा?'

बीरबल ने मधुर स्वर में कहा—'जहाँपनाह! आप भी तो किसी के दामाद हैं। मैं भी किसी का दामाद हूँ और ये सभासद भी किसी न किसी के दामाद अवश्य हैं। आपके मेरे और इन सभासदों के पद और प्रतिष्ठा का ध्यान रखकर ही मैंने आपके लिए और अन्य सामन्त

राजाओ के लिए सोने की, अपने लिए और अन्य मंत्रियो के लिए चांदी की शूलियां लगवाई हैं, तथा शेष जनता के लिए लोहे की शूलियां काम मे लाई जा सकेंगी। पद और प्रतिष्ठा की दृष्टि से काफी सोच-विचार के बाद ही मैंने यह वर्गीकरण किया है।"

वीरवल की बात को सुनकर सभी सभासद हँस पडे, बादशाह अकबर भी मन्द-मन्द मुस्कराने लगा। किन्तु सँभलकर बोला—"वीरवल, यह क्या तमाशा है? मौत, और वह भी सोने और चांदी के भेद से। मौत तो मौत है, चाहे सोने की शूली से हो, चाहे चांदी की शूली से हो और चाहे लोहे की शूली से हो। सोने और चांदी की शूली पर चढने वाला यदि यह अहकार करे, कि मेरी मौत उन व्यक्तियो से अच्छी है, जिनको लोहे की शूली मिल रही है, तो यह एक प्रकार की मूर्खता ही होगी।"

वीरवल का चितन काम कर गया। दामादो को सूली देने का आदेश वापस ले लिया गया। किन्तु पद और प्रतिष्ठा के अह पर वह चोट लगी कि काफी दिनो तक जनता की जबान पर यह चर्चा चलती रही।

कहानी समाप्त हो चुकी है। उसके मर्म को समझने का प्रयत्न कीजिए। मर्म यह है, कि ससारी व्यक्ति पाप को बुरा समझता है, किन्तु पुण्य को अच्छा समझता है। परन्तु जिस प्रकार पाप वन्धन है, उसी प्रकार पुण्य भी तो एक वन्धन है? पाप लोहे की शूली है, तो पुण्य सोने की शूली है। शूली, शूली है। उन दोनो का कार्य एक ही है, किन्तु फिर भी मोह-मुग्ध आत्मा पुण्य के वन्धन को पाकर प्रसन्न होता है और सोचता है कि, मैं बडा भाग्यशाली हूँ, कि मुझे लोहे की अपेक्षा सोने की शूली मिली है। तत्व-दर्शी आत्मा की दृष्टि मे जिस प्रकार लोहे की शूली मृत्यु का कारण है, उसी प्रकार सोने की शूली भी मृत्यु का कारण है। जिस प्रकार लोहे की वेडी वन्धन का काम करती है, उसी प्रकार सोने की वेडी भी वन्धन का काम करती है। वन्धन दोनो जगह है, लोहे मे भी और सोने मे भी। अध्यात्म-पक्ष मे अध्यात्म-साधक यही सोचता और समझता है, कि जैसे पाप वन्धन है, वैसे पुण्य भी वन्धन है। पाप और पुण्य मे अध्यात्म-दृष्टि से कोई अन्तर नही है। यदि कुछ अन्तर भी है, तो केवल इतना ही कि एक प्रतिकूल वेदन है और दूसरा अनुकूल वेदन है। एक दुःखरूप है तो दूसरा क्षणिक सुखरूप है। पुण्य की यह अनुकूलता और सुखरूपता भी

केवल व्यावहारिक है। वस्तुतः तो पुण्य भी निज स्वरूप से प्रतिकूल है, अतएव दुःखरूप ही है। यही कारण है कि—मोक्ष का शाश्वत सुख प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार पाप को छोड़ा जाता है उसी प्रकार पुण्य को भी छोड़ा जाना चाहिए। क्षणिक सुख पाकर उसका अहंकार करना कोरी मूढ़ता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। ज्ञानी की दृष्टि में एवं विवेकशील आत्मा की दृष्टि में बन्धन बन्धन है, फिर भले ही वह दुःखरूप हो अथवा सुखरूप हो। यह नहीं हो सकता कि पाप दुःखरूप होने से छोड़ दिया जाए और पुण्य सुखरूप होने से उसे सदैव अपने से चिपटा रखा जाए।

मैं आपसे धर्म की बात कह रहा था। जीवन के विकास के लिए धर्म-साधना आवश्यक है, इसमें किसी प्रकार का विवाद हो ही नहीं सकता। धर्म की व्याख्या और धर्म की परिभाषा में विवाद हो सकता है, किन्तु धर्म की उपयोगिता में किसी प्रकार का विचार भेद नहीं हो सकता। जिस प्रकार बीज के लिए भूमि ही आवश्यक नहीं है, जल, पवन और प्रकाश भी आवश्यक होता है, क्योंकि यदि बीज को धरती में डालने के बाद उसे समय पर उचित मात्रा में जल न मिले, शुद्ध पवन न मिले और सूर्य का प्राणप्रद प्रकाश न मिले तो बीज को उवरा भूमि मिल जाने पर भी उसमें से अंकुर नहीं फूट सकता। यही सिद्धान्त धर्म के विषय में भी समझिए। धर्म का मूलाधार है—'आत्मा'। धर्म सदा आत्मा में ही रहता है। आत्मा के बिना धर्म का अन्य कोई आधार नहीं बन सकता। किन्तु आत्मगत धर्म को जो कि प्रसुप्त पड़ा हुआ है, जागृत करने के लिए महापुरुष की वाणी, गुरु का उपदेश और शास्त्र का स्वाध्याय भी आवश्यक माना गया है। यद्यपि इन तीनों में धर्म को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है, धर्म कभी उत्पन्न होता भी नहीं है, वह तो एक शाश्वत तत्त्व है, सदा से रहा है और सदा ही रहेगा, फिर भी उसे पल्लवित और विकसित करने के लिए देव, गुरु और शास्त्र के अवलम्बन की आवश्यकता रहती है।

अध्यात्म-शास्त्र के अनुसार धर्म आत्मा की उस परम स्वरूप-परिणति को कहते हैं, जिसमें किसी बाह्य हेतु एवं कारण की अपेक्षा नहीं रहती। धर्म आत्मा का सहज शुद्ध स्वस्वभाव है। आत्मा के जितने गुण हैं वे सभी धर्म हैं। गुण को धर्म कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा में जितने गुण हैं वे सब उसके धर्म हैं। आत्मा में अनन्त गुण हैं, इसलिए आत्मा में अनन्त धर्म हैं। उन अनन्त धर्मों

मे परस्पर किसी प्रकार का विरोध नही होता। क्योकि प्रत्येक धर्म का अस्तित्व अपनी-अपनी अपेक्षा से है। निश्चय दृष्टि से अहिंसा कहाँ रहती है? आत्मा मे। सत्य कहाँ रहता है? आत्मा मे। अस्तेय कहाँ रहता है? आत्मा मे। ब्रह्मचर्य कहाँ रहता है? आत्मा मे। और अपरिग्रह कहाँ रहता है? आत्मा मे। इस प्रकार शील, सन्तोष, विवेक, त्याग आदि-आदि अनन्त धर्मों का आधार एक मात्र आत्मा ही है।

धर्म-तत्व इतना व्यापक है कि नास्तिक से नास्तिक व्यक्ति भी इसकी सत्ता मे इन्कार नही कर सकता। धर्म ही सबका प्राण है, धर्म के बिना व्यक्ति का कुछ भी मूल्य नही है। यह बात अलग है कि धर्म अनन्त स्वरूप है। किसी ने धर्म के किसी अंग-विशेष को विकसित किया है और किसी ने किसी अंग-विशेष को विकसित किया है। उदाहरण के लिए, प्रेम को ही लीजिए। यह एक आत्मा की परिणति-विशेष धर्म है, जो स्थिति विशेष से अशुभ, शुभ और शुद्ध रूप में प्रवाहित रहता है। प्रेम अपने आप मे एक एव अखण्ड होकर भी पात्र-भेद से विविध रूपो मे अभिव्यक्त होता है। जैसे गंगा की निर्मल धारा का जल एक है, किन्तु किसी ने उसे अपने स्वर्ण-पात्र मे भरा, किसी ने उसे रजत-पात्र मे भरा, और किसी ने उसे मिट्टी के पात्र मे भरा। लोक-व्यवहार मे पात्र भेद से जल का भेद माना जाता है, वैसे ही प्रेम की धारा एक तथा अखण्ड होने पर भी पात्र-भेद के आधार पर उसके अगणित रूप हो जाते हैं। माता-पिता का अपनी सन्तान के प्रति जो प्रेम है, उसे वात्सल्य कहा जाता है। पति और पत्नी के मन मे एक दूसरे के प्रति जो प्रेम है, उसे प्रणय कहा जाता है। शिष्य के मन मे अपने गुरु के प्रति जो प्रेम है, उसे भक्ति कहा जाता है। भगवान के प्रति जो एक भक्त के मन मे विशुद्ध प्रेम रहता है, उसे पराभक्ति कहा जाता है। भाई और बहिनो मे तथा मित्रो मे परस्पर एक दूसरे के प्रति जो अनुराग रहता है एव प्रेम रहता है, उसे स्नेह कहा जाता है। यही प्रेम तत्व जब परिवार, समाज और राष्ट्र की सीमाओ को लाँघ कर विश्व-व्यापी होता जाता है, विश्व के जन-जन के मन-मन मे जब यह राग-द्वेषरहित निर्मल भाव से परिव्याप्त होता जाता है, तब इसे अहिंसा और अभय तथा अत्रासरूप मैत्री कहा जाता है। अहिंसा का अर्थ है—प्राण-प्राण के प्रति निर्मल प्रेम एव निष्काम सद्भाव। मैत्री का अर्थ है—वह विचार जिसमें सबको आत्मवत् समझने की भावात्मक क्षमता एव शक्ति हो। जब धर्म का प्रकाश सूर्य-प्रकाश के समान भूम-

रहित विश्वव्यापी एवं लोकव्यापी बनता जाता है, तब उसको अहिंसा और मैत्री कहा जाता है किन्तु जब धर्म का प्रकाश दीपक के प्रकाश के समान मन्द एवं मन्दतर होकर सीमित एवं संकुचित होता जाता है, तब उसे भक्ति प्रेम स्नेह वात्सल्य और प्रणय आदि नामों से कहा जाता है।

मैं आपसे धर्म की व्याख्या और परिभाषा के सम्बन्ध में कुछ विचार कर रहा था। वास्तव में धर्म को किसी एक व्याख्या में बाँधना अथवा किसी एक परिभाषा की सीमा में सीमित करना मैं पसन्द नहीं करता। धर्म एक व्यापक तत्त्व है, और मेरे विचार में उसे व्यापक ही रहना चाहिए। धर्म एक वह तत्त्व है, जो अपने अस्तित्व के लिए किसी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता। वह आरोपित नहीं होता सहज होता है। जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है, उसे किसी अन्य पदार्थ की आरोपित सहायता की आवश्यकता नहीं है, वैसे ही जिस वस्तु का जो धर्म है, वह सदा निरपेक्ष ही रहता है। आत्मा में सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप धर्म है। दर्शन का विपरीत परिणाम मिथ्या दर्शन ज्ञान का विपरीत परिणाम मिथ्याज्ञान और चारित्र का विपरीत परिणाम मिथ्याचारित्र—ये तीनों वस्तुत धर्म नहीं है, किन्तु मोहवश इन्हें धर्म समझ लिया गया है। वास्तविक धर्म तो आत्मा का विशुद्ध परिणाम सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही है। इसी को अध्यात्म शास्त्र में रत्नत्रय साधनमय और मोक्ष-मार्ग कहा जाता है। जो जीव दर्शन ज्ञान और चारित्र में स्थित हो रहा है, उसे स्व-समय कहा जाता है। इसके विपरीत जो पुद्गल एवं कर्म प्रदेशों में स्थित है, उसे पर-समय कहा जाता है। यह आत्मा मोह के कारण एवं राग-द्वेष के कारण पर-पदार्थ में उत्कर्ष और अपकर्ष को अपना उत्कर्ष और अपकर्ष मानता रहा है। पुद्गल के उत्कर्ष को अपना उत्कर्ष मानना और पुद्गल के अपकर्ष को अपना अपकर्ष समझना यह सबसे बड़ा मिथ्यात्व है यह सबसे बड़ा अज्ञान है। इस आत्मा ने अज्ञान एवं मोह के वशीभूत होकर अपने शरीर के विकास को अपना विकास समझा और अपने शरीर के विनाश को अपना विनाश समझा। यही सबसे बड़ा अधर्म है, यही सबसे बड़ा पाप है और यही सबसे बड़ा पातक है। कुछ व्यक्ति अपने पथ के शास्त्र और अपने पथ के वेश को ही धर्म मानते है, शेष सबको अधर्म। यह भी एक प्रकार का मिथ्यात्व एवं अज्ञान ही है। क्योंकि धर्म किसी

वेश-विशेष मे नही रहता, धर्म किसी पथ-विशेष मे नही रहता, धर्म किसी स्थान-विशेष मे नही रहता, किसी भी बाह्य जड वस्तु मे धर्म मानना सबसे बडा अज्ञान है। क्योकि धर्म तो आत्मा का गुण है, इसलिए आत्मा मे ही रह सकता है। आप एक बात का ध्यान रखिए, कि धर्म किसी स्थूल पदार्थ का नाम नही, वह तो स्वस्वरूप का भावनात्मक एव उपयोगात्मक रूप ही होता है। इसलिए अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये धर्म है, क्योकि ये सब आत्मा के निज गुण है और निज गुणो का विकास ही सच्चा धर्म है। आप जीवो की अहिंसा एव दया करते है, बडी अच्छी बात है। आप सत्य बोलते है, बहुत सुन्दर है। आप ब्रह्मचर्य का पालन करते है, यह जीवन का एक अच्छा नियम है। आप अपरिग्रह को धारण करते है, यह एक अच्छी साधना है। आप किसी भी प्रकार का तप करते हैं अथवा किसी भी प्रकार के सयम का पालन करते है, अति सुन्दर! तप करना अच्छा है और सयम का पालन करना भी अच्छा है। परन्तु क्या कभी आपने यह भी सोचा है कि अहिसा, सयम और तप की आराधना करना धर्म कब होता है? यह धर्म तभी बनता है, जब कि अहिसा पर विश्वास हो, सयम पर विश्वास हो और तप पर विश्वास हो। इन तीनो पर विश्वास का अर्थ होगा, आत्म-सत्ता की श्रद्धा एव आत्म-सत्ता की आस्था। इसी को सम्यक् दर्शन एव सम्यक्त्व कहते है। मेरे कहने का अभिप्राय यही है, कि यदि सम्यक् दर्शन है, तो अहिसा भी सफल है, सत्य भी सफल है, अस्तेय भी सफल है, ब्रह्मचर्य भी सफल है और अपरिग्रह भी सफल है, अन्यथा ये सब कुछ निष्फल एव निरर्थक है। अहिसा पर विश्वास न हो और अहिसा का पालन किया जाए, सयम पर विश्वास न हो और सयम का पालन किया जाए, तप मे विश्वास न हो और तप का पालन किया जाए, यह साधक-जीवन की एक विचित्र विडम्बना है, यह एक अज्ञानता की दुखद स्थिति है। जहाँ अज्ञान होता है, वहाँ श्रद्धान नही रहता और जहाँ श्रद्धान नही रहता, वहाँ धर्म भी नही रहता। कृति से पूर्व ज्ञप्ति चाहिए और ज्ञप्ति से पहले दृष्टि चाहिए, जहाँ दृष्टि शुद्ध होती है, वही ज्ञप्ति का प्रकाश फैलता है और ज्ञप्ति के प्रकाश मे ही कृति सफल होती है। किसी भी धर्म-क्रिया को करने से पहले अपने मन मे तोलो, और अपनी बुद्धि मे विचार करो कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ उससे मेरी आत्मा का विकास होगा कि नही। धर्म की सबसे सुन्दर परि-

भाषा में यही व्याख्या सही है, कि जिसमें आत्मा का विकास हो, आत्मा का उत्थान हो और आत्मा के बन्धनों का अभाव हो, वही धर्म है।

सबसे मुख्य और सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि सम्यक् दर्शन क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि — सम्यक् रुचि ही सम्यक् दर्शन कहा है। परन्तु रुचि क्या है? यह भी एक प्रश्न है। रुचि को धर्म कहा जाए अथवा अधर्म कहा जाए? रुचि धर्म है अथवा कर्मों का औदयिक परिणाम है? यह प्रश्न आज का नहीं बहुत प्राचीन है। इस प्रश्न पर गम्भीरता के साथ विचार करने पर ज्ञात होता है, कि रुचि वास्तव में एक प्रकार का राग है, एक प्रकार की इच्छा है। राग और इच्छा कषाय भाव है। फिर उस रुचि को धर्म कैसे कहा जा सकता है? जितना भी कषाय है, वह चाहे किसी भी रूप में क्यों न हो वह कभी धर्म नहीं बन सकता। रुचि एवं इच्छा को यदि धर्म माना जाए अथवा श्रद्धान माना जाए, तब तो संसार में कोई भी जीव अभव्य नहीं रहेगा क्योंकि रुचि अभव्य में भी रहती ही है। यदि रुचि को ही श्रद्धान कहा जाए, तब तो मिथ्यादृष्टि जीव को भी सम्यक् दृष्टि कहना पड़ेगा क्योंकि रुचि उसमें भी हो सकती है। फिर इस संसार में किसी भी जीव को अभव्य और मिथ्यादृष्टि कहने का हमें क्या अधिकार है? यदि कहा जाए कि केवल रुचि को ही हम श्रद्धान नहीं कहते बल्कि तत्त्व-रुचि को श्रद्धान कहते हैं, इतना कहने पर भी मेरे विचार में उक्त प्रश्न का समाधान नहीं हो पाता है। क्योंकि तत्त्व रुचि नास्तिक अन्धविश्वासी और एक मांसाहारी व्यक्ति में भी किसी न किसी रूप में हो सकती है। तत्त्व-रुचि नहीं, तत्त्व-रुचि का स्वरूप ही निर्णायक है। जो तत्त्व-रुचि आत्मगामी है, वह चेतना का शुद्ध परिणमन है, वह राग नहीं है। परन्तु जो तत्त्वरुचि संसार-गामी है, वह राग है और वह सम्यक् दर्शन नहीं है।

बहुत दिनों की बात है। मैं तत्कालीन पटियाला राज्य के महेन्द्रगढ़ नगर में ठहरा हुआ था। उस समय दिल्ली के सुभाषचन्द्र जैन मेरे पास सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान ओलिवर लकुम्ब को लाए। वह पाश्चात्य विद्वान बड़ा ही मधुर भाषी, विचारशील और दर्शन-शास्त्र का एवं धर्म-शास्त्र का एक विशिष्ट पण्डित था। भारत की प्राचीनतम भाषाएँ प्राकृत एवं संस्कृत पर उसका असाधारण अधिकार था। एक विदेशी होकर उसने प्राकृत एवं संस्कृत सीखी यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। उसने जैन-धर्म और जैन-दर्शन का विशिष्ट चिन्तन परिशीलन एवं अध्य

यन किया था। मैंने देखा कि वह अपनी वातचीत मे यथा प्रसग आचाराग सूत्र, भगवती सूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र एव कल्पसूत्र आदि के मूल पाठो को उद्धृत करता जाता था। यदि कोई भारतीय विद्वान इस प्रकार पाठो को वोलता तो कोई आश्चर्य की वात न होती। किन्तु एक विदेशी होकर इस प्रकार भारतीय विद्या पर और भारतीय भाषा पर अधिकार रखता हो, तो वस्तुत आश्चर्य की वात होती है। मैंने अनुभव किया, कि प्रोफेसर का चिन्तन एव अध्ययन गम्भीर है। उसे जो कुछ शकाएँ थी, उन्हे दूर करने के लिए और वर्तमान मे जैन-धर्म एव जैन-दर्शन की परम्परा किस रूप मे और कैसी है, यह देखने के लिए ही वह भारत आया था। अहिसा और अनेकान्त पर उसने अपने मन की शकाएँ मेरे समक्ष रक्खी। मैंने यथोचित समाधान की दिशा प्रशस्त की। इसके अतिरिक्त मूल आगम, उनकी टीकाएँ और उनके भाष्यो मे से भी उसने अनेक चर्चाएँ की। वातचीत के प्रसग मे मैंने अनुभव किया, कि वह एक शान्तचित्त एव प्रसन्न-चित्त व्यक्ति है। अपना तर्क कट जाने पर भी उसे आवेश नही आता था, और प्रसन्नता से कहता कि—"मुनिजी! मेरे तर्क से आपका तर्क पैना है, आपका चिन्तन गम्भीर एव तर्कसगत है।"

मैंने देखा कि उसके मन मे तत्त्वरुचि का भाव वहुत गहरा एव तीव्र है। तत्त्वचर्चा मे वह इतना तल्लीन हो जाता था कि वाहर की स्थिति से अलिप्त हो जाता था। भयकर गर्मी पड रही थी। वह पसीने से लथपथ हो जाता था, फिर भी घन्टो ही एक आसन से तत्त्व चर्चा मे सलग्न रहता।

वातचीत की समाप्ति पर जव वह जाने के लिए तैयार हुआ, तो मेरे मन मे उसमे एक प्रश्न पूछने की भावना उत्पन्न हुई। मैं सोचता था कि यह एक जिज्ञासु व्यक्ति है, जिज्ञासा लेकर यहाँ आया है, अत अपनी ओर से इससे किसी प्रकार का प्रश्न नही पूछना चाहिए। परन्तु लम्वी वातचीत के कारण मैं उनके स्वभाव से परिचित हो गया था, मुझे विश्वास हो गया था, कि मेरे कुछ भी पूछने पर वह वुरा नही मानेगा। मैंने पूछा—"क्या मैं भी आपसे कोई प्रश्न कर सकता हूँ?" वह प्रसन्न होकर वोला—"हाँ अवश्य पूछिए। प्रश्नोत्तर से ज्ञान वढता ही है।"

मैंने अपने प्रश्न की भूमिका वनाते हुए कहा—"आपने प्राचीन आगम ग्रन्थ पढे हैं, आपने उत्तरकालीन जैन-दर्शन के ग्रन्थो का अध्ययन

भी किया है और आपने अहिंसा और अनेकान्त पर गम्भीर चिन्तन एवं मनन भी किया है। तब यह तो स्वाभाविक है कि आप मांसाहार नहीं करते होंगे। वह मन्द मुस्कान के साथ बोला— नहीं मैंने मांसाहार का परित्याग तो नहीं किया है।

मेरे मन और मस्तिष्क में यह विचार तेजी के साथ चक्कर काटने लगा कि अहिंसा का इतना गहरा ज्ञान प्राप्त करने के बाद और तत्त्व-चर्चा में इतनी गहरी दिलचस्पी होने पर भी यह मांसाहार का त्याग नहीं कर सका। मैंने शान्त स्वर में अपने उक्त प्रश्न को फिर दूसरे रूप में प्रस्तुत किया कि— 'आपने जैन आगमों का किस उद्देश्य से अध्ययन किया है?'

मेरे प्रश्न का विद्वान प्रोफेसर ने उत्तर दिया कि 'मैंने जैन-धर्म के आगमों का और जैन-दर्शन के ग्रन्थों का अध्ययन तथा अहिंसा एवं अनेकान्त का अनुशीलन आचार-साधना की दृष्टि से नहीं किया है। जैन आगमों का अध्ययन एवं जैन परम्परा के नियम उपनियमों का अनुशीलन मैंने इसीलिए किया है, कि जैन-धर्म एवं जैन-दर्शन का मैं अधिकारी विद्वान बन सकूँ और अपने देश के विश्वविद्यालयों में प्राच्यविद्या के अध्ययन एवं शोधकार्य की आवश्यकता पूर्ण कर सकूँ।

मैं सोच रहा था कि तत्त्व-रुचि उस विद्वान में बहुत थी और वह जैन-दर्शन के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व को पकड़ता था तथा विचार चर्चा के प्रसंग पर गहरे से गहरे उतरने की उसमें अद्भुत क्षमता भी थी। परन्तु क्या इस प्रकार के तत्त्व ज्ञान और तत्त्व-रुचि से आत्मा का कल्याण हो सकता है? मैं समझता हूँ— नहीं। और आप भी यही कहेंगे कि नहीं। ज्ञान होना अलग वस्तु है, किन्तु उसे जीवन में तब तक नहीं उतारा जा सकता, जब तक कि उस पर अन्तरंग भाव से श्रद्धा एवं प्रतीति न हो। केवल सम्मान प्राप्त करने के लिए, अपने पाण्डित्य की धाक जमाने के लिए और केवल पैसा कमाने के लिए जो तत्त्व-चर्चा एवं तत्त्व-रुचि होती है, उससे आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। इस प्रकार की तत्त्व-रुचि एक प्रकार का राग और एक प्रकार की इच्छा ही है। और इच्छा एवं राग बन्ध का मार्ग है, फिर उसमें आत्मा का विकास कैसे हो सकता है। अध्यात्म-दर्शन कहता है कि पहले अपने को समझो, अपने ज्ञान को जानो और फिर अपनी सत्ता पर आस्था करो। यदि उसको समझ लिया जा सका। सम्यक्

लिया। अपने को समझना ही सच्चा सम्यक् दर्शन है। अपने से भिन्न पर-पदार्थ की तत्व-रुचि से कभी आत्मा का कल्याण नही हो सकता, उत्थान नहीं हो सकता। पर-पदार्थ की रुचि और पर-पदार्थ की श्रद्धा मोक्ष की ओर नहीं, ससार की ओर ले जाती है, प्रकाश की ओर नही, अन्धकार की ओर ले जाती है तथा अमरता की ओर नही, मृत्यु की ओर ले जाती है। पर-पदार्थ की रुचि का अर्थ है—"स्व से भिन्न पर की ओर अभिमुख होना, आत्मा से भिन्न अनात्मा की प्रतीति करना।" पर-श्रद्धा का अर्थ है—"स्व से भिन्न अन्य पर विश्वास करना, और आत्मा से भिन्न अनात्मा पर विश्वास करना।" याद रक्खो, सबसे बडा धर्म सम्यक् दर्शन और सम्यक् श्रद्धान ही है। सम्यक् दर्शन के होने पर अहिसा, सयम और तप रूप धर्म आत्मा मे स्थिर रह सकता है। धर्म का अर्थ है—"स्व स्वरूपोपलब्धि।" जिसने अपने को समझ लिया, वस्तुत वही धर्म के रहस्य को समझ सकता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि पर-पदार्थ की तत्वरुचि और पर-पदार्थ का श्रद्धान धर्म नही हो सकता। आत्म-रुचि और आत्म-श्रद्धान ही सबसे बडा धर्म है, सबसे बडा कर्तव्य है। अहिसा एव सत्य आदि धर्म की साधना तभी सार्थक होती है, जब कि उनके आधारभूत आत्मा पर विश्वास हो। अभव्य और मिथ्या दृष्टि आत्मा मे सबसे बडी कमी यही है, कि वह जानता बहुत कुछ है, समझता बहुत कुछ है, किन्तु उसको स्वरूपोन्मुख-स्वरूप सम्यक् दर्शन और सम्यक् श्रद्धान का अभाव होने से वह मोक्ष के मार्ग को ग्रहण नही कर सकता। जब तक साधक मोक्ष के मार्ग की ओर उन्मुख और ससार-मार्ग की ओर विमुख नही होगा, तब तक वह कल्याण-पथ का पथिक नही बन सकता। तत्वार्थ-श्रद्धान का अर्थ जड पदार्थ का श्रद्धान नही है, बल्कि उसका सच्चा अर्थ आत्म-श्रद्धान एव आत्म-भान ही है। पुद्गल की श्रद्धा करने से राग-द्वेष आदि कषाय घटते नही, बढते है। राग एव द्वेष आदि कषाय की क्षीणता एव मन्दता तभी होगी, जब कि पुद्गल एव जड तत्व का श्रद्धान न करके, आत्मा का श्रद्धान किया जाएगा। मोक्ष के साधक का यह कर्त्तव्य है, कि वह सबसे पहले स्व और पर मे विवेक करना सीखे। स्व और पर का विवेक होने पर ही सच्चे धर्म की उपलब्धि हो सकती है और उसी धर्म से आत्मा का कल्याण हो सकता है, अन्यथा अनन्त भव-सागर मे डूबते रहने के सिवा कुछ नही।

कितनी विचित्र बात है, कि शरीर पर राग हो जाता है, धन

पर प्रेम हो जाता है, विविध इन्द्रियों के विविध भोग्य पदार्थों पर आस्था जम जाती है, किन्तु आत्मा का अपने आप पर, निज शुद्ध स्वरूप पर विश्वास नहीं होता। याद रखिए, जब तक पुद्गल पर मोह रहेगा तब तक आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकेगी। यह अन्तश्चित्त अनन्त-अनन्त काल से भोग-वासना का अधिष्ठान रहा है, अतः इसमें आज भी माया की दुर्गन्ध आती है। राग-द्वेष के वशीभूत होकर यह आत्मा क्षणिक सुख देने वाले पदार्थों में राग करता है और दुःख देने वाले पदार्थों में द्वेष करता है। राग करना और द्वेष करना यही पतन का सबसे बड़ा कारण है। किसी पदार्थ को छोड़ देने मात्र से त्याग नहीं होता किन्तु उस पदार्थ के प्रति आत्मविस्मृतिमूलक अथवा आत्म-अस्थिरतामूलक जो राग है, उसका परित्याग ही सच्चा त्याग है।

एक अनुभवी सन्त के पास एक बार एक धन-सम्पन्न व्यक्ति आया। सन्त उस समय अपने ध्यान योग में संलग्न थे। कौन आता है और कौन जाता है, इसका भान भी उन्हें नहीं था। वह भक्त आया और नमस्कार करके सन्त के समीप ही बैठ गया। सन्त ने जब अपनी समाधि खोली तो आगन्तुक व्यक्ति ने नमस्कार करने के बाद सन्त से निवेदन किया कि 'भगवन्! मैंने अपनी सारी सम्पत्ति अपने परिवार के नाम करदी है। मैं अब किसी प्रकार का काम धन्धा नहीं करता। सब कुछ छोड़ दिया है। यहाँ तक कि शरीर के वस्त्र भी साधारण हैं, खान-पान में भी अब मेरी विशेष रुचि नहीं रहती किन्तु आश्चर्य है, कि सब कुछ त्याग देने पर भी अभी तक मुझे शान्ति नहीं मिली है। आप जैसे सन्तों के श्रीमुख से यह सुना था कि जिस परिग्रह का संग्रह किया है, उसका परित्याग कर देने पर शान्ति मिल जाती है। किन्तु मुझे तो अभी तक शान्ति नहीं मिली। इसका क्या कारण है?' सन्त ने उसकी बातों को ध्यान से सुना और कहा— 'जिस पात्र में वर्षों तक तेल रहा हो उसमें से तेल की गन्ध अच्छी तरह माँजने पर भी आसानी से नहीं जाती। यह माना कि आपने अपनी सम्पत्ति का त्याग कर दिया किन्तु मन में से सम्पत्ति का राग जैसा छूटना चाहिए था वैसा छूटा नहीं है। सम्पत्ति पुत्रों को सौंप दी है। किन्तु अब भी तुम्हारे मन में यह विकल्प है कि कहीं नादान बालक सम्पत्ति नष्ट न कर दें। सम्पत्ति तो छोड़ी किन्तु उसका राग कहाँ छोड़ा है? और इस स्थिति में तुम्हें शान्ति लाभ हो तो कैसे हो?

मैं आपसे कह रहा था, कि अनन्तकाल से जड पदार्थों के प्रति राग रूप अधर्म आत्मा मे रहा है, परन्तु स्वरूपदर्शन रूप सम्यक् दर्शन धर्म के होते ही आत्मा का उत्थान होने लगेगा, चैतन्य का विकास होने लगेगा। धैर्य रखो और प्रतीक्षा करो, कि आपकी आत्मा मे सम्यक् दर्शन का दिव्य प्रकाश जगमगाने लगे। सम्यग् दर्शन के दिव्य आलोक मे ही आप अपने धर्म को और अपने कर्त्तव्य को भली भाँति समझ सकेंगे। समझ क्या सकेंगे? सम्यक् दर्शन रूप धर्म के प्राप्त होते ही यह आत्मा धन्य-धन्य हो जाता है।

★

११

सम्यग् दर्शन की महिमा

• • •

यह आत्मा अनन्त काल से भव-बन्धनों में आबद्ध है। बन्धन से विमुक्त होने के लिए, जिन साधनों की आवश्यकता है, उन्हीं का वर्णन आजकल यहाँ चल रहा है। आत्मा जब अपने स्वभाव को छोड़कर विभाव में चला जाता है, तब यह उसकी बन्ध-दशा कहलाती है। जब आत्मा के विभाव भावों का अभाव हो जाता है, और आत्मा अपने स्वभाव में रमण करने लगता है, आत्मा की उस अवस्था को मोक्ष-दशा कहा जाता है। साधक के जीवन में जब तक सम्यक् दर्शन आदि रत्नत्रय भाव की पूर्णता नहीं होती है, वहाँ तक उसे जो कर्म-बन्ध होता है, उसमें रत्नत्रय की हेतुता नहीं है। याद रखिए, रत्नत्रय तो मोक्ष का ही साधक है वह बन्ध का कारण नहीं होता। परन्तु रत्नत्रय भाव का विरोधी जो रागांश होता है, वही बन्ध का कारण होता है। साधक को जितने अंश में सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र प्राप्त हो चुका है, उतने अंश तक उसे बन्धन नहीं होता। किन्तु जितने अंश में राग है, उतने ही अंश तक उसे बन्धन

होता है। इस कथन पर से यही फलितार्थ निकलता है, कि आत्मा के बन्धनो का अभाव करने के लिए आत्मा का स्वस्वभाव ही सबसे प्रधान एव मुख्य साधन है।

सम्यक् दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक स्वभाव है, जिसकी तुलना किसी भी भौतिक पदार्थ के लाभ से नही की जा सकती। एक ओर भौतिक पदार्थ का लाभ हो और दूसरी ओर सम्यक् दर्शन का लाभ हो, तो इन दोनो मे सम्यक् दर्शन के लाभ का ही पलडा भारी रहता है। कल्पना कीजिए, किसी व्यक्ति को तीन लोक का राज्य भी मिल जाए, पर क्या वह राज्य स्थायी है? राज्य और उसका वैभव कभी स्थायी नही रह सकते, यह सब परिवर्तनशील तत्व है। ससार की माया और ससार की तृष्णा का जब तक अन्त नही होगा, तब तक आध्यात्मिक राज्य का आनन्द नही होगा। सम्यक् दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक गुण है, जिसके पूर्ण विकसित हो जाने पर, आध्यात्मिक भाव अनन्त काल के लिए शाश्वत हो जाता है। सम्यक् दर्शन के होने पर ही अन्य सब गुण अधोमुख से ऊर्ध्वमुख हो जाते हैं।

सम्यक् दर्शन अध्यात्म-साधना का मूल आधार एव मुख्य केन्द्र माना जाता है। सम्यक् दर्शन कही बाहर से आने वाला तत्त्व नही है, वह तो अनन्त काल से आत्मा मे विद्यमान ही है। उस पर जो विकृति आ चुकी है, उसे दूर हटाने की बात ही मुख्य है। आत्मा मे अन्य अनन्त गुण हैं, उनमे एक गुण सम्यक् दर्शन भी है, किन्तु सम्यक् दर्शन का इतना अधिक महत्व एव इतना अधिक गौरव, इसलिए है, कि सम्यक् दर्शन के सद्भाव मे ही ज्ञान और चारित्र पनप सकते हैं। सम्यक् दर्शन के सद्भाव मे ही यम और नियम सफल हो सकते हैं। सम्यक् दर्शन के सद्भाव मे ही तप और स्वाध्याय सार्थक हो सकते हैं। सम्यक् दर्शन समस्त सद्गुणो का आधार है। सम्यक् दर्शन अध्यात्म-जीवन की एक ऐसी कला है, जिसके प्राप्त हो जाने पर जीवन का दुःख भी सुख मे परिवर्तित हो जाता है। सम्यक् दर्शन की भूमि मे कदाचित् दुःख का बीज भी गिर जाए, तो भी वह सम्यक् दर्शन की पवित्र भूमि मे अकुरित नही हो पाता है। यदि कभी अकुरित हो भी जाए, तो वह मिथ्या-दृष्टि के समान उद्वेगकारी एव अनर्थकारी नही होता। सम्यग्दर्शन की पावन भूमि मे पुण्यानुबन्धी पुण्यरूप अथवा आत्मरमणतारूप सुख का बीज तो खूब ही अकुरित, पल्लवित, पुष्पित एव फलित होना है। इसका अर्थ यही है कि सम्यक् दर्शन ही सुख-शान्ति और आनन्द की

मूल जन्मभूमि है। साधक जीवन में यदि क्षमा, मैत्री, समता, करुणा तथा दया आदि की साधना सम्यक्त्व सहित की जाती है, तो उससे अवश्य ही सिद्धि-लाभ होता है।

सम्यक् दर्शन एवं सम्यक्त्व वास्तव में एक अद्भुत शक्ति है, क्योंकि इस सम्यक् दर्शन के प्रभाव से ही आत्मा को विमुक्ति और सिद्धि मिलती है। अधिक क्या कहा जाए, अनन्त अतीत में जितनी भी आत्माएँ सिद्ध हुई हैं और अनन्त भविष्य में जितनी भी आत्माएँ सिद्ध होंगी, उन सबका सम्यक् दर्शन ही आधार है। इसीलिए मैं बार-बार आपके सामने सम्यक् दर्शन की महिमा और गरिमा का वर्णन कर रहा हूँ। यह सम्यक् दर्शन अनुपम सुख का भण्डार है, सब कल्याण का बीज है और संसार-सागर से पार उतरने के लिए एक महान जहाज है। जिसने सम्यक् दर्शन को प्राप्त कर लिया, उसके समक्ष तीन लोक के राज्य का सुख भी कुछ मूल्य नहीं रखता। इस संसार का अन्त करने वाला यह सम्यक् दर्शन जिस किसी भी आत्मा में प्रकट हो जाता है, वह आत्मा कृतकृत्य हो जाता है। सम्यक् दर्शन की ज्योति जब साधक के जीवन-पथ को आलोकित कर देती है, तब इस अनन्त संसार सागर में साधक को किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। वह यह समझता है, कि सम्यक् दर्शन का चिन्तामणि रत्न जब मेरे पास में है, मेरे पास में क्या सुख में ही है, तब मुझे किस बात की चिन्ता है और किस बात का भय है? जिसके पास सम्यक् दर्शन है उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता।

मैं आपसे सम्यक् दर्शन की बात कह रहा था। सम्यक् दर्शन क्या वस्तु है? जैन दर्शन के अनुसार और अध्यात्म-शास्त्र के अनुसार आत्म दर्शन ही वस्तुतः सम्यक् दर्शन है। बिना आत्म-दर्शन के सम्यक् दर्शन हो ही नहीं सकता। सम्यक् दर्शन के लिए यह आवश्यक है, कि आत्मा की प्रतीति हो और इस बात की प्रतीति हो कि मैं हूँ। और वह मैं [illegible] नहीं, देह से भिन्न आत्मा हूँ। यह माया या मोह, यह ममता, यह राग और द्वेष—ये सब आत्मा की अज्ञानता एवं भूल से उत्पन्न हुए हैं। आत्मा की विभाव परिणति के विविध रूप हैं। परन्तु इस तथ्य को कभी मत भूलिए, कि यह विविध विकल्प एवं विकार स्वप्न के संसार के समान हैं। जिस प्रकार स्वप्न तभी तक रहता है, जब तक व्यक्ति निद्रा के अधीन रहता है, किन्तु ज्यों ही व्यक्ति जागता है स्वप्न में उत्पन्न होने वाले वे दृश्य नहीं पाए जाते हैं। इसी

प्रकार आत्मा की विभाव परिणति के यह विविध रूप भी आत्मा की अज्ञानरूप निद्रा के दूर होते ही क्षण भर मे सहसा विलुप्त हो जाते हैं। निद्रा-अधीन व्यक्ति अपनी स्वप्नावस्था मे कभी-कभी बडे विचित्र स्वप्न देख लेता है। वह अपने स्वप्न मे देखता है कि मेरे सामने एक भयकर सर्प है और वह मुझे डसने के लिए मेरी ओर बढा चला आ रहा है। कभी स्वप्न मे वह देखता है, कि वह एक भयकर जगल मे गुजर रहा है, और उसके सामने एक शेर आ गया है, जिसकी भीषण गर्जना से समस्त वन प्रतिध्वनित हो उठा है। जगल मे रहने वाले क्षुद्र जन्तु उसके भय से भयभीत होकर इधर-उधर अपने प्राणो की रक्षा के लिए भाग रहे हैं और वह स्वय भी अपने प्राणो की रक्षा की चिन्ता मे इधर-उधर दौड रहा है। कभी वह देखता है, कि उसको चारो ओर से डाकुओ ने घेर लिया है और वह उनसे बचने के लिए इधर उधर की दौड-धूप कर रहा है। यद्यपि वास्तव मे इनमे से एक भी उस समय उसके पास नहीं है। न सर्प है, न सिह है और न कोई डाकू है, तथापि वह अपनी स्वप्न दशा मे इन भयकर दृश्यो को देखकर भयभीत हो जाता है और चिल्लाने लगता है। स्वप्नावस्था के इन भय एव आतक को दूर करने के लिए यह आवश्यक है, कि आप जाग उठें। आप ज्योंही जागृत हो जाएँगे, त्योंही वह भय एवं आतक स्वत हो विलुप्त हो जाएगा। उस भय एव आतक का कही अता-पता ही नही रहेगा। परन्तु याद रखिए, स्वप्न के भय एव आतक से विमुक्त होने के लिए जागरण की सबसे बडी आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नही है, जिससे आप अपने स्वप्न के भय से विमुक्त हो सकें।

आत्मस्वरूप की अज्ञानता और मिथ्यात्व के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ और वासना आदि असख्य विकार एव विकल्प अनादि काल से आत्मा को उसकी अपनी मोह-निद्रा मे परेशान कर रहे हैं। अनन्त-अनन्त विकल्प तो ऐसे हैं, जिनके नाम का भी हमे पता नही है। आत्मा के अनन्त विकल्पो मे से कितने विकल्पो को हम तुम जानते हैं? आत्मा मे केवल अन्तर्मुहूर्त मे ही असख्य प्रकार के परिणाम उत्पन्न एव विलुप्त होते रहते है। आत्मा अपनी उन सब परिणतियो मे से निरन्तर गुजरती रहती है और इसके फलस्वरूप आकुल-व्याकुल बनी रहती है। परन्तु यह विकल्प और विकार आत्मा मे कब तक है, जब तक कि सम्यक् दर्शन की ज्योति आत्मा मे प्रकट नहीं हो जाती है।

आत्मा में सम्यक् दर्शन के प्रकट हो जाने पर कभी-कभी तो केवल एक अन्तर्मुहूर्त में ही वे विकल्प और विकार विलुप्त हो जाते हैं।

मैं अभी आपसे कह रहा था कि क्रोध मान माया और लोभ आदि विकारों में असंख्य विकार ऐसे हैं, जिनके नाम का भी हमें पता नहीं है। हम केवल आत्मा के इने गिने कुछ ही विकारों के नाम जानते हैं। उदाहरण के लिए क्रोध को ही लीजिए, उसके चार रूपों को हम जानते हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध अप्रत्याख्यानी क्रोध प्रत्याख्यानी क्रोध और संज्वलनी क्रोध। ये क्रोध के बहुत ही स्थूल भेद हैं, जिन्हें हम जानते हैं, किन्तु इनमें से एक-एक भेद के भी असंख्यात एवं अनन्त भेद प्रभेद होते हैं, जिनका हमें कुछ भी पता नहीं है और जिनके स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए हम अपनी भाषा में कोई शब्द नहीं पाते। जो बात क्रोध के सम्बन्ध में है, वही बात मान माया एवं लोभ के सम्बन्ध में भी है। इस प्रकार आत्मा के विकार एवं विकल्पों के असंख्यात एवं अनन्त भेद हैं जिनमें से आत्मा गुजरती रहती है। याद रखिए, बाहर का यह संसार तो बहुत छोटा है और उसकी तुलना में अन्तर्जगत बहुत विशाल है। अध्यात्मनिष्ठ महापुरुषों में एवं अनुभवी शास्त्रकारों ने अन्तर्जगत के इस विकार एवं विकल्पों के भय एवं आतंको को स्वप्न के भय एवं आतंक के समान कहा है। इस भय एवं आतंकों से बचने के लिए आध्यात्मिक जागरण की आवश्यकता है। अन्दर का जागरण आया नहीं कि ये सब भाग खड़े होते हैं। जब तक आत्मा का भान नहीं होता और जब तक स्व का जागरण नहीं होता तथा जब तक यह चैतन्य पर स्वरूप से स्व स्वरूप में नहीं आता तब तक विकार एवं विकल्पों के भय एवं आतंक से आत्मा का छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। आत्म दर्शन रूप सम्यक् दर्शन का जागरण ही उन विकल्प एवं विकारों से मुक्ति करा सकता है। अज्ञान के भय एवं आतंक को दूर करने का एक मात्र उपाय सम्यक् दर्शन ही है।

मैं आपसे सम्यक् दर्शन की चर्चा कर रहा था। यह मैं मानता हूँ कि सम्यक् दर्शन की चर्चा बहुत गहन एवं गम्भीर है किन्तु उसकी गहनता और गम्भीरता को देखकर उसका परित्याग नहीं किया जा सकता। सम्यक् दर्शन के अभाव में हमारी साधना का जीवन-पथ ही अन्धकाराच्छन्न हो जाएगा। अज्ञान और मिथ्यात्व के उस घोर अन्धकार में यह आत्मा अनन्त काल से भटकती रही है और उसके अभाव में भविष्य में भी अनन्त काल तक भटकती ही रहेगी। अत

जीवन के उद्धार एव उत्थान के लिए, सम्यक् दर्शन की उपलब्धि अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु सबसे बड़ा सवाल यह है, कि वह सम्यक् दर्शन है क्या वस्तु ? सम्यक् दर्शन की परिभाषा बताते हुए कहा गया है, कि 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' ही सम्यक् दर्शन है। तत्वो की श्रद्धा को सम्यक् दर्शन कहा गया है। इस आत्मा मे अतत्त्व का श्रद्धान या तत्त्व का अश्रद्धान अनन्त काल से रहा है। विचार कीजिए, निगोद की स्थिति मे यह आत्मा अनन्तकाल तक रहा। फिर यह आत्मा पृथ्वी-काय, जल-काय, अग्निकाय, वायु-काय और प्रत्येक वनस्पति-काय मे भी असख्यात काल तक रहा। वहाँ पर जन्म और मरण करते हुए असख्यात अवसर्पिणी और असख्यात उत्सर्पिणी जितना दीर्घकाल गुजर गया, किन्तु आत्मा को सम्यक् दर्शन की ज्योति प्राप्त न हो सकी। इस अनन्त काल मे यदि आत्मा को अतत्त्व का श्रद्धान नही हुआ, तो उसे तत्त्व का श्रद्धान भी कहाँ था ? निगोद आदि मे अतत्त्व का श्रद्धान नही था, तो तत्त्व की श्रद्धा भी कहाँ थी ? अतत्त्व की श्रद्धा के समान तत्त्व की श्रद्धा न होना भी सबसे बडा मिथ्यात्त्व है। कल्पना कीजिए, आत्मा अनन्त काल मे निगोद मे जन्म एव मरण करता रहा। एक साम मे जहाँ अठारह बार जन्म एव मरण होता हो, तो विचार कीजिए, वहाँ जीवन कितनी देर रहा ? जीवन के नाम पर वहाँ इतना भी समय नही मिला कि मानव-जितना एक साँस भी पूरा ले सके। कितनी भयकर वेदना की स्थिति है, यह। इतनी भयकर वेदना उठाने पर भी इस आत्मा को सम्यक् दर्शन का प्रकाश नही मिल सका। सम्यक् दर्शन का प्रकाश मिलता भी कैसे ? जब तक साधक जीवन मे से मोह निद्रा का अभाव नहीं होगा, तब तक आत्मा के शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि कैसे होगी ? इसीलिए अध्यात्म शास्त्र मे उपदेश दिया गया है, कि साधक ! जागृत हो, सतर्क हो, सावधान बन, प्रमाद को छोडकर अप्रमत्त बन, उठ, जाग और अध्यात्म-साधना के पथ पर आगे बढ। जीवन मे चाहे दुःख हो अथवा चाहे सुख हो, किन्तु एक क्षण के लिए भी आत्म-भाव को विस्मृत मत होने दो। अध्यात्म-साधना मे क्षण मात्र के लिए भी स्वरूप का प्रमाद भयकर विपत्ति उत्पन्न कर सकता है, इसलिए स्व के सम्बन्ध मे क्षणमात्र का भी प्रमाद मत करो। अतीत काल मे अनन्त वार जन्म-मरण कर चुके हो, उसे भूल जाओ और एक ही बात याद रखो कि वर्तमान मे और भविष्य मे फिर कभी जन्म-मरण के परिचक्र मे न फँस जाओ।

आत्म-विवेक के अभाव में यह आत्मा अदेव को देव समझता रहा, अगुरु को गुरु समझता रहा और अधर्म को धर्म समझता रहा। परन्तु निगोद आदि की स्थिति में इस प्रकार का अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्व भी कहाँ था? निगोदवर्ती जीव के द्रव्य मन से संयुक्त एवं प्रबुद्ध इस प्रकार का भाव कहाँ था जिससे कि वह अतत्त्व का ग्रहण एवं विकल्प कर सकता? निगोदवर्ती जीव में मिथ्या दर्शन तो अवश्य है ही, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु प्रश्न है कि वहाँ पर कौनसा मिथ्यात्व है और कैसा मिथ्यात्व है? क्योंकि मिथ्यात्व रूप विकल्प के भी असंख्य भेद होते हैं।

सम्यक् दर्शन को समझने के लिए मिथ्या दर्शन को समझना भी आवश्यक हो जाता है। प्रकाश के महत्त्व को वही समझ सकता है, जो पहले कभी अन्धकार से परिचित रह चुका हो, अन्धकार के समग्र भाव को जानता हो। यद्यपि यहाँ पर सम्यक् दर्शन के स्वरूप का वर्णन चल रहा है, किन्तु सम्यक् दर्शन के उस दिव्य स्वरूप को समझने के लिए उसके विपरीत भाव स्वरूप मिथ्यादर्शन को समझ लेना भी आवश्यक है। आत्मा के अनन्त गुणों में दर्शन नाम का भी एक गुण है। आत्मा का यह दर्शन नामक गुण मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्या दर्शन रूप होता है, जिसका निमित्त कारण मिथ्यादर्शन कर्म का उदय है। इसके होने पर वस्तु का यथार्थ दर्शन एवं श्रद्धान नहीं होता, अयथार्थ ही होता है। इसी आधार पर इसको मिथ्या दर्शन कहते हैं। आत्मा का जो दर्शन गुण है, मिथ्या दर्शन उसकी अशुद्ध पर्याय है। इसके विपरीत आत्मा के दर्शन गुण की शुद्ध पर्याय को सम्यक् दर्शन कहते हैं, इसके होने पर वस्तु का यथार्थ दर्शन एवं श्रद्धान होता है।

मैं आपसे यहाँ पर मिथ्यादर्शन की चर्चा कर रहा था। मिथ्या दर्शन का अर्थ है मिथ्यात्व, जो सम्यक् दर्शन एवं सम्यक्त्व से उलटा होता है। मिथ्यादर्शन दो प्रकार का होता है—पहला तत्त्व विषयक यथार्थ श्रद्धान का अभाव और दूसरा अतत्त्व विषयक अयथार्थ श्रद्धान। पहले और दूसरे में केवल इतना ही अन्तर है कि पहला सर्वथा मूढ दशा में हो सकता है, जब कि दूसरा विचार दशा में ही होता है। उक्त भेदों को दूसरे शब्दों में अभिगृहीत मिथ्यात्व और अनभिगृहीत मिथ्यात्व भी कहते हैं। विचार शक्ति का विकास होने पर भी जब मताभिनिवेश के कारण अतत्त्व में तत्त्वरूप श्रद्धा को अपना लिया जाता है, तब विचार-दशा के रहने पर भी अतत्त्व में पक्षपात

होने से वह दृष्टि मिथ्या दर्शन कहलाती है। यह उपदेश-जन्य एव विचारजन्य होने के कारण अभिगृहीत कही जाती है। इसके विपरीत जब विचार-दशा जागृत न हुई हो, तब अनादिकालीन दर्शन मोहनीय कर्म के आवरण के कारण केवल मूढ-दशा होती है। यह मूढ-दशा निगोदवर्ती आदि अविकसित जीवो मे रहती है। उन जीवो मे जैसे-अतत्व का श्रद्धान नही है, वैसे तत्व का श्रद्धान भी तो नही होता। इस दशा मे केवल मूढता होने से तत्व का अश्रद्धान रूप मिथ्यात्व है। यह उपदेश-निरपेक्ष होने से अनभिगृहीत मिथ्यात्व कहा गया है। पथ, मत, सम्प्रदाय आदि सम्बन्धी जितने भी एकान्त-प्रधान कदाग्रह हैं, वे सभी अभिगृहीत मिथ्यादर्शन हैं, जो कि विकसित चेतना वाली मनुष्य आदि जातियो मे हो सकता है। और दूसरा अनभिगृहीत मिथ्यात्व तो एकेन्द्रिय निगोद आदि तथा क्षुद्र कीट पतग आदि जैसी मूर्च्छित चैतन्य वाली जातियो मे ही सम्भव है।

मैं आपसे कह रहा था, कि, देव को कुदेव और कुदेव को देव, गुरु को कुगुरु और कुगुरु को गुरु, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म, आदि समझने जैसे मिथ्यात्व के मापदण्ड तो पन्थयुग के बने हैं। ये सब उस समय कहाँ थे? यह मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की परिभाषा एव शब्दावली उस समय कहाँ थी, जब कि हमारी यह आत्मा निगोद आदि स्थिति मे रही होगी। वहाँ पर अतत्व श्रद्धान रूप मिथ्यात्व नही था, फिर भी वहाँ मिथ्यात्व की स्थिति तो अवश्य थी ही। क्योकि अतत्व का श्रद्धान तो मिथ्यात्व है ही, परन्तु, तत्व का श्रद्धान न करना भी मिथ्यात्व ही है। उस स्थिति मे और उस दशा मे तत्व का श्रद्धान न करने का मिथ्यात्व था।

अतत्व का श्रद्धान करना अभिगृहीत मिथ्यात्व है। इसको दूसरे शब्दो मे विपरीत श्रद्धान भी कहा जा सकता है। इधर-उधर के ग्रन्थ, पोथी-पन्ने और पथ एव सम्प्रदायो से ग्रहण की हुई विपरीत दृष्टि अतत्व का श्रद्धान ही है। परन्तु जिस निगोद आदि स्थिति मे विपरीत विकल्पो को ग्रहण करने वाला मन ही नही है, वहाँ विपरीत श्रद्धान रूप मिथ्यात्व नही होता। वहाँ तत्व के श्रद्धान का अभाव-स्वरूप अनभिगृहीत मिथ्यात्व होता है। अभिगृहीत मिथ्यात्व वह है, जो मन एव बुद्धि से ग्रहण किया जाता है। यह विकसित चेतना वाले प्राणियो मे ही हो सकता है। एकेन्द्रिय आदि जीव मे द्रव्यमन नही होता और चिन्तन की स्पष्ट बुद्धि भी नही होती, इसी से वहाँ अतत्व के श्रद्धान-

रूप अभिगृहीत मिथ्यात्व भी नहीं होता परन्तु तत्त्व के अश्रद्धान का अभावरूप मिथ्यात्व रहता है। इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि अभिगृहीत मिथ्यात्व की अपेक्षा अनभिगृहीत मिथ्यात्व अधिक भयकर होता है। यद्यपि भयकर तो दोनो ही हैं, क्योकि दोनो ही दशाओ मे मिथ्यात्व की शक्ति रहती है, तथापि अभिगृहीत की अपेक्षा अनभिगृहीत को भयंकर मानने का कारण यह है, कि उसमे किसी प्रकार की विचार-दशा ही नही रहती अत सतत मूढदशा ही बनी रहती है। अभिगृहीत मिथ्यात्व मताग्रहरूप विचार-दशा में होता है। ऊपर से यह अधिक भयकर प्रतीत होता है, परन्तु मूलत ऐसा नही है। क्योकि यदि वह आज पतन के मार्ग पर है, तो कल उत्थान के मार्ग पर भी लग सकता है। यदि आज वह कुमार्ग पर चल रहा है, तो कल वह सन्मार्ग पर भी चल सकता है। विचार-शक्ति तो है ही केवल उसकी धारा बदलने की आवश्यकता है।

कल्पना कीजिए, किसी व्यक्ति को १०४ डिग्री अथवा १०५ डिग्री तीव्र ज्वर चढा है, जिसके कारण ज्वरग्रस्त रोगी बहुत ही व्याकुल और परेशान रहता है। यह तीव्र ज्वर बहुत ही भयकर होता है, क्योकि इससे शरीर की अशक्ति एव व्याकुलता बढी रहती है। परन्तु एक दूसरा व्यक्ति है, वह भी ज्वरग्रस्त है। उसका ज्वर हल्का रहता है, किन्तु दीर्घकाल तक चलता रहता है, जब कि तीव्र ज्वर शीघ्र आता है और शीघ्र ही लौट भी जाता है। ज्वर दोनो को है, एक को तीव्र है, दूसरे को मन्द है, किन्तु इन दोनो मे भयकरतम ज्वर कौन-सा है? निश्चय ही तीव्र ज्वर की अपेक्षा दीर्घकाल स्थायी मन्द ज्वर ही अधिक भयकर है। यही स्थिति अभिगृहीत मिथ्यात्व और अनभिगृहीत मिथ्यात्व की है। अभिगृहीत मिथ्यात्व की अपेक्षा अनभिगृहीत मिथ्यात्व अधिक भयकर है। अभिगृहीत मिथ्यात्व तीव्र ज्वर के समान है और अनभिगृहीत मिथ्यात्व मन्द ज्वर के समान है। अनभिगृहीत मिथ्यात्व इस आधार पर अधिक भयकर है कि उसमे जीव की विचार-शून्य दशा रहती है एव मूढ दशा रहती है, जिसमे अपने हित-अहित का कुछ भी चिन्तन नहीं रहता जिसमे अपने उत्थान एव पतन का कुछ भी सकल्प नहीं रहता। मैं कौन हूँ और क्या हूँ—यह भी भान नहीं रहता। अध्यात्म-दृष्टि से यह स्थिति बहुत ही भयकर है। अभिगृहीत मिथ्यात्व उस भयकर तीव्र ज्वर के समान है, जिस पर यथावसर शीघ्र ही एव आसानी से काबू पाया जा सकता है, परन्तु अनभिगृहीत मिथ्यात्व उस

मन्द एवं दीर्घ काल स्थायी ज्वर के समान है, जिसकी उग्रता का वेग बाहर में उतना नहीं, जितना कि अन्दर में रहता है, जो अन्दर ही अन्दर शरीर की हड्डियों को गलाता रहता है, और चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से दुःखसाध्य भी होता है।

मैं आपसे मिथ्या दर्शन के दो रूपों की चर्चा कर रहा था—अभिगृहीत और अनभिगृहीत। मेरे कहने का अभिप्राय यही है, कि यद्यपि अध्यात्म दृष्टि से दोनों ही मिथ्यात्व आत्मा का अहित करने वाले हैं, तथापि अनभिगृहीत की अपेक्षा अभिगृहीत मिथ्यात्व चाहे कितना भी उग्र एवं भयंकर क्यों न हो, फिर भी उसमें विचार एवं विकास के लिए अवकाश रहता है। इन्द्रभूति गणधर गौतम का नाम आप जानते ही हैं। वे अपने युग के प्रकाण्ड पण्डित थे और धुरन्धर विद्वान थे। उनका विश्वास था कि यज्ञ में बलि देने से धर्म होता है और इससे लोक तथा परलोक दोनों जीवन आनन्दमय एवं उल्लासमय बनते हैं। गौतम के पाण्डित्य का प्रभाव प्रायः भारत के प्रत्येक प्रान्त में फैल चुका था। इतना ही नहीं, उसके अद्भुत पाण्डित्य की छाप सुदूर हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक जन-मानस पर गहरी अंकित हो चुकी थी। उसने अपने जीवन में दो चार नहीं, हजारों-हजार शास्त्रार्थ किए, जिनमें विजय प्राप्त की। यह सब कुछ होने पर भी, यह कहा जा सकता है, कि गौतम जिस प्रकार अपने युग का सबसे बड़ा पण्डित था, उसी प्रकार वह अपने युग का घोर एवं भयंकर अभिगृहीत मिथ्यात्वी भी था। भगवान् महावीर के समवसरण में जाते हुए देवताओं को देखकर उसने उन देवताओं को इस आधार पर पागल मान लिया था, कि वे उसकी यज्ञशाला में न उतर कर भगवान महावीर के समवसरण में क्यों चले जा रहे हैं? गौतम अपने पन्थ एवं सम्प्रदाय में इतना प्रगाढ रागान्ध था, कि उसने भगवान महावीर को भी ऐन्द्रजालिक कह दिया था। गौतम के मन में यह भी अहंकार था, कि मेरे पाँच सौ शिष्य हैं और अब मैं अवश्य ही इस ऐन्द्रजालिक महावीर को अपना शिष्य बनाकर छोड़ूँगा। इस घोर अहं एवं मिथ्यात्व के दर्प को लेकर वह भगवान महावीर के समवसरण में पहुँचा। जब वह भगवान् के समीप पहुँचा, तब भगवान की शान्त एवं भव्य छवि को देखकर तथा उनके दिव्य प्रभाव से प्रभावित होकर सहसा अपने आपको भूल-सा गया। उसका सारा अभिमान गल कर समाप्त होने लगा। भगवान महावीर ने शान्त एवं मधुर स्वर में कहा—"गौतम! तुम्हारा आगमन

प्रभु हैं तुम बहुत ठीक समय पर आए हो। भगवान के श्रीमुख से इन मधुर शब्दों के साथ दिये गए सत्योपदेश को सुनकर वह अपने अहंकार के विचार को और अपने अहंकार की माया को भूल बैठा था। उसमें अभिगृहीत मिथ्यात्व की जितनी तीव्रता थी वह क्षीण हो चुकी थी। इस प्रकार उसका मिथ्यात्व जितना भयंकर था उतना ही शीघ्र वह समाप्त भी हो गया। इन्द्रभूति गौतम जो विजेता का रूप धारण कर भगवान के समीप पहुँचा था और जिसके हृदय में यह भावना थी कि मैं महावीर को अपना शिष्य बनाऊँगा वह स्वयं बिना आग्रह के तत्काल भगवान का शिष्य हो गया। अन्य साधकों की तरह वह सूचना देने के लिए घर भी नहीं गया। इतना ही नहीं अपने पाँच सौ शिष्यों को भी उसने भगवान महावीर का ही शिष्य बना दिया। कितनी विचित्र स्थिति है जीवन की यह, कि जो व्यक्ति गुरु बनने का भाव लेकर गया वह स्वयं शिष्य बन गया। जिसे शिष्य बनाने चला था उसे ही अपना गुरु बना लिया। गौतम के मन में जो अभिगृहीत मिथ्यात्व था उसके दूर होते ही उसकी आत्मा में सम्यग् दर्शन का दिव्य प्रकाश जगमग हो गया था।

कभी-कभी ऐसा होता है, कि साधक साधना के पथ पर आकर फिर वापिस लौट जाता है। कुछ ऐसे भी हैं जो गिरकर फिर सँभल जाते हैं। और कुछ ऐसे भी हैं, जो गिरकर फिर सँभल नहीं पाते। परन्तु कुछ ऐसे विलक्षण साधक होते हैं, जो एक बार साधना-पथ पर आए, तो फिर निरन्तर आगे ही बढ़ते रहे। पीछे लौटना तो क्या वे कभी पीछे मुड़ कर भी नहीं देखते। इन्द्रभूति गौतम इसी प्रकार के साधक थे। एक बार साधना के पथ पर कदम रख दिया तो फिर निरन्तर आगे ही बढ़ते रहे कभी पीछे लौटकर नहीं देखा। यह भी नहीं सोचा कि पीछे घर की क्या स्थिति होगी और घरवालों की क्या स्थिति होगी? इन्द्रभूति गौतम की इस स्थिति को देखकर, उसके छोटे भाई अग्निभूति और वायुभूति भी अपने-अपने शिष्य परिवार के साथ, भगवान के शिष्य बन गए। गौतम के समान उनका भी अभिगृहीत मिथ्यात्व छूट गया और उन्होंने भी सत्य-दृष्टि को पा लिया। यह अपने युग की एक बहुत बड़ी क्रान्ति थी जिसका उदाहरण भारतीय इतिहास में दूसरा नहीं मिल सकता। परन्तु सबसे बड़ा प्रश्न यह है, कि यह सब कैसे हो गया और क्यों हो गया? बात यह है कि जब तक आत्मा अभिगृहीत मिथ्यात्व के अन्धकार में प्रसुप्त थी तब तक उसके

जीवन मे किसी प्रकार का चमत्कार उत्पन्न न हो सका, किन्तु ज्यो ही अभिगृहीत मिथ्यात्व का अन्धकार दूर हुआ, त्यो ही उनकी प्रसुप्त आत्मा जागृत हो गई। अभिगृहीत मिथ्यात्व का जोर गुल बहुत रहता है, परन्तु उसके जाते भी विलम्ब नही लगता। विचार बदलते ही जीवन की सम्पूर्ण दशा भी बदल जाती है, परन्तु अनभिगृहीत मिथ्यात्व इतनी शीघ्रता मे नही टूट पाता, क्योकि उसमे जीवन की वह मूढ दशा रहती है, जिसमे शुद्ध भाव की स्फुरणा नही हो पाती, यदि होती भी है, तो बडी कठिनता मे और दीर्घकाल के बाद।

देह, इन्द्रिय एव मन आदि अनात्मा को आत्मा समझना अभिगृहीत मिथ्यात्व है। परन्तु आत्मा को किसी भी रूप मे आत्मा ही न समझना, आत्मा का भान ही न होना, अनभिगृहीत मिथ्यात्व है। अभिगृहीत मिथ्यात्व मे देहादि मे आत्म-बुद्धि होती है, देहादि के अतिरिक्त शुद्ध चैतन्य रूप मे आत्मा का भान नही रहता और यदि देहादि से भिन्न आत्मा की प्रतीति भी होती है, तो अणु या महत् परिमाण के रूप मे, एकान्त अकर्ता या कर्ता के रूप मे, एकान्त नित्य या अनित्य के रूप मे स्वरूपविपर्यास होता है। अभिगृहीत मिथ्यात्वी आत्मा अपने देहादि के अध्यास मे ही फँसा रहता है। इस देह के भीतर शुद्ध एव चिद्घनानन्दस्वरूप एक आत्मरूपी सूर्य की उसे जब तक प्रतीति नही होती, तभी तक वह मिथ्यात्व मे फँसा रहता है। इसके विपरीत जब उसे देहादि के अभ्रपटल से भिन्न आत्मा रूपी सूर्य की प्रभा का आभास मिल जाता है, अणु एव एकान्त अकर्ता आदि का स्वरूप-विपर्यास दूर हो जाता है, तब वह प्रबुद्ध एव जागृत सम्यग् दृष्टि हो जाता है।

मैने सम्यक् दर्शन की परिभाषा एव व्याख्या करते हुए कहा था, कि तत्वार्थ श्रद्धान ही सम्यक् दर्शन है। आत्मा भी एक तत्व है, यदि उस आत्म-तत्व मे श्रद्धान नही हुआ है, तो सम्यक् दर्शन कैसे होगा ? आत्म-श्रद्धान के अभाव मे मेरु, नरक, स्वर्ग आदि का श्रद्धान अतत्व का श्रद्धान ही होगा। सम्यक् दर्शन का अर्थ यह नही है, कि ससार के बाह्य पदार्थों पर तो श्रद्धा की जाए और उनके श्रद्धान की ओट मे आत्मा को भुला दिया जाए। मेरे विचार मे आत्म-श्रद्धा, आत्म-निष्ठा, आत्म-आस्था और आत्म-प्रतीति ही शुद्ध एव निश्चय सम्यक् दर्शन है। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, निरजन और निर्विकार है। जब आत्मा के इस स्वरूप का श्रद्धान होता है, तब उसे तत्वार्थ श्रद्धान कहा

जाता है। उसके साथ यह ज्ञान होता है, कि देह जड़ है एवं चेतना शून्य है। मैं देह नहीं बल्कि उससे भिन्न मैं चैतन्य हूँ। देह जड़ है और मैं चेतन हूँ। मैं सत्, चित् एवं आनन्द रूप हूँ। शुद्ध निश्चय नय से मैं सिद्ध स्वरूप हूँ। जो जीव है वही जिनवर है और जो जिनवर है वह जीव है। जीव के अतिरिक्त एवं चेतन से भिन्न मैं अन्य कुछ भी नहीं हूँ। न मैं भूमि हूँ। न मैं जल हूँ। न मैं अग्नि हूँ। न मैं वायु हूँ। क्योंकि यह सब भौतिक है और मैं अभौतिक हूँ। कान नाक आँख आदि इन्द्रिय भी मैं नहीं हूँ। मैं मन भी नहीं हूँ। इन सबसे परे और इन सबसे ऊपर मैं एक चैतन्य शक्ति हूँ। आत्मा में इस प्रकार का भान और श्रद्धान का होना ही सच्चा सम्यक् दर्शन है। भूतार्थ नय से मैं ज्ञायक स्वभाव हूँ। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में विश्व की प्रत्येक आत्मा अपनी उपादान शक्ति से सिद्धस्वरूप है। इसी को परम पारिणामिक भाव का दर्शन एवं सम्यक् दर्शन कहते हैं। अपनी आत्म ज्योति में आस्था ही सम्यक् दर्शन है।

प्रश्न होता है, कि भूतार्थ नय से एवं निश्चय नय से गुण-पर्याय भेदरहित केवल विशुद्ध आत्मद्रव्य में ही आस्था रखना जब सम्यक् दर्शन है, तब उससे भिन्न पर्यायिनयापेक्षित जीव की जो संसारी अवस्था है, वह क्या है? क्या इस दशा में जीव जीव नहीं रहता? प्रश्न बड़ा ही विकट है। संसारी अवस्था में रहने वाले जीव को भी जीव ही कहा जाएगा, परन्तु याद रखिए यह सब संसारी अवस्थाएँ असद्भूत व्यवहारनय पर आश्रित हैं। शुद्ध नय से जब आत्म-तत्त्व पर विचार किया जाता है, तब जाति इन्द्रिय मन मार्गणा एवं गुण-स्थान आदि सब जीव की अशुद्ध दशा है। निगोद से लेकर तीर्थंकर तक तथा प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्दश गुणस्थान तक के जीव सभी अशुद्ध हैं। यदि इस दृष्टि से देखा जाता है, तो सारा संसार अशुद्ध ही अशुद्ध नजर आता है। यह स्थिति अशुद्ध नय की एवं व्यवहारनय की होती है। आप लोग इस तथ्य को न भूलें कि मोक्ष जाने से पूर्व तेरहवें गुणस्थान एवं चौदहवें गुणस्थान को भी अवश्य ही छोड़ना पड़ेगा। क्योंकि एक दिन ये गुणस्थान प्राप्त किए जाते हैं और एक दिन इन्हें छोड़ा भी जाता है। मैं मानता हूँ कि प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान अत्यन्त विशुद्ध है फिर भी इनमें कुछ न कुछ अशुद्धि रहती ही है, क्योंकि जब तक कर्म है, तब तक उसका उदय भाव भी अवश्य रहेगा और जब उदय भाव है, तब तक

वहाँ किसी न किसी प्रकार की अशुद्धि भी रहती ही है। इस दृष्टि से मैं यह कह रहा था कि मार्गणा और गुणस्थान जीव के स्वाभाविक परिणाम नहीं हैं। परन्तु इन सबके अतिरिक्त एक तत्व ऐसा है, जो न कभी बदला है और न अनन्त भविष्य में ही कभी बदल सकेगा। उसमें एक समय मात्र के लिए भी न कभी परिवर्तन आया है और न कभी परिवर्तन आएगा। मेरे कथन का अभिप्राय यह है, कि यह जीव चाहे निगोद की स्थिति में रहे, चाहे सिद्ध की स्थिति में रहे, जीव सदा जीव ही रहता है, वह कभी अजीव नहीं होता। यह त्रिकाली भाव है, अतः जीव के जीवत्वभाव में अणुमात्र भी परिवर्तन नहीं हो सकता। प्रश्न है कि किस कर्म के उदय से जीव जीव है? अध्यात्मशास्त्र उक्त प्रश्न का एक ही समाधान देता है, कि जीव का जीवत्व भाव किसी भी कर्म के उदय का फल नहीं है। जीव का जीवत्वभाव उसका त्रिकाली ध्रुव स्वभाव है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन हो ही नहीं सकता। जीव का यह त्रिकाली ध्रुव स्वभाव किसी भी कर्म के उदय का फल नहीं है। यदि वह किसी कर्म के उदय का फल होता तो फिर वह त्रिकाली नहीं हो सकता था। कर्मों के उदय से गति, जाति और इन्द्रिय आदि प्राप्त होते हैं। परन्तु जीव का जीवत्व भाव सदा और सर्वदा एकरस रहने वाला है। अतः किसी कर्म के उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय से भी जीव का जीवत्व नहीं होता है। यह ध्रुव सत्य है कि जीव का जीवत्व भाव अनादि काल से है और वह जीव का सहज स्वभावी परिणाम है और वह परिणाम है उसका चैतन्य स्वरूप। यही उसका वास्तविक स्वरूप है। शुद्ध निश्चय नय की भाषा में इसी को आत्मा का त्रिकाली ध्रुव स्वभाव कहा गया है और शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि में, यह त्रिकाली ध्रुव स्वभाव, विश्व की किसी एक ही आत्मा का नहीं, अपितु विश्व की समग्र एवं अनन्त आत्माओं का स्वभाव है।

मैं आपसे शुद्ध निश्चय नय एवं भूतार्थ नय की चर्चा कर रहा था और यह बता रहा था, कि किस प्रकार निश्चय नय की दृष्टि में विश्व की समग्र आत्माएँ एक जैसी एवं समान हैं। भले ही व्यक्ति रूप से वे अलग-अलग रहें, किन्तु स्वरूप की दृष्टि से उनमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। एक निगोद में रहने वाले जीव की आत्मा का शुद्ध निश्चय से जो स्वरूप है, वही स्वरूप एक तीर्थंकर की आत्मा का भी है और मोक्ष प्राप्त सिद्ध की आत्मा का भी वही स्वरूप है।

इसलिए शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से तीर्थंकर, सिद्ध आदि और निगोद आदि में रहने वाले भी सभी अनन्त जीव शुद्ध हैं, कोई अशुद्ध नहीं है। जब संसार को व्यवहारनय की दृष्टि से देखा जाता है, तो यह अशुद्ध ही अशुद्ध नजर आता है और जब इसे शुद्धार्थनय से एवं निश्चय नय से देखा जाता है, तो यह शुद्ध ही शुद्ध नजर आता है। ऐसा क्यों होता है? इसके समाधान में कहा गया है कि—जब दृष्टि बदल जाती है, तब सारी सृष्टि ही बदल जाती है। दिशा बदल गई, तो दशा अपने आप बदल जाएगी? मुख्य बात दिशा बदलने की है, दशा बदलने की नहीं। जैन-दर्शन इसीलिए पहले दृष्टि एवं विश्वास को बदलने की बात करता है। वह कहता है कि निश्चय नय से इस विश्व की समस्त आत्माएँ विशुद्ध हैं, उनमें न क्षोभ है, न क्रोध है, न काम है, न मोह है और न शोक है। विशुद्ध नय की दृष्टि में दीनता एवं हीनता भी आत्मा के धर्म नहीं हैं। जैन-दर्शन हमारे अन्दर की दीनता एवं हीनता को दूर करने का महत्त्वपूर्ण सन्देश देता है। वह आत्मा के क्रोध आदि विकारों को आत्मा का धर्म स्वीकार नहीं करता। उसकी निश्चय दृष्टि कहती है कि आत्मन्! तू न काम है, न क्रोध है, न मान है और न मद है तथा तू न शरीर है, न इन्द्रिय है और न मन है। इन सबसे परे और इन सबसे ऊपर तू विशुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार एवं सच्चिदानन्द रूप परम आत्मा है। यही तेरा वास्तविक स्वरूप है। आत्मा के इसी निर्मल रूप पर आस्था एवं श्रद्धा रखनी चाहिए। आत्मा स्वयं अपने आप में जब विशाल एवं विराट है तथा शुद्ध एवं पवित्र है, तब उसे क्षुद्र, पतित और अपवित्र क्यों समझा जाए? यदि संसार की कोई भी आत्मा अपने उस निर्मल एवं सहज रूप में विश्वास न करके दीन-हीन बना रहता है तथा अपने आपको पतित और अधम समझता रहता है और अपने को अशुद्ध समझता रहता है तो यह उस आत्मा का अपना दुर्भाग्य है।

इस प्रसंग पर मुझे जैन महाभारत की एक घटना का स्मरण हो रहा है। यह घटना उस समय की है, जब कि धातकीखण्ड के राजा पद्मोत्तर ने दैवी शक्ति से द्रौपदी का अपहरण कर लिया था। द्रौपदी के अपहरण से पाँचों पाण्डव हैरान और परेशान थे। श्रीकृष्ण को द्वारिका में नारदमुनि से यह पता चला कि द्रौपदी धातकीखण्ड में पद्मोत्तर राजा के अमरपुर में है। श्रीकृष्ण और पाँचों पाण्डवों ने इस विकट स्थिति पर गम्भीरता के साथ विचार किया और परामर्श करने के बाद पद्मो-

त्तर राजा पर चढाई करने का निर्णय कर लिया गया। अपनी पूर्ण तैयारी के साथ, जब श्रीकृष्ण और पाँचो पाण्डव धातकीखण्ड की ओर चले जा रहे थे तब मार्ग मे लवण समुद्र आया, जिसे पार करना किसी भी प्रकार शक्य नही था। श्रीकृष्ण ने समुद्र के देव की आराधना की और वह प्रकट होकर श्रीकृष्ण के सामने आकर खडा हो गया और बोला—"कहिए, क्या आज्ञा है और मैं आपकी क्या सेवा करूँ?" श्रीकृष्ण ने इतना ही कहा, कि "हम धातकीखण्ड जाना चाहते हैं, इसलिए जाने का मार्ग दे दो।" समुद्र देव ने प्रत्युत्तर मे कहा—"आप वहाँ जाने का कष्ट क्यो उठाते है, यदि आपका आदेश हो, तो मैं स्वय ही द्रौपदी को लाकर आपकी सेवा मे उपस्थित कर सकता हूँ।" यदि आज के युग का कोई मनुष्य होता तो कह देता कि ठीक है, ला दीजिए। परन्तु श्रीकृष्ण ने कहा—"पद्मोत्तर राजा ने दैवी शक्ति से द्रौपदी का अपहरण किया है। यदि हम भी देव शक्ति से ही द्रौपदी को प्राप्त करे, तो हमारी अपनी कोई विशेषता नही रहेगी। मनुष्य को किसी देव के वल मे विश्वास करने की अपेक्षा स्वय अपने वल मे ही विश्वास करना चाहिए। तुम्हारी सहायता इतनी ही पर्याप्त है, कि तुमने हमे रास्ता दे दिया। यदि हम द्रौपदी को दैवी शक्ति के वल पर प्राप्त करें तो हमारे क्षत्रियत्व का तेज ही समाप्त हो जाएगा। हमे अपनी शक्ति के वल पर ही अपनी समस्या का स्वय समाधान करना है और स्वय अपने पुरुपार्थ के वल पर ही अन्याय का प्रतिकार करना है।" श्रीकृष्ण के मनोवल को देखकर तथा स्वय की अपनी शक्ति मे अटूट विश्वास देखकर देव वडा प्रसन्न हुआ और उसने धातकी खण्ड जाने के लिए मार्ग दे दिया। श्रीकृष्ण और पाँचो पाण्डव धातकी खण्ड जा पहुँचे।

जिस समय मनुष्य अपनी आत्मशक्ति मे विश्वास कर लेता है, उस समय वडे-से-वडा काम भी उसके लिए आसान वन जाता है। श्रीकृष्ण और पाँच पाण्डव अपने साथ अपनी सेना को भी नही ले गए। उन्होंने कहा कि—"हम छह ही काफी हैं।" अपने पहुँचने की सूचना गुप्त न रखकर राजा पद्मोत्तर को दे दी गई। मनुष्य की रक्षा के लिए, जीवन मे दो तत्वो की आवश्यकता रहती है—भक्ति और शक्ति। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग मनुष्य के सामने अपने जीवन की सुरक्षा का नही रहता। शक्तिशाली अपने जीवन की रक्षा अपनी शक्ति के वल पर कर लेता है। किन्तु जिसमे शक्ति नही है, वह व्यक्ति भक्ति के वल पर, विनम्रता से अपने जीवन की रक्षा कर सकता है। श्रीकृष्ण ने धातकी

सन्देश के राजा पद्मोत्तर को कहलवाया कि— 'कहिए, आपको शक्ति और भक्ति में से कौन-सा मार्ग पसन्द है? यदि भक्ति मार्ग स्वीकार है, तो द्रौपदी को सादर ससम्मान वापस करो, क्षमा-याचना करो और भविष्य के लिए आश्वासन दो कि फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा। यदि आपको अपनी शक्ति पर अभिमान है और भक्ति-मार्ग स्वीकार नहीं है, तो अपनी सेना लेकर युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।' श्रीकृष्ण ने पद्मोत्तर राजा के लिए यह सन्देश अपने सारथी के द्वारा पत्र देकर भेजा। सारथी ने श्रीकृष्ण के पत्र को भाले की नोक पर पिरोकर राजा पद्मोत्तर को दिया। पद्मोत्तर राजा ने क्रोध में भर कर पत्र पढ़ने के बाद सारथी से पूछा कि कौन कौन आए हैं और साथ में सेना कितनी है? सारथी ने बताया कि— श्रीकृष्ण अकेले हैं और सेना के नाम पर पाँच पाण्डव ही उनके साथ हैं, जो द्रौपदी के पति हैं। इन छह पुरुषों के अतिरिक्त अन्य कोई सेना नाम की वस्तु नहीं है। इस बात को सुनकर पद्मोत्तर हँसा और उपेक्षा के भाव से बोला— वे मुझे क्या समझते हैं? क्या उन्हें पद्मोत्तर की शक्ति का पता नहीं है? क्या वे नहीं जानते कि पद्मोत्तर एक शक्तिशाली सम्राट् है? संसार की अनेकानेक विजयी सेनाओं को मैं पराजित कर चुका हूँ। भला ये छह प्राणी तो किस खेत की मूली हैं?

राजा पद्मोत्तर को अपनी शक्ति का तथा अपनी विशाल सेना का बड़ा अहंकार था। वह अहंकार के स्वर में गरजता ही गया कि वीर क्षत्रिय अपनी शक्ति के बल पर ही अपनी तथा दूसरों की रक्षा करते हैं। तुम दूत हो, अपराध करने पर भी अवध्य हो, इसलिए मैं तुम्हें छोड़ देता हूँ। जाओ और अपने स्वामी से कह दो कि पद्मोत्तर राजा युद्ध के लिए तैयार है। श्रीकृष्ण का सारथी वापस लौटा और उसने समग्र घटना-क्रम कह सुनाया। इधर बहुत शीघ्र ही राजा पद्मोत्तर बड़ी साज-सज्जा के साथ अपनी विशाल सेना को लेकर युद्ध के लिए मैदान में आ डटा। मैदान गजों की घनघटा से छा गया। उस समय ऐसा लग रहा था मानो धरती पर काली घन घटाएँ घुमड़ती चली आ रही हैं। शस्त्रों की चमक उसमें बिजली के समान कौंध रही थी। राजा पद्मोत्तर के सेनापति अपनी मोर्चाबन्दी में व्यस्त हो गए। श्रीकृष्ण ने यह सब स्थिति देखी तो उन्होंने पाण्डवों से कहा— 'पद्मोत्तर राजा अपने देश में है और अपने घर में है। अपने घर में एक साधारण सा कुत्ता भी शेर बन जाता है। जब कि राजा पद्मोत्तर स्वयं

वीर है, और साथ ही उसकी प्रचण्ड सेना का वल भी कुछ कम नही है। दूसरी ओर हम हैं—एक मैं और पाँच तुम, अपने देश और घर से लाखो कोस दूर। सेना के नाम पर हमारे पास कुछ भी नही है, न गज, न अश्व और न अन्य कोई मनुष्य। इस स्थिति मे हमे क्या करना चाहिए ? सामने एक विशाल सेना है, इससे मोर्चा लेना है और विजय प्राप्त करना है।" श्रीकृष्ण ने पाँच पाण्डवो के मन की वात को जाँचने के लिए प्रश्न किया, कि "वताओ, युद्ध करोगे या देखोगे ?" भीम का अभिमान गरजा और अर्जुन के धनुष की टकार गूज उठी उन्होने कहा कि, "क्षत्रिय स्वय युद्ध करता है, वह युद्ध का तमाशा नही देखता।" श्रीकृष्ण ने पूछा कि—"युद्ध किस प्रकार करोगे ?" पाँचो ही पाण्डवो ने एक स्वर से सिंह गर्जना करते हुए कहा—"आज के इस युद्ध मे या तो पाण्डव ही नही, या पद्मोत्तर ही नही।" भावावेश मे यह भान नही रहा कि हम क्या कह रहे हैं ? शत्रु के नास्तित्व से पहले अपने मुख से अपने ही नास्तित्व की घोषणा की जा रही है। सर्वप्रथम अपने अस्तित्व का इन्कार, कितनी वडी भूल ?

मनुष्य का जैसा भी भविष्य होता है, भाषा के रूप मे वह वाहर प्रकट हो जाता है। पाण्डवो का पराजित सकल्प भाषा का रूप लेकर अन्दर से वाहर प्रकट हो गया, जिसे सुनकर श्रीकृष्ण अवाक् एव स्तब्ध रह गए। श्रीकृष्ण ने दुवारा उसी प्रश्न को दुहराया, तव भी उन्हो शब्दो मे उत्तर मिला। श्रीकृष्ण ने मन ही मन सोच लिया कि पाण्डव, राजा पद्मोत्तर पर युद्ध मे विजय प्राप्त नही कर सकते। जो स्वय ही पहले अपने मृत्यु की वात कहते हैं, हारने की वात सोचते हैं। वे भला युद्ध मे कैसे जीत सकेंगे।"

युद्ध प्रारम्भ हुआ, पद्मोत्तर राजा की विशाल सेना सागर के समान गरजती हुई निरन्तर आगे वढने लगी, यहाँ तक कि पाँच पाण्डव युद्ध करते हुए पीछे हटने लगे। उनके शरीर शत्रु के वाण प्रहारो से क्षत विक्षत हो गए, सव ओर रक्त की धाराएँ वहने लगी। युद्ध मे पैर जम नही रहे थे। न अर्जुन का वाण काम आया, न भीम की गदा सफल हो सकी और न युधिष्ठिर का खड्ग ही कुछ चमत्कार दिखा सका। श्रीकृष्ण ने देखा, कि पाण्डव विकट स्थिति मे फँस गए हैं एव शत्रु के घातक प्रहार से अपने को सँभाल नही पा रहे हैं। श्रीकृष्ण ने सिंहनाद के साथ अपना पाचजन्य शख वजाया, धनुष की टकार की। श्रीकृष्ण के शख और धनुष की भयकर एव भीषण ध्वनि को

सुनकर यशोधर राजा की विशाल सेना तितर बितर हो गई सैनिक अपने रक्षण के लिए इधर उधर भागने लगे। यशोधर राजा भयभीत हो गया कि जिसके शंख और धनुष की ध्वनि में इतनी शक्ति है, वह स्वयं कितना महाबली होगा। पाँच पाण्डवों से मैं लड़ सकता था किन्तु श्रीकृष्ण से लड़ना मेरे वश की बात नहीं है। यशोधर राजा ने पराजय स्वीकार करके द्रौपदी को लौटा कर क्षमा माँगी और भविष्य के लिए यह आश्वासन दिया कि वह फिर कभी ऐसा अन्याय आचरण नहीं करेगा। पाँचों पाण्डव द्रौपदी को पाकर तो प्रसन्न थे परन्तु अपनी घोर पराजय पर लज्जित भी थे। श्रीकृष्ण ने पाण्डवों से कहा कि अन्तर की जैसी आवाज होती है, अन्तत वैसा ही परिणाम निकलता है। तुमने तो युद्ध से पूर्व ही अपने अन्तर्हृदय में अपने विनाश एवं पराजय का संकल्प कर लिया था। तुम्हारा यह कहना कि आज के युद्ध में या तो हम नहीं या यशोधर नहीं स्पष्ट ही तुम्हारे मन की दुर्बलता का प्रतिबिम्बित करता था। सर्वप्रथम 'हम नहीं' यह क्यों कहा?

कथा का सारांश है कि मनुष्य की जय और पराजय बाहर में तो बाद में होती है पहले उसके अपने मन में ही हो जाती है। अपनी शक्ति का अविश्वास ही मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी एवं भयंकर पराजय है। 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत।' जो मन में हार गया वह जीवन-क्षेत्र में भी हार जाता है और जो मन में जीत जाता है, वह बाहर भी विजय पा लेता है। इसलिए मन की हीनता एवं दीनता ही जीवन का सबसे भयंकर पतन है। जीवन-क्षेत्र में सबल योद्धा यदि अपने अस्तित्व से स्वयं ही इनकार कर देता है, तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। लौकिक जीवन में जो स्थिति है, वही स्थिति आध्यात्मिक क्षेत्र में भी है। अनादि काल से हम अपने आपको तुच्छ हीन एवं दीन समझते आए हैं। कष्ट एवं संकट आने पर हम विलाप करते रहे हैं, किन्तु कभी भी धैर्य के साथ उनका मुकाबला करने के लिए हमने साहस नहीं किया। हम हीनता और मलिनता की बातों में इतने उलझे रहे कि अपने पुरुषार्थ को ही भूल बैठे। आत्मा एक अनन्त अपनी अनन्त शक्ति को भूल कर दीन हीन एवं अनाथ सा हो गया। अपने भाग्य का रोना रोते रहना और अपनी अभिलाषाओं की अधूरी गलियों में भटकते रहना अनन्त शक्ति-सम्पन्न आत्मा का दुर्भाग्य ही है। आत्मा यह नहीं मानता कि जिस हीनता और मलिनता के भार से वह दबा है, उस मलिनता

का निर्माण भी तो मैंने ही किया है। भवितव्यता एवं भाग्य का निर्माता, ईश्वर, मैं स्वयं ही तो हूँ। अपने पुरुषार्थ से ही मैं भाग्य एवं भवितव्यता के बन्द द्वार खोल सकता हूँ। जब द्वार स्वयं मैंने ही बन्द किया है, तब खोलने वाला भी मैं स्वयं ही हूँ। मैं स्वयं ही बन्द हुआ हूँ और स्वयं ही अपने बल पर मुक्त भी हो सकूँगा। जब आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप की उपलब्धि कर लेता है, तभी इस प्रकार के दिव्य विचार उसके मन में उठते हैं। जब आत्मा के दिव्य स्वरूप की अनुभूति प्राप्त होती है, तभी उसमें आत्मशक्ति की अदम्य ज्योति जगती है। सम्यक् दर्शन सिखाता है, कि तू दीन, हीन भिखारी नहीं है, बल्कि तू चैतन्य सम्राट् है, अपने आप का शाहंशाह है और अपनी जिन्दगी का बादशाह भी तू स्वयं ही है। फिर अपनी ही नगरी में तू क्यों पराजित होता है और क्यों भटकता है? तेरा अज्ञान और मिथ्यात्व भाव ही तुझे भटकाने वाला है। अतः सम्यक् दर्शन के दिव्य आलोक से, अपने इस भव-भ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व भाव एवं अज्ञान भाव के अन्धकार से तू मुक्ति प्राप्त कर।

जैन दर्शन दीन से दीन, हीन से हीन, तुच्छ से तुच्छ और पतित से पतित पामर प्राणी में भी आत्मा की दिव्य ज्योति का एवं आत्म भाव के दिव्य आलोक का दर्शन कराता है। जैन-दर्शन की निश्चय दृष्टि के अनुसार संसार का दीन से दीन मनुष्य भी अपने मूल स्वरूप में विशुद्ध है। शुद्ध निश्चय नय से संसार की समस्त आत्माएँ विशुद्ध हैं। एक भी आत्मा संसार में ऐसा नहीं है, जो अपने पुरुषार्थ के बल पर अपनी आत्मशक्ति के विकास से तथा अपने सम्यक् दर्शन के प्रभाव से, विकास करके महान न हो सकता हो। अध्यात्मवादी दर्शन के अनुसार एक चाण्डाल की आत्मा में तथा एक ब्राह्मण की आत्मा में तत्वतः किसी प्रकार का विभेद नहीं हो सकता। आत्म स्वरूप की दृष्टि से विश्व की समग्र आत्माएँ समान ही हैं। अन्तर केवल इतना ही है, कि जिसकी आत्मा अज्ञान-भाव में प्रसुप्त है, उस आत्मा के जीवन का प्रवाह अधोमुखी बन जाता है और जो आत्मा अपने अज्ञान-भाव के बन्धन को तोड़ चुका है, उस आत्मा के जीवन का प्रवाह ऊर्ध्वमुखी बन जाता है। आपने हरिकेशी मुनि के जीवन का वर्णन सुना होगा अथवा कहीं पर पढ़ा होगा? हरिकेशी का जन्म एक चाण्डाल कुल में हुआ, जहाँ जीवन-विकास का एक भी साधन उसे उपलब्ध नहीं हो सका। शरीर की सुन्दरता और सुषमा भी

उसे प्राप्त नहीं हो सकी। उसके शरीर का रूप कोयल जैसा काला भयंकर एवं डरावना था। जिधर से भी वह निकल जाता सब लोग उसका मजाक उड़ाने और उसे छेड़ने। चारों ओर से उसे धिक्कार ही धिक्कार मिल रहा था। अपने जीवन की इस अवस्था से ऊबकर वह व्याकुल हो गया था। हरिकेशी को मनुष्य-जीवन तो अवश्य मिला, किन्तु मनुष्य-जीवन के सुख और सम्मान एक क्षण के लिए भी कभी उसे मिले नहीं। एक मनुष्य के जीवन की पतित-से-पतित एवं तुच्छ से तुच्छ जो अवस्था हो सकती है, हरिकेशी के जीवन की वही अवस्था एवं दशा थी। परन्तु जन-दर्शन में इस हरिकेशी चाण्डाल ने गिरे-से-गिरे जीवन में भी विशुद्ध आत्मा का दर्शन किया। उसकी जीवन-कथा का वर्णन मैं क्या करूं? उसकी दशा एक कुत्ते से भी हीन एवं बुरी थी। जब वह अपने जीवन के तिरस्कार को सहन नहीं कर सका तब वह गंगा की वेगवती धारा में डूबकर मरने के लिए अपने घर से निकल पड़ा। अपने जीवन से निराश हरिकेशी चाण्डाल अपने जीवन का अन्त करने के लिए जब नदी में छलांग लगाने वाला ही था कि तट पर एक निकुंज में विराजित शान्त एवं दान्त योगी तपस्वी एक जैन भिक्षु ने कहा—"वत्स! जरा ठहरो, यह क्या कर रहे हो? दुर्लभ मानव जीवन क्या इस तरह व्यर्थ ही नदी में डुबो देने के लिए है?" हरिकेशी ने यह सुना तो स्तब्ध रह गया। जीवन में पहली बार उसे इतना मृदु और शान्त वचन सुनने को मिला था। उसने मुनि के निकट जाकर कहा "भंते! मैं एक चाण्डालपुत्र हूँ। मैं अपने प्रति किए गए तिरस्कार से तंग आकर नदी में डूबकर आत्म-घात करने के लिए यहाँ आया हूँ। चाण्डाल हूँ, केवल इसीलिए मेरे लिए कहीं स्थान नहीं है। सब ओर से तंग आकर मैंने इस जीवन का अन्त करने का संकल्प कर लिया है।

तपस्वी मुनि ने गम्भीर होकर आत्मानन्द की भाषा में उससे कहा—"वत्स! तेरे स्वयं के कर्म ने ही तुझे चाण्डाल कुल में पैदा किया है, किन्तु तेरे इस भौतिक शरीर के भीतर जो एक दिव्य आत्मा है, वह चाण्डाल नहीं है। दुनिया भले ही किसी को चाण्डाल समझे, परन्तु आत्मा किसी का चाण्डाल नहीं होता। हरिकेशी, तू शरीर नहीं है, इस शरीर के भीतर जो एक दिव्य चिद्रूप है, वही तू है। तू स्वयं अपने को चाण्डाल क्यों समझता है?

तपस्वी की इस दिव्य वाणी को सुनकर हरिकेशी की प्रसुप्त आत्मा जाग उठी और उसने मुनि वनकर अपने को अध्यात्म-साधना मे लगा दिया। हरिकेशी ने अपने घोर तप और विशुद्ध सयम की साधना के आधार पर पूज्यत्व भाव प्राप्त कर लिया। फिर मनुष्य तो क्या, स्वर्ग के देव भी आकर उसके चरणो मे नतमस्तक होने लगे। यह तभी हुआ, जव कि हरिकेशी ने अपने आत्म-स्वरूप की उपलब्धि करली। आत्म-स्वरूप की उपलब्धि हो जाने पर हीन से हीन व्यक्ति भी महान् वन जाता है। एक दिन का भूला हुआ और पापात्मा हरिकेशी चाण्डाल अध्यात्म-भाव की साधना से पूज्य वन गया, फिर वे ही लोग श्रद्धा एव भक्ति के साथ उसका आदर एव सत्कार करने लगे, जो कभी एक दिन उसे देखना भी पसन्द नही करते थे, उसके शरीर की छाया तक से घृणा करते थे। आज वे ही उसका दर्शन पाकर प्रसन्न होने लगे। यह सव आत्मा की चैतन्यशक्ति का चमत्कार है और आत्मा के दिव्य गुण सम्यक् दर्शन का ही एक मात्र प्रभाव है।

आपने कुन्ती के जीवन का वर्णन सुना होगा। कुन्ती कौन थी ? उसका सम्पूर्ण जीवन-परिचय देने की यहाँ मुझे आवश्यकता नही है, सक्षेप मे कुन्ती के जीवन का इतना परिचय ही पर्याप्त होगा, कि वह भारत के धुरन्धर वीर पाँच पाण्डवो की माता थी। कुन्ती की गणना भारत की सुप्रसिद्ध सोलह सतियो मे की जाती है। परन्तु प्रारम्भ मे कुन्ती का जीवन कैसा था, इस वात का वहुत से लोगो को पता नहीं है। कुन्ती अपने यौवन-काल मे वडी सुन्दर थी, उसके शरीर के कण-कण से लावण्य और सौन्दर्य की आभा फूट रही थी। जो कोई भी व्यक्ति एक वार कुन्ती के रूप एव सुषमा को देख लेता था, वह मुग्ध हो जाता था। जिस किसी ने भी एक वार कुन्ती की छवि को देख लिया वह सव कुछ भूल जाता था, किन्तु याद रखिए, रूप एव यौवन सदा अन्धा होता है। कुन्ती भी इस सिद्धान्त का अपवाद न थी। एक दिन वासना मे अन्धी होकर वह राजा पाण्डु के प्रेम-पाश मे फँस गई, और कन्यावस्था मे ही उसने कर्ण को जन्म दे डाला। कुन्ती के जीवन का यह अध पतन था। वह वासना मे इतनी अन्धी वनी, कि अपने पवित्र जीवन का भाव और अपने कुल की मर्यादा और गौरव का भी उसे भान नही रहा। कुन्ती के जीवन की यह एक भयकर विडम्वना थी।

दूसरा एक जीवन चेलना का है। चेलना के सम्वन्ध मे आप सभी

लोग सभी भाँति यह जानते हैं कि वह वैशाली के अधिपति सम्राट चेटक की पुत्री थी। रूप और यौवन का अपार धन चेलना को प्रकृति की ओर से सहज ही मिला था। चेलना के अपार रूप ने चेलना की अद्भुत सौन्दर्य-सुषमा ने और चेलना के अनुपम लावण्य ने उस युग में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। चेलना के रूप धाम पर हजारों हजार राजकुमार पतंगे बनकर जल मरने के लिए तैयार थे। मगध के सम्राट राजा श्रेणिक ने चेलना के रूप एवं सौन्दर्य की चर्चा सुनी और वह उसे पाने के लिए व्याकुल हो गया। चेलना भी श्रेणिक के रूप पर मुग्ध थी। चेलना अपनी वासना के तूफान में अपने जीवन की मर्यादा तथा अपने कुल की मर्यादा को भूलकर राजा श्रेणिक के साथ भाग गई। चेलना के जीवन की इससे बढ़कर और क्या विडम्बना हो सकती है? मैं समझता हूँ कुन्ती और चेलना के जीवन का यह अध पतन किसी भी विवेकशील आत्मा को चौंका देने वाला है।

परन्तु यदि हम जीवन की गहराई में उतर कर जब मनुष्य के अन्तराल का निरीक्षण करते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि मनुष्य की जिस मनोभूमि में पतन के कारण हैं उसी मनोभूमि में उत्थान के सुन्दर बीज भी विद्यमान रहते हैं। इसी आधार पर जैन दर्शन कहता है, कि—एक आत्मा अपने अज्ञान भाव में चाहे कितनी भी भयंकर भूल क्यों न कर ले किन्तु सम्यक् दर्शन का प्रकाश आते ही उसकी आत्मा का समग्र अन्धकार क्षण भर में ही विलुप्त हो जाता है। जैन दर्शन कहता है, कि आत्मन्! यदि तुमसे भूल हो गई है, तो रोने की आवश्यकता नहीं है, तू विलाप क्या करता है? अपनी भूल पर विलाप करने का अर्थ है—अपनी भूल को और भी भयंकर बना देना। रोने की आवश्यकता ही क्या? रोने से कुछ काम बनता नहीं है। उठ जाग और अपनी भूलों का परिमार्जन करके अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न कर। यही जीवन के उत्थान का मार्ग है और यही जीवन के कल्याण का मार्ग है। कुन्ती और चेलना के जीवन में उत्तम भाव की जागृति होते ही उनका जीवन पतितावस्था से ऊपर उठकर सतियों की श्रेणी में आ गया यही उनके जीवन का सबसे बड़ा चमत्कार है।

११

सम्यक् दर्शन के भेद

✿ ✿ ✿

सम्यक् दर्शन क्या है ? सम्यक् दर्शन का क्या स्वरूप है ? अध्यात्म-शास्त्र का यह एक महत्वपूर्ण विषय है। अध्यात्म-शास्त्र में कहा गया है कि धर्म का मूल सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शनरूप धर्म के बाद ही सम्यग् ज्ञान रूप धर्म होता है और सम्यक् दर्शन के बाद ही सम्यक् चारित्र रूप धर्म होता है। इसीलिए श्रद्धारूप धर्म को ज्ञानरूप धर्म और चारित्र रूप धर्म का मूल आधार कहा गया है। शुभ भाव, धर्म का सोपान नहीं है, सम्यक दर्शन ही धर्म का प्रथम सोपान माना जाता है। जिस किसी भी आत्मा में सम्यक्दर्शन की विमल ज्योति प्रकट हो जाती है, वहाँ मिथ्यात्वमूलक अन्धकार कभी ठहर ही नहीं सकता। अज्ञानवश आत्मा, यह मान लेता है कि शुभ भाव धर्म का कारण है, परन्तु तत्व-दृष्टि से देखा जाए, तो शुभ भाव रागात्मक विकार है, वह धर्म नहीं है, और न धर्म का कारण ही है। सम्यक् दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व स्वयं धर्म भी है और अन्य धर्मों का मूल कारण भी है। मिथ्या दृष्टि जीव पुण्य की रुचि-सहित शुभभाव से नवम ग्रैवेयक तक चला जाता है, फिर

वहाँ से निकलकर भवभ्रमण करता हुआ निगोद आदि मे भी चला जाता है, क्योकि अज्ञान-सहित शुभ भाव सतत पाप का मूल है। प्राय अज्ञजन अशुभ मे तो धर्म नही मानते। परन्तु वे शुभ मे भटक जाते हैं, फलत अज्ञानवश शुभ को ही धर्म समझ लेते हैं। इस दृष्टि से यह कहा जाता है कि जब तक सम्यक दर्शन की उपलब्धि नही हो जाती है, तब तक धर्म अधर्म की समझ ही नही आती है।

सम्यक दर्शन क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि जीव अजीव आस्रव बन्ध पुण्य पाप सम्वर, निर्जरा और मोक्ष—इन तत्त्वो का एवं पदार्थों का सम्यक श्रद्धान ही सम्यक दर्शन है। ज्ञान चारित्र और तप—ये तीनो जब सम्यक्त्व-सहित होते हैं, तभी उनमे मोक्ष-फल प्रदान करने की शक्ति होती है। क्योकि सम्यक्त्व रहित ज्ञान ज्ञान नही कुज्ञान होता है। सम्यक्त्व-रहित चारित्र चारित्र नही कुचारित्र होता है। सम्यक्त्व रहित तप तप नही केवल एक प्रकार का कायक्लेश रूप कुतप ही है।

जैन-दर्शन मे आराधना के चार प्रकार बताए गए हैं—दर्शन की आराधना ज्ञान की आराधना चारित्र की आराधना और तप की आराधना। उक्त चारो प्रकार की आराधनाओ मे सबसे प्रथम आराधना सम्यक दर्शन की है। शिष्य प्रश्न करता है कि गुरुदेव ! जब उक्त चारो प्रकार की आराधनाएँ मोक्ष की साधना मे समान हैं, तब फिर दर्शन की आराधना को अन्य आराधनाओं से मुख्यता एव प्रधानता किस आधार पर दी गई है ? उक्त प्रश्न के समाधान में गुरु शिष्य से कहते हैं कि—सम्यक दर्शन के अभाव में ज्ञान की साधना चारित्र की साधना और तप की साधना मोक्ष का अग न बनकर ससार की अभिवृद्धि का कारण बन जाती है। इसके विपरीत सम्यक्त्व-मूलक ज्ञान चारित्र और तप ही ससारविनाशक मोक्ष के अग बनते हैं। इसी आधार पर अन्य आराधनाओ की अपेक्षा दर्शन की आराधना को मुख्यता एव प्रधानता दी गई है। कल्पना करो दो व्यक्ति है। एक के पास एक रद्दी पाषाण खण्ड है और दूसरे के पास उतने ही वजन की एक बहुमूल्य मणि है। यद्यपि दोनो पत्थर हैं, इसलिए दोनों एक जाति के हैं तथा दोनो का वजन भी समान है, तथापि अपनी शोभा अपनी कान्ति और अपने मूल्य के कारण पाषाण की अपेक्षा मणि का ही अधिक महत्त्व एव गौरव रहता है। पाषाण का भार उठाने वाला व्यक्ति सोचता है कि मैं भार से दबा जा रहा हूँ, जब कि मणि वाले

व्यक्ति के लिए मणि का भार भार ही नही है, क्योकि उसकी उपयोगिता इतनी महान है कि कुछ पूछिए नही। जिस प्रकार पाषाण का अधिक भार उसके उठाने वाले को मात्र कष्ट रूप ही होता है, उसी प्रकार जीव को मिथ्यात्व का भाव कष्टकर ही होता है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व, यद्यपि दोनो ही दर्शन जाति की दृष्टि से एक हैं, फिर भी अशुद्ध और शुद्ध पर्याय की दृष्टि से दोनो मे रात-दिन का सा अन्तर है। मिथ्यात्व नही, सम्यक्त्व ही आत्मा को वास्तविक सुख, शान्ति और आनन्द देने वाला है, मिथ्यात्व तो भव-भ्रमण का मूल बीज होने के कारण स्वरूपोपलब्धि रूप मोक्ष के अभीष्ट फल को कभी प्रदान ही नही कर सकता। यही कारण है कि अध्यात्मशास्त्र मे सम्यक्त्व का अत्यधिक महत्व है।

आपके सामने सम्यक् दर्शन की चर्चा चल रही है। सम्यक् दर्शन का हेतु क्या है? सम्यक् दर्शन किस प्रकार उत्पन्न होता है? उक्त प्रश्नो के समाधान म अध्यात्म-शास्त्र मे बडी गम्भीरता के साथ विचार किया गया है। यह तो स्पष्ट हो ही गया, कि सम्यक् दर्शन मोक्ष की साधना का परमावश्यक और सर्वप्रथम अग है। किन्तु अब यह जानना शेष रह जाता है, कि सम्यक् दर्शन की उत्पत्ति कैसे होती है? सम्यक दर्शन के दो भेद बताए गए हैं—निसर्गज सम्यक् दर्शन और अधिगमज सम्यक् दर्शन। यह निसर्ग और अधिगम क्या है? इसको समझना ही सबसे बडी बात है।

निसर्गज सम्यक् दर्शन क्या है? अध्यात्म शास्त्र मे इसका क्या और कैसा प्रतिपादन किया है? जिज्ञासु की यह एक सहज जिज्ञासा है। निसर्गज सम्यक् दर्शन के सम्बन्ध मे कहा गया है, कि कुछ आत्मा अपने आध्यात्मिक जीवन-विकास मे जब आगे बढते हैं, तब उनके उस अध्यात्म विकास-क्रम के साथ बाहर के किसी भी निमित्त की कारणता नही होती है। इस तथ्य को भली भाँति समझ लेना चाहिए कि बिना कारण के किसी भी कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती है। यहाँ पर सम्यक् दशन की उत्पत्ति भी एक कार्य है, अत उसका भी कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। कारण क्या है? इसके उत्तर मे कहा गया है, कि कार्य-उत्पादक सामग्री को ही कारण कहा जाता है। कार्य-उत्पादक सामग्री के मुख्य रूप मे दो भेद हैं—उपादान और निमित्त। उपादान का अर्थ है—निज शक्ति अथवा निश्चय। निमित्त का अथ है—परसयोग

अथवा व्यवहार। उपादान कारण की परिभाषा देते हुए कहा गया है, कि जो द्रव्य स्वयं कार्य रूप में परिणत होता है, वही उपादान कहलाता है। जैसे घटरूप कार्य के लिए मिट्टी उपादान कारण है। और जो कारण कार्यरूप परिणत न हो पृथक रूप से रहे वह निमित्त कारण होता है, जैसे कि घटरूप कार्य में चाक और दण्ड आदि। कार्य किसको कहा जाता है? उक्त प्रश्न के उत्तर में यहाँ पर केवल इतना ही समझना अभीष्ट है, कि कार्य को कर्म अवस्था पर्याय और परिणाम भी कहा जाता है। कार्य की उत्पत्ति के अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती कारण होता है और कारण के अनन्तर उत्तर क्षणवर्ती कार्य होता है। यहाँ पर प्रसंग चल रहा है सम्यक दर्शन का। सम्यक दर्शन रूप कार्य की उत्पत्ति में उपादान कारण स्वयं आत्मा ही है। क्योंकि आत्मा का सम्यक दर्शन जो एक निज गुण है उसकी विशुद्ध पर्याय को ही सम्यक दर्शन कहा जाता है और मिथ्यात्व उसकी अशुद्ध पर्याय है। मिथ्यात्व रूप अशुद्ध पर्याय का व्यय और सम्यक् दर्शन रूप शुद्ध पर्याय का उत्पाद ही सम्यक दर्शन है। यहाँ पर निसर्गज सम्यक दर्शन की चर्चा चल रही है। निसर्ग का अर्थ है—स्वभाव परिणाम और अपरोपदेश। जो सम्यक दर्शन बिना किसी परसंयोग के एवं बाह्य निमित्त के प्रकट होता है उसे निसर्गज सम्यक दर्शन कहते हैं। निसर्गज सम्यक दर्शन में किसी भी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती है, स्वयं आत्मा में ही सहज भाव से जो स्वरूप ज्योति जगती है और जो सत्य दृष्टि का प्रकाश जगमगाने लगता है, वह सम्यक दर्शन की ज्योति है। उस ज्योति का उपादान कारण स्वयं आत्मा है। जब आत्मा अपने अन्तरंग में संसार की ओर दौड़ता-दौड़ता कभी सहजभाव से संसार को अपने पीठ पीछे छोड़कर मोक्ष की ओर दौड़ने लगता है, आत्मा की इसी स्थिति को निसर्गज सम्यक दर्शन कहा जाता है। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि बिना किसी बाहरी तैयारी के स्वयं आत्मा की अपनी अन्तरंग तैयारी से सहज भाव एवं स्वभाव से आत्मा को जो एक निर्मल ज्योति प्राप्त होती है, वह निसर्गज सम्यक दर्शन है। उसे निसर्गज कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि वर्तमान जीवन में एवं वर्तमान जन्म में तथा जीवन के उस क्षण में जब कि वह ज्योति प्रकट हुई उस समय उसे बाहर में न किसी गुरु के उपदेश का निमित्त मिला न वीतराग वाणी के स्वाध्याय का ही अवसर प्राप्त हुआ।

आत्मा समय-समय पर कर्म के नवीन आवरणों को बाँधता रहता है और पुरानों को तोड़ता रहता है। कर्म के आवरणों को बाँधने की और तोड़ने की दोनों क्रियाएँ एक साथ निरन्तर चलती रहती हैं। याद रखिए, यह आत्मा संसार की ओर तब बढ़ती है, जब कि भोग, भोग कर कर्म बन्धन को तोड़ने की प्रक्रिया कम होती है और बाँधने की प्रक्रिया अधिक बढ़ जाती है। कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति अन्न से अपना एक कोठा भरता भी है और खाली भी करता है, खाली करने और भरने का क्रम यह है कि उसमें से एक सेर अन्न रोज निकालता है तथा बदले में चार सेर अन्न नया डाल देता है। इस स्थिति में वह अन्न-भण्डार क्या कभी खाली होगा ? खाली क्या, इस प्रकार तो वह निरन्तर बढ़ता ही जाएगा। उसका कारण यह है, कि निकालने की मात्रा कम है और डालने की मात्रा अधिक है। इसी प्रकार अनन्त-अनन्त काल में इस आत्मा ने अपने मिथ्यात्व भाव के कारण कर्मों के भण्डार को अधिक परिमाण में भरा है और उन्हें भोग भोगकर खाली करने की मात्रा बहुत अल्प की है। एक बात और है, यदि पूर्वकृत कर्मों को भोगते समय अनुकूल भोग में रागात्मक तथा प्रतिकूल भोग में द्वेषात्मक परिणति हो जाती है, तो कर्मदल भोग रूप से जितने क्षीण होते हैं उससे कहीं अधिक उनका बन्ध हो जाता है। आत्मा का कोई भी मोहात्मक विभाव परिणाम जब उदय में आता है, भले ही वह विभाव परिणाम राग का हो, शोक का हो, क्रोध का हो अथवा लोभ आदि का हो, उसमें कर्म का बन्ध ही होता है। उससे भोगरूप में कर्म का क्षय होता भी है, तो बहुत ही अल्प मात्रा में होता है। सुख दुःख के भोगकाल में भी यदि आत्मा जागृत नहीं है, भोग वृत्ति में उदासीन नहीं है, तो वह भविष्य के लिए और कर्म बाँध लेता है।

एक मजदूर अपने घर सायकाल को जब अपने एक सप्ताह का वेतन लेकर लौटा, तब उसने देखा कि उसका प्यारा बच्चा घर के आँगन में खेल रहा है। अपने आँखों के तारे को प्यार करते हुए मजदूर ने अपने हाथ का दस का नोट उसके हाथ में दे दिया और वह स्वय आगन में पड़ी हुई खाट पर विश्राम करने लगा। इधर बच्चा खेलता-खेलता चूल्हे के पास जा पहुँचा, और खेल-ही-खेल में अपने हाथ का वह नोट उसने आग में फेंक दिया। इस दृश्य को देख कर वह पिता हतप्रभ एव स्तब्ध हो गया, उसके मस्तिष्क में क्रोध का तूफान

इतने वेग के साथ उठा कि वह अपने को न सँभाल सका और क्रोध में अन्धा बनकर उसने अपने उसी बच्चे को जिसे अभी थोड़ी देर पहले वह प्यार कर रहा था, चूल्हे की जलती आग में झोंक दिया। जीवन की यह एक विचित्र घटना है। उन लोगों के जीवन में इस प्रकार की घटना असम्भव नहीं है, जो लोग अपने मन के आवेगों पर नियन्त्रण नहीं कर सकते। मैं मानता हूँ कि उस मजदूर पिता के लिए दस के नोट की कीमत एक बहुत बड़ी कीमत थी, उस नोट को आग में जलते हुए देखकर उसके हृदय को आघात पहुँचना भी कदाचित् सहज कर्म माना जा सकता था, किन्तु उसके सोचने-समझने का तौर-तरीका अपने आप में स्वस्थ न था। क्या वह दस का नोट ही उसके समग्र जीवन का आधार था? क्या उसका सारा जीवन उसी पर चलने वाला था? जब कभी मनुष्य के मन और मस्तिष्क में अपने भविष्य के प्रति इस प्रकार का अन्धकारपूर्ण दृष्टिकोण उत्पन्न हो जाता है, तब इस प्रकार की दारुण घटनाओं का घटित होना असम्भव नहीं कहा जा सकता। मानव-जीवन की स्थिति यह है, कि कभी भी किसी भी समय और किसी भी निमित्त को पाकर, मनुष्य के चित्त का कोई भी सुप्त आवेग जागृत होकर उसके मस्तिष्क के सन्तुलन को बिगाड़ सकता है। जब कि कभी लोभ, कभी क्रोध, कभी राग और कभी द्वेष मनुष्य के मानसिक सन्तुलन पर तीव्र आघात एवं प्रत्याघात कर सकते हैं, उस स्थिति में मनुष्य अपने उन मानसिक आवेगों पर नियन्त्रण करने की अपनी शक्ति को खो बैठता है। कितने आश्चर्य की बात है, जो मनुष्य प्रेम और दया का सन्देश लेकर संसार को क्रोध एवं लोभ की आग को शान्त करने के लिए चला था, वह स्वयं ही उसमें दग्ध हो रहा है। और जीवन के इस नगण्य प्रसंग पर अपना सन्तुलन खोकर स्वयं अपने लिए ही नहीं, अपने परिवार और अपने समाज के लिए भी एक अप्रिय और विषम समस्या उत्पन्न कर रहा है। मैं समझता हूँ, इस प्रकार के लोगों का मानसिक संकल्प बहुत दुर्बल होता है, और वे अपने मन के किसी भी आवेग पर इस प्रकार के विषम प्रसंगों पर अपने नियन्त्रण करने की शक्ति को खो बैठते हैं। यह उदाहरण है कि क्रोध काल में असावधान व्यक्ति किस प्रकार भयंकर नए कर्मों का बन्धन कर लेता है। अतः केवल भोग से कर्म क्षीण नहीं होते और न मुक्ति ही होती।

मैं आपसे विचार कर रहा था कि यह आत्मा अनन्त-अनन्त काल

से भव-बन्धन मे बद्ध है। वह अपने पुरातन कर्म को जितना भोगता है उससे अधिक वह नवीन बन्ध कर लेता है। ससार मे अनन्त काल तक परिभ्रमण करने के बाद भी, वह कर्म-बन्ध का प्रवाह बना रहता है। यह ठीक है कि कर्मोदय पूर्वकृत कर्म को भोगकर पूरा करने के लिए होता है, परन्तु कितनी विचित्र बात है, कि असावधान आत्मा पूर्वकृत कर्म के सुखात्मक भोग से तो प्रसन्न होता है, और उसके दु खात्मक भोग से भयभीत, हैरान एव परेशान हो जाता है। मिथ्यादृष्टि आत्मा कर्मों के सुखात्मक भोग मे आसक्त हो जाता है और कर्मो के दु खात्मक भोग से व्याकुल हो जाता है। इस प्रकार बन्ध की जटिल प्रक्रिया समाप्त नही होती। सम्यक् दृष्टि आत्मा की दशा इससे भिन्न होती है। वह अपने सुखात्मक एव दु खात्मक भोग मे अपने मन एव मस्तिष्क के सतुलन को बिगडने नही देता है। दोनो ही प्रकार के भोग मे वह अपने समत्व योग को स्थिर रखता है। सम्यक् दृष्टि आत्मा यह सोचता है, कि यदि कर्म विपाक का समय आ गया है, तो यह अच्छा ही है। क्योकि समभाव से भोगकर वह कर्म क्षीण हो जाएगा। जब उदय आ गया है, तो अब भोगकर ही उसे पूरा करना ठीक है। विवेकशील आत्मा यह सोचता है, कि अपने पूर्वकृत कर्मो को समभाव से भोगकर ही मैं शान्ति पा सकूँगा। इस प्रकार सम्यक् दृष्टि आत्मा न दु ख के समय विचलित होता है, और न सुख के समय। सुख-दु ख के भोगकाल मे यदि पूर्ण तटस्थता रहती है, तो कर्मबन्ध नही होता है, यदि पूर्ण तटस्थता नही रहती है, तब भी विवेकी आत्मा को अल्प ही कर्मबन्ध होता है।

कर्मोदय का विकट प्रसग आने पर विचार करना चाहिए कि आज तो मुझे मनुष्य जीवन मिला है, आज तो मुझे परिवार की अनुकूल स्थिति मिली है, आज तो मुझे अनेक प्रकार की सुख सुविधाएँ उपलब्ध हैं, आज तो मुझे इतना विवेक मिला है, कि मैं अपना हित एव अहित भली भाँति सोच सकता हूँ। यदि इस प्रकार के अनुकूल और सुन्दर प्रसग मिलने पर भी समभाव के साथ मैं अपने कर्मों को भोग करके क्षीण नही कर सका, तब फिर कब करूँगा ? क्या उस पशु और पक्षी के जीवन मे, जहाँ विवेक का लवलेश भी नही रहता। क्या उस क्षुद्र कीटपतग के जीवन मे, जहाँ अन्धकार ही अन्धकार है, कही पर प्रकाश की एक क्षीण रेखा भी दृष्टिगोचर नही होती। क्या नरक मे, जहाँ दु ख भोग मे क्षण भर का भी अवकाश नही मिल पाता है। क्या उस

स्वर्ग में जहाँ सुख भोगों के मोहक पाश में आत्मा अपना भान ही भूल जाता है। वस्तुतः मनुष्य जीवन ही एक ऐसा शानदार जीवन है, जहाँ अपने पूर्वकृत कर्मों से लड़ा जा सकता है और नवीन कर्मों के प्रवाह को रोका जा सकता है। यदि यहाँ कुछ नहीं किया तो फिर सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार है। सुख और दुःख के बादल तो जीवन-गगन पर यथा क्रम आते और जाते ही रहते हैं। इनके अनुकूल और प्रतिकूल भावों में फँसकर मैं अपने स्वरूप को क्या भूलूँ? इसी मानव-जीवन में मैं अपने कर्मों से लड़कर विजय प्राप्त कर सकता हूँ। याद रखो आने वाले कर्म को रोको मत, उसे अपने जीवन क्षेत्र में स्वच्छन्दता के साथ प्रवेश करने दो, फिर भले ही आने वाला कर्म कोई सुखात्मक हो अथवा दुःखात्मक हो। उसे रोकने या टोकने की कोशिश मत कीजिए। बस इतना ध्यान अवश्य रखिए कि सुख या दुःख के प्रति अपने मन में रागात्मक एवं द्वेषात्मक विकल्प न उठे। यदि राग और द्वेष आ गया तो स्थिति बड़ी विषम हो जाएगी। यह एक ऐसी स्थिति होगी कि पूर्वकृत कर्म को भोग कर अपने को पवित्र नहीं किया गया और उससे अधिक नवीन कर्म आकर जमा हो गया। राग-द्वेष रूप विकल्पों के कारण से आने वाले कर्मों को रोका नहीं जा सकता। और आने पर उनका सुख दुःखात्मक भोग भी अवश्य होगा ही। हाँ यह बात दूसरी है कि हम अपने विवेक को जागृत रखकर अपने मन में रागात्मक एवं द्वेषात्मक विकल्प उत्पन्न ही न होने दें, यह हमारे अपने हाथ की बात है। परन्तु कर्म प्रवाह के आ जाने पर उसके फल से बच सकना निश्चय ही अपने हाथ की बात नहीं है। परन्तु जैन दर्शन एक आशावादी दर्शन है, इसी आधार पर वह कहता है, कि कृत कर्मों के भोग से बचा तो नहीं जा सकता, किन्तु यह निश्चित है, कि अपने रागात्मक एवं द्वेषात्मक विकल्पों को मन्द एवं क्षीण करके दीर्घ स्थिति को अल्प स्थिति में और तीव्र रस को मन्द रस में बदला जा सकता है, क्योंकि जैन-दर्शन के अनुसार बन्धन की स्थिति में भी आत्मा पुरुषार्थ करने में स्वतन्त्र है। अपने उस पुरुषार्थ से यह आत्मा अनुकूलात्मक और प्रतिकूलात्मक दोनों ही प्रकार का पुरुषार्थ करने में स्वाधीन है।

बद्ध कर्म का उदय भाव अवश्य आएगा, उसे किसी भी स्थिति में कोई भी टालने की क्षमता नहीं रखता है। कर्मों का उदय होगा ही, कि यह अवश्यम्भावी है। संसार की साधारण आत्मा की बात

क न करे ? अध्यात्म शक्ति के धनी तीर्थंकर और भौतिक शक्ति के धनी चक्रवर्ती भी कर्मोदय के परिचक्र से बच नही सकते। कृतकर्मो का एव कर्म के उदयभाव का भोग किए बिना छुटकारा किसी का नहीं होता। जो कर्म उदय मे आ रहे हैं, उन्हे शान्त भाव से भोगो, उन्हें भोगते समय समभाव रक्खो, जिससे कि फिर उस कर्म का नवीन बन्ध न हो। यदि भोग के बाद फिर बन्ध हो गया, तो फिर भोग और फिर बन्ध, इस प्रकार भोग और बन्ध का यह परिचक्र चलता ही रहेगा। इस प्रकार कभी किसी की मुक्ति सम्भव नहीं रहेगी। इसलिए विवेक का मार्ग यही है, जो कर्मोदय प्राप्त हो चुका है, उसे आने दिया जाए, क्योकि उसमे किसी का कोई चारा नही है। जो बँध चुका है, वह तो उदय मे आएगा ही, परन्तु यह तो अपने हाथ मे है कि आगे के लिए बन्ध न डाला जाए। बस, इसी के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् चारित्र की अपेक्षा रहती है। आत्मा का भाव जितना विशुद्ध रहेगा, कषायो की मन्दता उतनी ही अधिक रहेगी, इतना ही नही, बल्कि कर्मो की विपाक शक्ति की तीव्रता भी मन्द होगी और दीर्घकालीन स्थिति अल्पकालीन हो जाएगी। अत आत्मा के विशुद्ध भाव की अपार महिमा है।

कल्पना कीजिए, एक सर्प पकडने वाला मनुष्य है, वह भयकर से भयकर सर्प को अपने गले मे डाल लेता है। उसे न किसी प्रकार का भय होता है और न किसी प्रकार की चिन्ता ही रहती है। वह सर्प उसके गले मे ही क्या, शरीर के किसी भी अग मे क्यो न चिपट जाए, किन्तु सपेरा जरा भी विचलित नही होता। सर्प से उसे किसी प्रकार का भय नही रहता। क्योकि भय का कारण जो विष है, उसने उसे निकाल फेका है, दूर कर दिया है। भय सर्प मे नही, सर्प के विष मे होता है। और उसने सर्प की उस विष दाढ को निकाल फेका है, जिसमे विष सचित होता था। इसलिए अब उसे किसी प्रकार का भय सर्प से नहीं रहा। एक बात और है, जिस मारक विष से साधारण मनुष्य भयभीत होता है, परन्तु एक चतुर वैद्य अपनी बुद्धि के प्रयोग एव उपयोग से उसी मारक विष को तारक अमृत बना देता है। वह उससे अनेक भयकर से भयकर रोगो को नष्ट करके रोगियो को नया जीवन प्रदान करता है। आत्मा और कर्म के सम्बन्ध मे भी यही सत्य है, यही तथ्य है। जागृत आत्मा वह सपेरा है, जो अपने कर्म रूपी साँपो के राग द्वेषात्मक विष-दन्त को निकाल फेंकता है, फिर उसे

कर्म रूपी सर्प से किसी प्रकार का भय नहीं रहता। कर्म तो वीतराग गुण स्थानों में भी रहता है, वहाँ पर भी उसका सुखात्मक एवं दुःखात्मक भोग होता ही है, किन्तु वहाँ पर रागात्मक एवं द्वेषात्मक विकल्प का विष न रहने से कर्मों के उस भोग में आकुलता नहीं रहती है। कर्म का परिपाक वहाँ पर भी चल रहा है क्योंकि कर्म की सत्ता वहाँ पर भी विद्यमान है ही और जब तक कर्म की सत्ता विद्यमान है, तब तक उसका अनुकूल-प्रतिकूल वेदन होता ही रहेगा उसे रोका नहीं जा सकता। इस बीच में जैसे जैसे रागात्मक एवं द्वेषात्मक विकल्प क्षीण एवं मंद होते जाते हैं, वैसे-वैसे आत्म भाव की स्वच्छता के कारण उल्लास एवं आनन्द भी बढ़ता जाता है। याद रखिए, कर्म का भोग भोगना एक अलग बात है और उसमें हर्ष एवं विषाद करना एक अलग बात है। वास्तविक सुख निराकुलता में है। इसके विपरीत जो भी दुःख है वह सब आकुलता में है। सांसारिक सुख भी आकुलता रूप ही है, अतः वह भी अन्तर्विवेक की दृष्टि से दुःख की कोटि में ही आता है। जीवन के इस तथ्य को ध्यान में रखकर सम्यक् दृष्टि आत्मा उस चतुर वैद्य के समान हो जाता है, जो अनाकुलता के द्वारा सुख-दुःख रूप जीवन-घातक विष को भी जीवन-उन्नायक अमृत बना देता है। यह कला सम्यक् दृष्टि जीव में ही हो सकती है, मिथ्या दृष्टि जीव में नहीं। सम्यक् दृष्टि आत्मा अपने विवेक के कारण अपने हित अहित का विचार करता है। इसके विपरीत मिथ्या दृष्टि आत्मा विवेक के अभाव में रागात्मक एवं द्वेषात्मक विभाव-भावों के कुचक्र से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता। यही कारण है कि न उसे कर्म के उदय भाव में शान्ति है, न उसे कर्म भोग में शान्ति है और न उसे कर्म-बन्ध में शान्ति है। मिथ्यादृष्टि आत्मा कहीं भी क्यों न चला जाए, वह अपने जीवन के विभावों एवं विकल्पों के प्रभाव से बच नहीं सकता और इसी कारण उसके जीवन में सम्यक् दर्शन की विमल ज्योति का आलोक प्रसृत नहीं होता इसीलिए वह सुख मिलने पर हर्ष करने लगता है और दुःख मिलने पर विषाद करने लगता है।

वर्षा ऋतु में आपने देखा होगा कि मेंढक टर्र-टर्र किया करता है। मेंढक गन्दी तलैय्या का प्राणी है। वह तलैय्या में रहता है, और तलैय्या के गन्दे पानी में ही अपने को सुखी समझता है। तलैय्या में वर्षा ऋतु के कारण जैसे ही कीचड़ और गन्दा पानी बढ़ता है, वैसे ही मेंढक गन्दे जल को पीकर कर्ण भेदी स्वर से हल्ला मचाना

है, मानो उसे सुख का कोई अक्षय भण्डार मिल गया है। उसके लिए वह कीचड और गन्दा जल ही जीवन की बहुत बडी उपलब्धि होती है। इसके विपरीत अथाह महासागर मे रहने वाला मच्छ मौन भाव से रहता है। महासागर की अथाह एव अगाध जल राशि को पाकर भी वह कभी शोर नही मचाता, अभिमान नही करता कि मैं बहुत समृद्ध हूँ, मेरे पास कितना विशाल जल भडार है। ससार मे अज्ञानी और विवेकहीन आत्मा को दु ख मिलना भी खतरनाक है और सुख मिलना भी। उसकी जिन्दगी को दोनो ही खराब और बरबाद करने वाले हैं। सुख एव दु ख को पचाने की शक्ति ज्ञानी एव सम्यक् दृष्टि जीव मे ही होती है। क्योकि सम्यक् दृष्टि आत्मा एव विवेक सम्पन्न आत्मा दु ख एव क्लेश की घनघोर काली घटाओ मे से भी चमकते चाँद के समान निकलता है और भयकर आग मे तपाए हुए स्वर्ण के समान दमकता है। सुख आने पर वह महासागर के महान मच्छ के समान गम्भीर रहेगा और दु ख आने पर भी वह कभी अपनी विनम्रता एव शालीनता का परित्याग नही करेगा। इसके विपरीत अज्ञानी आत्मा दु ख आने पर तो म्लान मुख हो ही जाता है, किन्तु सुख आने पर भी वह शान्त नही बैठता और बरसाती मेढक के समान टरटराता रहता है, हमेशा हल्ला मचाता रहता है। सुख और दु ख दोनो ही उसे व्याकुल बना देते हैं।

कृत कर्म अपना शुभ या अशुभ फल सभी को प्रदान करता है। ससारी आत्मा, भले ही वह किसी भी स्थिति मे क्यो न हो, कर्म के विपाक से बच नही सकता। कर्म का बन्धन ससार की प्रत्येक आत्मा मे है, और यह बन्धन तब तक रहेगा, जब तक कि आत्मा की ससार-दशा है। तीर्थंकर भी क्या है? वह भी तीर्थंकर नाम कर्म का ही फल है। और तीर्थंकर नामकर्म मूलत क्या है? वह ससार ही है, मोक्ष नही। जब तक तीर्थंकर नामकर्म का भोग पूर्णरूप से नही भोग लिया जाएगा, तब तक तीर्थंकर की आत्मा भी मुक्ति नही पा सकती। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि तीर्थंकर बन कर भी बन्धन रहता है, ससार रहता है। एक बार विचार-चर्चा के प्रसग पर एक सज्जन ने मुझसे कहा कि "यदि मुझे अगले जन्म मे मोक्ष प्राप्त हो और दूसरी ओर हजारो जन्मो के बाद तीर्थंकर होकर मोक्ष मिलने वाला हो तो मुझे हजारो जन्मो के बाद तीर्थंकर बन कर मोक्ष जाना ही अधिक पसन्द है।" मैंने पूछा—"ऐसा क्यो?" तो उस भाई ने कहा—"तीर्थंकर

बनने पर इन्द्र सेवा में उपस्थित होंगे, छत्र और चामर होंगे, स्वर्ण कमलों पर पैर रखते हुए विहार होगा। कितना आनन्द आएगा।" मैंने उस भाई से कहा—बस इसी जय जय कार के लिए तीर्थंकर होना चाहते हो? इससे आपको क्या लाभ होगा? भाई मुझे तो हजारों जन्मों बाद तीर्थंकर बनकर मोक्ष पाने के बजाय अगले जन्म में क्या इसी जन्म में मोक्ष जाना अधिक रुचिकर है, क्योंकि इस आत्मा को राग द्वेष से जितनी जल्दी छुटकारा मिल जाए उतना ही अधिक अध्यात्म लाभ है। तीर्थंकर बनना बुरा नहीं है, वह भी एक पुण्य प्रकृति है, किन्तु उसके लिए हजारों जन्मों तक राग द्वेष की मलिनता को स्वीकार करना अध्यात्म दृष्टि से कैसे उचित कहा जा सकता है? और फिर, तीर्थंकर पद उत्कृष्ट पुण्यरूप भले ही हो आखिर है तो संसार की ही मधुर स्थिति संसार की ही वस्तु सदा। यदि कोई व्यक्ति यह सोचता है कि यदि मैं तीर्थंकर बन जाऊँ तो इन्द्र मेरी पूजा करने आएँगे, जब मेरा जन्म होगा तब इन्द्र मेरा जन्म महोत्सव मनाएँगे और जब मुझे केवलज्ञान होगा तब भी वे मेरी पूजा करेंगे तो यह सोचना ठीक नहीं है। जरा अध्यात्म दृष्टि से विचार तो करें कि तीर्थंकर बन जाने पर इन्द्र आए और पूजा भी करे, तो उससे आत्मा का क्या लाभ होगा? यदि निश्चय ही आत्मा का उससे कोई लाभ नहीं है तो फिर हजार जन्मों तक तीर्थंकर बनने की प्रतीक्षा क्यों करें? तीर्थंकर का भी जब मोक्ष होता है तब यह इन्द्र-पूजा आदि बाह्य विभूति और बाहरी ऐश्वर्य सब संसार में ही रह जाता है। मोक्ष में तो केवल अकेला आत्मा ही जाता है। जब मोक्ष में जाने से पूर्व इन सब बाह्य विभूति को छोड़ना आवश्यक ही है फिर उसके लिए हजारों जन्मों तक कर्म के बन्ध और उदय आदि के चक्र में पड़ने में क्या लाभ? तीर्थंकर पद पर आसीन होकर तीर्थंकर स्वयं भी उससे उपलब्ध होने वाली पूजा प्रतिष्ठा और विभूति को संसार ही मानते हैं बन्धन ही मानते हैं। तीर्थंकरों की दृष्टि में तीर्थंकर होना भी संसार है। जरा अपनी आत्मा में गहरे उतर कर विचार तो कीजिए कि जिस दर्शन में तीर्थंकर पद भी संसार और बन्धन बताया गया हो उससे बढ़कर दूसरा और कौन वीतराग दर्शन एवं अध्यात्म दर्शन होगा? यह वीतराग दर्शन की विशेषता है कि वह इन्द्र की पूजा छत्र चामर आदि बाह्य विभूति को त्यागने की बात कहता है। इतना ही नहीं उसकी अध्यात्म दृष्टि इतनी गहरी है कि वह चक्रवर्ती पद और

तीर्थंकर पद जैसे विशिष्ट पदों को भी संसार की संज्ञा देता है और उनसे ऊपर उठने की प्रेरणा देता है। वह कहता है—कि भले ही तीर्थंकर पद सब पदों में श्रेष्ठ हो, किन्तु मूलतः वह भी संसार की ही एक स्थितिविशेष है और मोक्ष पाने के लिए उसको छोड़ना भी परमावश्यक है। यह एक वीतराग दर्शन एवं अध्यात्म दर्शन की ही विशेषता है, कि वह संसार की किसी भी स्थिति को मोक्ष की स्थिति मानने को तैयार नहीं है। वह बन्धन को बन्धन स्वीकार करता है और कहता है, कि जब तक किसी भी प्रकार का बन्धन है, मोक्ष नहीं मिल सकता।

साधक के सामने सबसे बड़ा सवाल यह है, कि वह बन्धन से विमुक्त कैसे हो? बद्ध कर्म को शीघ्र से शीघ्र कैसे क्षीण किया जाए एवं कैसे उसे दूर किया जाए? उदय में आए हुए कर्म को भोगकर नष्ट करने का मार्ग तो बहुत लम्बा मार्ग है और कई उलझनों से भरा हुआ भी है। अतः उसके लिए एक दूसरा उपाय बतलाया गया है, जिससे बद्ध कर्म से बहुत शीघ्र छुटकारा मिल सकता है और वह उपाय है—उदीरणा का। उदीरणा क्या वस्तु है, उसके स्वरूप को समझना भी परम आवश्यक है। उदीरणा के मर्म को समझे बिना और तदनुकूल साधना किए बिना, बद्ध कर्मों से शीघ्र छुटकारा नहीं मिल सकता।

कहा जाता है, कि जब चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर अपनी कठोर साधना में संलग्न थे, उस समय आर्य क्षेत्र एवं आर्य देश में घोर तपस्या एवं कठोर साधना करते हुए भी एक बार उनके मन में यह विचार उठा, कि मुझे आर्य देश छोड़कर अनार्य देश में जाना चाहिए, जिससे कि वहाँ पहुँचकर मैं अपने कर्मों की उदीरणा करके शीघ्र ही इस भव-बन्धन से विमुक्त हो जाऊँ। कर्मों की उदीरणा की यह प्रक्रिया बहुत ही सूक्ष्म एवं विचित्र है। तीर्थंकर या अन्य भी कोई महान् साधक जब आर्य देश में रहता है, तो वहाँ उसे सहज में ही पूजा एवं प्रतिष्ठा के सुन्दर प्रसंग मिलते रहते हैं और जय-जयकार की मधुर स्वर लहरी उनके चारों ओर दिग्-दिगन्तरों में गूँजती रहती है और भक्तों की भक्ति का ज्वार उमड़ता रहता है। इस स्थिति में साधक यदि पूर्ण जागृत नहीं है, तो अनुकूलता पाकर वह राग में फँस सकता है किन्तु अनार्य देश एवं अनार्य क्षेत्र में पहुँचकर, जहाँ उसका कोई परिचित नहीं होता, जहाँ कोई उसका

भक्त नहीं होता, वहाँ कोई उसकी पूजा एवं प्रतिष्ठा करने वाला नहीं होता और वहाँ कोई उसकी जय-जयकार करने वाला नहीं होता, वहाँ सर्वत्र उसे प्रतिकूल वातावरण ही मिलता है एवं प्रतिकूल संयोग ही मिलते हैं। उस स्थिति में किसी के प्रति द्वेष न करते हुए, समभाव में लीन रहकर कर्मों की उदीरणा की जाती है। जिन कर्मदलिकों के भोग में सागर के सागर समाप्त हो जाते हैं, उन्हें एक आवलिका जितने अल्प काल में भोग लेना, अर्थात् उदय की एक आवलिका में लाकर अन्तर्मुहूर्त में उसे पूरा कर लेना कोई साधारण बात नहीं है। अध्यात्म साधक उदय प्राप्त कर्मों को भोग भोगकर क्षय करने की अपेक्षा उदीरणा के द्वारा कर्मों को समय से पूर्व ही शीघ्र क्षय करने में अधिक लाभ समझता है। किन्तु उदीरणा की प्रक्रिया की यह साधना साधारण नहीं है। धीर वीर एवं गम्भीर साधक ही इस उदीरणा की प्रक्रिया में अपने मन का सन्तुलन ठीक रख पाते हैं। इस प्रकार के ज्ञानी के लिए सुख एवं दुःख वरदान एवं उद्धार के साधन होते हैं। परन्तु अज्ञानी के लिए वे ही उद्धार के स्थान संसार के साधन हो जाते हैं। मिथ्यात्वी आत्मा अनन्त-अनन्त काल से सुखात्मक एवं दुःखात्मक भोग भोग रहा है। किन्तु दुःखात्मक भोग में वह झुंझला जाता है और सुखात्मक भोग में वह फूल जाता है, जिससे कि वह भविष्य के लिए फिर नवीन कर्मों का बन्ध कर लेता है और कर्मों के भार के नीचे दब जाता है। अध्यात्म शास्त्र में इसी को संसार-वृद्धि कहा जाता है। परन्तु जो ज्ञानी आत्मा होता है और जिसका अध्यात्म भाव जागृत होता है, वह भयंकर से भयंकर एवं तीव्र से तीव्रतर विघ्न बाधाओं के आने पर भी विचलित नहीं होता, बल्कि उसे भोग कर समाप्त करने का ही उसका लक्ष्य रहता है, किन्तु उसका वह भोग समभाव के साथ होता है, जिससे कि फिर भविष्य के लिए नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता। अध्यात्म शास्त्र में इसी को संवर की साधना कहते हैं, इसी को निर्जरा की साधना कहते हैं और इसी को मोक्ष की साधना भी कहते हैं।

मैं आपसे यह कह रहा था कि सम्यक् दर्शन के दो भेद हैं—निसर्गज सम्यक् दर्शन और अधिगमज सम्यक् दर्शन। निसर्गज सम्यक् दर्शन वह है जिसमें किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती। गुरु उपदेश के बिना ही एवं स्वाध्याय आदि बाह्य निमित्त के बिना ही स्वयं आत्मा की विशुद्ध परिणति से जिस सम्यक्त्व की उपलब्धि होती

है, वह निसर्गज सम्यक् दर्शन है। निसर्गज सम्यक् दर्शन मे अन्तर की दिव्य शक्ति एव उपादान शक्ति से ही दर्शन मोहनीय कर्म क्षीण हो जाता है और अन्तर मे सम्यक् दर्शन का प्रकाश जगमगाने लगता है, इसमे वाहर का कोई भी निमित्त नही होता। कभी-कभी यह कहा जाता है, कि सम्यक्त्व की प्राप्ति मोहनीय कर्म के क्षय एव उपशम आदि के पश्चात् होती है। परन्तु मैं पूछता हूँ वह क्षय और उपशम स्वय ही होता है क्या ? यदि दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय और उपशम स्वय नही होता है, तो उसका क्षय करने वाला कौन है ? यह एक वडा विकट प्रश्न है। इसके समाधान मे कहा गया है कि—दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय एव उपशम करने वाला कोई वाहर का अन्य पदार्थ नही है, वह स्वय आत्मा ही है, आत्मा की उपादान शक्ति से ही मोहनीय कर्म का क्षय एव उपशम होता है। कर्मो का आवरण स्वय नही टूटता, उसे आत्मा के अन्तर का पुरुषार्थ ही तोडता है। आत्मा का पुरुषार्थ निसर्गज सम्यक् दर्शन मे सहज होता है, उस पुरुषार्थ के जागृत होने पर दर्शन मोह का आवरण टूट जाता है और आत्मा को सम्यक दर्शन की उपलब्धि हो जाती है। अन्तर पुरुषार्थ की जागृति के लिए किसी वाह्य निमित्त एव पर की अपेक्षा नही रहती। जव आन्तरिक पुरुषार्थ का वेग तीव्र होता है, तव आत्मा वन्धनो को तोडकर उससे विमुक्त हो जाता है। निसर्गज सम्यक् दर्शन मे आत्मा स्वय ही साधक है, स्वय ही साधन है और स्वय साध्य है। निश्चय दृष्टि से एव भूतार्थ ग्राही नय से यह आत्मा स्वय अपनी उपादान शक्ति से ही अपने स्वरूप की उपलब्धि करता है, अथवा अपने स्वरूप को आविर्भूत करता है। अनन्त-अनन्त कर्मदल का भोग भोगते-भोगते आत्मा मे कभी विलक्षण आध्यात्मिक जागरण होने से रागात्मक एव द्वेषात्मक विकल्प मन्द हो जाते है, और उससे वह विशुद्धि हो जाती है, कि आत्मा के दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय एव क्षयोपशम होने से तदनुसार सम्यक्त्व भी तीन प्रकार का हो जाता है— औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। यद्यपि दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय मे आत्मा की दर्शनविषयक पूर्ण विशुद्धि सदाकाल के लिए हो जाती है, किन्तु उपशम भाव मे भी आत्मा की निर्मलता पूर्णरूपेण शुद्ध रहती है, किन्तु वह उतने ही क्षणो तक रहती है, जितने क्षण तक दर्शन मोहनीय कर्म का उपशमन रहता है। यह दोनो स्थितियाँ आत्मा की विशुद्ध स्थितियाँ हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे कुछ अश मे विशुद्धि रहती है और कुछ

अंश में अशुद्धि भी, क्योंकि इसमें दर्शन मोहनीय कर्म की सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति का उदय रहता है और इस प्रकार सम्यक्त्व मोहनीय के आंशिक उदय से आत्मा की दर्शन सम्बन्धी पूर्ण विशुद्ध स्थिति नहीं रह सकती। आत्मा की दर्शनसम्बन्धी विशुद्ध स्थिति के लिए, या तो दर्शन मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाना चाहिए, अथवा उसका उपशमन हो जाना चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि अधिगमज सम्यक् दर्शन की व्याख्या और परिभाषा क्या है? मैं पहले यह कह चुका हूँ कि निसर्ग शब्द का अर्थ है—स्वभाव, परिणाम और अपरोपदेश। अधिगम शब्द का अर्थ है—परनिमित्त, परप्रयोग और परोपदेश। इसका अर्थ यह हुआ कि अधिगमज सम्यक् दर्शन की उपलब्धि में शास्त्र-स्वाध्याय आदि की आवश्यकता है और किसी न किसी परप्रयोग की अनिवार्यता है। यद्यपि अधिगमज सम्यक् दर्शन में भी उसका अन्तरंग कारण दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम भाव, क्षयभाव और क्षयोपशम भाव अवश्य ही रहता है, तथापि अधिगमज सम्यक् दर्शन में बाहर का निमित्त भी अपेक्षित है। निष्कर्ष यह है कि जो सम्यक् दर्शन बाह्य एवं अन्तरंग दोनों कारणों की अपेक्षा रखता है वह अधिगमज सम्यक् दर्शन कहलाता है। इसके विपरीत निसर्गज सम्यक् दर्शन में किसी भी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती। आत्मशुद्धि का जितना मार्ग निसर्गज सम्यक् दर्शन में तय करना पड़ता है उतना ही अधिगमज सम्यक् दर्शन में भी तय करना पड़ता है। निसर्गज और अधिगमज सम्यक् दर्शन में अधिक अन्तर नहीं है, क्या कि दोनों में अन्तरंग कारण तो समान ही है। उपादान की शक्ति दोनों जगह ही काम करती है, दोनों की स्वरूप-शुद्धि में भी कोई अन्तर नहीं है। आध्यात्मिक शुद्धि का स्वरूप दोनों का एक जैसा ही होता है। यदि दोनों में कुछ अन्तर है तो केवल इतना ही कि एक बाह्य निमित्त निरपेक्ष है और दूसरा बाह्य निमित्त-सापेक्ष है। एक में निमित्त नहीं रहता, इसलिए वह निमित्त-निरपेक्ष है और दूसरे में निमित्त रहता है, इसलिए वह निमित्त सापेक्ष है। परन्तु अध्यात्म क्षेत्र के विकास में निमित्त महत्त्वपूर्ण नहीं होता, महत्त्वपूर्ण तो आत्मा की अपनी उपादान शक्ति ही है। निमित्त बहुत बड़ा बलवान नहीं होता है। आत्मा के उपादान के बिना निमित्त का महत्त्व नहीं के बराबर है। आत्मा को अपने स्वयं के पुरुषार्थ के अभाव में सम्यक् दर्शन नहीं हो

सकता है, यह एक निश्चित सिद्धान्त है। दोनो प्रकार के सम्यक् दर्शनो मे उपादान की शक्ति का बल ही मुख्य एव प्रधान है। मेरे विचार मे सम्यक् दर्शन पर निमित्त सापेक्ष हो, अथवा परनिमित्त-निरपेक्ष हो, पर वह आत्मा मे कही बाहर से नही आता, अपने अन्दर उपादान मे से ही होता है। किसी आत्मा की उपादान मे ऐसी यारी रहती है, कि सम्यक् दर्शन की उपलब्धि मे उसे बाह्य निमित्त की अपेक्षा रहती ही नही है।

आप जीवन के इस तथ्य को भली भाँति जानते है कि एक व्यक्ति बिना किसी की शिक्षा के और बिना किसी के मार्ग दर्शन किए स्वय अपने ही अभ्यास से और स्वय अपने ही श्रम से अपनी कला मे एव अपने कार्य मे दक्ष हो जाता है। दूसरी ओर ससार मे कुछ व्यक्ति इस प्रकार के भी हैं, जिन्हे किसी भी कला मे निपुणता प्राप्त करने के लिए, अथवा किसी भी कार्य मे दक्ष होने के लिए गुरुजनो के उपदेश की एव अपने अभिभावको के मार्ग—दर्शन की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार निसर्गज सम्यक् दर्शन एक वह अध्यात्म कला है, जो स्वय के आन्तरिक पुरुषार्थ से एव स्वय के आन्तरिक बल से प्राप्त की जाती है। और अधिगमज सम्यक् दर्शन जीवन की वह कला हैं जिसे अधिगत करने के लिए दूसरो के सहकार की आवश्यकता है। दूसरो के सहकार की भी कुछ सीमा होती है। वही सब कुछ नही है। मूल वस्तु तो अपने अन्दर का जागरण ही है। यदि कोई व्यक्ति गुरु का उपदेश तो सुने परन्तु उसे अपने हृदय मे धारण न करे तो उस उपदेश से क्या लाभ होगा? शून्य-चित्त व्यक्ति को निमित्त पाकर भी कोई लाभ नही होता।

१२

उपादान और निमित्त

• • •

किसी भी वस्तु का परिज्ञान करने के लिए जैन दर्शन में दो दृष्टियों का वर्णन किया गया है—भेद दृष्टि और अभेद दृष्टि। भेद दृष्टि का अर्थ है—एकता में अनेकता। अभेद-दृष्टि का अर्थ है—अनेकता में एकता। जब साधक इस विश्व को एवं विश्व के पदार्थों को भेददृष्टि से देखता है, तो उसे सर्वत्र अनेकता ही-अनेकता दृष्टिगोचर होती है, उसे कहीं पर भी एकता नजर नहीं आती। किन्तु वही साधक जब विश्व को एवं विश्व के पदार्थों को अभेद-दृष्टि से देखता है, तब सर्वत्र उसे एकता ही एकता दृष्टिगोचर होती है, उसे कहीं पर भी अनेकता नजर नहीं आती। वस्तुतः संसार द्रष्टा के सामने वैसा ही उपस्थित हो जाता है, जिस दृष्टि से द्रष्टा उसे देखता है।

यहाँ पर आत्म भाव का वर्णन चल रहा है, आत्म भाव के वर्णन में सबसे मुख्य बात यह है कि आत्मा के स्वरूप का बोध करना और आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करना। मैं आपसे सम्यक्

दर्शन की चर्चा कर रहा था। सम्यक् दर्शन क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे मैंने अपने पूर्व प्रवचन मे कहा था, कि सम्यक् दर्शन आत्मा के दर्शन-गुण की शुद्ध पर्याय है। दर्शन गुण है और आत्मा गुणी है। जैन-दर्शन के अनुसार गुण और गुणी मे न एकान्त भेद है और न एकान्त अभेद। गुण और गुणी मे जैन-दर्शन कथचित् भेद और कथचित् अभेद स्वीकार करता है। परन्तु अध्यात्म-दृष्टि से एव परम विशुद्ध निश्चय नय से जब वस्तु तत्व का वर्णन किया जाता है, तव वहाँ भेद को गौण करके, अभेद की ही मुख्यता रहती है। अतएव सम्यक् दर्शन के सम्बन्ध मे अभेद नय से कहा जाता है कि सम्यक् दर्शन आत्मा है और आत्मा सम्यक् दर्शन है। अभेद दृष्टि से गुण और गुणी मे कोई भेद नही होता, कहने का भेद भले ही क्यो न हो। कल्पना कीजिए, आपके सामने मिश्री की एक डली रखी हुई है। क्या आप मिश्री के मिठास को मिश्री से अलग देख सकते हैं ? आपके सामने एक मोती रखा हुआ है। क्या आप मोती और उसकी श्वेतिमा (सफेदी) को अलग-अलग देख सकते हैं ? निश्चय ही मिश्री की मिठास और मोती की सफेदी, मिश्री और मोती से भिन्न नजर नही आती, दोनो एक दूसरे से अलग नही होते। परन्तु दोनो को अलग भी कहते हैं। कहने और वोलने की भाषा अलग जो होती है। शब्दो मे सत्य खण्ड रूप मे ही अभिव्यक्त होता है। भाषा के किसी भी शब्द मे सम्पूर्ण (अखण्ड) सत्य को अभिव्यक्त करने की शक्ति नही है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि सम्यक् दर्शन आत्मा का गुण है और आत्मा गुणी है, दोनो मे कोई भेद नही, क्यो कि जो आत्मा है वही सम्यक् दर्शन है।

सम्यक् दर्शन की व्याख्या करते हुए अथवा उसकी परिभाषा वताते हुए कहा गया है कि—सम्यक् दर्शन का आविर्भाव जव आत्मा मे हो जाता है, तव उस निर्मल ज्योति के समक्ष, उस प्रज्वलित दीप के समक्ष आत्मा मे मिथ्यात्व एव अज्ञान का अन्धकार नही रहने पाता है। साधक के जीवन मे सम्यक् दर्शन वहुत ही महत्वपूर्ण है। परन्तु उसकी उपलब्धि का उपाय क्या है, तथा किस साधना के द्वारा उसे उपलब्ध किया जा सकता है ? यह प्रश्न एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न का समाधान ही वस्तुत अध्यात्म की साधना है। कल्पना कीजिए, अनन्त गगन मे स्थित एव प्रकाशमान स्वच्छ एव निर्मल चन्द्र कितना सुन्दर लगता है, उसका प्रकाश कितना शीतल एव प्रिय होता

है। चन्द्र तो बहुत अच्छा है यदि उसे अपने घर में रखा जाए तो उससे बहुत शीतल प्रकाश मिल सकता है, परन्तु उसकी उपलब्धि कथमपि सम्भव नहीं है। उसका प्राप्त करना ही असम्भव है। यद्यपि चन्द्र सुन्दर है, प्रिय है, तथापि वह एक ऐसा पदार्थ है, कि उसे पकड़ कर कोई अपने घर में ला नहीं सकता है। किसी वस्तु का सुन्दर होना अच्छा होना और महत्वपूर्ण होना एक बात है, परन्तु उसे प्राप्त करना दूसरी बात है। हजारों हजार प्रयत्न करने पर भी कोई व्यक्ति चन्द्र को पकड़ नहीं सकता। चन्द्र का प्राप्त करना सम्भव नहीं है। किन्तु याद रखिए, आत्मा के देदीप्यमान गुण सम्यक्दर्शन का प्राप्त करना असम्भव नहीं सम्भव है, प्रयत्न-साध्य है। वह आकाश कुसुम नहीं है, अथवा 'आकाश चन्द्र' नहीं है, जिसे प्राप्त न किया जा सके। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि जिस प्रकार आकाश के फूल को हजार वर्ष के बाद भी कोई प्राप्त नहीं कर सकता वैसी बात सम्यक् दर्शन के सम्बन्ध में नहीं है। सम्यक् दर्शन की उपलब्धि अथवा उसकी प्राप्ति का उपाय कठिनतम हो सकता है, किन्तु उसे असम्भव कोटि में नहीं डाला जा सकता। क्योंकि सम्यक् दर्शन कोई बाह्य पदार्थ नहीं है जिसे प्राप्त किया जाए। वह तो आत्मा का ही एक निज गुण है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का एक आवरण उस पर आ गया है, उस आवरण को हटाने भर की देर है, फिर तो सम्यक् दर्शन की उपलब्धि अथवा आविर्भाव स्वतः हो जाता है। यह बात अवश्य है कि सम्यक् दर्शन के अभाव में हमारी किसी भी प्रकार की साधना सफल नहीं हो सकती। इसीलिए कहा गया है कि सम्यक् दर्शन केवल आवश्यक ही नहीं है बल्कि अध्यात्म साधना के विकास के लिए अनिवार्य भी है और महत्वपूर्ण भी है। और निश्चय ही जीवन में प्राप्त भी किया जा सकता है।

जैन दर्शन केवल एक आदर्श वादी दर्शन ही नहीं है, बल्कि वह एक यथार्थवादी दर्शन भी है। कोरा आदर्शवाद कल्पना की वस्तु होता है, अतः उसके साथ यथार्थवाद का समन्वय आवश्यक है। जैन दर्शन में किसी भी प्रकार के एकान्तवाद को स्थान प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि अपने मूल रूप में वह अनेकान्तवादी है। इस अपेक्षा से यह कहा जा सकता है, कि जैन-दर्शन में कोरा आदर्शवाद मान्यता प्राप्त नहीं कर सकता और अकेला यथार्थवाद भी वहाँ स्वीकृत नहीं किया जा सकता। इसलिए जैन-दर्शन आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थ

वादी है और यथार्थवादी होकर भी वह आदर्शवादी है। आदर्शवाद कल्पना की ऊँची और लम्बी उडान भरता है, वह कहता है कि—परमात्मा अनन्त है, यह आत्मा आनन्द एव ज्ञानमय है। आत्मा शुद्ध एव बुद्ध है, निरजन एव निर्विकार है, किन्तु इस विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त नही किया जा सकता। यदि उसे प्राप्त नही किया जा सकता और साधक अपनी साधना के बल पर उसकी उपलब्धि नही कर सकता, तो इस प्रकार का आदर्श किस काम का ? वैदिक-दर्शन मे परमात्मा को अनन्त अवश्य कहा गया, परन्तु साथ मे यह भी कह दिया गया कि परमात्मा, परमात्मा है और तुम, तुम हो। तुम परमात्मा नही बन सकते, उनके भक्त और सेवक ही बने रह सकते हो। परमात्मा की कृपा से अथवा भगवान के अनुग्रह से ही तुम मुक्ति लाभ कर सकते हो। इस प्रकार के कल्पना-मूलक आदर्शवाद ने अध्यात्म साधना की जड ही काट कर रखदी। साधक के समक्ष साधना के मार्ग का कोई अर्थ नही रहता, यदि वह अपनी साधना के द्वारा प्रयत्न और पुरुषार्थ करने पर भी भक्त ही बना रहता है, भगवान नही हो सकता। इसके विपरीत अध्यात्मवादी दर्शन भले ही वे जैन, बौद्ध, वेदान्त, साख्य आदि किसी भी परम्परा के क्यो न हो, सब का आदर्श उनके आदर्श से भिन्न है, जो अपने आपको ईश्वरवादी दार्शनिक कहते है। ईश्वरवादी दर्शन आदर्शवादी दर्शन अवश्य है, परन्तु यथार्थवादी दर्शन नही है, क्यो कि वह साधक के समक्ष साधना का राजमार्ग प्रस्तुत नही कर सकता। जैन-दर्शन आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थवादी है। उसका आदर्श स्वप्न के समान नही है, जिसमे अभीष्ट वस्तु प्राप्त तो होती है, किन्तु जागरण होते ही वह नष्ट हो जाती है। जैन-दर्शन के अनुसार चेतन धर्म की ऊँची से ऊँची अवस्था को प्राप्त कर सकता है। यह आत्मा परमात्मा बन सकता है, भक्त भगवान बन सकता है, जीव ब्रह्म बन सकता है। जो कुछ आदर्श है, उसे यथार्थ रूप मे प्राप्त किया जा सकता है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि बाहर से प्राप्त नहीं, बल्कि वह परमात्मभाव, वह परब्रह्मभाव, वह योग्यता, वह शक्ति और वह स्वरूप गुणो के रूप मे तुम्हारे अन्दर ही विद्यमान है, केवल उसे व्यक्त करने की आवश्यकता है। वह आन्तरिक शक्ति प्रकट हुई नही कि आत्मा परमात्मा बन जाता है, भक्त भगवान बन जाता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जैन-दर्शन यथार्थवादी इस अर्थ मे है, कि वह जन-

चेतना के समक्ष जो आदर्श रखता है, उस आदर्श की उपलब्धि का राजमार्ग भी वह प्रस्तुत करता है और कहता है कि अध्यात्म-साधना के मार्ग पर चलकर विशुद्ध परमात्म भाव को प्राप्त किया जा सकता है। यह कठिन अवश्य है पर असम्भव नहीं।

इतनी चर्चा का सार तत्व इतना ही है, कि अध्यात्म-साधक अपनी अध्यात्म-साधना के बल एवं शक्ति पर आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकता है, और निश्चय ही कर सकता है इसमें किसी प्रकार की शंका के लिए लेशमात्र भी अवकाश नहीं है। परन्तु सबसे बड़ा प्रश्न साधन का एवं कारण का है। किसी भी साध्य की सिद्धि के लिए साधन की आवश्यकता रहती है। किसी भी कार्य की पूर्णता के लिए कारण की आवश्यकता रहती है। इस विश्व रचना में कार्य और कारण का भाव एक ऐसी कड़ी है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कार्य कारण का भाव एक एसा सिद्धान्त है, जिसके परिज्ञान के बिना साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। दर्शन-शास्त्र का यह एक मुख्य एवं प्रधान सिद्धान्त है कि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता है। कभी-कभी एसा भी होता है, कि किसी कार्य की पूर्णता में हमें बाहर से कोई कारण नजर नहीं आता परन्तु जब उसकी गहराई में उतर कर देखा जाता है, तब उसका कोई न कोई कारण अवश्य ही होता है। परन्तु *यह नहीं माना जा सकता कि कहीं पर* बिना कारण के भी कार्य हो सकता है और बिना साधन के भी साध्य की उपलब्धि हो सकती है। जिस कार्य की पूर्णता में अथवा जिस साध्य की उपलब्धि में बाहर से कोई कारण देखने में नहीं आता तो निश्चय ही अन्त रंग में *वहाँ कोई कारण अवश्य है। भले ही हम किसी* कार्य के कारण को देख सकें या न देख सकें किन्तु उसकी सत्ता में हमें अवश्य ही विश्वास करना चाहिए।

प्रस्तुत में सम्यक् दर्शन का वर्णन चल रहा है। सम्यक् दर्शन भी एक कार्य है और जबकि वह एक कार्य है, तब उसका कोई कारण होना भी आवश्यक है, क्योंकि यदि बिना कारण के कोई कार्य होता तो सारे संसार की व्यवस्था ही गड़बड़ी में पड़ जाती। अतः प्रत्येक कार्य के पीछे कारण की सत्ता अवश्य ही मानी जाती है। जब सम्यक् *दर्शन का आविर्भाव होता है और उस आविर्भाव में* बाहर में न हम कोई शास्त्र स्वाध्याय देखते हैं और न गुरु का उपदेश सुनते हैं, फिर भी जो सम्यक् दर्शन की ज्योति प्रकट होती है, उसे निसर्गज सम्यक्

दर्शन कहा गया है। बाहर मे भले ही उसके कारण की प्रतीति न हो। किन्तु अन्तरग मे तो कोई कारण अवश्य होना चाहिए। क्योकि बिना कारण के कोई कार्य होता ही नही है। जो भी स्थिति है, वह सहेतुक है, अहेतुक नही। और तो क्या, जीव क्यो है और अजीव क्यो है? इस प्रश्न का भी सहेतुकता के रूप मे ही समाधान किया गया है और कहा गया है कि—जीव इसलिए जीव है, क्योकि उसमे जीवत्व गुण है और अजीव इसलिए अजीव है, क्योकि उसमे अजीवत्व गुण है। यदि जीव मे जीवत्व गुण न हो, तो वह कभी अजीव भी बन सकता है। और अजीव मे यदि अजीवत्व गुण न हो, तो वह कभी जीव भी बन सकता है। परन्तु जीव का जीवत्व जीव को कभी अजीव नही बनने देता। और अजीव का अजीवत्व कभी अजीव को जीव नहीं बनने देता। अग्नि का कारण उसका दाहकत्व गुण ही है। यदि अग्नि म दाहकत्व गुण न हो, तो अग्नि, अग्नि नहीं रह सकती। इस प्रकार हमारी बुद्धि जहाँ तक दौड लगा सकती है, वह हर कार्य के पीछे उसके कारण को पकड लेती है।

प्रश्न होता है कि जिस सम्यक् दर्शन को निसर्गज सम्यक् दर्शन कहा जाता है, उसका तो कोई कारण नही होना चाहिए। क्योकि निसर्गज शब्द का अर्थ है—वह वस्तु अथवा वह तत्व जो अपने स्वभाव से, जो अपने परिणाम से अथवा जो सहज से ही उत्पन्न हो जाता है। फिर उसमे कारण मानने की क्या आवश्यकता है? उक्त प्रश्न के समाधान मे यही कहना है, कि निसर्गज सम्यक् दर्शन स्वाभाविक अवश्य होता है, किन्तु बिना कारण के नही होता। यहाँ पर सम्यक्-दर्शन को निसर्गज कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है, कि जिस किसी भी आत्मा को, जिस किसी भी काल में और जिस किसी भी क्षण मे सम्यक् दर्शन की उपलब्धि होती है, वहाँ पर उस समय उपदेश एव स्वाध्याय आदि कोई बाह्य निमित्त नही होता। बाह्य निमित्तो के अभाव में भी जब किसी को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो जाती है, तब वह निसर्गज सम्यक् दर्शन कहलाता है। भले ही उसका बाह्य निमित्त न रहे, किन्तु अन्तरग निमित्त और आभ्यतर कारण तो अवश्य ही रहता है। अन्तरग मे जब तक दर्शन मोहनीय कर्म का आवरण रहता है, सम्यक् दर्शन नही हो सकता। अन्तरग पुरुपार्थ तथा अन्तरग कारण की आवश्यकता निसर्गज और अधिगमज दोनो ही प्रकार के सम्यक् दर्शन मे समान भाव से रहती है। अन्तरग

पुरुषार्थ के जगते ही मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उपशम क्षय एवं क्षयोपशम होते ही सम्यक् दर्शन का आविर्भाव हो जाता है। प्रश्न यह है, कि उपशम जन्य सम्यक् दर्शन क्षय-जन्य सम्यक् दर्शन और क्षयोपशम जन्य सम्यक् दर्शन म से पहले कौन सा सम्यक् दर्शन होता है ? सिद्धान्त ग्रन्थो म उक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि अनादि कालीन मिथ्या दृष्टि आत्मा को पहले-पहल उपशम जन्य सम्यक् दर्शन होता है, बाद मे उसे क्षयोपशम जन्य भी हो सकता है और क्षय जन्य भी हो सकता है। क्षय जन्य सम्यक् दर्शन सबसे विशुद्ध होता है, वह एक बार प्राप्त होने के बाद फिर कभी नष्ट नही होता परन्तु उपशम जन्य एव क्षयोपशम जन्य सम्यक् दर्शन उत्पन्न और नष्ट होते रहते है। दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम भाव क्षयोपशम भाव और क्षय भाव सम्यक् दर्शन का अन्तरंग हेतु है, फिर भले ही वह सम्यक् दर्शन निसर्गज हो अथवा अधिगमज हो। मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि निसर्गज सम्यक् दर्शन भी बिना कारण के नही होता है।

सम्यक् दर्शन की चर्चा मे और उसकी व्याख्या में एक नया प्रश्न उपस्थित होता है कि निसर्गज सम्यक् दर्शन मे यदि कोई बाह्य निमित्त नही होता है, तो क्या वह केवल इस जीवन मे ही नही होता अथवा पूर्व जन्म मे भी नही होता ? उक्त प्रश्न अध्यात्म शास्त्र मे चिरकाल से चर्चा का विषय रहा है। प्रश्न बड़े ही महत्व का है और साथ ही विचारणीय भी। यह प्रश्न ऐसा प्रश्न नही है, जिसका उत्तर यू ही सहज मे दिया जा सके। उक्त प्रश्न के समाधान के लिए, समय समय पर अध्यात्म शास्त्र के तत्वदर्शी विद्वानो ने शास्त्रो के गहन गम्भीर सागर मे गहरी डुबकी लगाई है और उक्त प्रश्न का समाधान पाने के लिए एक दूसरे का खण्डन-मण्डन भी बहुत किया है। खण्डन एव मण्डन पक्ष एव विपक्ष का दलदल इतना गहन हो गया है कि उसमे से आसानी से कोई पार नही हो सकता। तर्क और प्रतितर्क के घने कुहास मे जो सत्य छुप गया है उसे ढूढना कभी कभी आसान नही होता।

आपने पुराणो मे सागर-मथन की कहानी सुनी होगी वह बडी ही विचित्र एव दिलचस्प कहानी है। कहा गया है कि—सागर का मथन करने के लिए एक ओर देवता लगे और दूसरी ओर दानव लगे। मदराचल पर्वत को मथानी बनाया गया और शेषनाग को नेति

बनाया गया। फिर दोनो ने मिलकर सागर का मथन किया, जिसमे से अमृत भी निकला और साथ मे विष भी निकला। प्रत्येक व्यक्ति प्राणप्रद अमृत की उपलब्धि तो करना चाहता है, किन्तु मारक विष को कोई ग्रहण करने के लिए तैय्यार नहीं होता। इसी प्रकार शास्त्रो के सागर का मथन करने वाले विद्वान ससार मे बहुत है, किन्तु उनके मथन के फलस्वरूप शास्त्र-सागर मे से अमृत भी निकला और साथ मे विष भी निकला। शास्त्र-सागर का अमृत क्या है—अहिंसा, सयम और तप। और विष क्या है—सम्प्रदायवाद, पथवाद और बाड़ाबन्दी। यदि शास्त्र सागर का मथन तटस्थ वृत्ति से किया जाता है तो उसमे मे अमृत ही निकलता है, विष नहीं, किन्तु शास्त्र-सागर का मथन जब पथवादी मनोवृत्ति से किया जाता है, तब उसमे से विष ही निकलता है, अमृत नहीं। तत्वदर्शी विद्वान का कर्त्तव्य है कि वह अपनी तटस्थ वृत्ति से तथा समभाव से शास्त्र-सागर का मथन करके उसमे मे शाश्वत सत्य का अमृत निकाल कर स्वय भी पान करे और दूसरो को भी पान कराए। परन्तु दुर्भाग्य से ऐसा नहा हो सका अथवा हुआ तो बहुत कम हो सका। पथवादी मनोवृत्ति ने अनेकान्त के अमृत की उपेक्षा करके एकान्तवाद के विष का ही पान किया। किन्तु दुर्भाग्य से वह उस विष को भी अमृत ही समझती रही। इसी के फलस्वरूप श्वेताम्बर और दिगम्बर पथो की एव सम्प्रदायो की अखाडेबाजी और परस्पर एक दूसरे के विरोध मे शास्त्रार्थ की कलाबाजी भी यत्र तत्र उभयपक्ष के ग्रन्थो मे आज भी उपलब्ध होती है। इस पथवादी मनोवृत्ति ने धर्म, सस्कृति और दर्शन-शास्त्र को ही दूषित नही किया, बल्कि प्रभावशाली एव युग-प्रभावक आचार्यो को भी अपना-अपना बनाकर उन पर अपनेपन की मुहर लगाने का प्रयत्न किया। उदाहरण के रूप मे तत्वार्थसूत्र के प्रणेता वाचक उमास्वाति को ही लीजिए। दिगम्बर कहते हैं—उमास्वाति दिगम्बर थे और श्वेताम्बर कहते हैं—उमास्वाति श्वेताम्बर थे। इसी प्रकार आचार्य सिद्ध सेन दिवाकर के सम्बन्ध मे भी उभय सम्प्रदाय मे उन्हे अपना अपना बनाने का वाद-विवाद चल रहा है। दिगम्बर विद्वान कहते हैं—कि सिद्धसेन दिवाकर दिगम्बर थे और श्वेताम्बर कहते हैं कि—सिद्धसेन दिवाकर श्वेताम्बर थे। उभयपक्ष उन्हे श्वेताम्बर एव दिगम्बर तो मानता है, किन्तु दुर्भाग्य यह है कि कोई भी उन्हे आत्मज्ञानी मानकर उनकी उपासना करने और उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलने के लिए तय्यार नही

है। इतना ही नहीं इस पंथवादी मनोवृत्ति ने उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में भी अपनी-अपनी मनोवृत्ति के अनुरूप पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है। यह सब कुछ क्या है? मैं जब कभी इस प्रकार की घटनाओं का अन्तरनिरीक्षण करता हूँ तो मुझे लगता है कि उभयपक्ष में कदा समान भाव से आ चुकी है। वे अमृत को भूल गए और दुर्भाग्य से विष को ही अमृत समझकर पीते चले आ रहे हैं।

मैं आपसे सम्यक् दर्शन के स्वरूप की चर्चा कर रहा था। सम्यक् दर्शन आत्मा का एक विशुद्ध गुण है। क्योंकि आत्मा के दर्शन गुण के मिथ्यात्व पर्याय का जब नाश हो जाता है तभी सम्यक्त्व पर्याय की उत्पत्ति होती है। सम्यक् दर्शन आत्मा की एक ज्योति है, आत्मा का एक प्रकाश है, किन्तु दुर्भाग्य है कि पन्थवादी मनोवृत्ति ने सम्यक्त्व एवं सम्यक् दर्शन को भी अपने-अपने पक्ष में खींचने का प्रयत्न किया है। श्वेताम्बर अपने शास्त्रों को सम्यक्त्व का मूलाधार मानते हैं और दिगम्बर अपने शास्त्रों को। श्वेताम्बरों का कथन है कि श्वेताम्बर बनने से ही सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो सकती है, और दिगम्बरों का दावा यह है कि दिगम्बर होने से ही सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार पन्थवादी मनोवृत्ति ने केवल सम्प्रदाय के पोथी-पन्नों का ही बँटवारा नहीं किया अपितु आत्मा के गुणों का और मुक्ति का भी बँटवारा कर लिया। बड़े ही अजब-गजब की बात है, एक को शास्त्र में दूसरे का विश्वास नहीं है, जबकि दोनों ही पक्ष अपने-अपने शास्त्रों को सर्वज्ञ-कथित मानते हैं। इस पन्थवादी मनोवृत्ति ने शास्त्रों को बाँटा महापुरुषों को बाँटा और मुक्ति एवं आत्मा के गुणों का बँटवारा करने के लिए भी बैठ गए। पन्थवादी मनोवृत्ति किसी प्रकार के पन्थवाद में ही सम्यग् दर्शन की उपलब्धि मानती है। उसके पन्थ के बाहर जो कुछ भी है, फिर भले ही वह कितना ही स्वच्छ एवं पवित्र क्यों न हो किन्तु वह उसे त्याज्य समझती है। इस प्रकार जो सम्यक् दर्शन हमारी अध्यात्म-साधना का मूल आधार था सम्प्रदाय के नाम पर उसे भी बाँट लिया गया और उस पर भी अपनेपन की मुहर लगाने का प्रयत्न किया गया और आज भी किया जा रहा है।

मैं आपसे केवल एक ही बात कहना चाहता हूँ कि आप लोग सत्य को परखने का प्रयत्न करें जहाँ कहीं से भी सत्य आपको

मिलता है, आप उसे अवश्य लीजिए। सत्य, सत्य है, वह किसी एक का नही, सबका होता है। सत्य अमृत है, किन्तु इस अमृत मे जब पन्थवादी मनोवृत्ति घुल जाती है, तब यह विष बन जाता है। आप अपने जीवन-सागर का मन्थन करके उसमे से अमृत-प्राप्ति का ही प्रयत्न करें और उसके विप का परित्याग करदें। विप का परित्याग करने के लिए और अमृत को ग्रहण करने के लिए सबसे बडी आवश्यकता सम्यक् दर्शन की ही है।

आपके सामने निसर्गज सम्यक् दर्शन की चर्चा चल रही है और यह प्रश्न था कि भले ही वर्तमान जन्म मे उस की उत्पत्ति के समय कोई बाह्य निमित्त न हो, परन्तु कभी-न-कभी पूर्व जन्म मे भी उसका कोई बाह्य निमित्त रहा है या नही ? निसर्गज सम्यक् दर्शन के बारे मे बडे ही महत्व का प्रश्न यह है कि उसमे कोई बाह्य निमित्त केवल इसी जीवन मे नही रहा, कि पूर्व जन्मो मे भी कभी नही रहा ? सम्यक् दर्शन केवल निजपुरुषार्थ के बल पर ही प्राप्त होता है अथवा उसे प्राप्त करने के लिए किसी प्राचीन सस्कार को भी जगाना पडता है ? उक्त प्रश्न के समाधान मे बहुत कुछ लिखा गया है। कुछ आचार्य इस जन्म मे तो बाह्य निमित्त नही मानते किन्तु कही न कही पूर्व जन्मो मे देशनालब्धि के रूप मे उपदेश आदि निमित्त का होना अवश्यभावी मानते हैं। और कुछ आचार्यो का कहना है कि निसर्गज सम्यक् दर्शन के लिए पूर्व जन्मो मे भी किसी प्रकार का निमित्त नही होता। उनका तात्पर्य इतना ही है कि यह आत्मा अनन्त काल से भव-भ्रमण करता आया है। कर्मावरण हलका होते-होते आत्मा को किसी भव मे कुछ ऐसे अपूर्व अन्तरग भाव उत्पन्न हो जाते है कि बिना किसी बाह्य निमित्त के ही अन्तरग मे आत्मा की उपादान शक्ति से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का आवरण क्षीण हो जाता है, टूट जाता है और इस प्रकार अन्तरग के पुरुषार्थ से ही आत्मा को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो जाती है। इस प्रकार निसर्गज सम्यक् दर्शन की उपलब्धि मे बाहर मे कोई निमित्त नही होता। उदाहरण के रूप मे मरुदेवी माता के जीवन को ही लीजिए। हम देखते हैं कि उन्हें उनके वर्तमान जीवन मे किसी भी प्रकार का बाह्य निमित्त नही मिला। न किसी तीर्थंकर की वाणी का श्रवण किया गया और न किसी प्रकार की अन्य कोई विशिष्ट साधना ही की गई। मरुदेवी जी के लिए तो कहा जाता है कि वह अनादि काल से निगोद में ही

रखती आई थी मत पूर्व जन्मों में भी किसी उपदेश आदि का निमित्त नहीं मिला था। किन्तु फिर भी हाथी के ओहदे पर बैठे बैठे ही मरुदेवी माता को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो जाती है। इस दृष्टि से मेरा यह कहना है, कि निसर्गज सम्यक् दर्शन में किसी बाह्य निमित्त को महत्व पूर्ण नहीं माना जा सकता। निसर्गज सम्यक् दर्शन में न इस जीवन का ही कोई निमित्त मिलता है और न किसी पूर्व जन्म के जीवन के किसी बाह्य निमित्त का ही सहारा मिलता है। उसमें तो एक मात्र उपादान शक्ति ही काम करती है, जो कि आत्मा की निज शक्ति है और आत्मा का अपना ही अन्तरंग पुरुषार्थ एवं प्रयत्न है।

आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है और उसकी शक्ति भी स्वतन्त्र है। उसे निमित्त चाहिए, परन्तु बाह्य पदार्थों के निमित्त का इतना महत्व नहीं है, कि जिसके बिना सम्यक् दर्शन हो ही न सकता हो। कुछ आचार्य निमित्त पर बल देते हैं, और कुछ उपादान पर। मेरे अपने विचार में उपादान की ही मुख्यता एवं प्रधानता है। बिना उपादान के किसी भी प्रकार अध्यात्म-विकास सम्भव नहीं है। जब स्वयं आत्मा में ही जागरण नहीं आया तब बाह्य निमित्त भी कितना उपयोगी हो सकेगा ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। दर्शन मोहनीय कर्म निमित्त से टूटता है अथवा स्वयं उपादान की शक्ति से टूटता है ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम क्षय और क्षयोपशम करने के लिए किस कारण की आवश्यकता है ? बाह्य कारण की अथवा अन्तरंग कारण की ? मेरे विचार में आत्मा के अन्तरंग पुरुषार्थ से ही उसका उपशम क्षय और क्षयोपशम होता है जिसके फलस्वरूप आत्मा में सम्यक् दर्शन का आविर्भाव हो जाता है। परन्तु यह तभी होता है, जब कि आत्मा में स्वयं का जागरण आ जाता है। उपादान शक्ति अन्य कुछ नहीं है, आत्मा की निज शक्ति को ही उपादान कहा जाता है। आत्मा के विकास में आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता के महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता। यदि केवल बाह्य निमित्त से ही सम्यक् दर्शन की उपलब्धि सम्भव हो तो फिर यह सम्यक् दर्शन हर किसी व्यक्ति को हो जाना चाहिए, जिसको कि बाह्य निमित्त मिल जाता है। वस्तुतः होता यह है, कि जब तक मूल उपादान में परिवर्तन नहीं आता तब तक एक बार क्या हजार बार भी निमित्त मिलें तो भी आत्मा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आ सकता।

निसर्गज सम्यग् दर्शन के सम्बन्ध मे एक प्रश्न है कि जब निसर्गज सम्यग् दर्शन बिना बाह्य निमित्त के अपने अन्दर के उपादान से ही होता है, तब उसमे देर सबेर क्यो होती है ? उपादान की तैयारी पहले क्यो न हुई ? और सब आत्माएँ समान हैं, तो सबको सम्यक् दर्शन क्यो नही होता है ? अमुक काल विशेष मे अमुक किसी एक आत्मा को ही सम्यक् दर्शन होने का क्या कारण है ? उक्त प्रश्न का समाधान है कि आत्मा अनन्त है, उनका स्वरूप एक होने पर भी व्यक्ति रूप मे वे अनन्त है। आत्मा के उत्थान एव विकास के काल-विशेष का आधार नियति एव भवितव्यता को माना गया है। भवितव्यता और नियति, दोनो का अर्थ एक ही है। प्रत्येक आत्मा की अपनी नियति और भवितव्यता दूसरी आत्मा की नियति एव भवितव्यता से भिन्न होती है। यह ठीक है कि अनन्त आत्माओ मे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और वीर्य आदि गुण समान होने पर भी उनकी नियति और भवितव्यता मे भेद रहता है। प्रत्येक आत्मा की कर्म-बन्ध की प्रक्रिया भी भिन्न-भिन्न होती है। सत्ता और स्वरूप की दृष्टि से आत्माओ मे किसी प्रकार का विभेद नही है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि द्रव्य-दृष्टि से सिद्ध और निगोद के जीव समान हैं, क्योकि सत्ता और स्वरूप की दृष्टि से उनमे किसी प्रकार का भेद नही किया जा सकता। ससारी आत्मा मे अथवा मुक्त आत्मा मे सत्ता और स्वरूप की दृष्टि से भेद न होने पर भी ससारी आत्माओ मे नियति और भवितव्यता का भेद अवश्य रहता है।

यह ससारी आत्मा अनादिकाल से कभी जीवन के विकास के मार्ग पर चला है और कभी जीवन के पतन के मार्ग पर। कोई आत्मा विकास-मार्ग पर निरन्तर आगे बढता जाता है और कोई आगे बढकर पीछे भी लौट आता है। यह एक अनुभव की बात है कि एक ही पिता के विभिन्न पुत्र एव पुत्री एक जैसे नही होते। सब की गति और मति अलग-अलग होती है, सबके विचार भी अलग होते हैं और सबका आचार भी अलग होता है, इसी आधार पर उनके कर्म-बाँधने की प्रक्रिया भी अलग-अलग ही होती है। माता और पिता एक होने पर भी तथा घर का वातावरण समान होने पर भी इतनी विभिन्नता क्यो हो जाती है ? -यह एक सहज प्रश्न है। बात यह है कि उनका उद्गम तथा वातावरण एक जैसा होने-पर भी उनकी नियति एव भवितव्यता भिन्न होने से उनकी गति और मति मे भिन्नता रहती

है। यह एक बड़े महत्व का प्रश्न है, जिस पर गम्भीरता के साथ विचार किया जाना चाहिए। एक ही माता-पिता की संतान में जब गति भेद और मति भेद देखा जाता है तब उसका मूल आधार नियति एवं भवितव्यता के अतिरिक्त अन्य क्या हो सकता है ? यद्यपि यह ठीक है कि राग द्वेष आदि विकल्पों की विभिन्नता के कारण कर्मबन्ध की विभिन्नता होती है और उसके फलस्वरूप कर्मफल की विभिन्नता होती है परन्तु इन सब विभिन्नताओं के मूल में भी नियति का हेतु है। प्रत्येक आत्मा में कुछ सामान्य धर्म होने पर भी उनमें अपनी एक विशेषता होती है। उदाहरण के लिए तीर्थंकर के जीवन को लीजिए। सभी तीर्थंकरों में तीर्थंकर नाम कर्म एक जैसा होता है, उसमें किसी प्रकार का भेद अथवा ऊँचा-नीचापन नहीं होता। कोई तीर्थंकर बढ़िया हो और कोई तीर्थंकर घटिया हो इस प्रकार का वचन-व्यवहार सर्वथा असंगत है। तीर्थंकर तीर्थंकर रूप से समान होते हैं इस तथ्य में शंका के लिए जरा भी अवकाश नहीं है, परन्तु जब तीर्थंकरों के जीवन का हम निरीक्षण करते हैं तब उनमें भी कुछ अन्तर अवश्य नजर आता है। सबकी वृत्ति एवं स्थिति एक जैसी कहाँ होती है ? कोई अल्प तपस्या करता है और कोई दीर्घ तपस्या करता है। उनकी प्ररूपणाओं में भी भेद देखा जाता है। उनके प्रभाव के विस्तार में भी अन्तर देखा जाता है। किसी के प्रभाव का विस्तार व्यापक है तो किसी का संकुचित है। जैन परम्परा में मान्य चौबीस तीर्थंकरों में से चार तीर्थंकर ही अधिक प्रसिद्ध हैं—ऋषभदेव नेमिनाथ पार्श्वनाथ और महावीर। इन चारों में भी दो ही प्रसिद्ध हैं पार्श्वनाथ और महावीर। प्रश्न होता है सभी तीर्थंकरों का तीर्थंकर नामकर्म समान होने पर भी इतना भेद और अन्तर क्यों पड़ गया ? उक्त प्रश्न का समाधान यही हो सकता है कि प्रत्येक तीर्थंकर में तीर्थंकर नामकर्म समान होने पर भी प्रत्येक तीर्थंकर की नियति एवं भवितव्यता भिन्न भिन्न ही होती है। यदि नियति एवं भवितव्यता को स्वीकार न किया जाए, तो सभी आत्माएँ एक जगह से और एक साथ तथा एक तरह से ही मोक्ष प्राप्त करें, परन्तु ऐसा होता नहीं है, हो सकता भी नहीं है, क्योंकि सबकी नियति और भवितव्यता अलग अलग है। वस्तु स्थिति यह है कि सभी आत्माओं का मूल गुण भले ही एक हो परन्तु उन सब की बाह्य स्थिति नियति के आधार पर अलग अलग ही होगी। क्योंकि प्रत्येक आत्मा के गुण एवं पर्याय का विकास एवं

ह्रास उसकी भवितव्यता एव नियति के आधार पर ही होता है। इस नियति एव भवितव्यता के आधार पर ही किसी आत्मा को वाह्य निमित्त मिलता है, और जल्दी मिल जाता है तथा किसी आत्मा को देर मे मिल पाता है और ऐसा भी हो सकता है, न भी मिले। वाह्य निमित्त का मिलना और न मिलना आकस्मिक नही होता, उसका भी एक कारण होता है और वह कारण है—उस आत्मा की अपनी नियति एव भवितव्यता।

मैं आपसे कह रहा था कि जैन-दर्शन केवल यथार्थवादी दर्शन नही है, वह आदर्शवादी भी है और वह केवल आदर्शवादी ही नही, यथार्थवादी भी है। आदर्श अपने आप मे वुरा नहीं होता, किन्तु यह भी निश्चित है कि जीवन के यथार्थ दृष्टिकोण का भी वहिष्कार एव तिरस्कार नही किया जा सकता। जैन-दर्शन आदर्श मूलक यथार्थवादी दर्शन है। वह इधर-उधर भटकने वाला नही है, वल्कि अपना एक लक्ष्य वनाकर दृढ़ता के साथ उस पर चलने वाला है। उसकी जीवन-यात्रा मे उसका प्रत्येक कदम विवेकपूर्वक ही उठता है। उसके आगे वढने मे भी विवेक रहता है और उसके पीछे हटने मे भी विवेक रहता है। जीवन का हर कदम जहाँ भी उठता है और जहाँ भी पडता है, यह निश्चित है कि वह अकारण नही होता। परिवर्तन एव विकास मे भी वह अपना सतुलन नही खोता। उसके जीवन का गमन चाहे ऊर्ध्ववाही हो और चाहे अधोवाही हो, किन्तु उसके पीछे किसी न किसी प्रकार का कारण अवश्य रहता है और वह कारण अन्य कुछ नही, नियति एव भवितव्यता ही होता है। जिस जीव की जैसी नियति और भवितव्यता होती है, उसको निमित्त भी वैसा ही मिलता है और उसके जीवन की परिणति भी वैसी ही होती है। जैसी जिसकी नियति होती है, वैसी ही उसकी परिणति भी होती है। जिसकी जैसी भवितव्यता होती है उसका काम भी वैसा ही होता चला जाता है। प्रश्न हो सकता है, कि जव नियति एव भवितव्यता ही सव कुछ है, तव पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? इस प्रश्न के उत्तर मे मैं यहाँ पर इतना ही कहना चाहता हूँ, कि प्रत्येक आत्मा का पुरुषार्थ भी उसकी नियति के आधार पर ही वनता और विगडता रहता है। जैसी नियति वैसा ही पुरुषार्थ होता है।

मैं आपसे एक वहुत ही ऊँचे सिद्धान्त की वात कह रहा था और वह सिद्धान्त है, भवितव्यता एव नियतिवाद का। नियतिवाद के

सिद्धान्त को स्वीकार करने पर साधना का अपना क्या महत्त्व रह जाता है और जब साधना ही नहीं रही तब फिर पंथ और सम्प्रदाय के यह बाहरी भोग भी कब तक रह सकेंगे ? शासन की व्यवस्था और शासन की मर्यादा कैसे अक्षुण्ण रह सकेगी ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न नियतिवाद के विरोध में उठाए जाते हैं। परन्तु सत्य यह है, कि नियतिवाद के विरोध में जितने भी प्रश्न उठे हैं, और जितने भी अधिक तर्क उपस्थित किए गए हैं, नियतिवाद उतना ही अधिक पल्लवित विकसित और बलिष्ठ बनता रहा है। नियतिवाद के तर्कों को तोड़ा नहीं जा सकता है। भले ही हम अपने सम्प्रदाय और पंथ की किलेबन्दी एवं घेराबन्दी की रक्षा के लिए उसकी उपेक्षा करें। नियतिवाद एक वह सिद्धान्त है जो आत्मा को निर्बल नहीं बलवान बनाता है। कल्पना कीजिए, एक छात्र बार-बार परीक्षा देता है और बार-बार असफल हो जाता है। उसने पुरुषार्थ करने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखी जो कुछ और जितना कुछ वह अपनी उपलब्धि के लिए कर सकता था उसने किया और ईमानदारी से किया फिर भी उसे सफलता क्यों नहीं मिली ? यदि प्रयत्न से ही यदि पुरुषार्थ से ही समस्या का हल हो सकता होता तो कभी का हो गया होता। अपनी गोद के लाल को मृत्यु के मुँह में जाते हुए देखकर प्रत्येक माता-पिता उसे बचाने का प्रयत्न एवं पुरुषार्थ अपनी शक्ति से अधिक करते हैं फिर भी वह उसकी रक्षा नहीं कर सकते। यदि मृत्यु से जीवन का रक्षण प्रयत्नसाध्य होता तो आज संसार की स्थिति ही भिन्न प्रकार की होती। इसीलिए मैं कहता हूँ कि पुरुषार्थ की अपनी एक सीमा है और प्रयत्न की अपनी एक मर्यादा है। जब किसी नारी की नियति में उसके भाग का सिन्दूर मिटने वाला ही है तब हजार प्रयत्न करने पर भी वह अपने मस्तक के सिन्दूर को अक्षुण्ण नहीं रख सकती। राजा दशरथ जिस शुभ मुहूर्त में अपने प्रिय पुत्र राम को अयोध्या के सिंहासन पर बैठाना चाहते थे और शुभ मुहूर्त को सफल बनाने के लिए वे जितना भी कर सकते थे उन्होंने वह सब कुछ किया किन्तु नियति का उस अन्य था। जिस शुभ मुहूर्त में राम को अयोध्या का सिंहासन मिलने वाला था उसी मुहूर्त में राम को अयोध्या से वनवास मिला। यह सब क्यों हुआ है ? मनुष्य की अविनश्वरता नियति ही उसके सब कुछ कर जाती है। पुरुषार्थ करने की भावना भी तभी जाग्रत होती है, जबकि नियति वैसी हो। नियति के विरोध में प्रायः सभी

सफल नही हो सकता। भले ही उसे कितनी भी तीव्रता के साथ किया जाए।

एक उदाहरण और लीजिए—आपके सामने दो व्यक्ति हैं, दोनों को समान रोग है और दोनो का एक ही वैद्य ने निदान किया है, एक ही दिन दोनो ने उपचार चालू किया, दोनो को औषधि भी एक ही जैसी मिली है। यह सब कुछ समान होने पर भी परिणामस्वरूप मे एक स्वस्थ हो जाता है और दूसरा दीर्घकाल तक अस्वस्थ बना रहता है। यह क्यो हुआ? क्या कभी आपने इस प्रश्न पर गम्भीरता के साथ विचार किया है? यह सब नियति का खेल है, यह सब नियति का चक्र है और यह सब नियति का चमत्कार है। यहाँ पर बाह्य निमित्त तो समान था, किन्तु उसके परिणाम परस्पर विरोधी क्यो हो गए? यदि निमित्त मे ही शक्ति होती, यदि पुरुषार्थ मे ही शक्ति होती और यदि प्रयत्न मे ही बल होता, तो दोनो को एक साथ स्वस्थ हो जाना चाहिए था। परन्तु मूल शक्ति नियति मे रहती है, निमित्त मे नही।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए— रोग एक ही होता है, किसी का वह रोग बिना दवा के ही अच्छा हो जाता है और किसी का दवा लेने पर भी अच्छा नही होता। साधारण रोग ही नही, भयकर से भयकर रोग भी कभी कभी बिना औषधि और बिना उपचार के ही ठीक होते देखे गए हैं। और कभी-कभी साधारण रोग भी बडी से बडी औषधि लेने पर शान्त नही होते, मेरे कहने का अभिप्राय यही है, कि रोग कभी दवा का निमित्त पाकर शान्त होता है और कभी बिना दवा के निमित्त के भी शान्त हो जाता है। यह लोक-व्यवहार की बात है। प्रश्न है, ऐसा क्यो होता है? समाधान के लिए दूसरी कोई बात नही है, एक मात्र नियति एव भवितव्यता ही सतोप-जनक सही समाधान प्रस्तुत करती है।

अब अध्यात्मिक जीवन का निरीक्षण करें, तो वहाँ पर भी हमे इसी शक्ति का दर्शन होता है। एक मिथ्यादृष्टि की आत्मा मे अशुद्धि का भयकर रोग लगा हुआ है। गुरु का निमित्त पाकर, शास्त्र-स्वाध्याय, जप एव तप करके वह मिथ्या दृष्टि आत्मा अपनी अशुद्धता के रोग को आत्मा से बाहर निकालने का प्रयत्न करता है, किन्तु फिर भी उसमे सफलता नही मिलती। इसके विपरीत एक आत्मा ऐसा है, कि जिसे कोई बाह्य निमित्त नही मिला, किन्तु फिर भी उसका

मिथ्यात्व रूप अशुद्धि का रोग सहसा दूर हो गया और उसके स्थान में उसकी आत्मा में सम्यक्दर्शन का दिव्य स्वास्थ्यभाव प्रकट हो गया। यह सब आत्माओं की अपनी-अपनी नियति का खेल है। किसी की नियति में बाह्य निमित्त के आधार पर सम्यक्दर्शन होना बदा है, तो किसी की नियति में निमित्त मिलने पर भी सम्यक्दर्शन होना नहीं बदा है। और किसी की नियति में अमुक देश और काल में बिना किसी बाह्य निमित्त के सहज ही सम्यक्दर्शन की ज्योति का प्रकाश निश्चित है।

आपने जम्बू द्वीप के वर्णन में उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की नदियों का वर्णन पढ़ा होगा अथवा सुना होगा। उन्मग्नजला नदी का यह स्वभाव है, कि उसमें जो भी वस्तु पड़ जाती है, वह उस वस्तु को उछाल कर बाहर फेंक देती है, वह किसी भी वस्तु को अपने अन्दर नहीं रहने देती है। परन्तु इसके विपरीत निमग्नजला नदी का स्वभाव यह है, कि उसमें जो भी वस्तु पड़ जाती है, वह उस वस्तु को अपने अन्दर ही रख लेती है, बाहर नहीं फेंकती। अध्यात्म दृष्टि से विचार किया जाए, तो सम्यक् दृष्टि आत्मा का स्वभाव उन्मग्नजला नदी के समान होता है। उसकी आत्मा में जब कभी रागात्मक एवं द्वेषात्मक विकल्प उठता है, तो वह उसे बाहर फेंक देता है, अपने अन्दर नहीं रहने देता। किन्तु मिथ्या दृष्टि आत्मा का स्वभाव निमग्नजला नदी के समान होता है, जो अपने रागात्मक एवं द्वेषात्मक विकल्पों को अपने अन्दर ही रख लेता है, बाहर नहीं फेंकता। अध्यात्मशास्त्र में कहा गया है, कि आत्मा का मूल स्वभाव तो उन्मग्नजला नदी के समान है। ज्यों ही कोई विकार उसमें अन्दर आता है, वह उसे बाहर निकाल कर फेंक देता है। कर्म पुद्गलों को भी अन्दर आते ही भोगकर वह उन्हें बाहर फेंकना आरम्भ कर देता है। आप देखते हैं जब तक शरीर सशक्त एवं स्वस्थ रहता है तब तक वह विकार को बाहर फेंकता रहता है और रोग का आक्रमण हो पर जब शरीर दुर्बल एवं अस्वस्थ हो जाता है, तब भी वह अपनी शक्ति के अनुसार रोग एवं विकार को बाहर फेंकने का ही काम जारी रखता है। बुखार आदि के रूप में जो रोग बाहर प्रकट होते हैं वे बाह्य लक्षण स्वयं रोग नहीं होते, वे तो अन्दर के रोग को बाहर में व्यक्त करने का एक लक्षण होता है। मैं अपने जीवन की एक बात आपसे कहूँ। एक बार मैं बहुत अधिक अस्वस्थ हो गया था। शरीर

की स्थिति इस प्रकार की हो चुकी थी, कि उसने अपनी सारी प्रक्रिया शिथिल एव मन्द करदी थी। जीवन के चिन्हस्वरूप सास चलते रहने पर भी, ऐसा प्रतीत होता था, मानो मृत्यु की गोद मे पहुँच गया होऊँ। जो कुछ भी दवा मुझे खाने व पीने को दी जाती थी, अन्दर की उछाल उसे वाहर फेंक देती थी। वहुत कुछ उपचार हुआ, किन्तु स्थिति नही सुधरी, वल्कि और अधिक विगडती ही गई। सव हैरान और परेशान थे। स्वय डाक्टरो के विचार मे भी कुछ नही आ रहा था कि अव वे क्या करें? श्रावको और साधुओ को भी मेरे जीवन की विशेष आशा न रही थी। परन्तु सयोग की वात है, कि एक दूसरी श्रेणी का डाक्टर आया। उसने शरीर का परीक्षण किया, स्थिति को वारीकी से देखा और कुछ सोचकर वोला—जितनी भी खाने-पीने की दवाएँ दी जा रही हैं, सव एक दम वन्द करदो, क्योकि अभी शरीर मे ऐसी प्रक्रिया चल रही है, जो वाहर की हर वस्तु को अन्दर नही जाने देती, वाहर फेंक देती है। अभी अन्दर मे शरीर की प्रक्रिया वाहर फेंकने की चल रही है और जव तक यह क्रिया चलती रहेगी वाहर की किसी भी प्रकार की दवा अन्दर पहुँचकर भी अन्दर नही रह सकेगी, अत उपचार का सवसे पहला कदम यह है कि मुख से खाने या पीने की सभी दवाओ को एक दम वन्द कर दिया जाए। और आप आश्चर्य करेंगे कि इस प्रक्रिया से मुझे काफी लाभ हुआ।

जो वात मैं आपसे अपने जीवन की अनुभूति के विपय मे कह रहा था और जो वात मैं अपने शरीर के सम्वन्ध मे कह रहा था, वही स्थिति आत्मा की भी है। इस आत्मा मे जव कभी उन्मग्नजला नदी के समान उछाल आता है, तव यह अपने अन्दर में से वाहर के हर विकार को वाहर ही फेंकती रहती है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि ज्यों ही कर्म-वन्ध होता है, त्यो ही उसका भोग भी प्रारम्भ हो जाता है। भोग का अर्थ है—अन्दर की वस्तु को वाहर की ओर फेंकना। आत्मा ने अनन्त अतीत मे जो भी कर्म वन्ध किया है, कर्मो का भोग उसे वाहर की ओर फेंक देता है। भोग-काल मे उदय-प्राप्त कर्म आत्मा के अन्दर टिका नही रह सकता। आत्मा ने अनन्त वार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय आदि कर्मो को वांधा और अनन्त वार भोग कर उन कर्मो के पुद्गलो को वाहर फेंक दिया। जो कर्म भोग लिया जाता है फिर वह कर्म आत्मा

के अन्दर नही रह सकता। किसी भी कर्म का जब उदय काल आता है, तब स्वत ही बिना किसी बाह्य प्रयत्नविशेष एव पुरुषार्थ विशेष के आत्मा, कर्म रूप रोग को उच्छ्वास लगाकर उन्मत्तजला नदी के समान बाहर की ओर फेंकता चला जाता है। इसी को भोग की प्रक्रिया कहते हैं।

आत्मा मे जब आवरण आता है और अन्दर से परम पुरुषार्थ फूटता है, तभी आत्मा की यह स्थिति होती है। आत्मा का अन्दर का आवरण और आत्मा का अन्दर का पुरुषार्थ अध्यात्म-साधना मे एक महत्वपूर्ण वस्तु है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जब इस ससारी आत्मा मे अन्दर का आवरण और अन्दर का पुरुषार्थ प्रकट होता है तब यह आत्मा बिना किसी बाह्य निमित्त के ही कर्मों को बाहर फेकना प्रारम्भ कर देता है। यह भी सम्भव है कि कभी इसमे बाह्य निमित्त सहायक हो जाए। किन्तु मूल बात नियति एव भवितव्यता की ही है। नियति एव भवितव्यता दो प्रकार की होती है— एक वह जिसमे कोई बाह्य निमित्त नही रहता और दूसरी वह जिसमे कोई बाह्य निमित्त हो। जब आत्मा का मिथ्या दर्शन बिना किसी बाह्य निमित्त के नष्ट हो जाता है, तब उसे निसर्गज सम्यक दर्शन कहा जाता है और जब मिथ्या दर्शन के नष्ट होने मे किसी बाह्य निमित्त का योग भी मिल जाए, तब उसे अधिगमज सम्यक दर्शन कहते है। किन्तु अन्दर का पुरुषार्थ जिसे मोहनीय कर्म का उपशम क्षय एव क्षयोपशम कहा जाता है दोनो मे समान भाव से रहता है। कुछ विचारक देशना लब्धि को बड़ा महत्व देते है। उनका कहना है, कि उसके बिना कुछ भी नही हो सकता। इसके विपरीत कुछ विचारक यह भी कहते हैं, कि देशनालब्धि कुछ काम नही देती जब तक कि नियति और भवितव्यता बली न हो। देशनालब्धि का अर्थ है—उपदेश रूप बाह्य निमित्त। यदि अन्दर का उपादान ही शुद्ध नही है तो बाह्य निमित्त भी क्या काम करेगा? इस ससारी आत्मा को अनन्त बार तीर्थंकरो का उपदेश सुनने को मिला और गणधरो का उपदेश सुनने को मिला किन्तु फिर भी अभी तक इसका कल्याण क्यो नही हुआ? तीर्थंकर और गणधर से बढ़कर देशनालब्धि और क्या होगी? परन्तु वास्तविकता यह है, कि जब तक अन्दर का जागरण न हो तथा जब तक अन्दर का पुरुषार्थ न हो तब तक देशनालब्धि भी प्रयोजन को सिद्ध नही कर सकती। निमित्त चाहे तटस्थ हो और चाहे प्रेरक उसका

महत्व उपादान से बढकर नही हो सकता। यह एक ध्रुव सिद्धान्त है। आत्माएं सत्ता और स्वरूप मे एक समान होने पर भी, उनमे निमित्त और भवितव्यता का भेद होने से, उनकी गति-मति मे भेद हो जाता है। नियति और भवितव्यता के आधार पर ही उनके विकास मे भी भेद हो जाता है। यह बात सिद्धान्त और व्यवहार दोनों दृष्टियो से यथार्थ है।

जब तक उपादान को महत्व नही मिलेगा, तब तक आज के सम्प्रदायवादी और पथशाही रगडे और झगडे भी समाप्त नही होगे, क्योकि वे सब बाह्य निमित्त के आधार पर ही खडे हैं। यदि उपादान शुद्ध होता है, तो आस्रव का स्थान भी सवर का स्थान बन जाता है, और यदि उपादान शुद्ध नही है तो सवर का स्थान भी आस्रव का स्थान बन जाता है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो पथवाद और सम्प्रदायवाद की मूलभित्ति को ही हिला देता है। निमित्त के आग्रह से ही समग्र सघर्ष खडे होते हैं। निमित्त को तटस्थभाव से ग्रहण करना चाहिए, परन्तु उसका आग्रह नही करना चाहिए, क्योकि निमित्त के आग्रह से ही राग एव द्वेष उत्पन्न होते हैं।

मैं आपको अफ्रीका देश की एक परम्परा का वर्णन सुना रहा हूँ। वहाँ ऐसी परम्परा है कि जब कोई गुरू अथवा धर्माचार्य मर जाता है, तो उसके शिष्य एव भक्त उसके शरीर को काट काट कर प्रसाद के रूप मे आपस मे बाँट लेते है। उन लोगो का विश्वास है, कि ऐसा करने से गुरू का ज्ञान उन्हे भी मिल जाएगा। यह एक प्रकार का अन्धविश्वास ही नही, बल्कि घोर और भयकर अन्धविश्वास है। भला जब जीवित गुरू से ही ज्ञान ग्रहण नही कर सके, तब इसके जड शव से ज्ञान प्राप्त कैसे होगा? कोई भी विचारक उनके इस अन्धविश्वास से सहमत नही हो सकता। परन्तु मैं आपसे यह कह रहा था, कि आज के इस वैज्ञानिक युग मे भी इस प्रकार का अनर्थ क्यो होता है? इसका एक ही कारण है—बाह्य निमित्त दृष्टि। बाह्य निमित्त का यह एक भयकर रूप है जिसे निमित्त की दुर्दशा ही कहा जा सकता है। उन्हे यह भी पता नही, कि गुरू मे ज्ञान था भी या नही, और यदि था, तो वह उसकी आत्मा मे था अथवा शरीर मे? निमित्त के भयकर रूपो का वर्णन कहाँ तक सुनाया जाए। हमारे भारत का मध्यकाल पथवादी और सम्प्रदायवादी रगडो और झगडो से भरा पडा है। एक मात्र बाह्य निमित्त को ही आधार मानकर हमने एक दूसरे को

नास्तिक कहा और हमने एक दूसरे को मिथ्या दृष्टि कहा। जब तक विशुद्ध उपादान को महत्व नहीं दिया जाएगा तब तक सम्प्रदायवाद और पंथवाद के आधार पर होने वाले रागात्मक और द्वेषात्मक विकल्प और विचार भी कभी दूर नहीं हो सकेंगे।

१३

पंथवादी सम्यक् दर्शन

सम्यक् दर्शन अध्यात्म-साधना का एव जैन धर्म का प्रवेशद्वार है। अनन्तकाल के बन्धनो को तोडकर स्वतन्त्र होने एव स्वस्वरूप मे लीन होने और मोक्ष-मन्दिर मे पहुँचने के लिए सम्यक् दर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही है। ज्ञान चाहे मति, श्रुत और अवधि मे से कोई-सा भी क्यो न हो, किन्तु सम्यक् दर्शन के अभाव मे वे अज्ञान ही हैं। यह एक बहुत ही विचित्र और अद्भुत बात है, कि सम्यक् दर्शन के अभाव मे ज्ञान, ज्ञान नही रहता, अज्ञान बन जाता है। अध्यात्म शास्त्र कहता है कि यदि एक मिथ्या दृष्टि आत्मा अश्व को अश्व कहता है, गज को गज कहता है, जीव को जीव कहता है और जड को जड कहता है, तब भी उसका वह ज्ञान मिथ्याज्ञान एव अज्ञान ही है। यदि वह सीप को सीप और चाँदी को चाँदी कहता है, तब भी उसका वह ज्ञान अज्ञान ही है। इसके विपरीत यदि एक सम्यक् दृष्टि आत्मा, भ्रम से जीव को अजीव कह देता है, अश्व को गधा कह देता है और सीप को चाँदी कह देता है, तब भी उसका वह ज्ञान अज्ञान न होकर ज्ञान ही होता है। मिथ्यादृष्टि की ठीक बात

भी अज्ञान हो जाती है और सम्यकदृष्टि की उलट-पुलट बात भी ज्ञान हो जाती है। आखिर सम्यक दृष्टि में और मिथ्यादृष्टि में ऐसा मौलिक भेद क्या है, जिसके आधार पर एक की सही बात भी गलत हो जाती है और दूसरे की गलत बात भी सही मानी जाती है ? उक्त प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि सम्यक दृष्टि और मिथ्या दृष्टि में मौलिक भेद यह है कि मिथ्या दृष्टि आत्मा संसाराभिमुखी होता है और सम्यक दृष्टि आत्मा मोक्षाभिमुखी होता है। सम्यक दृष्टि की प्रत्येक क्रिया विवेकपूर्ण होती है, जब कि मिथ्या दृष्टि की क्रिया में किसी प्रकार का विवेक नहीं होता। सम्यक दृष्टि को भेद-विज्ञान हो जाता है, जबकि मिथ्या दृष्टि को भेद विज्ञान नहीं होने पाता। भेद विज्ञान वाला सम्यक दृष्टि आत्मा कदाचित् भ्रान्तिवश सही बात को गलत भी समझ लेता है और गलत को सही भी समझ लेता है फिर भी उसके भावों में सरलता रहती है दृष्टि आत्माभिमुखी होती है और वह समय पर अपनी भूल को सुधार भी सकता है। इसके विपरीत मिथ्या दृष्टि आत्मा में कुटिल भाव होने के कारण अपनी आध्यात्मिक दर्शन सम्बन्धी भूल को स्वीकार नहीं करता और न उसे सुधारने की ओर उसका लक्ष्य ही होता है। यही कारण है, कि सम्यक दृष्टि और मिथ्या दृष्टि के दृष्टिकोण में एक मौलिक भेद रहता है। इस भेद के कारण ही उनके आचरण में भी भेद हो जाता है। वस्तुसम्बन्धी विभ्रम ज्ञानावरण की विचित्र क्षयोपशमता का परिणाम है और आध्यात्मिक विपरीत दृष्टि दर्शनमोह का परिणाम है। अतएव सम्यक दृष्टि को मति भ्रम हो सकता है, आध्यात्मिक अज्ञान नहीं।

मैं आपसे सम्यक दर्शन की बात कह रहा था। सम्यक दर्शन का वर्णन विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से किया गया है। किसी ग्रन्थ में जीव आदि नव पदार्थों के अथवा जीव आदि सप्त तत्वों के श्रद्धान को सम्यक दर्शन कहा गया है। किसी ग्रन्थ में आप्त आगम और धर्म के यथार्थ श्रद्धान को सम्यक दर्शन कहा गया है। किसी ग्रन्थ में स्वानुभूति को सम्यक दर्शन कहा गया है। किसी ग्रन्थ में स्व-पर-विवेक को अथवा भेद विज्ञान को सम्यक दर्शन कहा गया है। व्याख्या और परिभाषा भिन्न-भिन्न होने पर भी उनमें केवल शाब्दिक भेद ही है, लक्ष्य सबका एक ही है और वह है जड़ से भिन्न चेतन की सत्ता पर आस्था करना। जीवन में और विशेषत अध्यात्म जीवन में सम्यक दर्शन का बहुत बड़ा महत्व है। सम्यक दर्शन एक प्रकार से विवेक

रवि है, जिसके उदय होने पर मिथ्यात्व तमिस्रा का घोर अन्धकार रहने नही पाता। मोक्ष रूप प्रासाद पर चढने के लिए सम्यक् दर्शन प्रथम सोपान है। यदि एक व्यक्ति विविध प्रकार के तप करता है, विविध प्रकार के जप करता है, और विविध प्रकार की क्रिया-कलापो का अनुष्ठान करता है, किन्तु यदि उसके पास सम्यक् दर्शन नही है, तो इन सबसे उसके ससार की अभिवृद्धि ही होनी है। यह सब अनुष्ठान ससार के कारण बन जाते हैं।

सम्यक् दर्शन शब्द, दो शब्दो के मेल से बनता है—सम्यक् और दर्शन। प्रत्येक पदार्थ का जो स्वरूप है, उसे उसी रूप मे प्रतिभान एव विश्वास करना सम्यक् दर्शन कहा जाता है। हम यह देखते हैं, कि साधारण अवस्था मे देह और देही, अलग-अलग प्रतीत नही होते, किन्तु सम्यक् दर्शन की उपलब्धि होते ही, देह और देही का भेद-विज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस देह मे निवास करने वाला देही, नित्य है एव शाश्वत है, जबकि यह देह विनश्वर है एव नाशवान है। ससार का यही सबसे बडा भेद-विज्ञान है। इस भेद-विज्ञान को बिना समझे सब कुछ समझकर भी, अनसमझा हो जाता है। सम्यक् दर्शन आत्म धर्म है, अत वह आत्मा की सत्य प्रतीति से सम्बन्ध रखता है, चेतन और जड के पार्थक्य बोध से सम्बन्ध रखता है। सम्यक दर्शन का चेतन तत्त्व से भिन्न किसी और से सम्बन्ध जोडना अनुचित है।

कितनी विचित्र बात है, कि आज का जन-मानस आत्म-धर्म की ओर से विमुख होता जा रहा है और रूढिधर्म की ओर उन्मुख होता जा रहा है। हम जो कुछ कहते हैं अथवा हमारे पोथी एव पन्ने जो भी कुछ कहते हैं, वही सत्य है, इससे बढकर प्रतिक्रियावाद का नारा और क्या हो सकता है? जब साधक आत्मधर्म को भूलकर रूढिधर्म की ओर झुक जाता है, तब वह आत्म-धर्मी न रहकर, पथ-धर्मी बन जाता है। वह आत्मा के धर्म मे विश्वास न करके, अपने पथ के धर्म मे विश्वास करने लगता है, इसी को मैं प्रतिक्रियावाद कहता हूँ। प्रतिक्रियावाद भले ही किसी भी युग का क्यो न हो, किन्तु वह अपने आपमे कभी स्वस्थ नही होता। प्रतिक्रियावादी व्यक्ति अपने सम्प्रदाय एव अपने पथ के अतिरिक्त जो कुछ भी सत्य एव उदात्तभाव है, उसे स्वीकार नही करता। मेरी दृष्टि मे यही उसका सबसे बडा मिथ्यात्व का दृष्टिकोण है। दुनियादारी के ज्ञान से सम्यक् दर्शन का कोई वास्ता नही होता, किन्तु वह-दुनियादारी के ज्ञान को ही सम्यक् दर्शन समझने

लगाता है। सम्प्रदाय वादी व्यक्ति कहता है, मेरु पर्वत पर विश्वास करना सम्यक दर्शन है और नन्दनवन पर श्रद्धा करना सम्यक दर्शन है। वह जड़ पदार्थों की बात तो करता है, किन्तु चेतन की बात को भूल जाता है। वह कहता है कि मेरुपर्वत स्वर्णमय है, सोने का बना हुआ है, किन्तु इस देह में रहने वाले उस देही पर उसका विश्वास नहीं होता जो वस्तुतः अध्यात्म साधना का मूल केन्द्र है। मेरुपर्वत की ऊंचाई, लम्बाई और चौड़ाई पर विश्वास करने की अपेक्षा अपनी आत्मा की ऊँचाई पर ही विश्वास करना मेरी दृष्टि में सच्चा सम्यक दर्शन है। आश्चर्य तो इस बात का है कि पंथवादी व्यक्ति बाहर की जड़ वस्तुओं पर भी भगवान के नाम की मुहर लगाता रहता है और कहता है, कि यह सब कुछ भगवान ने कहा है, इसलिए इस पर विश्वास करो। परन्तु मेरे विचार में यह उचित नहीं है। यदि सम्यक दर्शन को सुरक्षित रखना है, तो जड़ वस्तु की अपेक्षा चेतन के विज्ञान एवं विकास की ओर ही अधिक लक्ष्य देना चाहिए। किसी भी जड़ पदार्थ की ऊंचाई लम्बाई और चौड़ाई के ज्ञान से तथा कीट पतंगों की संख्या के ज्ञान से भगवान की सर्वज्ञता को सिद्ध करने का प्रयत्न व्यर्थ है। सोने और चाँदी के पहाड़ों पर भगवान की सर्वज्ञता को तानना बुद्धिहीनता का ही लक्षण है। जीवन विकास के लिए, मैं स्पष्ट कहता हूँ कि किसी भी पर्वत के ज्ञान की किसी भी नदी के ज्ञान की एवं किसी भी आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। एक मात्र आवश्यकता है आत्म दर्शन की एवं आत्म-ज्ञान की। आत्म ज्ञान के अभाव में सम्प्रदायवादी और पंथवादी नियम एवं उपनियम निस्सार हैं। कुछ लोग वेश-विशेष में श्रद्धा रखने को ही सम्यक दर्शन समझते हैं। किन्तु यह भी उनके पंथवादी दृष्टिकोण का ही प्रसार है। किसी भी वेश-विशेष में सम्यक दर्शन नहीं रहता। सम्यक दर्शन तो आत्मा का धर्म है, आत्मा के अतिरिक्त किसी भी बाह्य पदार्थ में उसकी सत्ता मानना संसार का सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। इसी प्रकार पूजा प्रतिष्ठा में आहार विहार में और लौकिक व्यवहार में सम्यक दर्शन मानना भी एक प्रकार का मिथ्यात्व ही है। किसी व्यक्ति को जाति से ऊँचा समझना और किसी व्यक्ति को जाति से नीचा समझना यह भी एक प्रकार का मिथ्यात्व ही है। सम्यक दर्शन न किसी जाति का धर्म है, न किसी राष्ट्र का धर्म है और न वह किसी पंथ-विशेष का ही धर्म है, वह तो एक मात्र आत्मा

का ही धर्म है। आत्मा से बाहर कहीं पर भी सम्यक् दर्शन की सत्ता एव स्थिति को स्वीकार करना, प्रतिक्रियावादी और पथवादी दृष्टि-कोण है।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि सम्यक् दर्शन के स्वरूप को पथ-वादी व्यक्ति सम्यक् प्रकार से नही समझ सकता, क्योकि उसकी दृष्टि बाहर मे रहती है, अन्दर की ओर नही। किसी भी बाह्य निमित्त को सम्यक् दर्शन कहना, न तर्क सगत है और न न्यायसगत। मैं आपसे यह कह रहा था, कि जब आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी बाह्य वस्तु मे सम्यक् दर्शन रहता ही नही है, तब क्यो उसे किसी पथ-विशेष के उपकरणो मे परिकल्पित किया जाता है। जब मनुष्य आत्म-धर्म को भूलकर, रूढिधर्म को ही अपना परम कर्तव्य समझने की भूल करता है, तब यथार्थ रूप मे न वह आत्मा को समझ पाता है और न आत्मा मे रहने वाले धर्मों को ही पकड पाता है। उसके जीवन का सबसे प्रधान ध्येय पथ का ही बन जाता है। पथ का आग्रह और पथ-रक्षा का प्रयत्न, यह ससार का बहुत बडा विष है, इससे मुक्त हुए बिना आत्म-धर्म की साधना नही की जा सकती। एक हिन्दू के मन मे अपनी चोटी के प्रति असीम आग्रह रहता है, जबकि एक मुसलमान के मन मे अपनी दाढी का आग्रह रहता है। किन्तु चोटी और दाढी मे, जनेऊ और खतना मे, अथवा केश, कघी और कृपाण आदि मे विश्वास रखना निश्चय ही आत्म धर्म नही कहा जा सकता। यह सब पथ की दृष्टि है। पथ मे रहते हुए मनुष्य उसकी चारदीवारी के बाहर के किसी भी सत्य को स्वीकार करने के लिए तैय्यार नही होता। जैनो मे भी श्वेताम्बर और दिगम्बर तथा स्थानकवासी और तेरापथ आदि सम्प्रदाय एव उपसंप्रदाय, पथ के बाह्य उपकरणो को लेकर खीचातानी एव सघर्ष करते रहे हैं। किसी ने मयूरपिच्छी मे धर्म माना, तो किसी ने रजोहरण रखने मे धर्म माना, किसी ने दण्ड रखने मे धर्म माना, तो किसी ने मुख-वस्त्रिका मे धर्म माना। पथ को नापने वाले यह गज, इतने ओछे एव अधूरे हैं कि इन गजो से अमर तत्व आत्मा को नही नापा जा सकता। दिगम्बर कहते है—नग्नता के विश्वास मे ही सम्यक् दर्शन हैं। श्वेताम्बर कहता है—मूर्ति पूजा की श्रद्धा मे ही सम्यक् दर्शन है। स्थानकवासी कहता है—मुखवस्त्रिका लगाने की रुचि मे ही सम्यक् दर्शन है, किन्तु मेरे विचार मे इनमे से किसी भी वस्तु मे सम्यक् दर्शन नही है। मेरे विचार मे सच्चा सम्यक् दर्शन तो

अनन्तशक्तिसम्पन्न आत्मा में विश्वास करना ही है। जब तक आत्मा में विश्वास नहीं होगा तब तक पथ पर विश्वास करने से भी काम नहीं चलेगा। यह सब आत्मा का धर्म नहीं है और जो आत्मा का धर्म नहीं है, वह सम्यक् दर्शन कैसे हो सकता है ?

अध्यात्म ग्रन्थों में मुख्य रूप में सम्यक् दर्शन के दो भेद किए गए हैं—व्यवहार सम्यक् दर्शन और निश्चय सम्यक् दर्शन। यद्यपि तत्त्वतः सम्यक् दर्शन एक है, अखण्ड है और अविभाज्य है, फिर भी यहाँ जो दो भेद किये गए हैं, वे नय-दृष्टि की अपेक्षा से किए गए हैं। स्वरूप की दृष्टि से सम्यक् दर्शन में किसी प्रकार का भेद नहीं हो सकता। दर्शन आत्मा का मूल गुण है। सम्यक् दर्शन और मिथ्या दर्शन उसकी पर्याय हैं। एक शुद्ध पर्याय है और दूसरी अशुद्ध पर्याय है। जब तक जीव को स्व-पर का विवेक नहीं होता है तब तक आत्मा का यह दर्शन गुण मिथ्या दर्शन कहा जाता है। स्व-पर का विवेक होते ही वह मिथ्या दर्शन से सम्यक् दर्शन बन जाता है। सम्यक् दर्शन जीव की स्वाभाविक अवस्था है, और मिथ्यादर्शन जीव की नैमित्तिक अवस्था है। मिथ्यादर्शन में दर्शन मोहनीय कर्म का उदय रहता है और सम्यक् दर्शन में दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम क्षय और क्षयोपशम भाव रहता है। इस प्रकार दर्शन गुण की अशुद्धि और शुद्धि दर्शन मोहनीय कर्म के उदय उपशम क्षय और क्षयोपशम पर निर्भर रहती है।

मैं आपसे यह कह रहा था कि अपने जीवन को पवित्र बनाने के लिए सम्यक् दर्शन को समझने की नितान्त आवश्यकता है। किन्तु हमें यह समझना होगा कि सम्यक् दर्शन की उपलब्धि में निमित्त को मानते हुए भी मूल कारण उपादान की ओर ही विशेष लक्ष्य रहना चाहिए। जीवन-विकास के लिए अथवा आध्यात्मिक साधना के विकास के लिए निमित्त की आवश्यकता को सभी मानते हैं, भले ही वह निमित्त अन्तरंग का हो अथवा बाह्य का हो। मिथ्यादर्शन और मिथ्या ज्ञान आज का ही नहीं अनन्तकाल से चला आया है। कभी-कभी बाहर में शुद्ध निमित्त भी मिले किन्तु उपादान शुद्ध न हो सका इसीलिये शुद्ध निमित्त की उपलब्धि भी सार्थक न हो सकी। सम्यक् दर्शन की उपलब्धि में निमित्त की आवश्यकता है। उपादान और निमित्त दोनों मिलकर ही कार्यकारी होते हैं। और यह निमित्त बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार के होते हैं। अतः सम्यक् दर्शन की उत्पत्ति

मे यदि कोई वाह्य निमित्त हो, तो वहुत सुन्दर है, किन्तु दर्शन मोह का उपशमादि अतरंग निमित्त तो आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है। आत्मा के अन्दर ही एक गुण दूसरे गुण मे निमित्त वन जाता है। मिथ्याज्ञान को सम्यक् ज्ञान मे वदलने के लिए वाहर का हेतु काम नही देता, अतरग हेतु सम्यक् दर्शन काम आता है। वाहर के हजारों हजार निमित्त मिलें तव भी अज्ञान ज्ञान मे परिणत नही हो सकता। परन्तु सम्यक् दर्शन के सद्भाव मे तुरन्त ही मिथ्याज्ञान सम्यक् ज्ञान मे परिणत हो जाता है। इसी आधार पर कहा गया है, कि दर्शनपूर्वक ही ज्ञान, ज्ञान वनता है अर्थात् सम्यक् दर्शन से ही सम्यक् ज्ञान का आविर्भाव होता है। यदि केवल वाह्य निमित्त को ही एकमात्र कारण मान लिया जाए, तव तो वाहर मे सवको समान निमित्त मिलने पर समान ही फल-प्राप्ति होनी चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि उपादान सवका भिन्न-भिन्न है। इसलिये वाह्य निमित्त समान होने पर भी उपादान सवका भिन्न होने के कारण फल प्राप्ति मे अन्तर रहता है। एक वीमार को एक डाक्टर ने दवा दी और वह अच्छा हो गया, किन्तु वही दवा उसी रोग मे दूसरे व्यक्ति को दी तो वह स्वस्थ नहीं हो सका। वाह्य निमित्त समान होने पर भी, उपादान भिन्न-भिन्न होने से यह फल-भेद दृष्टिगोचर होता है। दूसरी वात यह भी है, कि मनुष्य जितना वाहर मे देखता है, उतना अपने अन्तर मे नही देख पाता। जव तक वह अन्तर की ओर नही देखता, तव तक वह वाह्य निमित्त से ही चिपटा रहता है।

अध्यात्म-शास्त्र में दो प्रकार की लब्धि का वर्णन है—देशनालब्धि और काललब्धि। देशनालब्धि का अर्थ है—वाह्य निमित्त। काललब्धि का अर्थ है—अन्तरंग निमित्त। कल्पना कीजिए, दो साधक समान भाव से एक जैसी साधना करते हैं। साधना करते हुए एक की मुक्ति इसी जन्म मे हो जाती है और दूसरे की इस जन्म में नही हो पाती। इसका क्या कारण है? क्या आपने कभी विचार किया है? आप देखते हैं, कि दोनो साधको के जीवन मे देशनालब्धि तो समान है, परन्तु काललब्धि दोनो की भिन्न-भिन्न है। एक की काललब्धि का परिपाक हो चुका था, इसलिये उसकी मुक्ति हो गई, दूसरे की काललब्धि का परिपाक अभी तक नही हुआ, इसलिये उसे मुक्ति नही मिल सकी। मुख्य वात काललब्धि की है, उपादान की है और अतरंग निमित्त की है। जव तक साधक मूल उपादान को न पकडकर वाह्य

निमित्त को ही पकड़े रहता है, तब तक उसकी साधना सफल नहीं होती है। उपादान और अन्तरंग निमित्त में किसी प्रकार का संघर्ष नहीं होता, संघर्ष होता है बाह्य निमित्त में। एक बार वैदिक दर्शन के एक विद्वान मुझे मिले। संयोग की बात है, कि आस्तिक और नास्तिक की चर्चा छिड़ गई। उसने कहा कि जो व्यक्ति वेदों पर विश्वास नहीं करता और वेद-विहित अनुष्ठान का आचरण नहीं करता, वह आस्तिक नहीं, नास्तिक है। अपनी बात को कहकर वह चुप हो गया। मैंने कहा—श्रीमान् आपको यह भी तो ध्यान में रखना चाहिए कि एक मुसलमान क्या कहता है? वह कहता है कि जो इस्लाम कुरान पर विश्वास नहीं करता, वह काफिर होता है। इस प्रकार ईश्वरवादी ईश्वरवाद के विश्वास में ही आस्तिकता स्वीकार करता है और कर्मवादी कर्म के विश्वास में। परन्तु सत्य क्या है, इस का पता कैसे चले? किसी भी बाह्य निमित्त को पकड़कर यदि सत्य का अनुसन्धान किया जाएगा तो उसकी उपलब्धि नहीं हो सकेगी। जो सत्य है, उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह तो स्वयं सिद्ध होता है। सूर्य को सिद्ध करने के लिए दीपक जलाने की आवश्यकता नहीं रहती। लोग अपनी छोटी-सी बुद्धि को लेकर उस अनन्त सत्ता को सिद्ध करने के लिए चल पड़ते हैं, परन्तु सत्य यह है, कि लोग अपने विकल्प और वितर्क के जाल में उलझ जाते हैं, सत्य के मूल केन्द्र तक नहीं पहुँच पाते। सत्य के मूल केन्द्र तक पहुँचने के लिए पक्षवादी और बाह्य निमित्तवादी दृष्टिकोण के एकान्त-आग्रह का परित्याग करना होगा।

जैन दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान किसी बाह्य पदार्थ में नहीं है, वह तो अपनी स्वयं की आत्मा में है। ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता, वह तो आत्मा का निज स्वरूप ही है, आवश्यकता है केवल उसके ऊपर आए हुए आवरण को दूर करने की। इसी आधार पर अध्यात्म-वादी जैन-दर्शन यह कहता है, कि संसार के बाहरी अनन्त पदार्थों को पकड़ने की आवश्यकता नहीं है। एक मूल को पकड़ लो जिससे सारा विश्व पकड़ में आ जाता है। और वह मूल क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि सबका मूल आत्मा है। वही ज्ञान का स्रष्टा है और वही ज्ञान का द्रष्टा भी है। उसकी प्रतीति ही सम्यक् दर्शन की प्राप्ति है। मैं आत्मा हूँ, मैं शुद्ध, बुद्ध एवं निरंजन हूँ, इस प्रकार का विश्वास विशुद्ध दृष्टि के बिना नहीं हो सकता।

किन्तु याद रखना चाहिए कि आत्मा के सम्बन्ध मे इतना ज्ञान ही पर्याप्त नही है। आत्मा पर विश्वास करना भर ही सम्यक् दर्शन नही है। वस्तुत दीपक की अचचल स्थिर ज्योति के समान 'स्व' की निर्विकल्प प्रतीति सम्यक् दर्शन है। मैं आत्मा हूँ, यह विश्वास तो बहुत वार हो जाता है, परन्तु निर्विकल्प शुद्ध स्वरूप की अनुभूति कुछ विलक्षण ही है। वह मन वाणी से परे की स्थिति है। यदि मैं आत्मा हूँ, यही बुद्धि सम्यक् दर्शन है, तो सिद्धो की भी क्या केवल वही दृष्टि रहती है, कि मैं आत्मा हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ। नही, ऐसी वात नही है। वहाँ आत्मा का विश्वास नही, वल्कि उसका निर्विकल्प प्रतीति होती है। लोग प्राय श्रद्धा के बहुत साधारण हल्के अर्थ को लेकर चल पडते है और उसे सम्यक् दर्शन मान लेते हैं। सम्यक दर्शन का अर्थ आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति है। निश्चय दृष्टि से विचार किया जाए तो सम्यक् दर्शन की भूमिका मे विकल्प के द्वारा केवल इतनी अनुभूति नही होती कि मैं आत्मा हूँ। यह विचार और विश्वास तो अन्दर के उस निर्विकल्प तत्व दर्शन के लिए, तथा उस आत्म स्वरूप की निर्विकल्प प्रतीति के लिए प्राथमिक भूमिकाओ मे ही किया जाता है। चतुर्थ गुण स्थान के सम्यक् दर्शन मे और अग्रिम गुण स्थानो एव केवल ज्ञानी सिद्धो के सम्यक् दर्शन मे आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति एक सी होती है, और यह निर्विकल्प स्वप्रतीति सतत एक अखण्ड एव अविच्छिन्न रूप से प्रदीप्त रहती है। जव ज्ञानोपयोग आत्मा मे रहता है, तव भी, और जव वाहर के ससारी कामो मे रहता है तव भी। यह नही कि वाहर के ससारी भोगो मे जव चित्त वृत्ति लगी हो, तव सम्यक् दर्शन नही रहता हो। और जव मैं आत्मा हूँ, इत्यादि विकल्पानुभूति हो तव सम्यक् दर्शन पुन आजाता हो। ससार के विषय भोगो मे और भयकर युद्ध मे लगे रहने पर भी सम्यक् दृष्टि आत्मा की निर्विकल्प स्वरूपानुभूति वस्तुत वाहर मे न रह कर अन्दर मे ही रहती है। उदाहरण के लिए शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ इन तीनों तीर्थंकरो के जीवन को लीजिए, जो अपने जीवन मे चक्रवर्ती भी रहे और तीर्थंकर भी रहे। यद्यपि तीनो तीर्थंकर होने वाले जीव थे, फिर भी तीनो ही प्रारम्भ मे ससार के भोगो एव युद्धो मे सलग्न रहे। वासना का सेवन भी किया और भयकर युद्ध भी किए। ससार के कार्य करते हुए भी वे क्षायिक सम्यक् दृष्टि के रूप मे इतने ऊँचे कैसे रहे? यह प्रश्न उठना सहज है, किन्तु शास्त्रकारो ने इसका

यह समाधान किया है कि वे बाहर में भोगी होकर भी अन्दर में त्यागी थे। चारित्रमोह के उदय से उनमें विषय का राग तो था परन्तु दर्शन मोह के क्षय हो जाने से उनकी दृष्टि मे राग का राग नहीं था उदासीन भाव था। यही कारण है कि वे संसार में रहे संसार के भोग भी भोगे और भयंकर युद्ध भी किए यह सब कुछ होते हुए और करते हुए भी उनका क्षायिक सम्यग् दर्शन अक्षुण्ण रहा। उनके क्षायिक सम्यक् दर्शन मे किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकी। जीवन की इतनी पवित्रता इतनी उज्ज्वलता और इतनी महानता तभी अधिगत होती है, जब कि बाहर में वस्तु का राग होते हुए भी अन्दर मे राग के प्रतिपक्ष वैराग्य की पवित्र धारा प्रवाहित हो और अनासक्ति का महा सागर लहराता हो। यह वह स्थिति है, जिसमे चारित्रमोह का विकल्प तो होता है परन्तु दर्शनमोह का विकल्प नहीं होता। बाहर की वस्तुओ मे मेरेपन का विकल्प तो होता है, मेरे पन की धुन तो होती है परन्तु इन ममता के विकल्पो मे निर्विकल्प स्व की अनुभूति विस्मृत नहीं होती।

एक बार एक भाई ने मुझ से प्रश्न किया कि जब साधु आहार पानी करता है, निद्रा लेता है अथवा चलता-फिरता है, तब उसमें साधुत्व का छठा गुण स्थान रहता है या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर मे मैंने कहा—उस स्थिति मे व्यक्ति—विशेष को छठा गुणस्थान रहता है या नहीं यह तो केवलज्ञानी के ज्ञान का विषय है, अथवा वह स्वय ही अपने को समझे कि उस स्थिति मे उसका कौन सा गुणस्थान है? सामान्य रूप से सैद्धान्तिक समाधान है कि भोजन पान गमनागमन एव शयनादि क्रियाएँ करते समय भी साधु में साधुत्व रहता ही है। बाहर मे अन्य क्रियाओ मे संलग्न रहते हुए अन्दर मे आध्यात्मिक भाव के मूल केन्द्र से सम्पर्क ज्यों का त्यों बना रहता है, वह टूटता नहीं है। साधुत्व भाव एक विलक्षण अन्दर की क्रिया है, उस का बाहर की भोजनपान आदि की क्रियाओ से कोई विकास एव ह्रास नहीं होता है। यदि खान पान पर ही अथवा आहार-विहार पर ही गुणस्थान का रहना और न रहना निर्भर करता है, तो छठे गुणस्थान की जो देशोनपूर्व कोटि तक की दीर्घ स्थिति बताई गई है, वह कैसे घटित हो सकती है? भोजन पान आदि की क्रियाओ के समय साधुत्व का अभाव माना जाए तो फिर एक दिन भी साधुत्व का छठा गुण स्थान नहीं रह सकता। बाहर मे कुछ भी हो अन्दर स्वरूप क्योंकि

अखण्ड रूप से जलती रहती है, वह ज्योति कभी व्यक्त रूप मे बुद्धि की पकड मे आती है और कभी नही भी आती है। परन्तु अन्दर मे यह अव्यक्त रूप से सतत प्रज्वलित रहती है। यही बात सम्यग् दर्शन के सम्बन्ध मे भी है।

मैं आपसे सम्यक् दर्शन की चर्चा कर रहा था। सम्यग् दर्शन अतरग की वस्तु है, बाहर की वस्तु नही, परन्तु पथवादी लोगो ने इसे बाहर की वस्तु बना दिया है। एक पथ वादी मनुष्य यह कहता है, कि मेरे पथ के अनुसार सोचना और मेरे पथ के अनुसार आचरण करना ही, सम्यक् दर्शन है। इसलिए एक सम्प्रदाय ने दूसरे को मिथ्यात्वी करार दे दिया। पथवाद इतना फैला, कि श्वेताम्बर और दिगम्बर परस्पर एक दूसरे को मिथ्या दृष्टि कहने लगे। इस प्रकार के उल्लेख आज भी अनेक ग्रन्थो मे उपलब्ध होते हैं। प्राचीन युग मे पंथवादी लोग प्रत्येक नवीन जैसे लगने वाले सत्य का विरोध करते रहे हैं और वर्तमान मे भी कर रहे हैं। उनकी दृष्टि मे जो कुछ प्राचीन है वही सम्यक् दर्शन है, और जो कुछ नवीन है वह मिथ्या दर्शन है। भले ही नवीन विचार कितना भी उपयोगी क्यो न हो, किन्तु वे उसे ग्रहण करने के लिए तैयार नही होते। इसके विपरीत प्राचीन विचार भले ही आज की स्थिति मे कितना ही अनुपयोगी क्यो न बन गया हो, किन्तु फिर भी वे उसका परित्याग नही कर सकते। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को अपने पुरखो की पुरानी वस्तु से व्यामोह हो जाता है, उसी प्रकार कुछ लोगो को प्राचीनता का इतना व्यामोह हो जाता है कि वे हर चीज को प्राचीनता की तुला पर तोलने के आदी बन जाते हैं। अनन्त सत्य को वह अपनी सीमित बुद्धि मे सीमित करना चाहते हैं। जो कुछ सत्य है वह हमारा है, यह विचार तो ठीक है, किन्तु सम्प्रदाय वादी उसके विपरीत यह कहता है, कि जो मेरा है, वही सत्य है। जो कुछ मेरे पथ का विचार है, वही सच्चा विचार है। जो कुछ मेरे पथ का विश्वास है, वही सच्चा सम्यक् दर्शन है। जो कुछ मेरे पथ का आचार है, वही सच्चा धर्म है। यह एक प्रकार की विचार-जडता है। इस विचार जडता को भी लोग सम्यक् दर्शन की सज्ञा देते हैं। यह बडे ही विचार की बात है, कि ये लोग वस्तु की उपयोगिता को न देखकर उसकी प्राचीनता को ही अधिक देखते हैं। मेरे विचार मे कोई सिद्धान्त प्राचीन होने से ही, ग्राह्य हो; यह बात गलत है। और कोई विचार

नवीन होने से ही अग्राह्य हो यह भी असत् है। मेरे विचार में न प्राचीनता का महत्त्व है और न अर्वाचीनता का महत्त्व है। जो वस्तु समीचीन हो और जो विचार यथार्थ हो उसे अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए फिर भले ही वह प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन हो।

नूतनता एवं पुरातनता प्राचीनता एवं अर्वाचीनता अपने आप में कुछ महत्त्व नहीं रखती हैं, क्यों कि यह तो एक कालकृत भेद ही है। यदि नवीनता की पूजा को पंथवादी लोग पाप समझते हैं, अधर्म समझते हैं अथवा मिथ्यात्व समझते हैं तो प्राचीनता की पूजा भी उसी प्रकार पाप है, अधर्म है और मिथ्यात्व है। क्योंकि प्राचीनता और नवीनता दोनों ही काल के विभाग हैं और काल एक जड़ वस्तु है। मेरे विचार में समीचीनता की पूजा ही सच्चा सम्यक् दर्शन है। किसी भी एकान्तवाद का आग्रह करना जिन शासन में मिथ्यात्व माना गया है। फिर भी यह सत्य है, कि सम्प्रदाय वादी एवं पंथवादी मनुष्य के मन में पुरातनता का व्यामोह, इतना सघन हो जाता है, कि अच्छी-से-अच्छी बात को भी वह नवीनता के नाम पर ग्रहण करने को तय्यार नहीं होता। अपनी बुद्धि और विवेक को ताक पर रख कर पंथवादी व्यक्ति प्रत्येक नवीन विचार का विरोध करने में अपने जीवन की समग्र शक्ति को लगा देता है और निरन्तर आधुनिकता के नाम पर दूसरों की निन्दा और अवगणना ही करता रहता है। उस मूढ़ व्यक्ति को यह परिज्ञान नहीं होता कि पुरातन होने मात्र से कोई विचार अच्छा और नूतन मात्र होने से कोई विचार बुरा नहीं कहा जा सकता यदि नूतनता सर्वथा बुरी ही वस्तु है और पुरातनता ही एक मात्र अच्छी वस्तु है, तो मिथ्यात्व सदा प्राचीन होता है वह आज का नहीं अनादि से चला आ रहा है और सम्यक् दर्शन की उपलब्धि नवीन होती है। तब क्या प्राचीन होने से मिथ्यात्व को पकड़े रहें और नवीन होने से सम्यक् दर्शन का परित्याग करदें ? पापाचार बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है तो प्राचीनता—प्रेमी उसे क्यों छोड़ने का प्रयत्न करते हैं। प्राचीनता का मोह एक प्रकार की मूढ़ता एवं बुद्धि-जड़ता का ही प्रतीक है। यह सत्य है कि नवीन सभी कुछ ग्राह्य नहीं होता परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि प्राचीन भी सब कुछ ग्राह्य नहीं होता। मेरे विचार में जो समीचीन है वही ग्राह्य होता है। पुरातनता में भी कुछ बात अच्छी हो सकती है और नवीनता में भी कुछ बात अच्छी हो सकती है।

पुरातनता के नाम पर पीतल संग्रह करने के योग्य नही होता और नूतनता के कारण कनक त्याज्य नही हो सकता। किसी भी वस्तु के सद्गुण और असद्गुण को परखने की कसौटी, न एकान्त प्राचीनता हो सकती है और न एकान्त नवीनता ही हो सकती है, एक मात्र समीचीनता ही उसकी कसौटी हो सकती है। बडे ही आश्चर्य की बात है, कि एक पथवादी और पुरातनता प्रेमी व्यक्ति एक विचार शील और अनुभवशील बुद्धिमान व्यक्ति की मात्र इस आधार पर दुरालोचना करता है कि उसके विचार नए हैं। प्राचीन पुरुषो ने अपने युग मे जिस व्यवस्था को बनाया, वह उस युग के लिए उपयुक्त थी, किन्तु आज भी वह ज्यों की त्यो उपयुक्त ही है, यह नही कहा जा सकता। अपने प्राचीन पुरुषो के झूठे गौरवमय गीत गाने से काम नही चलता। प्राचीन पुरुषो का आदर करना, एक अलग बात है, किन्तु उनकी हर बात का अन्धानुकरण एव अन्धानुसरण करना, यह एक अलग बात है। जो भी सत्य है, वह मेरा है, यह एक विवेक दृष्टि है। इसके विपरीत यदि यह कहा जाए, कि जो कुछ मेरा है, जो कुछ मैं कहता हू, वही सत्य है, यह एक अविवेक दृष्टि है। जरा विचार तो कीजिए, पथवादी जिस व्यक्ति को आज नवीन कह कर उडा देना चाहता है, वही व्यक्ति मरने के बाद, नई पीढी के लिए क्या पुराना नही हो जाता है? आज का नया, कल भविष्य का पुराना होगा। ससार की हर वस्तु नूतन और पुरातन होती ही रहती है। जिन्हें आज हम पुरातन पुरुष कहते हैं और पुरातनता के नाम पर आज हम जिनकी पूजा करते हैं, क्या अपने युग मे वे कभी नवीन नही रहे होगे? सिद्धान्त यह है, कि प्रत्येक नवीन पुरातन होता है और फिर प्रत्येक पुरातन नवीन बनता है। आज के युग के प्राचीन कहे जाने वाले पुरुष, जिनका आज एक मात्र कार्य है, पथवाद और सम्प्रदायवाद के नाम पर जनता की श्रद्धा को बटोरना और उस पर अपने रुढिवादी विश्वास और विचार की मुहर लगाना, अपने युग मे वे भी तो कभी नवीन रहे होगे उन्होने भी तो कभी नवीन बातो का समर्थन किया होगा। फिर आज का नवीन व्यक्ति यदि किसी नवीन विचार का समर्थन करता है, तो क्या बुरा करता है। यह प्राचीनता और अर्वाचीनता काल कृत है, काल के परिचक्र के अनुसार जगत मे नित्य परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन की उपेक्षा नही की जा सकती और इस परिवर्तन को झुठलाया नही जा सकता। जिस व्यक्ति के पास विवेक का बल है, और

जिस व्यक्ति के पास प्रतिभा की शक्ति है, वह पुरातन बात को भी अपनी बुद्धि की तुला पर तोल कर ही ग्रहण कर सकता है। किसी भी बात पर आँख मूंद कर और कान बन्द कर, वही व्यक्ति मौन रह सकता है, जिसके पास अपना विवेक न हो और जिसके पास अपनी बुद्धि न हो। यदि आज का विचार सुन्दर है, जीवन उपयोगी है, जिन्दगी को ताजगी देने वाला है, तो उसे ग्रहण करने में इस आधार पर पीछे नहीं हटना चाहिए, कि यह विचार नवीन है। यदि कोई विचार असुन्दर है, जीवन के लिए उपयोगी नहीं रहा है, उससे जीवन के लिए कोई निर्माण कारी प्रेरणा नहीं मिल रही है, तो इस आधार पर उसे नहीं पकड़े रहना चाहिए, कि यह प्राचीन है। किसी भी असम्बद्ध और असंगत बात को प्राचीनता के नाम पर स्वीकार कर लेना, एक प्रकार का अन्ध विश्वास है, एक प्रकार का अज्ञान है और एक प्रकार का दुराग्रह है, उसे सम्यक् दर्शन कहना पाप है और उसे सम्यक् दर्शन कहना मिथ्यात्व है। प्राचीनता एक मात्र भूषण है और नवीनता एक मात्र दूषण है, यह विचार उन लोगों का होता है, जो पक्षवादी होते हैं और प्रत्येक वस्तु को उपयोगिता की तुला पर न तोल कर अपने स्वार्थ पोषण के लिए केवल प्राचीनता की तुला पर ही तोलते रहते हैं।

मैं आपसे इस बात की चर्चा कर रहा था कि सम्यक् दर्शन और मिथ्यादर्शन का निर्णय प्राचीनता और अर्वाचीनता के आधार पर मत कीजिए। उसका निर्णय कीजिए, समीचीनता के आधार पर। एक व्यक्ति का जो सत्य है, वही सत्य दूसरे व्यक्ति का हो, यह कैसे हो सकता है? एक व्यक्ति के लिए दूध पीना रुचिकर हो सकता है, किन्तु दूसरे के लिए दही खाना रुचिकर होता है। यद्यपि दूध और दही दोनों अपने आप में अच्छी वस्तु हैं, दोनों से शरीर को पुष्टि मिलती है, किन्तु रुचि के आधार पर एक के लिए दूध सत्य है, तो दूसरे के लिए दही भी उतना ही सत्य है। इसी प्रकार मैं आपसे कह रहा था कि किसी व्यक्ति के लिए उत्तराध्ययनसूत्र रुचिकर हो सकता है, तो किसी दूसरे व्यक्ति के लिए तत्त्वार्थसूत्र रुचिकर हो सकता है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र को यह कह कर ठुकरा देना कि यह वाचक उमास्वाति की कृति है, संस्कृत में है और नवीन है। यह भी एक प्रकार का मिथ्यात्व है, बुद्धि की मूढ़ता है और विचारों की जड़ता है। किसी भी पंथ का, किसी भी सम्प्रदाय का, किसी भी ग्रन्थ का और किसी भी व्यक्ति

विशेष का आग्रह रखना, और उनकी बातों को अन्धभक्त होकर स्वीकार करना, एक प्रकार का मिथ्यादर्शन ही है। यहाँ पर मैं एक उदाहरण इसलिए दे रहा हूँ, कि पथवादी लोग अपने पथ का पोषण करने के लिए, किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व की आड लेकर किस प्रकार सम्यक्त्व के नाम पर मिथ्यात्व का प्रचार करते रहे हैं।

एक बार एक श्रमण से एक व्यक्ति ने प्रश्न किया, कि सवत्-सरी के विषय मे शास्त्र का प्रमाण दीजिए कि, क्यो मनाई जाती है ? इस प्रश्न के उत्तर मे तथाकथित विद्वान् श्रमण ने कहा—"कि सवत्सरी के दिन अधिकाश जीवो को नवीन आयुष्कर्म का बन्ध होता है। अत उस दिन आत्म-विशुद्धि के लिए आहार आदि का त्याग कर धर्माराधन मे ही तल्लीन रहना चाहिए।" उक्त प्रश्न और उत्तर से यह भलीभाँति ज्ञात हो जाता है, कि पथवाद के नाम पर, पथवादी लोग किस प्रकार घोर मिथ्यात्व का प्रचार एव प्रसार कर सकते हैं। शास्त्र और आगम के नाम पर अपनी प्रतिष्ठा का प्रासाद खडा करने वाले लोग किस प्रकार मिथ्या विश्वास और मिथ्या विचार का प्रचार करते रहे हैं और कर रहे हैं। भक्त ने शास्त्र का प्रमाण पूछा था। परन्तु किसी भी शास्त्र एव आगम ग्रन्थ का प्रमाण न देकर, तथाकथित श्रमण ने अपना मनगढत समाधान प्रस्तुत कर दिया और अन्धभक्त उसे शास्त्र का गम्भीर ज्ञान समझ कर नाच उठे और झूम उठे। क्या यह नवीन विचार का प्रचार नही है ? जब हर नवीन विचार मिथ्यात्व की कोटि मे है, तब तथाकथित गुरु का उक्त आगमाधार-हीन समाधान एव कथन मिथ्यात्व की कोटि मे क्यो नही ? परन्तु पथवादी व्यक्ति उक्त तथाकथित गुरु के मनगढत समाधान को मिथ्यात्व कहने के लिए इसलिए तैयार नही होता, क्योंकि वह उसके गुरु का कथन है। यह भी एक प्रकार का मिथ्यात्व है, बल्कि एक घोर मिथ्यात्व है, किन्तु पथवादी लोगो ने उस पर सम्यक्त्व का लेबिल लगा दिया है।

मैंने आपसे यहाँ पर कुछ उन विचारो की चर्चा की है, जो सम्यक् दर्शन के नाम पर आज चल रहे हैं। मैं आपसे पहले कह चुका हूँ, कि सम्यक् दर्शन का वास्तविक अर्थ—आत्म-श्रद्धान और आत्म-प्रतीति ही है। सिद्धान्त की दृष्टि से, जैन-दर्शन का तत्वज्ञान बाहर के अनन्त पदार्थों में नही भटकता, वह मूल को पकडता है, जिससे सारा विश्व पकड मे आ जाता है। सबका मध्यबिन्दु एव

मूल केन्द्र आत्मा ही है। सम्यक् दर्शन की महिमा यह है कि वह आविर्भूत होते ही मिथ्याज्ञान को सम्यक् ज्ञान बना देता है और मिथ्या चारित्र को सम्यक् चारित्र बना देता है। अध्यात्म साधना का लक्ष्य है—आत्म-जागृति और आत्म विकास। यह तभी सम्भव है जब कि सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो जाए। सम्यक् दर्शन की उपलब्धि होते ही आत्मा और अनात्मा का स्पष्ट परिबोध हो जाता है। परन्तु कषायभाव के कारण तथा उसकी तीव्रता के कारण फिर मलिनता आने की सम्भावना बनी रहती है। कषायभाव की जितनी मन्दता रहती है आत्म भाव उतना ही निर्मल रहता है और कषाय भाव की जितनी ही तीव्रता रहती है आत्मभाव उतना ही मलिन हो जाता है। कुछ लोग इस प्रकार सोचते हैं कि सम्यक्दर्शन की उपलब्धि होने पर आत्मा में ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और जब तक सम्यक् दर्शन रहता है ज्ञान बढ़ता रहता है। परन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से यह विचार युक्ति युक्त नहीं है। क्योंकि सम्यक् दर्शन का काम न ज्ञान को उत्पन्न करना है और न ज्ञान को बढ़ाना है। यह तभी उचित कहा जा सकता है जबकि ज्ञान आत्मा से भिन्न कोई बाह्य पदार्थ हो किन्तु जैन-दर्शन की दृष्टि से तो ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञान है। सम्यक् दर्शन ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता एवं ज्ञान को बढ़ाता नहीं है बल्कि वह उसकी दिशा बदल देता है। ज्ञान की जो धारा संसाराभिमुखी होती है उसे मोक्षाभिमुखी बना देना ही सम्यक् दर्शन का प्रधान कार्य है। सम्यक् दर्शन ज्ञानधारा को मोक्ष साधना में नियोजित कर उसे मात्र सम्यक् बना देता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उस समय ज्ञान केवल आत्मा को ही जानता है और आत्मा से भिन्न पर को नहीं जानता। ज्ञान तो एक दर्पण के समान है जिसमें आत्मा और अनात्मा तथा जड़ और चेतन सभी कुछ प्रतिबिम्बित हो सकता है। किन्तु साधना का लक्ष्य एक मात्र यही है कि जीवन की अधोवाही धारा को ऊर्ध्ववाही धारा बनाया जाए। इसका मूल आधार सम्यक् दर्शन ही है। सम्यक् दर्शन के बिना अध्यात्म-साधना ऊर्ध्वमुखी नहीं होती। और ज्ञान भी मोक्षाभिमुखी नहीं होता।

यात्रा और भटकने में बड़ा अन्तर है। यात्रा में एक लक्ष्य स्थिर होता है एक उद्देश्य निर्धारित होता है किन्तु भटकने में न कोई लक्ष्य होता है और न कोई उद्देश्य ही। निरन्तर अपने लक्ष्य के पथ पर ही कदम बढ़ाते जाना तो यात्रा है और कभी इधर

चले गए और कभी उधर चले गए, और कभी फिर पथ पर आगए और फिर इधर उधर चले गए, और वापस लौट गए, तो इसे यात्रा नही, भटकना ही कहा जाता है। कल्पना कीजिए, आपका एक लडका है किसी निर्धारित कार्य के लिए वह घर से बाहर जाता है। दिन भर कार्य—निष्पत्ति के लिए इधर उधर घूमता फिरता रहता है और सायकाल को फिर बाहर से घर आ जाता है, उस स्थिति मे आप उसका आदर करते हैं। परन्तु यदि वही लडका बिना किसी निश्चित लक्ष्य और कार्य के योही दिन भर इधर-उधर भटक भटका कर घर आता है, तब उसे आप क्या कहेगे ? भटकने वाला आवारा अथवा कार्य करने वाला सहयोगी ? एक व्यक्ति किसी प्रयोजनवश घर से बाहर बहुत दूर चला जाता है और दीर्घकाल तक घर से बाहर रहता है और फिर घर लौट आता है। इसी प्रकार कालान्तर मे फिर वह प्रयोजन वश घर-से बाहर चला जाता है और फिर घर आ जाता है। दूसरा व्यक्ति बिना किसी लक्ष्य के योही बहुत दूर दूर घूमता है घर लौट आता है और ऐसा बार-बार करता है। आप इन दोनो को क्या कहेगे ? यात्रा करने वाले यात्री अथवा भटकने वाले आवारा ? यह दो चित्र आपके समक्ष हैं गमन दोनों मे होता है और आगमन भी दोनो मे होता है। किन्तु एक के न-जाने मे कोई उद्देश्य है और न आने मे ही कोई उद्देश्य है जबकि दूसरे का गमन भी सोद्देश्य है और आगमन भी सोद्देश्य है। आवारा व्यक्ति घर मे रहकर भी घर को अपना नही समझता जबकि कार्यशील व्यक्ति घर से दूर रहकर भी घर को अपना समझता है। भागने, भटकने और आने जाने मे बडा अन्तर होता है। जिसका कोई लक्ष्य न हो और जिसका कोई उद्देश्य न हो, उसका जाना और आना भी भटकना ही है, और जिसका कोई उद्देश्य है, जिसका कोई एक लक्ष्य है, उसका जाना भी और उसका आना भी यात्रा ही है, भटकना और भागना नही। यही उक्त दोनो व्यक्तियो मे विशेष अन्तर है। जो बात इन दो के सम्बन्ध मे है, वही बात मिथ्या दृष्टि और सम्यक् दृष्टि की भी है। मिथ्यादृष्टि क्रोधादिरूप मे आत्मारूपी घर से बाहर चला जाता है, फिर कदाचित् क्षमादिरूप मे वह लौट भी आए, किन्तु उसका लौटना भी जाने के बराबर ही है, क्योंकि न उसके जाने मे विवेक है और न उसके आने मे विवेक है। इसके विपरीत सम्यक् दृष्टि आत्मा, आत्मारूपी घर में ही रहता है। कभी-कभी विभाव-भाव की परिणति

भी उसके जीवन मे आती रहती है, किन्तु अपनी विवेक दृष्टि के कारण वह शीघ्र ही सावधान हो जाता है, और फिर विभाव से हटकर स्वभाव में स्थिर हो जाता है। इसी आधार पर मैं यह कहता हूँ कि मिथ्या दृष्टि भटकता है और सम्यक् दृष्टि यात्रा करता है। सम्यक दृष्टि आत्मा कर्मोदय वश भले ही विभाव में भटके किन्तु वह अपना घर अपनी आत्मा को ही समझता है। वह कभी भी विभाव को अपना स्वभाव नही समझता किन्तु मिथ्या दृष्टि आत्मा अपने विभाव को ही अपना स्वभाव समझ लेता है। दोनों की दृष्टि मे यही सबसे बड़ा अन्तर है। इसी आधार पर दोनो की जीवन चर्या मे भी भेद खड़ा हो जाता है। सम्यक दर्शन ज्ञान को अपने घर और अपने स्वरूप मे ले आता है। वह भूले हुए और भटके हुए ज्ञान को अपने घर मे ला कर स्थिर कर देता है। आत्मा का वह ज्ञान सम्यक दर्शन के द्वारा जब एक बार अपने घर मे आ जाता है तब फिर वह पहले तो भटकता नही यदि भटक भी जाता है तो फिर शीघ्र ही सावधान हो जाता है। अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में सम्यक दर्शन का बड़ा ही महत्व है। कहा गया है कि तीर्थंकर भी सम्यक दर्शन की उपलब्धि मे तो निमित्त बन सकते हैं। किन्तु सम्यक ज्ञान की उपलब्धि मे वे निमित्त नही बन सकते। सम्यग्ज्ञान तो सम्यग् दर्शन द्वारा ही होता है। कुज्ञान के सुज्ञान होने मे मिथ्या ज्ञान के सम्यक ज्ञान होने म एक मात्र सम्यक दर्शन ही साक्षात कारण है।

अध्यात्म साधक की दृष्टि शान्त दान्त और गम्भीर होनी चाहिए। साधना के पथ पर आगे बढ़ने वाले पथिक का हर कदम दृढ़ता और मजबूती के साथ पड़ना चाहिए। उसके मन में अपने लक्ष्य के प्रति इतनी एकाग्रता और एकनिष्ठता रहनी चाहिए कि कोई भी प्रलोभन और भय उसे अपने मार्ग से विचलित न कर सके। संसार के किसी एक ही पदार्थ का नहीं बल्कि अनन्त पदार्थों का ज्ञान भी क्यों न हो जाए, परन्तु मूल में आत्मा का ज्ञान अवश्य रहना चाहिए। क्योंकि आत्मा का ज्ञान ही सम्यक दर्शन है। यदि आत्मा मे सम्यक दर्शन का आलोक और सम्यक ज्ञान की विमल ज्योति है, तो प्रारब्ध के सारे भोग भोगते हुए भी, भोगावली कर्मों के उदय मे आने पर भी उनके विपाक के समय सम्यक दृष्टि आत्मा की रागात्मक एवं द्वेषात्मक वृत्ति मन्द

रहती है। साधक की स्थिति यह हो जाती है कि बाह्य पदार्थ के रहते हुए भी उसके मन में उसकी आसक्ति नही रहती। यदि साधक के मन मे रागात्मक और द्वेषात्मक परिणति नही है, तो पदार्थों का ज्ञान करने मे कोई आपत्ति नहीं है। राग और द्वेष के मिश्रण से ही, ज्ञान मलिन एव अपवित्र बनता है। सम्यक् दर्शन अध्यात्म जीवन के क्षेत्र मे सबसे बडी कला और सबसे बडा जादू यही सिखाता है, कि तुम ससार मे रहो, कोई आपत्ति नही है, किन्तु याद रखो, ससार तुम्हारे मे न रहे। नाव जल मे चलती है कोई भय की बात नही, किन्तु नाव मे जल नही जाना चाहिए। शरीर रहे कोई आपत्ति नही, किन्तु शरीर मे ममताभाव नही रहना चाहिए। भोग्य पदार्थ रहे, कोई आपत्ति नही है, किन्तु भोग के क्षणो मे रागात्मक एव द्वेषात्मक दृष्टि नही रहनी चाहिए। मैं स्पष्ट कहता हू कि ससार के पदार्थों का ज्ञान करना चाहिए, परन्तु उनका ज्ञान राग या द्वेष के साथ नही करना चाहिए, यदि इस कला को हस्तगत कर लिया जाए तो फिर बाह्य पदार्थों में वह शक्ति नही है कि जो आत्मा को अपने आप मे बाँध सके। याद रखिए, आत्मा के साथ आत्मा को बाँधने की आवश्यकता है, न कि पदार्थों को। आत्म-भाव मे स्थिर रहने वाला साधक ससार में रहकर भी ससार के बन्धनो से ऊपर उठ जाता है, शरीर मे रह कर भी शरीर की ममता के कारागार मे बद्ध नहीं रहता। सम्यक् दृष्टि आत्मा, जिसे विमल सम्यक् दर्शन की ज्योति की उपलब्धि हो चुकी है, वह व्यक्ति परिवार मे रहता है, समाज मे रहता है और राष्ट्र मे रहता है, किन्तु फिर भी अपने मूल घर आत्मा को वह कभी भूलता नही है। जिस साधक की यह आत्म दृष्टि स्थिर हो जाती है, फिर उसे किसी प्रकार का न भय रहता है, और न किसी प्रकार के प्रलोभन मे ही वह फँसता है, किन्तु जिसको दृष्टि मे अभी अध्यात्म भावना स्थिर नही है, उस आत्मा को कदम-कदम पर भोगो का भय और बन्धन का डर रहता है। विचार और विकल्पो के जाल मे वह उलझ जाता है, क्यो कि सम्यक् दर्शन की कला की उपलब्धि उसे नही हो सकी है। वह अभी उस जादू से अपरिचित है, जो जल मे रह कर भी कमल के समान रह सके, और जो भोगो के कीचड़ से उत्पन्न होकर भी कमल के समान मुस्करा सके। सम्यक् दर्शन मे एक ऐसी विलक्षण शक्ति है, कि जिसके प्रभाव से अनन्त-अनन्त जन्मो के मिथ्यात्व के बन्धन

क्षण भर में विध्वस्त हो जाते हैं। सम्यक् दर्शन में एक वह शक्ति है कि जिसके प्रभाव से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कर लेता है और अपने स्वभाव में स्थिर होकर समग्र विभाव भावों के विकार एवं विकल्पों के जाल से अपने को मुक्त कर सकता है।

१५

अमृत की साधना : सम्यक् दर्शन

* * *

दर्शन-शास्त्र मे एक प्रश्न बहुत बडी चर्चा का विषय रहा है। भारत के तत्व-चिन्तको के मन एव मस्तिष्क मे उसके सम्बन्ध मे पर्याप्त चिन्तन एव मनन होता रहा है। आप यह जानते ही हैं कि भारत के दर्शन का और भारत के धर्म का अनुचिन्तन एव परिशीलन कभी अधोमुखी नही रहा है। उसका प्रवाह कभी नीचे की ओर नही रहा, वह सदा से नीचे से ऊपर की ओर ही प्रवाहित होता रहा है। उसका प्रवाह विकास से ह्रास की ओर न जाकर, ह्रास से विकास की ओर ही जाता रहा है। इसलिए भारतीय दर्शन का प्रथम और मूल आधार भौतिकवाद नही, अध्यात्मवाद ही रहा है। भारत के दर्शनो में एव धर्मों मे आत्म-स्वरूप और आत्म-विवेक के लिए, काफी गवेषणा तथा विचारणा की गई है। भारत के जिन साधको ने अपनी अनन्त ज्ञान ज्योति से सब कुछ का दर्शन किया है, समग्र का साक्षात्कार किया है, उन्होने केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि, शास्त्र और गुरु के आधार से ही सत्य का दर्शन नही किया, वे तो स्वय द्रष्टा हैं

और अध्यात्म-साधना मे स्वयंभू हैं। यह जड़ चेतनात्मक समग्र विश्व उनकी ज्ञान-दृष्टि के समक्ष हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष था। उन्होंने अपने अन्तर म और बाहर प्रकृति मे भी अनन्त का दर्शन किया था। अपनी आत्मा के अनन्त परिणामो को भी उन्होंने जाना था और इस जड़ प्रकृति के अनन्त रूप-परिणामो को भी उन्होंने जाना था। परन्तु अध्यात्म-साधना के क्षेत्र मे कुछ साधक एसे भी थे जिनका जीवन इतनी ऊँचाई पर नहीं पहुँच सका परन्तु फिर भी वे अपने साधना-पथ पर अग्रसर होते हुए, हताश एवं निराश नही हुए। यदि उन्हें उनकी जिन्दगी मे जीत नही मिल सकी तो हार भी उन्होने स्वीकार नही की। वे अपनी साधना के क्षेत्र मे किंकर्तव्यविमूढ होकर नही बैठे। यदि उन्हे स्वय के अभ्यास एव अनुभव से सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकी तो उन्होने महापुरुषो की वाणी से प्रेरणा लेकर तथा गुरु के उपदेश से दिशा दर्शन लेकर सत्य की उपलब्धि का प्रयत्न किया। और कभी जब मार्ग मे चलते-चलते स्वयं की बुद्धि का प्रकाश ओझल होने लगा तो वे शास्त्र तथा गुरुवाणी के प्रकाश का अवलम्बन लेकर अपने मार्ग पर आगे बढते रहे।

इस प्रकार अध्यात्म-साधना के फलस्वरूप साधको को सत्य की उपलब्धि दो रूपो मे होती रही है – प्रत्यक्ष रूप मे और परोक्ष रूप मे। परम विशुद्ध ज्ञान से सत्य की जो उपलब्धि होती है, उसे परम प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस उपलब्धि का कारण केवल ज्ञान एव केवल दर्शन होता है। अवधिज्ञान और मन पर्याय ज्ञान से जो सत्य का साक्षात्कार होता है, वह भी प्रत्यक्ष है, परन्तु वह शास्त्रीय भाषा मे विकल अर्थात् अपूर्ण प्रत्यक्ष कहलाता है। इसके विपरीत अपनी स्वय की चिन्तन-बुद्धि से अथवा शास्त्र-ज्ञान आदि के आधार पर सत्य की जो उपलब्धि होती है, उसे परोक्ष कहा जाता है। केवलज्ञानी ने अपने केवल ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से सत्य का साक्षात्कार किया तो श्रुत ज्ञानी ने शास्त्र आदि के चिन्तन एव मनन के आधार पर, विश्व के सत्य स्वरूप का परोक्ष दर्शन कर लिया। मूल प्रश्न यह है, कि जब अध्यात्म-साधकों ने अपने जीवन के सत्य को परखने का प्रयत्न किया तब उन्होंने जाना कि आत्म-सत्तारूप चतन्य मे जीवन का जो अनन्त सागर लहरा रहा है, उसे उन्होंने किस रूप मे देखा और परखा? सक्षेप मे समाधान किया गया है कि कुछ महापुरुषों ने प्रत्यक्ष रूप मे देखा तो कुछ ने परोक्ष रूप मे देखा।

प्रस्तुत सत्य के साक्षात्कार के साथ एक और प्रश्न है, जो आज से नही, चिरकाल से चर्चा का विपय रहा है। प्रश्न है कि उन तत्व ज्ञानियो ने और उन अध्यात्म-साधको ने जीवन के सत्य को अमृत रूप मे देखा अथवा विषरूप मे देखा ? उनके चिन्तन एव अनुभव मे, जीवन अमृत था अथवा विष ? हजारो साधक ऐसे थे, जो ससार मे ठोकरें खाते रहे है, उन्होंने कहा, कि जीवन विष है, इसमे कही पर भी अमृत रस दृष्टि गोचर नही होता है। उन्हे जीवन मे विष के अतिरिक्त अन्य कुछ दृष्टिगोचर नही हो सका। अपने चिन्तन एव अनुभव के आधार पर यह कहा कि इस ससार मे कदम-कदम पर दु ख, क्लेश, पीडा, अज्ञान और असत्य का साम्राज्य सर्वत्र फैला हुआ है। जब इस ससार मे सर्वत्र विष का साम्राज्य व्याप्त है, फिर इसमे सुख और शान्ति कैसे मिल सकती है ? परन्तु क्या वस्तुत ससार का यह सही रूप है ? क्या वास्तव मे ससार का यह रूप, विष रूप है ? जैन-दर्शन मे इस सम्वन्घ मे कहा गया है, कि ससार को दु ख एव कष्ट रूप मे अथवा विप रूप मे जो देखा जा रहा है, वह जीवन का वास्तविक स्वरूप नही है, वल्कि यह स्वय की तुम्हारी कल्पना का रूप है, जीवन तो वास्तव मे अमृत है। फिर भी यदि तुम्हे यह जीवन विषरूप लगता है, तो यह तुम्हारी अपनी दृष्टि का खेल है। जिसे आप विप समझते हैं, वह भी आखिर क्या वस्तु है ? विप एव जहर भी तो अन्दर के अमृत का ही एक विकृत रूप है। अमृत मे जब विकार आ जाता है, तव वह अमृत ही विपरूप मे प्रतिभासित होने लगता है। अत विष भी मूलत अमृत का ही एक दूषित रूप आपके सामने खडा है। अध्यात्म-शास्त्र मे कहा गया है, कि क्रोध क्या है ? वह क्षमा धर्म का ही एक विकृत रूप है। क्रोध की परिभाषा करते हुए कहा गया है, कि क्षमा का विकार ही क्रोध है। मूल मे क्रोध कोई अलग वस्तु नही है। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा, कि शास्त्रकारो ने लोभ के वारे मे वताया है, कि अन्तर आत्मा मे लोभ कोई स्वतन्त्र वृत्ति नही है, बल्कि आत्मा के मूल गुण सन्तोष का ही वह एक विकृत रूप है। मान और माया के विपय मे भी यही सत्य है, कि वह भी अपने मूल गुण नम्रता एव सरलता के विकृत रूप ही हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह है, कि क्रोव, मान, माया और लोभ को शास्त्रीय परिभाषा मे कषाय कहा गया है और जो भी कषाय है, वह सव चारित्र गुण का विकृत रूप होने से कुचारित्र है, मिथ्या चारित्र है। इस दृष्टि से मैं कह रहा था कि

अमृत में जो विकार आ गया है, वही विष है। विष का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, आध्यात्मिक क्षेत्र में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की विपरीतता ही विष है। यदि इस विपरीतता को हटा दिया जाए, तो फिर कहीं भी विष नहीं है, जो है सब अमृत ही अमृत है। जैन-दर्शन की मर्यादा का ठीक अध्ययन एवं चिन्तन करने पर पता चलेगा कि आत्मा में दो प्रकार के भाव हैं-विकारी भाव और अविकारी भाव। इसी को अध्यात्म भाषा में स्वभाव और विभाव भी कहा जाता है। उदाहरण के लिए देखिए—दर्शन आत्मा का निज गुण है, उसकी दो पर्याय हैं—एक शुद्ध और दूसरी अशुद्ध। उसकी शुद्ध पर्याय को सम्यक्दर्शन कहा जाता है और उसकी अशुद्ध पर्याय को मिथ्या दर्शन कहा जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है, कि सम्यक्दर्शन और मिथ्या दर्शन दो अलग तत्व नहीं हैं। आत्मा के दर्शन गुण का अशुद्ध रूप ही मिथ्या दर्शन है और आत्मा के दर्शन गुण का शुद्ध रूप ही सम्यक् दर्शन है। दोनों मूल में एक तत्व हैं, किन्तु उसके दो रूप प्रतिभासित होते हैं—एक विकारी और दूसरा अविकारी। विकारी रूप मिथ्या दर्शन है और अविकारी रूप सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन अमृत है और मिथ्या दर्शन विष है। यही सत्य ज्ञान के सम्बन्ध में भी है। ज्ञान आत्मा का निज गुण है, किन्तु उसकी दो पर्याय हैं—सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान। सम्यक् ज्ञान का अर्थ है—सम्यक्त्व सहचरित ज्ञान और मिथ्या ज्ञान का अर्थ है—मिथ्यात्वसहचरित ज्ञान। इस प्रकार सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान भी मूल में दो भिन्न तत्व नहीं हैं, बल्कि एक ही तत्व के दो रूप हैं। जैन दर्शन का कहना है कि स्वतन्त्र रूप में दोनों अलग चीज नहीं हैं। अन्तर में सदा ही ज्ञान की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है तथा चेतना का अनन्त सागर लहराता रहता है। जब आत्मा की चैतन्य धारा में स्वयं विवेक शून्यता का विकार मिल जाता है, तब वह विकृत बन जाती है, अज्ञान हो जाती है। जब आत्मा की यही चैतन्य धारा स्व-पर विवेक का प्रकाश लेकर अपने स्वरूप की ओर उन्मुख रहती है, तब उसी धारा को सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान धारा जब आत्मभाव से अनात्म भाव की ओर उन्मुख हो जाती है, तब उसको मिथ्या ज्ञान कहा जाता है। मिथ्या ज्ञान विकारी भाव है और सम्यक् ज्ञान अविकारी भाव है। सम्यक्ज्ञान ज्ञान का विशुद्ध रूप है और मिथ्या ज्ञान ज्ञान का अशुद्ध रूप है। मिथ्या ज्ञान विष है और

सम्यक् ज्ञान अमृत है, किन्तु दोनों का मूल केन्द्र एक ही है, आत्मा का निज गुण ज्ञान। इसी प्रकार चारित्र के सम्बन्ध में भी यही कहा जाना है, कि चारित्र आत्मा का निज गुण है और उसकी दो पर्याय है—सम्यक् चारित्र और मिथ्या चारित्र। सम्यक् चारित्र चारित्र की विशुद्ध पर्याय है और मिथ्या चारित्र चारित्र की अशुद्ध पर्याय है, किन्तु दोनों का मूल गुण एक ही है—चारित्र गुण। चारित्र क्या है? आत्मा का अपना पुरुषार्थ, आत्मा का अपना पराक्रम और आत्मा की अपनी वीर्य शक्ति। आत्मा की जो अपनी क्रिया-शक्ति है, वस्तुत वही स्वरमणरूप भाव चारित्र है। भाव चारित्र का अर्थ है—स्वभाव मे रमण करना, स्वभाव मे लीन रहना और जीवन के विशुद्ध स्वरूप सागर मे गहरी डुबकी लगाना। आत्मा की क्रिया-शक्ति जब स्वरूप-रमण की ओर होती है, तब वह सम्यक् चारित्र होती है, पर जब वही आत्मा के मूल केन्द्र को छोडकर ससार की तथा ससार की वासनाओं की ओर दौडने लगती है, जब आत्मभाव के बदले वह अनात्मभाव मे लीन होती है, और जब वह आत्मा में रमण न करके ससार के बाह्य पदार्थों मे रमती है, तब उसे मिथ्या चारित्र कहा जाता है। रमण की मूल क्रिया एक ही है, परन्तु उसका स्व स्वरूप मे रमण होना सम्यक् चारित्र है, तथा उसका परस्वरूप मे राग द्वेष रूप मे रमण करने लगना मिथ्या चारित्र है। सम्यक् चारित्र अमृत है और मिथ्या चारित्र विष है।

मैं आपसे कह रहा था, कि यदि आप भारत के अध्यात्म वादी दर्शन का गम्भीरता के साथ चिन्तन एव मनन करेंगे, तो आप भली भाँति जान सकेंगे, कि जीवन मूल मे विष नही है, अमृत है। एक विचार और है। सम्भवत आपके मन मे यह प्रश्न उठता होगा, कि यह जीवन क्या वस्तु है? मेरे विचार मे जीवन और आत्मा अलग-अलग नहीं हैं। जो आत्मा है, वही जीवन है और जो जीवन है, वही आत्मा है। दोनो एक ही तत्व हैं। आत्मा के अभाव मे जीवन की सत्ता नही रह सकती और जीवन के अभाव में आत्मा की सत्ता नही रहती। अध्यात्मवादी दर्शन आत्मा को एक विशुद्ध तत्व मानता है और वह यह भी कहता है, कि यह आत्मा ही परमात्मा है और यह जीव ही परब्रह्म है। भारत का अध्यात्मवादी दर्शन एक ही सदेश देता है, कि राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध सब तुम्हारे अन्दर मे ही हैं। भारत का दर्शन दीर्घ काल तक परमतत्व की खोज करता रहा और

खोज करते-करते अन्त में उसने पाया कि मैं जिसकी खोज कर रहा था, वह मेरे ही अन्दर में है, बल्कि वह मैं स्वयं ही हूँ। इस प्रकार भारत का अध्यात्मवादी दर्शन एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र को पकड़ने का प्रयत्न करता है। उसने स्वर्ग और मुक्ति का दर्शन बाहर नहीं बल्कि अपने अन्दर में ही किया है। मुक्ति का अनन्तप्रकाश और आत्म-तत्त्व का अनन्तप्रकाश का प्रवाह अन्तर में ही प्रवाहित होता रहा है, वह कहीं बाहर में नहीं है उसे बाहर में खोजना एक भयंकर भूल है। आत्म-तत्त्व किसी समय-विशेष में और अवस्था-विशेष में बद्ध रहने वाली वस्तु नहीं है। वह सदा एक रूप है, एक रस है और वह है उसका चैतन्य भाव। जिस प्रकार स्वर्ण-पिंजर में रहने वाले पक्षी में और लोह-पिंजर में रहने वाले पक्षी में मूलतः एवं स्वरूपतः कोई भेद नहीं होता उसी प्रकार संसारी अवस्था में भी आत्मा आत्मा ही रहता है और सिद्ध-अवस्था में भी आत्मा आत्मा ही रहता है। यह उसका त्रिकाली ध्रुव स्वभाव है। यह एक ऐसा स्वभाव है—जो न कभी मिटा है, न कभी मिट सकेगा।

मनुष्य जब दीन-हीन बनकर संसार के सुख के लिए द्वार-द्वार पर भीख माँगता है और जब वह जीवन के सुख और स्वर्ग के लिए माँग करता है, तब भारतीय दर्शन कहता है, आनन्द की खोज में तू कहाँ भटक रहा है? वह सुख वह स्वर्ग और वह मुक्ति जिसकी खोज में तू बाहर भटक रहा है वह बाहर नहीं तेरे अन्दर ही है किन्तु तुझे उसका परिज्ञान नहीं है। अपनी शक्ति और अपनी सत्ता का वास्तविक परिबोध न होने के कारण ही यह संसारी आत्मा बाह्य पदार्थों से सुख प्राप्त करने की अभिलाषा करता है। यह तो वही स्थिति है जैसे किसी दरिद्र के घर के कोने में चिन्तामणि रत्न पड़ा हो जिसमें दरिद्रता को चकनाचूर करने की अपार शक्ति एवं सामर्थ्य है किन्तु उसकी शक्ति एवं सत्ता का यथार्थ परिबोध न होने के कारण ही वह दरिद्र जीवन भर दरिद्र बना रहता है। इस देह रूप घर में चिन्तामणि रत्न रूप आत्मा छुपा हुआ है, जो सुख और आनन्द का अक्षय निधि है एवं अपार महासागर है। परन्तु उसकी शक्ति और सत्ता का वास्तविक परिज्ञान न होने के कारण ही मनुष्य बाहर के तुच्छ पदार्थों में तुच्छ सुख की अभिलाषा करता है। क्षीर महासागर में रहने वाला और रात दिन किलोल करने वाला मत्स्य यदि तृषाकुल रहता है, तो यह उसका परम दुर्भाग्य ही है। जिस क्षीर सागर के

एक विन्दु मे भी भयकर से भयकर तृषा के दाह को शान्त करने का अपार सामर्थ्य है, उसमे रह कर भी अगर कोई प्यासा रहता है, तो इसमे क्षीरसागर का क्या दोष है ? वसन्त-समय आने पर, जव कि प्रकृति के कण कण मे आमोद और प्रमोद परिव्याप्त हो जाता है, और जब वनस्पति-जगत के कण-कण मे नव जीवन, नव जागरण और नव स्फूर्ति अँगडाई लेने लगती है, तथा जब प्रकृति-सुन्दरी नवकिसलय और नव पुष्पो का परिधान पहन कर हजारो हजार रूपो मे अभिव्यक्त होती है, यदि समृद्धि के उस काल मे भी करील वृक्ष पर नव-किसलय नही आते, तो इसमे वसन्त का दोष ही क्या ? अनन्त आनन्द और असीमित सुख के आधारभूत आत्म-तत्व को पाकर भी, जिसका मिथ्यात्व दूर न हो सका और जिसका अज्ञान दूर न हो सका, तथा जिसमे स्वय जागरण की वुद्धि नही है, उस मोह-मुग्ध आत्मा को कौन जगा सकता है ? मैं कह रहा था आपसे, कि आपको जो कुछ पाना है, उसे आप अपने अन्दर से ही प्राप्त कीजिए। वाहर की आशा मत कीजिए। वाहर की आशा की कभी पूर्ति नही हो सकेगी। जो कुछ वाहर का है, वह कभी स्थायी नही हो सकता। जो कुछ अपना है, वही शाश्वत होता है। तुम्हे जो कुछ चाहिए, वह अपने अन्दर से प्राप्त करो, अपने अन्तर का अनुसन्धान करो, वहाँ सब कुछ मिल सकेगा, सुख भी, आनन्द भी और शान्ति भी।

इस सम्बन्ध मे मुझे भारतीय संस्कृति का एक अत्यन्त प्राचीन उपाख्यान स्मरण मे आ रहा है, जिसमे भारत की आत्मा का यथार्थ दर्शन होता है और जिसमे भारतीय दर्शन और धर्म, वास्तविक रूप में प्रतिभासित और प्रतिविम्बित हुआ है। वह उपाख्यान इस प्रकार है कि—एक था गरीब ब्राह्मण। वह अत्यन्त दरिद्र था और उसकी धनहीनता सदा उसे व्याकुल वनाए रहती थी। धन की अभिलाषा मे उसने वह सब कुछ किया, जो कुछ उसे नही करना चाहिए था। फिर भी धन उसे अधिगत नही हो सका। धन की अभिलाषा मे वह वर्षों तक पर्वत, नदी एव जगलो मे घूमता फिरता रहा, किन्तु उसके भाग्य के द्वार नही खुले। एक दिन वृक्ष के नीचे वह हताश निराश और उदास वनकर शिला पर वैठा हुआ था, कि सहसा उसी विकट वन मे साधना करने वाले एक योगी और सिद्ध का दर्शन हुआ। उसने उस योगी एव सिद्ध पुरुष से कहा—"वहुत वर्षों की साध आज पूरी हुई है। मुझे विश्वास है, कि आप जैसे सिद्धपुरुषो के दर्शन कभी

निष्फल नहीं होते। आज मैं कृतकृत्य हो गया हूँ और आज मेरा जीवन सफल हो गया है। योगी ने दरिद्र ब्राह्मण की दुर्दशा को देख कर दयाभाव से पूछा— 'आखिर तुम चाहते क्या हो?' "मुझे केवल धन प्राप्ति का मन्त्र अन्य कुछ नहीं"—दरिद्र ब्राह्मण ने कहा। योगी ने द्रवार्द्र होकर धनाभिलाषी ब्राह्मण से कहा— 'लो यह इन्द्र का मन्त्र है। इन्द्र देवताओं का राजा है, इस मन्त्र से वह प्रसन्न हो जाएगा और फिर जो तुम मांगोगे वह तुम्हें दे देगा। किन्तु देखो इस मन्त्र का जप हिमगिरि की किसी एकान्त गुफा में जाकर करना। ब्राह्मण तत्काल हिमगिरि की ओर चल पड़ा और वहाँ पहुँचकर अपनी साधना प्रारम्भ कर दी। वर्षानुवर्ष व्यतीत हो गए। बारह वर्ष के बाद उसके समक्ष इन्द्र प्रकट हुआ और बोला— 'सौम्य, तुम्हें क्या चाहिए? किस उद्देश्य से तुमने मेरी उपासना की है? ब्राह्मण बहुत दिनों की साधना से बलहीन एवं कमजोर हो गया था इन्द्र के आने पर उसने खड़े होने की कोशिश की और बोलने का प्रयत्न किया किन्तु शरीर की अशक्ति के कारण न वह खड़ा हो सका न वह बोल सका। इन्द्र ने फिर शान्त और मधुर स्वर से पूछा— 'बोलो तुम्हें क्या चाहिए? ब्राह्मण के मन में बहुत दिनों से भूखा-प्यासा रहने के कारण, रोटी चक्कर काट रही थी। हकबका कर बोला— 'मुझे और कुछ नहीं चाहिए, बस रोटी मिल जाए। ब्राह्मण की इस बात को सुनकर इन्द्र ने मुस्कान के साथ कहा— बस इतनी सी बात के लिए मुझे बुलाया। बस रोटी के एक टुकड़े के लिए तूने मुझे याद किया। जब तेरे अन्दर इतनी शक्ति है, कि तू स्वर्ग से मुझे यहाँ बुला सकता है तो क्या तेरे अन्दर इतनी शक्ति नहीं है, कि तू अपनी भूख को मिटाने के लिए, अपनी रोटी का प्रश्न स्वयं हल कर सके?

मैं समझता हूँ आप सबको उक्त कहानी के ब्राह्मण की बुद्धि पर विस्मय हो रहा है। आप सब विचार करते हैं कि यह भी कैसा पागल व्यक्ति है, जो रोटी के टुकड़े के लिए स्वर्ग से इन्द्र को बुलाता है, परन्तु मेरे विचार में इसमें कोई विस्मय की बात नहीं है। जिन लोगों के बुद्धि के द्वार नहीं खुले हैं, वे लोग इसी प्रकार सोचा करते हैं। इससे भिन्न प्रकार से वे कुछ सोच ही नहीं सकते। और एक ब्राह्मण की क्या बात संसार के हजारों लाखों करोड़ों मनुष्यों की यही स्थिति है और यही दशा है। जिनके मन और मस्तिष्क में सदा धन का रंगीन चित्र रहता है, वे उस ब्राह्मण से अधिक अन्य कुछ

सोच भी तो नही सकते। यह एक रूपक है, एक कथानक है, इसके मर्म को समझने का प्रयत्न कीजिए। वह प्रत्येक मनुष्य उस दरिद्र ब्राह्मण के समान है, जो अपने इस देह मे रहने वाले आत्मारूपी इन्द्र से, जो अक्षय आनन्द एव अक्षय शक्ति का स्वतन्त्र स्वामी है, केवल इन्द्रिय जन्य भोगो की आकाक्षा तथा माँग करता है। इस आत्मा मे इतना ऐश्वर्य, इतनी विभूति और इतना प्रभाव है, कि इसके समक्ष एक इन्द्र तो क्या, कोटि-कोटि इन्द्र भी फीके पड जाते है। इस आत्मा को भुला कर, यदि मनुष्य इन्द्रियो के तुच्छ भोगो से ऊपर नही उठ सकता, तो यह उसके लिए एक बडी लज्जा की बात है। जो आत्मा इतना महान है और इतना विराट है, कि इन्द्र को भी स्वर्ग से नीचे उतार सकता है, क्या वह अपनी साधारण सी जीवन-समस्याओ का हल नही कर सकता ? इस मनुष्य की आत्मा मे इतनी विराट शक्ति है, कि उसके उपयोग एव प्रयोग से रोटी के दो टुकडे तो क्या, मुक्ति को भी प्राप्त किया जा सकता है। यदि हम उस अध्यात्म-शक्ति का सही-सही उपयोग करना सीख ले, तो फिर जीवन के सम्बन्ध मे स्पष्ट और स्वस्थ दृष्टिकोण रखकर, हम अपने इस वर्तमान जीवन मे ही दिव्य प्रकाश प्राप्त कर सकते है। उस परम तत्व को जानकर हम सब कुछ को जान सकते है। इस शरीर को केवल शरीर ही मत समझिए, वल्कि इसे आत्मरूप भगवान का समवसरण ही समझिए, जिसमे शक्तिरूपेण जिनमुद्रा से आत्मदेव विराजमान है। जब तक अपने ही अन्दर उस आत्मदेव एव जिन देव को पाने के लिए, प्रयास नही किया जाता, तब तक समस्या का समाधान नही हो सकता। आत्मा ही जिन है और जिन ही आत्मा है, उसे समझने का एक स्वस्थ दृष्टिकोण अवश्य चाहिए। मैं आपसे कह चुका हूँ, कि जीवन विष नही है, अमृत है, पर हम उसे अज्ञानवश विष समझकर पथ भ्रान्त हो रहे हैं। अपनी अज्ञानता एव अपनी अविद्या के कारण ही, हमने अमृत को भी विष समझ कर भयकर भूल की है। भारत के अध्यात्मवादी दर्शन का दृष्टिकोण निर्भ्रान्त है। उसका दृष्टिकोण स्पष्ट है। वह कहता है, कि आत्मा के प्रकाश मे यह जीवन विष नही, अमृत ही है। जिसने आत्मा को जान लिया, उसके लिए इस ससार मे कही पर भी विष नही है। उसके लिए सर्वत्र और सर्वदा अमृत का सागर ही लहराता रहता है। उसके जीवन के कण-कण मे अमृत व्याप्त है।

यह एक विचार का प्रश्न है, कि भगवान महावीर ने अथवा भारत के अध्यात्मवादी अन्य ऋषियों एवं मुनियों ने अध्यात्म साधक के लिए कौन-सा मार्ग खोज निकाला है, जिस पर चल कर वह अपने अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त कर सके? इसके लिए भारत के महापुरुषों ने और ऋषियों ने केवल एक ही मार्ग बतलाया है, और वह मार्ग है—भेदविज्ञान का। जिस घट में भेद-विज्ञान का दीपक प्रज्वलित हो जाता है, फिर उस घट में अज्ञान और अविद्या का अन्धकार कैसे रह सकता है? मैं पूछता हूँ—वह भेद विज्ञान क्या है? वह भेद विज्ञान है, सम्यक् दर्शन। सम्यक् दर्शन की ज्योति प्रकट होने पर ही आत्मा आत्मा को समझ सकेगा। भारतवर्ष के तत्त्व-चिन्तकों ने अपने चिन्तन और अपने अनुभव से मनुष्य को निरन्तर ही अपने स्वरूप का दर्शन कराया है। अपने स्वरूप का दर्शन करना ही वस्तुतः सम्यक् दर्शन है। महापुरुषों ने अपनी दिव्य वाणी से हम अपने अन्तर की शक्ति का परिचय करा दिया है। यदि मनुष्य को अपने स्वरूप का बोध करा दिया जाता है, तो फिर इससे बढ़ कर उसके जीवन के लिए और दूसरा कौन वरदान होगा? कुछ लोग सोचते और प्रश्न करते हैं, कि तीर्थंकर एवं अन्य महापुरुषों ने क्या किया है? किस प्रकार की साधना की है? उन्होंने शरीर से कौन-कौन सी क्रियाएँ की हैं? कौन सा आसन और प्राणायाम किया? कौन-सा ध्यान किया? कैसी तपस्या की? परन्तु वे यह नहीं समझते कि शरीर की ये स्थूल क्रियाएँ तभी सार्थक हैं, जब कि इनके अन्तर में रहने वाली ज्योति का परिबोध हो जाए। विचार-ज्योति के अभाव में यदि शरीर से काम लेने और काम करने की ही बात का महत्त्व होता तो हजारों कीड़े-मकोड़े तथा पशु-पक्षी भी अपने-अपने शरीर से तपन आदि की क्रियाएँ करते रहते हैं। परन्तु वे विवेक और आत्मिक विचार से काम नहीं लेते हैं। जिस क्रिया में विवेक की ज्योति नहीं रहती केवल शरीर का ही माध्यम रहता है, उसका अपने आप में कुछ भी महत्त्व नहीं है। अध्यात्मवादी दर्शन में जीवन के सम्बन्ध में कहा गया है—कि देह-दृष्टि और देह-क्रिया की अपेक्षा से एक मनुष्य में और पशु में कुछ भी अन्तर नहीं है। अतः आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को देखने एवं जानने के लिए, शरीर के केन्द्र से ऊपर उठने की आवश्यकता है। इसके लिए अन्तर में विवेक की ज्योति जगाना आवश्यक है। विवेक की ज्योति के अभाव में मात्र शारीरिक क्रियाओं का मूल्य

एक शून्य विन्दु से बढ़कर कुछ नहीं हो सकता। जब इन्सान के अन्दर से आत्मविज्ञान की निर्मल गंगा बहती है, तभी उसका जीवन पावन और पवित्र बनता है। मैं आपसे कह रहा था, कि मानसिक शक्ति का केन्द्र ही सबसे बड़ा केन्द्र है। बाह्य जगत की क्रियाओं का मूल मन के अन्दर रहता है। बाह्य दृश्य जगत का मूल अन्दर के अदृश्य जगत में रहता है। विचार करने पर आप इस सत्य को समझ सकेंगे, कि तीर्थंकर, गणधर और अन्य आचार्यों ने जीवन-विकास का जो पथ अध्यात्म-साधकों को बतलाया है, यही उनका महान उपकार है, जो कभी भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने हमारे जीवन के अज्ञान और अविद्या को दूर करने का उपाय बताया तथा आत्म-साक्षात्कार का मार्ग बताया, इससे अधिक सुन्दर और मधुर अन्य क्या वरदान हो सकता है? उन महापुरुषों के द्वारा की जाने वाली मानव जाति की यह बहुत बड़ी सेवा है, कि उन्होंने हमें भोग के अन्धकार से निकाल कर योग के दिव्य आलोक में लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने हमें बतलाया, कि यह जीवन जो तुम्हें उपलब्ध हो चुका है, विष नहीं है। अमृत है। अमृत समझकर ही इसकी उपासना करो। यही दिव्यदृष्टि और यही दिव्य आलोक भारत के उन महापुरुषों की अपूर्व देन है। कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति अन्धा है, वह कुछ देख नहीं पाता, इसलिए वह बड़ा हैरान और परेशान रहता है। इस स्थिति में उसके पास एक व्यक्ति आता है और कहता है, कि लो, यह धन की थैली मैं तुम्हें दान में देता हूँ, इसे पाकर तुम सुखी हो जाओगे, यह धन तुम्हारी समस्त जीवन-समस्याओं का समाधान कर सकेगा। एक दूसरा व्यक्ति आता है, और उस अन्धे से कहता है, कि लो, मैं तुम्हारी सेवा के लिए आ गया हूँ, मैं सदा तुम्हारी सेवा करता रहूँगा, जहाँ जाओगे, वहाँ, तुम्हारा हाथ पकड़ कर ले जाऊँगा। यह भी सेवा का एक प्रकार है। दूसरे व्यक्ति के पास धन तो नहीं है, किन्तु शरीर की सेवा अवश्य है। किन्तु एक तीसरा व्यक्ति आता है, जो एक वैद्य है या योगी है और वह उस अन्धे व्यक्ति को दृष्टि प्रदान कर देता है। वह अन्धा व्यक्ति दृष्टि को पाकर परम प्रसन्न होता है और वैद्य अथवा योगी के उपकार से अत्यन्त उपकृत हो जाता है। यद्यपि वैद्य ने अथवा योगी ने न उसे धन दिया, न शरीर से उसकी कोई सेवा की, किन्तु सब कुछ न करके भी उसने सब कुछ कर दिया। उस अन्धे को दृष्टि प्रदान करके उन्होंने एक ऐसी शक्ति दे दी, कि अब उसे न किसी के धन की आवश्यकता

रहती है और न किसी अन्य व्यक्ति की सेवा की ही आवश्यकता रहती है। दृष्टि के अभाव में ही धन और सेवा उसके सुख के साधन हो सकते थे किन्तु दृष्टि मिल जाने पर तो वह स्वयं ही उन्हें प्राप्त कर सकता है, फिर उसे किसी के आगे हाथ फैला कर भीख माँगने की आवश्यकता नहीं रहती। तीर्थंकर और गणधर उस दृष्टि दाता के समान ही हैं, जो मोहमुग्ध संसारी आत्माओं को सम्यक् दर्शन रूप दिव्य दृष्टि प्रदान करके उसे आत्म-निर्भर बना देते हैं।

कहा जाता है कि पीटर एक बहुत दयालु व्यक्ति था। एक बार एक दीन-हीन भिखारी जो कि पैर से लँगड़ा था पीटर के पास आया और गिड़गिड़ा कर भीख माँगने लगा। पीटर ने उस भिखारी से मधुर स्वर में कहा— "मेरे पास तुम्हें देने के लिए, सोने और चाँदी के सिक्के तो नहीं हैं पर मैं तुम्हें एक चीज अवश्य दे सकता हूँ।" और पीटर ने आगे बढ़कर उस लँगड़े भिखारी का पैर ठीक कर दिया, और कहा जाओ भाई। वह भिखारी जो लँगड़ाता-लँगड़ाता आया था अब सरपट दौड़ता चला गया। यह एक छोटी सी घटना है। इसमें वास्तविक तथ्य कितना है इसकी अपेक्षा यह समझने का प्रयत्न कीजिए, कि इसका मर्म क्या है? पीटर ने उस दीन भिखारी को जो कुछ दिया उससे अधिक दान और सेवा क्या हो सकती थी? यह एक सत्य है, कि सोना और चाँदी देने की अपेक्षा यदि किसी व्यक्ति को स्वयं उसके पैरों पर खड़े होने की कला सिखा दी जाए, तो वह उसकी सबसे बड़ी सेवा होगी। अध्यात्मवादी भारत के दर्शन और चिन्तन ने भले ही संसार को धन और ऐश्वर्य न दिया हो परन्तु उसने लँगड़ों को पैर और अन्धों को आँख अवश्य दी है, तथा जो भोगवादी व्यक्ति अपने स्वरूप को भूल गए थे उन्हें उनके स्वरूप का बोध अवश्य कराया है। साधक की प्रसुप्त शक्ति को जागृत करने का दिव्य संदेश उसने अवश्य दिया है।

साधक के जीवन की एक सबसे बड़ी भूल यह है, कि वह अपना विश्वास स्वयं अपने पुरुषार्थ पर न करके किसी बाहरी शक्ति के अवलम्बन की आशा रखता है। वह इस तथ्य को भूल जाता है, कि जो कुछ पाता है अपने अन्दर से ही पाता है। आत्मा जैसा भी शुभ या अशुभ कर्म करता है वैसा ही उसका जीवन परिवर्तित होता जाता है। आत्मा की एक सबसे बड़ी भूल यह है, कि वह शुद्ध का दर्शन न करके अशुद्ध की ओर अधिक झुकता है। जितना ध्यान बोध

देखने की ओर होता है, उतना गुण देखने का नही होता। जब तक अशुद्ध से पराङ्मुख-होकर शुद्ध को देखने की प्रवृत्ति उत्पन्न नही होगी, तब तक जीवन के शुद्ध तत्व को कैसे प्राप्त किया जा सकेगा ? साधक के जीवन का लक्ष्य अशुभ से हटकर केवल शुभ को प्राप्त करके बैठ जाना नही है, किन्तु उससे भी आगे बढकर शुद्ध को प्राप्त करना है। परन्तु जब तक शुद्ध भाव की उपलब्धि न हो, तब तक शुभ को पकडे रखना भी आवश्यक है। अशुभ की निवृत्ति के लिए ही शुभ का अवलम्बन है। अस्तु, जीवन की प्रत्येक क्रिया मे शुभत्व का दर्शन करना चाहिए। हम अपने नेत्रो से शुभ को देखें, हम अपने कानो से शुभ को सुनें, हम अपनी वाणी से शुभ को बोलें और हम अपने मन मे शुभ का ही चिन्तन करें। हमे शुभत्व के दर्शन का इतना अभ्यास कर लेना चाहिए, कि बाहर मे जो सबके लिए अशुभत्व हो, उसमे भी हमे शुभत्व का ही दर्शन हो। यदि अशुभ देखने की ही हमारी आदत बनी रही तो यह निश्चित है, कि हमारे जीवन का विकास नही हो सकेगा। साधक-जीवन की यह कितनी भयकर विडम्बना है, कि वह सर्वत्र अशुभ ही अशुभ देखता है। जब मन में अशुभत्व होता है, तो बाहर भी सर्वत्र अशुभत्व ही दृष्टि-गोचर होता है। यहाँ तक कि जहाँ प्रेम, सेवा और सद्भावना का दीप जलता रहता है, वहाँ भी उसे, अशुभ एव अन्धकार ही नजर आता है। इसका कारण यह है, कि हमारी दृष्टि अशुभ देखने की बन जाती है। इसी से जीवन की जाज्वल्यमान ज्योति वहाँ भी नजर नही आती। जब हम किसी विचारक व्यक्ति-विशेष की अथवा किसी पथ-विशेष की ओर देखते हैं, तब हमे उसमे दोष ही दोष नजर आते हैं, कही पर भी गुण नजर नही आता। जिन लोगो की दृष्टि दोषमय बन जाती है, उन लोगो के लिए यह सारी सृष्टि ही दोषमय बन जाती है। गुलाब का फूल कितना सुन्दर होता है, उसमे कितनी अच्छी महक आती है और देखने मे वह कितना लुभावना लगता है, किन्तु जिस व्यक्ति की दृष्टि दोष देखने की हो जाती है, वह इस सुन्दर और सुरभित कुसुम मे भी दोष ही देखता है। वह देखता है, कि गुलाब का फूल नुकीले काँटो की डाली पर बैठा है, उसके इधर-उधर उसे काँटे ही काँटे नजर आते हैं। परन्तु वह यह नही सोचता कि यदि गुलाब की डाल काँटो से भरी है, तो उसमे सुगन्ध से भरपूर फूल भी खिला है। हमारी-दृष्टि फूलों पर नहीं, बल्कि काँटो

पर रहती है। जीवन में यदि हमारी दृष्टि इस प्रकार की बन जाती है, तो फिर जीवन क्षेत्र मे हम कही भी चले जाएँ, या विश्व के किसी भी किनारे पर क्यो न चले जाएँ, हमें सर्वत्र अशुभ ही दृष्टि गोचर होगा।

इस सम्बन्ध मे मुझे एक रूपक याद आ रहा है, जो काल्पनिक होकर भी सत्य का उद्घाटन करता है। एक बार एक कौआ बड़ी तेजी के साथ नील आकाश मे उड़ा चला जा रहा था। एक कोयल ने जो आम के वृक्ष की सबसे ऊँची डाली पर बैठी हुई थी इस दृश्य को देखा और कौवे से पूछा— आज आप इतनी तेजी के साथ कहाँ जा रहे हो? कौवे ने उपालम्भ के स्वर मे कहा— 'तुम्हें क्या बतलाऊँ कहाँ जा रहा हूँ? जिसके दिल में दर्द होता है, वही उसकी पीड़ा को अनुभव कर सकता है। तुम मेरे दिल के दर्द को और मेरी पीड़ा को कैसे अनुभव कर सकती हो। कोयल ने सान्त्वना के स्वर मे पूछा— 'आखिर बात क्या है? आपके दिल का दर्द कैसा है, जरा मैं भी तो सुनू। यह ठीक है जब तक किसी के दिल के दर्द का किसी को पता न हो तब तक उसकी पीड़ा का वह अनुभव नहीं कर सकता। मैं यह जानना चाहती हूँ कि आपके दिल का दर्द क्या है और कैसा है?" कौवे ने कहा—"देखिए, मुझे खाने-पीने की चीज की कमी नहीं है, किन्तु जीवन मे खाना-पीना ही तो सब कुछ नहीं है। खाने-पीने से भी बड़ी एक चीज है, जिसकी प्रत्येक प्राणी को आवश्यकता रहती है और वह है, उसका आदर और सत्कार। मैं जहाँ रहता हूँ वहाँ मेरा कोई आदर सत्कार नहीं करता है। इसलिए मैं इस देश को छोड़कर दूर के किसी देश मे जा रहा हूँ जहाँ आदर और सत्कार मिले। आज मेरे धैर्य का बाँध टूट गया है। मैं इस देश मे जहाँ भी जाता हूँ वहाँ सर्वत्र कदम-कदम पर मुझे तिरस्कार और पत्थर ही मिलते हैं। आदर और सत्कार की कोई वस्तु मेरे जीवन मे नहीं है। इस देश का एक भी प्राणी मुझसे प्रेम नहीं करता। यही मेरे दिल का दर्द है। और इसी दिल के दर्द को दूर करने के लिए, मैं इस देश को छोड़कर किसी दूर देश मे जा रहा हूँ। भले ही वहाँ खाने-पीने को कम मिले किन्तु आदर सत्कार तो अवश्य ही मिलेगा। कोयल ने कौवे की सब बातों को बड़ी सहानुभूति के साथ सुना और बहुत ही संयत एवं शान्त स्वर में बोली—"यदि आप बुरा न मानें तो एक सत्य कह दू?" कौवे ने

कहा—"हाँ, अवश्य कहो, मैं तुम्हारी बात को धैर्य के साथ सुनूँगा।" कोयल ने अपने को सम्भालते हुए कहा—"आप इस देश को छोड़ कर किसी दूर विदेश मे जा रहे हैं, किन्तु जरा अपनी बोली बदल कर जाना।" कौवे ने कहा—"क्या मतलब है तुम्हारा ? क्या बोली बदलना मेरे हाथ की बात है।" कोयल ने व्यग के स्वर मे कहा—"यदि बोली बदलना तुम्हारे हाथ की बात नही है, तो विदेश मे जाकर सत्कार पाना भी तुम्हारे हाथ की बात नही है।" कोयल ने अपनी बात को आगे बढाते हुए कहा—"यदि सुदूर विदेश मे जाकर भी तुम्हारी यही कटु-कठोर वाणी रही, तुम्हारा यही कुवचन रहा तथा बोलने का यही ढग रहा, तो वहाँ पर ही तुम्हे तिरस्कार ही मिलेगा। जो व्यक्ति बाहर भी काला हो और अन्दर भी काला हो, उसे कही पर भी सुख चैन नही मिल सकता। बाहर का कालापन तो प्रकृतिदत्त है, किन्तु अपनी बोली को तो बदलो और अपने अन्दर के कालेपन को तो उज्ज्वल बना लो, फिर तुम्हे विदेश जाने की आवश्यकता ही नही रहेगी, इसी देश मे तुम्हारा आदर और सत्कार होने लगेगा। देखते हो मुझे, मैं भी तो बाहर मे तुम्हारे समान ही काली हूँ। किन्तु मेरा स्वर मधुर है, इसी आधार पर लोग मेरा सत्कार करते हैं।" कोयल की बात कौवे के गले नही उतरी, और वह उड़ता ही चला गया। परन्तु निश्चय ही जीवन का एक यह बहुत बडा सिद्धान्त है कि जीवन मे जब तक मन और दृष्टि नही बदलती, अशुभ दर्शन की वृत्ति नही बदलती, तब तक इस प्रकार के कौवो का कही पर भी आदर और सत्कार नही हो सकता। बाहर का रूप तो प्रारब्ध की वस्तु है, उसे बदला नही जा सकता, किन्तु अन्दर के रूप को बदलना तो इन्सान के अपने हाथ की बात है। बाहर की गरीबी और बाहर की अमीरी, बाहर की झोपडी और बाहर के रगीन महल प्रारब्ध से मिले हैं। सम्भवत: यह बदले भी जा सकते हो और नही भी बदले जा सकते हो, परन्तु अन्दर का मन तो बदलना ही पडेगा। कौवे को अपनी बोली का स्वर बदलना ही होगा। परन्तु सबसे बडी समस्या तो यह है कि जब तक विचार मे शुभ-दर्शन नही आता, तब तक कुछ नही हो सकता है। जो व्यक्ति अपने मन मे अशुभ सकल्प रखता है, उसकी वाणी मे और उसके आचरण मे शुभ कैसे आ सकेगा ? जो व्यक्ति अपने आपको अपने मन मे पापात्मा समझता है, और अपने पापिष्ठ होने का विश्वास करता है, उसका उद्धार कैसे

हो सकता है और कौन कर सकता है ? जो व्यक्ति बाहर में तथा अन्दर में सर्वत्र अशुभ का ही दर्शन करते हैं, उन्हें सम्यक् दर्शन की दिव्य ज्योति की उपलब्धि कभी नहीं हो सकती। भारत का अध्यात्मवादी दर्शन कहता है, कि जब अन्तर का दर्शन करो तब अन्तर में रावण का दर्शन मत करो राम का करो। यदि अन्दर मन में झाँक कर देखने मे परमात्मा की ज्योति जगमगाती नजर आए, तो समझना कि सम्यक् दर्शन मिल गया है और मुक्ति का द्वार खुल गया है। इसके विपरीत यदि अन्दर मे भी तुम विलाप ही करते हो दुःख और क्लेश के काले कजरारे बादल ही तुम्हारे हृदयाकाश मे उमड़ घुमड़ कर छा रहे हों और वहाँ अहंकार की घोर गर्जना हो रही हो तथा वासना की बिजली चमक रही हो तो समझ लेना तुम्हारा उद्धार नहीं हो सकेगा। विश्वास रखिए, और ध्यान मे रखिए कि अविश्वासी क्रूर आत्मा को कभी सम्यक् दर्शन की दिव्य ज्योति मिल नहीं सकती। अतः अन्दर में शुभ दर्शन का अभ्यास करो और जब शुभ से शुद्ध की परिणति हो जाएगी तब तुम्हें अपने घट के अन्दर ही परमात्म ज्योति का साक्षात्कार हो जाएगा। सम्यक् दर्शन आत्मा मे स्वरूप की ज्योति का दर्शन कराता है तथा आत्मा को जागृत करके अन्धकार से प्रकाश में लाता है। निश्चय ही यदि जीवन में सम्यक् दर्शन की ज्योति जग गई तो फिर कभी न कभी यह आत्मा परमात्मा बन सकता है, यह जीव ब्रह्म बन सकता है। जैसे अपने से भिन्न किसी दूसरी आत्मा को नीचे समझना पाप है, उसी प्रकार अपनी स्वयं की आत्मा को भी नीच समझना पाप है, अतएव साधक को चाहिए कि वह न कभी दूसरे के अन्दर रावण को देखे और न अपने स्वयं के अन्दर ही रावण का दर्शन करे। अपने मे और दूसरो में सदा सर्वदा राम के ही दर्शन करना चाहिए। यही सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन में अपने अन्दर और बाहर मे सर्वत्र विराट चैतन्य शक्ति का ही महा सागर लहराता दृष्टिगोचर होता है, यही हमारी साधना का एक मात्र ध्येय है।

भारत का अध्यात्मवादी दर्शन एक महत्त्वपूर्ण बात कहता है, कि भगवान् कहीं अन्यत्र नहीं है। हर चैतन्य भगवान का रूप है। अतः अपने अन्दर एवं दूसरो के अन्दर भगवान का दर्शन करो और इसका ध्यान रखो कि इस देह के अन्दर रहने वाले भगवान का कहीं अनादर न हो जाए। शरीर एक मन्दिर है, जिसके अन्दर आत्मरूप से

परमात्मा का ही निवास है, अत किसी भी प्रकार से आत्मा का अपमान नही होना चाहिए। आत्मा का अपमान, चेतन का अपमान है और चेतन का अपमान स्वय परमात्मा का अपमान है। भारत की मूल संस्कृति मे जड की पूजा का नही, चेतन की पूजा का अधिक महत्व है, साकार की पूजा का नही, निराकार की पूजा का अधिक महत्व है। जो संस्कृति यह मानकर चलती है, कि घट-घट मे मेरा सांई रहता है, कोई भी सेज सांई से शून्य नही है, उससे बढकर दूसरी और कौन ऊँची संस्कृति है। इस सम्बन्ध मे दक्षिण भारत के प्रसिद्ध सत नामदेव के जीवन की एक घटना का स्मरण आ रहा है। नामदेव भारत का वह एक भक्त है, जिसकी गणना भारत के प्रसिद्ध सन्तो मे की जाती है। नामदेव यद्यपि बहुत पढे लिखे न थे। जिसे आज की भाषा मे शिक्षा कहा जाता है, वह किताबी शिक्षा नामदेव के पास नही थी, परन्तु जो तत्वज्ञान सम्भवत उस युग के बडे-बडे विद्वानो में नही था, वह ज्ञान नामदेव के पास था। वेद, उपनिषद् और गीता सम्भवत नामदेव ने न पढी हो, किन्तु उनका समस्त ज्ञान नामदेव के जीवन में रम चुका था। नामदेव मे सम्भवत वेदान्त का ज्वार नहीं था, किन्तु नामदेव के जीवन मे आत्मा का ज्वार और आत्मा की आवाज की बुलन्दी इतनी जोरदार थी, कि वह उनके समकालीन किसी अन्य वैष्णव विद्वान मे नही थी। भक्ति-शास्त्र के अनुसार भक्त वह कहलाता है, जो सदा प्रभु की भक्ति मे लीन रहता हो, इतना ही नही, सृष्टि के प्रत्येक चेतन मे प्रभु का ही रूप देखता हो। भक्त को सत्य का दर्शन इस प्रकार होना चाहिए, जैसा कि नामदेव का था। नामदेव वास्तविक अर्थ मे प्रभु के भक्त थे।

नामदेव के जीवन की वह घटना, जिसने मुझे बहुत प्रभावित किया है, इस प्रकार है—एक बार नामदेव को कही से भोजन की सामग्री मिली, यद्यपि यह भोजन की सामग्री उन्हें बहुत दिनो के बाद उपलब्ध हुई थी। भूख अधिक थी और भोजन-सामग्री अल्प थी, परन्तु फिर भी नामदेव को उसी मे सन्तोष था। सन्तोष से बढ कर इस ससार में अन्य कोई धर्म नही हो सकता, और यह सन्तोष नामदेव के जीवन के कण-कण मे रम चुका था। उस उपलब्ध भोजन सामग्री से नामदेव ने दो-चार रोटियाँ बना ली। रोटियाँ बनाने के बाद नामदेव ने सोचा, जिस सज्जन ने मुझे इस भोजन की सामग्री दी है, उसने कुछ थोडा सा घी भी मुझे दिया है, उसका उपयोग भी मुझे कर लेना

चाहिए। इधर नामदेव के मन में एक दूसरा पवित्र विचार भी चक्कर काट रहा था कि इस शुभ वेला में कोई भी अतिथि आए तो क्या ही अच्छा हो! मैं पहले उसे भोजन करा कर फिर स्वयं भोजन करूँ। भोजन के समय किसी अतिथि का स्मरण करना भारतीय संस्कृति की अपनी एक विशेषता है। और यह विशेषता ऊँची भूमिका के सन्तो मे भी है, मध्यम भूमिका के नागरिको मे भी है तथा नीची भूमिका के किसानो मे भी है। अतिथि-सत्कार भारतीय जीवन के कण-कण मे परिव्याप्त है। जैन-संस्कृति मे इस अतिथि-सत्कार का एक विशिष्ट रूप है, जिसे अतिथि संविभाग व्रत कहा गया है। अतिथि-संविभाग का अर्थ है—भोजन की वेला मे जो कुछ, जैसा भी और जितना भी मुझे प्राप्त हुआ है उसमे सन्तोष कर लेना ही पर्याप्त नही है, बल्कि भोजन से पूर्व अपने मन मे यह भावना करे, कि मेरे जीवन का वह क्षण कितना धन्य हो जब कि भोजन के समय कोई अतिथि मेरे यहाँ उपस्थित हो और इस प्राप्त भोजन मे से मैं उसका संविभाग उसे अर्पित करूँ। संविभाग अर्थात् सम-विभाग का अर्थ किसी को भीख देना नहीं है, बल्कि आदर के साथ उचित रूप मे और उचित मात्रा मे अर्पित करना है। नामदेव के जीवन में जिसकी चर्चा मैं आपसे यहाँ कर रहा हूँ, यही संस्कृति काम कर रही थी। नामदेव ज्यो ही अपनी झोपड़ी के अन्दर रखे हुए घी को लेने गया त्यो ही बाहर से एक कुत्ता अन्दर आया और वह सबकी सब रोटियाँ लेकर भागा। नामदेव ने इस प्रकार कुत्ते को रोटी ले जाते हुए देखा परन्तु अजब-गजब की बात है, कि इस दृश्य को देख कर भी नामदेव को जरा भी क्रोध नहीं आया और न किसी प्रकार का दुःख ही हुआ। यद्यपि वे बहुत दिनो से भूखे थे और स्वयं उन्हें ही रोटियो की अत्यन्त आवश्यकता थी, किन्तु उन्होंने अपने मन में यह रंच भी नहीं सोचा कि यह कुत्ता कुत्ता नहीं है, यह कुत्ता भी भगवान का ही एक रूप है। नामदेव की दृष्टि मे वह कुत्ता नहीं था उनकी दृष्टि मे हर आत्मा परमात्मा का ही रूप था। वे उस घी के पात्र को हाथ मे लेकर कुत्ते के पीछे-पीछे दौड़े। कुत्ता आगे-आगे भागा जा रहा था और पीछे-पीछे नामदेव दौड़े चले जा रहे थे। नामदेव बहुत ही शान्त और मधुर स्वर मे उस कुत्ते को सम्बोधित करके कह रहे थे "अरे भाई! रोटी ले जा रहे हो तो ले जाओ इसकी मुझे जरा भी चिन्ता नहीं है। परन्तु रोटियाँ रूखी हैं, इन पर जरा घी तो लगवा

लो।" इस दृश्य को देख कर दूसरे लोग हँस रहे थे और नामदेव का मजाक कर रहे थे।

किसी अन्य की भक्ति का मजाक करना आसान है, किन्तु स्वय भक्ति करना आसान नही है। भक्ति वही कर सकता है, जिसने अपना जीवन प्रभु को समर्पित कर दिया हो। लोग कहते हैं, चन्दना ने भगवान को दान तो दिया, किन्तु वह दान क्या था, उवले हुए उडद। भगवान महावीर को चन्दना ने उवले हुए उडदो का दान किया, तो क्या यह कोई वहुत वडा दान था? फिर भी हम सुनते हैं, कि चन्दना के इस दान के महात्म्य से प्रभावित होकर, चन्दना के घर पर स्वर्ग के देवो ने, स्वर्ण की वृष्टि की। कहाँ स्वर्ण की वृष्टि और कहाँ तुच्छ उवले हुए उडदो का दान? परन्तु मैं आपसे यह कहता हूँ कि चन्दना ने भगवान महावीर को क्या दिया, यह मत देखो। देखना यह है, कि किस भाव से दिया। दान मे वस्तु का मूल्य नही होता, भाव का ही मूल्य होता है। चन्दना की सी भावना हर किसी दाता मे कहाँ होती है? चन्दना की भावना का वेग उस समय अपने आराध्य देव के प्रति इतना प्रवल था, कि यदि उस समय उसके पास त्रिभुवन का विशाल साम्राज्य होता, तो उसे भी वह उसी भाव मे अर्पित कर देती, जिस भावना से उसने उडदो का दान किया। आज के तर्कशील लोग चन्दना के दान का उपहास करते हैं, उपहास करना सरल है, किन्तु जरा वह अपने हृदय को टटोल कर तो देखें, क्या उनके हृदय मे वह भावना है, जो अपने आराध्य देव के प्रति चन्दना मे थी। आराधक जव अपने आराध्य के चिन्तन मे तन्मय हो जाता है, तव उसे यह भी पता नही रहता कि मैं अपने आराध्य को क्या कुछ दे रहा हूँ। भक्त के हृदय मे भक्ति का एक वह जादू होता है, जिसके प्रभाव से विश्व की तुच्छ से तुच्छ एव नगण्य से नगण्य वस्तु भी महान और विराट वन जाती है। माधुर्य किसी वस्तु मे नही होता, वल्कि मनुष्य की भावना मे ही वह रहता है। अपने घर पर आने वाले किसी अतिथि को आप मधुर से मधुर भोजन कराएँ और साथ मे उसका तिरस्कार भी करते रहे, तो वह मधुर भोजन भी विप वन जाता है। इसके विपरीत यदि आप किसी को रूखा-सूखा भोजन परोसते हैं किन्तु आदर के साथ एव प्रेम के साथ देते हैं, तो वह भोजन भी सरस एव मधुर प्रतीत होता है। राम को भीलनी के जूठे वेर खाने मे जो आनन्द आया, वह अयोध्या के राज महलो के मोहनभोग मे नहीं

आया। श्रीकृष्ण को जो आनन्द जो स्वाद और जो माधुर्य विदुर के घर केले के छिलके खाने मे आया वह दुर्योधन के छत्तीस प्रकार के राजभोग मे नही आया। मैं आपसे कह रहा था कि माधुर्य किसी वस्तु मे नही रहता वह मनुष्य के मन की भावना मे रहता है। यही कारण है, कि चन्दना के उबले हुए उड़दो मे जो शक्ति एवं जो प्रभाव था वह किसी राजा-महाराजा के खीर-खाँड के भोजन मे भी नही था।

मैं आपसे नामदेव की बात कह रहा था। नामदेव की भक्ति को देख कर, देखने वाले लोग उसका उपहास कर रहे थे और कह रहे थे कि यह कैसा पागल है? एक तो कुत्ता रोटी लेकर भागा और दूसरी ओर यह घी का पात्र लेकर उसके पीछे दौड़ रहा है। किन्तु लोग नामदेव के मन की बात को क्या जाने? नामदेव कुत्ते को कुत्ता नही समझ रहा था वह तो उसे भगवान ही समझ रहा था। कुत्ते को भगवान समझना कुछ अटपटा सा अवश्य लगता है, किन्तु अन्दर गहराई मे पैठकर देखा जाए, तो वस्तुतः विश्व की हर आत्मा परमात्मा ही है। नामदेव इसी भावना को लेकर कुत्ते के पीछे दौड़ रहा था। जो तत्व-ज्ञान नामदेव के पास था वह उसका मजाक उड़ाने वाले अन्य वेदान्तियो के पास नही था? वेदान्त का अध्ययन कर लेना अलग वस्तु है और वेदान्त की भावना को अपने जीवन के धरातल पर प्रयुक्त करना अलग बात है। आत्मा-परमात्मा की चर्चा करना आसान है, किन्तु हर आत्मा को परमात्मा समझना आसान नही है। जिस व्यक्ति के जीवन मे तत्वज्ञान साकार हो जाता है, वह व्यक्ति ही वैसा कर सकता है, जैसा कि नामदेव ने किया जैसा कि चन्दन बाला ने किया जैसा कि विदुर ने किया और जैसा कि एक भीलनी ने किया। तत्व-ज्ञान यदि आचार का रूप नही लेता तो वह व्यर्थ है और बुद्धि का केवल एक बोझ ही है।

मैं आपसे यह चर्चा कर रहा था कि एक साधक के जीवन मे अमृत क्या है और विष क्या है? संसार का एक साधारण व्यक्ति जिस को अमृत समझता है, ज्ञानी की दृष्टि मे वह विष क्यो है? इसके विपरीत एक तत्व-दर्शी व्यक्ति की दृष्टि मे जो विष है वह एक संसारी आत्मा की दृष्टि मे अमृत क्यो है? यह सब दृष्टि का खेल है। संसारी आत्मा भोगो मे आसक्त होने के कारण भोगो को ही अमृत समझता है, परन्तु विवेक-दृष्टि की उपलब्धि हो जाने पर वही व्यक्ति

उन्हे विप समझने लगता है। आखिर, वह विवेक-दृष्टि क्या है ? वह विवेक-दृष्टि अन्य कुछ नही, सम्यक् दर्शन ही है, जिसके प्रभाव से विरक्त आत्मा को ससारी भोग विप-तुल्य प्रतीत होने लगते है। मैं आपसे कह रहा था, कि भारत का अध्यात्मवादी चिन्तन और भारत का अनुभवमूलक वैराग्य प्रत्येक जीवन को अमृत ही समझता है और अमृत रूप मे ही देखता है। वह अपने अन्दर तो अनन्त ज्योतिपुंज एव अनन्त शक्तिमान परमात्मा के दर्शन करता ही है, किन्तु दूसरो के जीवन मे भी वह उसी विराट और विशाल सत्ता का दर्शन करता है। भारत का अध्यात्मवादी साधक किसी को कष्ट या पीडा देने मे स्वय ही कष्ट और पीडा का अनुभव करता है। इसका अर्थ इतना ही है, कि अहिसा रूप परब्रह्म सभी मे परिव्याप्त है। इसी आधार पर एक का सुख, सबका सुख है और एक का दु ख, सबका दु ख है। अध्यात्म-साधना के क्षेत्र की यह भावना इतनी उज्ज्वल एव उदात्त है, कि नीची भूमिका के लोग इसका अनुभव नही कर सकते। आप किसी को भी दान दीजिए, आप किसी की भी सेवा कीजिए, किन्तु उसे दीन-हीन समझकर नही, वल्कि यह समझकर कीजिए कि यह भी मेरे जैसा एक चेतन है। भारतीय सस्कृति इससे भी ऊँचे आदर्श मे विश्वास रखती है। वह कहती है कि—सेवा करते समय यह भाव रहना चाहिए, कि हम किसी तुच्छ व्यक्ति की नही, अपितु एक प्रभु की सेवा कर रहे हैं। यदि दान देने मे माधुर्य नही है, यदि सेवा करने मे माधुर्य नही है, तो वह दान और सेवा अमृत होकर भी विष ही है।

भारत का अध्यात्मवादी दर्शन कहता है, कि जो भी कुछ करो, माधुर्य के साथ करो, भावना के साथ करो। दान करो, तो भाव-पूर्वक करो। शील का पालन करो। तो भावपूर्वक पालन करो। तप करो, तो भावपूर्वक करो। भावना के अभाव मे दान, शील और तप अमृत होकर भी विप हैं। भारत की अध्यात्म-साधना विप की साधना नही, अमृत की साधना है। भारत का अध्यात्मवादी चिन्तन स्पष्ट रूप से यह कहता है, कि सब मे शुभ का ही दर्शन करो, किसी मे अशुभ का दर्शन मत करो। अशुभ का दर्शन विष है और शुभ का दर्शन अमृत है। यदि किसी की आलोचना करनी हो, तो स्नेह और सद्भाव के साथ उसकी आत्मा को जगाने के लिए आलोचना करो, उसकी आत्मा को और अधिक गिराने के लिए नही। आपकी आलोचना और टीका, फूल के समान सुरभित हो, काँटे के समान तीखी और नुकीली नही। किसी भी व्यक्ति

भी किसी भी जाति की और किसी भी पथ की आलोचना उसे गिराने के लिए मत करो क्योंकि किसी को गिराना विष है, अमृत नहीं। आपकी आलोचना का उद्देश्य यह होना चाहिए, कि व्यक्ति अन्धकार से प्रकाश में आए। आलोचना करो चाहे टीका करो किन्तु एक बात को सदा ध्यान में रखो कि हर आत्मा वही चाहता है, जो तुम अपने लिए पसन्द करते हो। यदि तुम्हें किसी की कटु आलोचना पसन्द नहीं है, तो दूसरे को भी तुम्हारी कटु आलोचना पसन्द कैसे हो सकती है? प्रत्येक आत्मा की शुभता एवं शुद्धता को देखो उसकी अशुभता एवं अशुद्धता की ओर मत देखो और यदि देखना ही हो तो हित-दृष्टि से देखो एवं विवेक-दृष्टि से देखो। क्योंकि विवेक ही अमृत है, विवेक ही सम्यक् दर्शन है। इस सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो जाने पर सब कुछ अमृत हो जाता है। विष रहता ही नहीं।

१६

जैन-दर्शन का मूल : सम्यक् दर्शन

सम्यक् दर्शन की व्याख्या और सम्यक् दर्शन की परिभाषा कर सकना, सरल नही है। वस्तुत सम्यक् दर्शन शब्द-स्पर्शी व्याख्या एव परिभाषा का विषय नही है, यह तो मात्र अनुभूति का विषय है। अध्यात्मवादी दर्शन जीवन के दो आधार मानकर चलता है—चिन्तन के साथ अनुभव और अनुभव के साथ चिन्तन। प्रश्न है, कि चिन्तन किसका किया जाए और अनुभव किसका किया जाए ? मेरे विचार मे भारतीय दर्शन का और विशेषत अध्यात्मवादी दर्शन का एक ही लक्ष्य है और वह यही है, कि चिन्तन भी आत्मा का करो और अनुभव भी आत्मा का ही करो। आत्मा के अतिरिक्त जो भी कुछ है, उसका चिन्तन करने की आवश्यकता नही है और उसका अनुभव करने की भी आवश्यकता नहीं है। क्योकि आत्मा से अतिरिक्त जो भी कुछ है, वह अपना नही है और जो कुछ अपना नही है, उसका चिन्तन करने से क्या लाभ, और उसका अनुभव करने से भी क्या लाभ ? इसलिए अपने से

अपने आपको ही जानने का प्रयत्न करो यही सम्यक् दर्शन की साधना और यही सम्यक् दर्शन की आराधना है। सम्यक् दर्शन की उपलब्धि से पूर्व आत्मा को किस-किस परिस्थिति में से गुज़रना पड़ता है और किस प्रकार अन्त में उसे सत्य की झाँकी मिलती है यह शास्त्र का एक गम्भीर विषय है। यह एक ऐसा विषय है जो आसानी से समझ में नहीं आता पर सच्चे हृदय से प्रयास किया जाए तो बहुत कुछ समझ में आ सकता है।

अनादि कालीन मिथ्या दृष्टि आत्मा को भव का भ्रमण करते करते और संसार के सन्ताप को सहते-सहते कभी ऐसा अवसर भी प्राप्त हो जाता है जब कि उसके मोह का अगाढ आवरण कुछ मन्द और क्षीण होने लगता है। शास्त्र में कहा गया है कि अकाम निर्जरा करते-करते कभी ऐसा अवसर आता है कि कर्मों की दीर्घ स्थिति भी ह्रस्व हो जाती है। मोह कर्म की उत्कृष्ट स्थिति शास्त्रकारों ने सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की बतलायी है। ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की बतलायी है। नाम कर्म की और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की बतलायी है। आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की बतलायी है। इन सभी कर्मों में से आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति घट कर, जब एक कोटाकोटि सागरोपम से भी किंचित् न्यून रह जाती है तब आत्मा की वीर्य शक्ति में कुछ सहज उल्लास उत्पन्न होता है। इस उल्लास को अथवा आत्मा के इस विशिष्ट परिणाम को एक भाव की शास्त्रीय भाषा में यथा प्रवृत्तिकरण कहते हैं। यद्यपि इस स्थिति में आत्मा को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि नहीं होती है सम्यक् दर्शन अभी बहुत दूर की वस्तु है। इस स्थिति में आत्मा केवल अन्धकार से पराङ्मुख होकर प्रकाश की ओर उन्मुख ही हो पाता है। यथाप्रवृत्तिकरण की मूल भावना को सरलता के साथ हृदयंगम करने के लिए, कर्म-साहित्य में एक सुन्दर रूपक दिया है।

कल्पना कीजिए एक नदी है जो पर्वतीय प्रदेश से बहती बहती समतल भूमि की ओर आती है। आप जानते हैं जिस समय जल का वेग तेजी के साथ पहाड़ की ऊँचाई से समतल भूमि की नीचाई की ओर आता है तब उस समय क्या होता है? नदी के उस वेग में जो भी कोई शिला शिला-खण्ड और पाषाण आ जाता है तो आपस में टकराते-टकराते और घिसते घिसते वह गोल और

चिकना बन जाता है। यद्यपि एक विशाल पाषाण खण्ड का यह छोटा सा गोल और चिकना रूप एक दिन में बनकर तैयार नहीं होता। उसे इस स्थिति में पहुँचते-पहुँचते वर्षानुवर्ष व्यतीत हो जाते हैं। तब कहीं जाकर वह एक अनगढ़ पत्थर सालिग्राम बन कर पूजा का पात्र बनता है। यह एक रूपक है। सत्य के मर्म को समझने के लिए यह एक दृष्टान्त है। जो स्थिति पर्वत के इस पाषाण की होती है, वही स्थिति आत्मा की भी होती है। यह आत्मा भी भव का भ्रमण करते-करते, संसार का संताप सहते-सहते और संकट की विकट घाटी में से चलते-चलते इस स्थिति में पहुँच जाता है कि उसका तीव्रतम राग और उसका तीव्रतम द्वेष कुछ मन्द होने लगता है। कषाय की इस मन्द अवस्था का नाम ही, यथाप्रवृत्तिकरण कहा जाता है। यथाप्रवृत्तिकरण में जो 'करण' शब्द है उसका अर्थ शास्त्रकारों ने जीव का परिणाम किया है। यथाप्रवृत्तिकरण के दो भेद हैं—एक साधारण और दूसरा विशिष्ट। साधारण एवं सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण वाला जीव विशुद्धि के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो पाता है क्योंकि यह सामान्य अथवा साधारण यथाप्रवृत्तिकरण इतना दुर्बल होता है, कि वह राग-द्वेष की तीव्रग्रन्थि का भेदन नहीं कर पाता। उक्त सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण अभव्य जीवों को भी अनन्त बार हो चुका है। दूसरा यथाप्रवृत्तिकरण है—विशेष या विशिष्ट। इसमें इतनी क्षमता और शक्ति होती है, कि जिस आत्मा में यह परिणाम आ जाता है, वह अन्धकार में निकलकर प्रकाश की प्रथम क्षीण रेखा को देख पाता है। यद्यपि इसमें भी सत्य के प्रकाश की उपलब्धि नहीं होती है, किन्तु इतना तो अवश्य है कि अन्धकार के विरोधी प्रकाश की एक क्षीण रेखा को देख लेता है। उक्त यथाप्रवृत्तिकरण के बाद आत्मा अपूर्वकरण आदि के रूप में भवविशुद्धि की ओर आगे बढ़ जाता है और सम्यग् दर्शन प्राप्त कर लेता है। और यदि भाव विशुद्धि की मन्दता होने लगे तो फिर वापस लौट कर भव भ्रमण के चक्र में भटकने लगता है। भव-भ्रमण करता-करता और संसार के संताप सहता-सहता भव्यात्मा कभी इस स्थिति में पहुँच जाता है, कि उसकी वीर्य-शक्ति का उल्लास और अधिक प्रबल एवं उज्ज्वल बन जाता है, तब आत्मा के इस शुद्ध परिणाम को शास्त्रीय भाषा में 'अपूर्वकरण' कहा जाता है। अपूर्वकरण का अर्थ है—आत्मा की अपूर्व वीर्य-शक्ति, आत्मा का एक ऐसा दिव्य परिणाम एवं आत्मा का एक ऐसा विशुद्ध भाव, जो अभी तक कभी नहीं आया था, उसे अपूर्व-

करण कहते हैं। यद्यपि सम्यक् दर्शन की उपलब्धि यहाँ पर भी नहीं होती है किन्तु अपूर्वकरण के प्रभाव से यह आत्मा एक ऐसी भूमिका पर पहुँच जाता है, जिसे शास्त्रीय भाषा मे ग्रन्थि-देश कहते हैं। ग्रन्थि-देश का अर्थ है—आत्मा के राग एवं द्वेष की सम्यक् दर्शननिरोधक तीव्रता एवं प्रगाढ़ता की भूमि। अपूर्वकरण मे आकर जीव ग्रन्थि-देश का भेदन तो नहीं करता किन्तु उसकी प्रगाढ़ता को शिथिल बना देता है। आत्मा के सघन एवं प्रगाढ़ राग-द्वेष रूप अविशुद्ध परिणाम को ग्रन्थि कहा जाता है। आत्मा मे यह ग्रन्थि आज से नहीं अनन्त काल से है। बाँस की गाँठ के समान इस गाँठ का भेदन करना भी सरल एवं आसान काम नहीं है। ग्रन्थि-देश पर पहुँचने के बाद आत्मा फिर धीरे-धीरे आगे बढ़ता है और वह एक ऐसी स्थिति मे पहुँच जाता है, जिसे शास्त्रीय भाषा मे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण आत्मा का वह परिणाम है जहाँ पहुँचकर वह सम्यक् दर्शन को बिना प्राप्त किए नहीं रहता। अनिवृत्तिकरण मे पहुँचकर आत्मा राग द्वेष की तीव्र ग्रन्थि का भेदन कर देता है और इस ग्रन्थि का भेदन होते ही अन्तर्मुहूर्त के अन्दर आत्मा को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो जाती है। आत्मा को स्वरूप का प्रकाश मिल जाता है।

इन तीनो करणो को स्पष्ट समझने के लिए, शास्त्रकारो ने एक बड़ा सुन्दर रूपक दिया है और वह रूपक इस प्रकार है। एक बार एक ही ग्राम के रहने वाले तीन मित्र मिल कर धन कमाने के लिए विदेश की ओर चल पड़े। तीनो मित्र थे। तीनो मे अत्यन्त प्रेम था और आप समझते हैं कि जहाँ प्रेम होता है वहाँ किसी प्रकार का द्वैत भाव नहीं रहता। वे तीनो साथ रहते और साथ चलते तथा साथ ही खाते पीते भी थे। एक बार यात्रा करते-करते वे तीनो एक विकट एवं विजन वन की पर्वत घाटी मे जा पहुँचे। ज्यों ही वे घाटी मे कुछ आगे बढ़े कि कुछ दूर उन्हें चार डाकू दिखलाई दिए। उनकी भयंकर आकृति और उनके बलिष्ठ शरीर को देखकर वे तीनो मित्र भय से काँपने लगे और तीनो के हृदय मे एक ही भावना प्रबल हो उठी कि किसी भी तरह अपने प्राणो की रक्षा करें। मनुष्य को धन प्रिय होता है क्योंकि धन के लिए वह बहुत से कष्ट परिताप और दुःख सहन करता है। परन्तु धन से भी अधिक प्रिय उसे अपने प्राण होते हैं। जिनकी रक्षा के लिए वह अपने धन का भी परित्याग कर देता है। तीनो मित्रों मे से

एक तो डाकुओ को देखते ही पीछे की ओर भाग गया। दूसरा मित्र कुछ साहसी था, इसलिए साहस करके वह आगे तो बढ गया, किन्तु अकेला उन चारो का प्रतिकार एव पराभव न कर सकने के कारण, उनकी पकड मे आ गया। तीसरा मित्र उन दोनो से अधिक बलवान और पराक्रमशील था। उसने अकेले ही चारो से सघर्ष किया और अपनी शक्ति और अपने पराक्रम से उन्हे पराजित करके दुर्गम घाटी को पार करता हुआ अपने अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँच गया। आपने सुना कि तीन मित्रो की तीन स्थिति हुई। एक भाग गया, एक पकडा गया, और एक पार हो गया। यह एक रूपक है, यह एक दृष्टान्त है, जिसके आधार पर शास्त्र के गम्भीर मर्म को समझने मे सहारा मिलता है। जो स्थिति उन तीन मित्रो की हुई, वही स्थिति आत्मा की भी होती है। ससार मे अनन्त आत्माएँ हैं, उनमे से कुछ विकास-पथ पर आरूढ होकर अपने अभीष्ट लक्ष्य की ओर चल पडती हैं, किन्तु उन तीन मित्रो के समान कुछ आत्माएँ, चार कषायों की ग्रन्थि रूप भयकरता के कारण वापिस लौट जाती हैं, और ससार मे भटकने लगती है। कुछ आत्माएँ साहस करके आगे बढती हैं, किन्तु अपनी दुर्बलता के कारण वे भी कषायों से ग्रस्त हो जाती हैं और कुछ आत्माएँ इतनी प्रबल होती हैं, कि वे अपने साहस और पराक्रम के बल पर आगे बढ़कर कषाय रूप डाकुओं को पराजित करके, अपने अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँच जाती है। अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँचने का क्या अर्थ है? यही कि वह मिथ्यात्व से निकल कर सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेती हैं। वे अन्धकार से निकलकर प्रकाश मे पहुँच जाती है। शास्त्र मे इसी तथ्य को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि कहा गया है।

मैं आपसे सम्यक्दर्शन की बात कह रहा था। सम्यक् दर्शन क्या है? यह एक विकट प्रश्न है। सम्यक्दर्शन, जैसा कि मैंने आपको कहा, चिन्तन का विषय नही, अनुभूति का विषय है। परन्तु इतना अवश्य है, कि समग्र धर्मो का मूल यदि कोई एक तत्व हो सकता है, तो वह सम्यक् दर्शन ही हो सकता है। जैसे मूल के अभाव मे कोई भी वृक्ष अधिक दिनो तक स्थिर नही रह सकता, वैसे ही सम्यक् दर्शन के अभाव मे कोई भी धर्म स्थिर नही रह सकता। जैन दर्शन का मूल सम्यक् दर्शन ही है। जिस प्रकार समग्र वृक्ष की प्राण-शक्ति का आधार और केन्द्र, उसकी जड होती है, उसी प्रकार जैन-दर्शन का मूल सम्यक् दर्शन है। वृक्ष के मूल एव जड के कारण ही वृक्ष की सारी पत्तियाँ हरी-भरी रहती हैं, उसमे फल-फूल लगते हैं

और वह वृक्ष विकासोन्मुख बना रहता है परन्तु यह तभी तक है जब तक कि वृक्ष का मूल एवं वृक्ष की जड़ हरी भरी बनी रहती है। जब तक वृक्ष की जड़ सशक्त है तभी तक उसमें नयी नयी कोंपलें फूटती रहती हैं नये-नये पत्ते आते रहते हैं उस पर फूलों की मधुर मुस्कान बनी रहती है और उस पर मधुर फल लगते रहते हैं। वस्तुतः वृक्ष की प्राण शक्ति उसका वैभव उसका सौन्दर्य एवं उसके विकास का मूलाधार उसकी जड़ होती है जो भूमि के अन्दर बहुत गहरी होती है। जो सत्य एक वृक्ष के सम्बन्ध में है वही सत्य अध्यात्म-साधना के सम्बन्ध में भी है। अध्यात्मवादी दर्शन के अनुसार अध्यात्म-साधना का मूल आधार सम्यक् दर्शन ही है। सम्यक् दर्शन से ही अहिंसा सत्य और ब्रह्मचर्य आदि व्रत फलते फलते हैं। श्रावक-जीवन की मर्यादा का मूल आधार भी सम्यक् दर्शन ही है। इसी के आधार पर श्रावक का जीवन निर्मल एवं स्वच्छ रहता है। साधु-जीवन के व्रत एवं नियमों का आधार भी यही सम्यक् दर्शन है। यदि सम्यक् दर्शन नहीं है तो साधुत्व भाव भी उसमें कैसे रह सकता है? किसी भी साधक के अंतरंग में जब तक सम्यक् दर्शन की ज्योति है और जब तक उसके जीवन के कण-कण में सम्यक् दर्शन की भावना परिव्याप्त रहती है तब तक धर्म का वृक्ष हरा-भरा रहता है और फलता-फूलता रहता है। यह तो आपको पता ही है कि वृक्ष में प्रति वर्ष परिवर्तन आता रहता है और यह परिवर्तन उसके जीवन के विकास के लिए आवश्यक भी है। वृक्ष में प्रतिवर्ष नये पत्ते आते रहते हैं और पुराने पत्ते झड़ते जाते हैं नये फूल आते हैं और पुराने फूल समाप्त हो जाते हैं और नये फल आते हैं तथा पुराने फल क्षीण हो जाते हैं यह परिवर्तन वृक्ष में प्रति वर्ष आता है परन्तु इस परिवर्तन के होते हुए भी उसकी जड़ ज्यों की त्यों बनी रहती है। इसी प्रकार आचार में सम्बन्धित बाहर के नियम उपनियम बदलते रहते हैं परन्तु उनका मूलाधार जो सम्यक् दर्शन है उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। धर्म और साधना के क्षेत्र में युग और काल क्रम से बाहर के नियम एवं उपनियमों में परिवर्तन आता है परन्तु धर्म के मूलाधार में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। यह जो कुछ परिवर्तन बाहर के नियम एवं उपनियमों में होता रहता है इससे किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती यदि मूल शुद्ध एवं पवित्र है तो।

परिवर्तन जीवन का एक स्वस्थ रूप है। परिवर्तन का अर्थ

है —जीवन शक्ति। जिसमे जीवन-शक्ति है उसमे परिवंतन अवश्य होगा। और जिसमे किसी प्रकार परिवंतन नही होता, समझना चाहिए, उसमे जीवन-शक्ति का अभाव है। मैं आपसे वृक्ष की वात कह रहा था, पतझड और वसन्त मे होने वाला वृक्ष का यह परिवर्नन इस वात का द्योतक है, कि वृक्ष मे प्राण-शक्ति है और उसमे जीवन-शक्ति विद्यमान है। यदि उसमे जीवन-शक्ति न रहे तो फिर न उसमें पत्ते लगेंगे और न फूल-फल ही लगेंगे। वस परिवर्तन में एक वात और रहती है, जिसका समझना आवश्यक है और वह यह है, कि प्रत्येक वसन्त में वृक्ष में परिवतन हो आता है, नये पत्ते और नये फल-फूल भी लगते है, परन्तु वे पत्ते और फल फूल उनसे भिन्न नही है जो पहले वर्ष मे लगे थे। यह परिवंतन सदृश ही होता है विसदृश नही। यदि गुलाव का फूल एक वसन्त मे एक रग-रूप का है, तो ऐसा कभी नही होगा, कि दूसरी वसन्त मे वह दूसरे रग-रूप का वन जाए। हर वार फल-फूल एक ही रग-रूप के होगे, उसमे कोई परिवर्तन नही होगा। यही सिद्धान्त धर्म एव साधना-क्षेत्र मे भी लागू होता है। वाहर के क्रिया-काण्डो मे परिवर्तन होता रहता है, वाहर के अनुष्ठानो मे परिवर्तन होते हुए भी अतरग धर्म मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही आता। अहिसा सदा अहिसा ही रहेगी, सत्य सदा सत्य ही रहेगा, अचौर्य सदा अचौर्य ही रहेगा, ब्रह्मचर्य सदा ब्रह्मचर्य ही रहेगा और अपरिग्रह सदा अपरिग्रह ही रहेगा। देश-काल और परिस्थिति के वश क्रिया काण्डरूप आचार मे परिवर्तन होना सम्भव है, किन्तु मूल विश्वास मे और मूल आचार मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता। सामायिक या पौषध आप कुछ भी क्यो न करें, उसका मूल भाव एव उसका मूल स्वरूप कभी परिवर्तित नही होता। दोनों के अन्तरग मे सवर है तथा दोनो मे ही आत्मा को ससार की वासना से अलग करने का भाव है। आप भक्तामर पढे या कल्याण मन्दिर पढें, परन्तु आत्मा मे तो वही प्रभु के चरणो मे श्रद्धाजलि अर्पित करने की भावना रहती है। दान देने से, शील पालने से और तप करने से भी आत्मा मे शुभ या शुद्ध धर्म की ज्योति जगमगाती है। मेरे कहने का अभिप्राय यही है, कि मूल एक होकर भी ऊपरी वातावरण मे जो परिवर्तन आता है, उससे मूल भावना वदल नही जाती है। कल्पना कीजिए, एक ऐसा व्यक्ति है, जो प्रतिदिन नयी-नयी वेशभूषा धारण करता है, इतना ही नही, वल्कि दिन में तीन-तीन वार कपडे वदलता रहता है—परन्तु इस प्रकार नये-नये कपडे

बदलने की क्रिया से वह आप नहीं बदल जाता। आप तो वहा का वही रहता है। उसके अपने आपके मूल स्वरूप मे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। आप स्वयं भी चाहे अपने रूप कितने ही क्यो न बदलें आप किसी भी रूप मे क्यो न रहे पर देर-सबेर आपकी अपनी मौलिक पहचान अवश्य हो जाएगी। इसी प्रकार बाहर के क्रिया काण्ड भले ही बदलें परन्तु अन्तर मे साधक की आत्मा संवर एवं निर्जरा के स्वरूप को कभी नहीं बदलती। यदि मूल आधार ही बदल जाए तब तो सभी कुछ गड़बड़ा जायगा। यदि मूल के विशुद्ध पवित्र और स्थिर रहते हुए बाहर मे हजारों हजार परिवर्तन आ जा जाए, तब भी आत्मा का कुछ बिगड़ नहीं सकता। हमारी अध्यात्म-साधना का मूल आधार सम्यक् दर्शन ही है यदि वह सुरक्षित है एवं वह अक्षुण्ण है तो फिर बाहर के परिवर्तनो से हमे किसी प्रकार का भय नहीं होना चाहिए। अध्यात्मवादी जैन-दर्शन मे समाज जाति और परम्परा के सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं लिखा गया है। समाज के रीति रिवाजो और परम्पराओं की उलझन मे उलझना उसे अभीष्ट नहीं था क्योंकि वह आत्मा का धर्म है किसी भी समाज एवं जाति का धर्म नहीं है। जो धर्म समाज एवं जाति पर आधारित होता है उसी मे इस प्रकार के समाज और जाति के नियमों का विधान होता है। यही कारण है कि अध्यात्मवादी दर्शन मे आत्मा के अतिरिक्त अन्य सामाजिक विधि-विधानों को महत्व नहीं दिया जाता है। उसका लक्ष्य एक मात्र आत्म-विशुद्ध ही होता है।

अभी मैं आपसे यह कह रहा था कि जैन-परम्परा के किसी भी आचार्य ने इस सम्बन्ध मे कुछ नहीं लिखा कि विभिन्न समाजो और विभिन्न जातियो मे प्रचलित रीति रिवाजो और परम्पराओ मे से क्या ठीक है और क्या नहीं ? किसे रखना और किसे नहीं रखना किस छोड़ना और किसे नहीं छोड़ना ? क्योंकि यह सब समाज के कर्तव्य हैं और समाज के कर्तव्यो मे से क्या रखना और क्या छोड़ना और क्या करना और क्या नहीं करना—यह अध्यात्म-शास्त्र का विषय नहीं है। यही कारण है कि किसी भी प्राचीन जैन आचार्य ने वैदिक मनुस्मृति जैसा स्मृति ग्रन्थ नहीं लिखा। इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति यह है कि अध्यात्मवादी दर्शन एकमात्र यही बात बत लाता है कि आत्मा से परमात्मा कैसे बना जाए, तथा भव बन्धनो का अभाव कैसे किया जाए ? समाज-धर्म जाति-धर्म और

परम्परा के कर्तव्यो का मार्ग, भले ही वह कितना भी लम्बा क्यो न हो, उसको सकलित करने की और अकित करने की शक्ति होते हुए भी, अध्यात्मवादी सन्तो ने उसकी उपेक्षा क्यो की ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। जिन्होने समस्त मार्गों के कण-कण को देख लिया, महासागर जैसे विशालकाय दर्शन ग्रन्थो की जिन्होने रचना की, क्या वे स्मृतियो की रचना नही कर सकते थे ? अवश्य ही कर सकते थे, फिर भी उन्होने वैसा नही किया। कारण, उन्होने देखा कि सामाजिक क्रियाकाण्ड शाश्वत सत्य नही है। वह आज है, कल नही है, अत उसके लिए अपनी शक्ति का अपव्यय क्यो किया जाए ? समाज और परम्परा के नियमो मे प्रान्त, जाति, देश और काल आदि की भिन्नता भी अवश्य ही रहेगी। उन्होने सोचा कि इन पुराने घेरो को तोड कर नये घेरे क्यो डाले जायें ? यदि रीति-रिवाजो के घेरो मे बधना आवश्यक है, तो पुरानो मे ही क्यो न बधा जाए, उसके लिए नए बन्धन बाँधने की क्या आवश्यकता ? इस स्थिति मे एक प्रश्न उत्पन्न होता है, कि परपरागत स्मृतियो के किन-किन विधानो को आप स्वीकार करते हैं और किन-किन विधानो को आप स्वीकार नही करते ? इस प्रश्न के उत्तर मे जैन परम्परा के अध्यात्मवादी सतो ने एक ही उत्तर दिया, कि न हम किसी विधान को एकान्त रूप मे स्वीकार करते है और न किसी विधान को हम एकान्त रूप मे अस्वीकार ही करते है। जिसके स्वीकार करने मे हमारा आत्म-भाव अक्षुण्ण रहता है, वह सब कुछ हमे स्वीकार है। और जिससे आत्मा मे मलिनता उत्पन्न होती है, जिससे आत्मा अपवित्र बनती है, वह सब कुछ हमे स्वीकार नही है। मूल बात आत्मा की है और उससे भी पहले मूल बात सम्यक् दर्शन की है। सम्यक् दर्शन को क्षति पहुचाने वाला कोई भी विधान हमे स्वीकार नही हो सकता। एकान्त निषेध और एकान्त विधान जैसी स्थिति को हम स्वीकार नही कर सकते। जीवन-विकास मे जो विधान सहायक है, उसका हम आदर करते हैं और उसे स्वीकार भी करते हैं। इसके विपरीत आत्म विकास मे बाधा डालने वाले किसी भी विधान को स्वीकार नही किया जा सकता। आखिर समाज के यह विधि और निषेध स्थायी नही हैं। इनमे तो परिवर्तन होता ही रहता है। परिवर्तित देश और काल के अनुसार विधि निषेध बन जाते है और निषेध विधि। वह लौकिक विधि, जो सम्यक् दर्शन मे एव व्रताचरण मे बाधा उपस्थित नही करती, उसे स्वीकार करने मे जैन धर्म को किसी प्रकार

की अड़चन नहीं है। जैन धर्म का कहना है कि सारे संसार में मानव जाति का एक ही रूप है, उसके विभिन्न रीति-रिवाजों से उसकी परस्पर विरोधी परम्पराओं से तथा उसके विविध क्रिया-काण्डों से हमारा कोई झगड़ा नहीं है। केवल इतना ही ध्यान रखना आवश्यक है कि उनसे सम्यक्त्व एवं सदाचार को किसी प्रकार की बाधा न पहुंचे। सम्यक् दर्शन में कोई धक्का न लगता हो और आत्म भाव की साधना में किसी प्रकार की रुकावट न आती हो तो फिर किसी भी रीति-रिवाज को मानने से हमारा क्या बिगड़ता है? हम जीवन की किसी भी अवस्था में क्यों न रहें हमारे लिए यही आवश्यक है कि हम अपने स्वरूप को न भूलें। चाहे हम दान करें शील का पालन करें और तप करें, किन्तु एक बात का ध्यान रखें कि संवर और निर्जरा की साधना से हम अपनी आत्मा को पवित्र बनाते रहें। संवर और निर्जरा की साधना ही वास्तविक साधना है। इस साधना से ही सम्यक् दर्शन निर्मल स्वच्छ पवित्र और पावन होता है। इसी को अध्यात्म धर्म कहा जाता है।

एक शिष्य ने अपने गुरु से प्रश्न किया कि संसार और मोक्ष के क्या हेतु हैं? उक्त प्रश्न के उत्तर में गुरु ने बहुत ही सुन्दर समाधान दिया—"जो आस्रव है वही संसार का हेतु है और जो संवर है वही मोक्ष का हेतु है। जो आस्रव है वह चाहे शुभ हो व अशुभ हो त्याज्य है। जिस प्रकार पाप त्याज्य है उसी प्रकार अन्ततः पुण्य भी त्याज्य है। परन्तु जो संवर है जिसमें न पुण्य है न पाप जो शुभ और अशुभ दोनों से भिन्न है वही ग्रहण करने के योग्य है। पुण्य हमें सुख देता है इसलिए उसे पकड़कर बैठे रहें और पाप हमें दुःख देता है इसलिए हम उसे छोड़ दें यह एक संसार की दृष्टि है। अध्यात्म-दृष्टि तो शुभ एवं अशुभ दोनों से ऊपर उठ कर आत्मा के विशुद्ध भाव को ही ग्रहण करती है। कल्पना कीजिए आपके समक्ष एक ऐसा व्यक्ति खड़ा है जिसने अपने शरीर पर शुभ्र-धवल वस्त्र धारण किये हुए हैं। यदि कोई व्यक्ति उसके ऊपर काली स्याही के छींटे देता है तो वह क्रुद्ध हो जाता है और कहता है कि तूने मेरे वस्त्रों को खराब कर दिया है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति उसके उन्हीं वस्त्रों पर केसर का छींटा डालता है तो वह कहता है कि बहुत अच्छा हुआ यह केसर कितनी सुन्दर और सुगन्धित है। यह एक संसार-दृष्टि है। संसार-दृष्टि का अर्थ है—अशुभ पर द्वेष करना और शुभ पर राग करना। परन्तु एक अध्यात्मवादी व्यक्ति की दृष्टि में काली स्याही का दाग और केसर का

दाग दोनो समान हैं। स्वच्छ वस्त्र पर चाहे काली स्याही का धब्बा हो, अथवा केशर का धब्बा हो, दोनो ही उस वस्त्र की मूल स्वच्छता एव धवलता के लिए घातक एव बाधक हैं। वस्त्र की स्वच्छता बनाये रखने के लिए, दोनो से ही बच कर रहना आवश्यक है। दोनों ही धब्बो मे वस्त्र के शुद्ध स्वरूप का नाश होता है। वस्त्र की जितनी दूरी मे वह धब्बा रहता है फिर चाहे वह धब्बा काली स्याही का हो अथवा केशर का हो, वस्त्र की स्वच्छता मे बाधक ही है, साधक नही हो सकता। यदि किसी श्वेत वस्त्र को केशर के रग मे रग दिया जाए, तो ससार की दृष्टि मे उस वस्त्र का मूल्य बढ जाता है, इसके विपरीत यदि किसी स्वच्छ वस्त्र को कीचड मे लथ-पथ कर दिया जाए, तो ससार की दृष्टि मे उस वस्त्र का मूल्य गिर जाता है, किन्तु एक अध्यात्मवादी साधक की दृष्टि मे दोनो ही विकार हैं, चाहे वह केशर हो, चाहे वह कीचड हो। क्योंकि वस्त्र का जो निज स्वरूप था और उसका जो श्वेत रूप था, वह तो दोनो ही स्थितियो मे समाप्त हो जाता है। वस्त्र की स्वच्छता और स्व-स्थता दोनो ही स्थितियो मे नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा मे चाहे पुण्य का केशर डालो और चाहे पाप का कीचड डालो, आत्मा की पवित्रता दोनो ही स्थितियो मे नही रह सकती। अध्या-त्मवादी दर्शन कहता है, कि पुण्य भले ही अनुकूल है, पाप भले ही प्रतिकूल है, परन्तु दोनो ही आत्मा का अहित करते हैं और दोनों ही आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का घात करते हैं। पुण्य और पाप दोनो ही विकार हैं दोनो ही बन्धन हैं और दोनो ही आकुलता रूप होने से आत्मा का अहित करने वाले हैं, यही परमार्थ-दृष्टि है और यही अध्यात्म-दृष्टि है।

एक प्रश्न और उठता है। पूछा जाता है, कि मोक्ष की स्थिति मे चारित्र रहता है या नही ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि द्रव्य-चारित्र तो वहाँ नही रहता, परन्तु भाव-चारित्र वहाँ अवश्य रहता है। द्रव्य चारित्र का अर्थ है—बाह्य क्रिया-काण्ड एव बाह्य नियम और उपनियम। यह तो इसी जीवन के लिए स्वीकार किए जाते हैं। इस जीवन की अन्तिम श्वास तक तो ये जीवन के साथ रह सकते हैं, किन्तु इसके बाद कैसे रह सकते हैं ? इनके लिए 'जाव-जीवाए' का ही पाठ आता है न ? अत प्रस्तुत जीवन के बाद मोक्ष मे ये कैसे रह सकते हैं ? अब रही भाव-चारित्र की बात, वह तो आत्मा का निज धर्म है। भाव-चारित्र का अर्थ है—स्वरूपरमणता, स्वरूपलीनता। स्वरूपरमण मोक्ष मे अवश्य रहता ही है। जहाँ आत्मा

है वहाँ उसका स्वरूप भी अवश्य रहेगा और उस स्वरूप में तन्मयता एवं तल्लीनता रूप भाव चारित्र मोक्ष में अवश्य ही रहता है। सिद्धों में व्रत रूप चारित्र नहीं रहता परन्तु स्वरूपरमणता रूप चारित्र तो रहना ही है। यदि सिद्धों में स्वरूपरमणतारूप चारित्र भी न माना जाए तब वहाँ कौन-सा चारित्र रहेगा ? द्रव्य चारित्र तो वहाँ रह नहीं सकता। और चारित्र सर्वथा न रहे यह भी ठीक नहीं है क्योंकि चारित्र जब आत्मा का निज गुण है तब जहाँ गुणी है वहाँ उसका गुण अवश्य रहेगा ही। इस दृष्टि से मैं आपसे यह कह रहा था कि मोक्ष की स्थिति में भी चारित्र रहता है। जैसे वहाँ क्षायिक सम्यक् दर्शन और क्षायिक सम्यक् ज्ञान रहता है वैसे ही क्षायिक सम्यक् चारित्र भी वहाँ अवश्य रहता है। जब चारित्र मोह का सर्वथा क्षय होने पर क्षायिक सम्यक् दर्शन और क्षायिक ज्ञान के समान क्षायिक चारित्र हो गया तो वह मोक्ष में कहाँ चला जायगा ? यदि क्षायिक चारित्र नष्ट हो सकता है तो फिर क्षायिक सम्यक्दर्शन और क्षायिक ज्ञान भी नष्ट क्यों नहीं हो सकते हैं ?

यह ठीक है कि आगमों में मोक्ष दशा में चारित्र नहीं माना है। परन्तु यह तो तर्क से विचार करना ही पड़ेगा कि वह कौन सा चारित्र है जो मोक्ष में नहीं माना जाता। व्यवहार चारित्र सिद्धों में नहीं है यह तो ठीक है। परन्तु निश्चय चारित्र तो वहाँ तक सिद्ध है। क्षायिक भाव नहीं होता है जो सादि अनन्त हो। इस तर्क से क्षायिक चारित्र मुक्तदशा में पूर्णरूपेण सिद्ध है। यदि कोई कहे कि हम आगमप्रमाण से हम तर्क को नहीं मानते तो उनका यह कहना अयुक्त है। सिद्धान्त के निर्णय के लिए तर्क करना अच्छा है बुरा नहीं है। बुद्धि के द्वार को बन्द करना मैं कभी पसन्द नहीं करता। आखिर किसी भी सिद्धान्त के तथ्य को परखने की कसौटी बुद्धि और तर्क ही तो है। मैं उन आचार्यों का हजार बार अभिनन्दन करता हूँ जिन्होंने तर्क और बुद्धि को महत्त्व दिया है। आँख मूंद कर किसी बात को स्वीकार करने की अपेक्षा मैं यह अधिक उचित समझता हूँ कि तर्क और बुद्धि से विचार कर ही किसी तथ्य को स्वीकार किया जाए। जब हम अपने प्राचीन शास्त्रों का एवं दर्शन ग्रन्थों का अध्ययन और मनन करते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि तर्कों का एक प्रचण्ड तूफान आ गया है। देखा गया है कि इस तर्क के युग में कभी-कभी शिष्य अपने गुरु से भी आगे निकल जाता है। जब गुरु का निर्णय शिष्य को नहीं भाया तो उसने अपने तर्क और बुद्धि के बल पर आगे दौड़ लगाई और वह अपने गुरु से भी

आगे वढ गया। गुरु गुड ही रह गया और चेला चीनी वन गया। गुरु के विचारो से शिष्य का मतभेद होना, पतन का मार्ग नही है। यह ठीक नही है, कि गुरु से शिष्य निरन्तर हीन ही होता जाए। यह वात गलत है, कि एक गुरु का शिष्य सदा शिष्य ही वना रह जाए, वह गुरु न वन सके।

एक वार वेदान्त-परम्परा के एक सन्यासी मुझे मिले। हम दोनो मे काफी देर तक विचार-चर्चा चलती रही। वातचीत के प्रसग मे मैंने पूछ लिया, कि "एक व्यक्ति किसी गुरु का शिष्य क्यो वनता है?" सन्यासी जी ने मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—कि "शिष्य गुरु से ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु का शिष्य वनता है।" मैंने कहा कि "ज्ञान क्या कोई लेने देने की चीज है? यह तो आत्मा का अपना ही निज गुण है। और निज गुण वाहर मे दूसरे को कैसे दिया जा सकता है? जव ज्ञान लेने और देने जैसी कोई चीज नही है, तो फिर एक व्यक्ति किसी गुरु का शिष्य क्यो वनता है?" सन्यासी वेदान्ती थे। वेदान्त के अनुसार भी ज्ञान आत्मस्वरूप ही होता है, अत वह लेने और देने की वस्तु नही है। मैंने सन्यासी से कहा—कि "आपका जवाव एक साधारण वाजारू जवाव है। आपके सिद्धान्त के अनुसार भी यह कैसे उचित हो सकता है, कि एक शिष्य गुरु से ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु का शिष्य वनता है। स्वामी जी, जरा गहराई मे उतरिए, शिष्य शिष्य वनने के लिए नही, अपितु शिष्य, गुरु वनने के लिए ही शिष्य वनता है। जो गुरु शिष्य को शिष्य वनाता है, वह उसे गुरु नहीं वना सकता। यदि शिष्य सदा शिष्य ही वना रहता है, तो यह कोई सुन्दर वात नही है। मेरे विचार मे प्रत्येक शिष्य गुरु वनने के लिए ही शिष्य वनता है। शिष्य सारे जीवन भर शिष्य वने रहने के लिए और गुरु के विचारो की भारी भर-कम गठरियों को सिर पर ढोने के लिए शिष्य नहीं वनता है। भारतीय दर्शन के अनुसार शिष्य श्रोता नही, द्रष्टा है, वह सत्य को श्रवण तक ही नही, अनुभव तक ले जाना चाहता है। फलत वह अनुभवी गुरु वनने के लिए ही शिष्य वनता है। हीन से हीन और अन्धकार मे भटकता हुआ व्यक्ति जव गुरु के समक्ष आकर खडा होता है, तो समझ लीजिए, वह भिखारी वनने के लिए नही आया है, वल्कि गुरु के सानिध्य मे रहकर गुरु वनने के लिए ही आया है। यह ठीक है कि आज ही वह गुरु नही वन सकता, किन्तु गुरु के सानिध्य में रहकर और अध्यात्म-योग की साधना करके वह भी एक दिन अवश्य ही गुरु वन सकता है।

मनुष्य की आत्मा में अपार शक्ति और अमित बल है। जब वह साधना-क्षेत्र में उतर कर उसमें स्थिर बन जाता है तो मनुष्य तो क्या स्वर्ग के देव भी उसके चरणों में नत मस्तक हो जाते हैं। यह भी क्या अजब-गजब की बात है कि जब संसार के अन्य पथ देव-देवियों की पूजा की बात कहते हैं और देव-पूजा में धर्म बतलाते हैं तब अध्यात्मवादी जैन-दर्शन यह आघोष करता है कि भौतिक शक्ति में भले ही देव मनुष्य से बड़ा हो किन्तु अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में तो मनुष्य ही देवता से बड़ा है। जब मनुष्य अपने बंधनों को तोड़ कर, अपने अन्तर के प्रकाश को प्राप्त कर लेता है, तब वह देवाधिदेव बन जाता है। जिस मनुष्य में देवाधिदेव बनने की शक्ति विद्यमान है जिसमें आत्मा से परमात्मा बनने का बल है, फिर क्या बात है कि वह मनुष्य शिष्य से गुरु न बन सके? प्रत्येक मानव में अपनी आत्म-शक्ति को जागृत करके जब परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है तब वह गुरु के ऊँचे सिंहासन पर आरूढ़ क्यों नहीं हो सकता? अवश्य हो सकता है?

मैं आपसे बुद्धि और तर्क की बात कर रहा था। मुझे स्वयं को तर्क बहुत पसन्द है। जब कभी कोई जिज्ञासु व्यक्ति मुझसे तर्क करता है तब मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। यह स्थिति मुझे कितना आनन्द देती है जब कि मैं यह देखता हूँ एक गुरु किसी ग्रन्थ की रचना करता है और उसका शिष्य उससे भी आगे बढ़कर उस पर भाष्य लिखता है। फिर उसका भी शिष्य उस पर एक और विशाल टीका रचता है। इस प्रकार तर्क और प्रति तर्क की यह अपनी कड़ी जुड़ती चली जाती है। इसमें अन्धकार में पड़े प्रतिपाद्य विषय का और अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है। हमें इस बात को नहीं भूलना है कि हम बुद्धिवादी एवं तर्कवादी होकर भी आदर्शवादी और श्रद्धावादी हैं और आदर्शवादी एवं श्रद्धावादी होकर भी बुद्धिवादी एवं तर्कवादी हैं। सत्य का उद्घाटन तर्क के साथ श्रद्धा से करते हैं और श्रद्धा के साथ तर्क से करते हैं? यदि हम अपनी अध्यात्म-साधना के नाम पर अग्रसर होते हुए तर्क और श्रद्धा को भूल जाते हैं तो हमारे जीवन की यह एक विषम स्थिति होगी।

विश्व में एक मात्र चेतनतत्त्व ही प्रधान तत्त्व है। उसी के प्रति विश्वास और श्रद्धा होनी चाहिए। व्यक्ति के नाम और रूप के प्रति श्रद्धा का क्या मूल्य है? व्यक्तिविशेष के नाम और रूप तो क्षणिक हैं किन्तु नाम और रूप जिसके आधार पर चलते हैं वह अमर आत्मा ही वस्तुतः अमर है। संसार में जितने भी

भी झगडे हैं, जितने भी सघर्ष हैं, और जितने भी तूफान है, वे सब नाम और रूप की श्रद्धा को लेकर ही होते हैं। नाम और रूप की श्रद्धा को लेकर उठने वाले ये तूफान और सघर्ष केवल श्रद्धा प्रधान तर्क से ही शान्त हो सकते हैं। श्रद्धा प्रधान तर्क हमसे पूछता है, कि इस नामात्मक और रूपात्मक जगत मे किस व्यक्ति का नाम और रूप स्थिर रहा है? ससार के साधारण व्यक्तियो की बात छोड दीजिए, तीर्थंकरो के जीवन की बात को ही लीजिए, अनन्त अतीत मे अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं, किसका नाम और रूप स्थिर रहा है? तथा भविष्य मे अनन्त तीर्थंकर होगे, उनका भी नाम और रूप स्थिर कैसे रह सकेगा? कुछ काल आगे बढने के बाद वर्तमान के तीर्थंकरो के नामो का भी हमे स्मरण न रहेगा। आज भी हम कितने तीर्थंकरो के नामो का स्मरण रख पाते हैं? जब कि इस जगत मे तीर्थंकर जैसी विभूति का भी नाम रूप स्थिर नही रह पाता, तब ससार के साधारण जनो की बात कौन कहे? अत व्यक्तिविशेष के नाम और रूप के प्रति श्रद्धा सम्यग् दर्शन नही है। शुद्ध चैतन्य तत्व का शुद्ध श्रद्धान ही सम्यग् दर्शन है।

भारतीय सस्कृति मे व्यक्ति को इतना महत्व नही दिया गया है, जितना कि उसके विचार एव सिद्धान्त को दिया गया है। जब तक व्यक्ति खडा रहता है, तब तक उसका नाम और रूप भी खडा रहता है। नाम और रूप से भिन्न यदि व्यक्ति को देखना हो, तो उसके विचार एव सिद्धान्त को देखिए। नाम और रूप का किसी एक सीमा तक महत्व अवश्य है, किन्तु सब कुछ नाम एव रूप को ही समझ लेना एक बहुत बडी भूल है। नाम और रूप कभी स्थायी नही होते। स्थायी होता है, केवल व्यक्ति का व्यक्तित्व। व्यक्ति अमर नही होता, क्योकि वह नाम रूपात्मक होता है, किन्तु व्यक्ति का व्यक्तित्व अमर होता है, क्योकि वह नाम और रूप से भिन्न विशुद्ध आत्म-तत्व होता है। भारत के बहुत बडे विचारक विनोबा भावे से दिल्ली मे जब मिलना हुआ, तब उस समय मत्र-चर्चा का प्रसग चला, कि "प्रत्येक पथ और सम्प्रदाय अपने शिष्यो को अलग-अलग मत्र देते हैं। कोई 'नम शिवाय' कहता है तो कोई 'नमो विष्णवे' कहता है। और भी अनेक मत्र ऐसे हैं, जिनमे व्यक्ति विशेष के नाम हैं और वे धर्मो को परस्पर मिलने नही देते।" इस पर मैंने कहा कि "यह बात जैन धर्म मे नही है। जैन-धर्म के मत्र मे किसी के व्यक्तिगत नाम का उल्लेख नही किया गया है। जैन-

धर्म के महामन्त्र नवकार में जिनको नमस्कार किया गया है वे व्यक्ति नहीं हैं बल्कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के मूल आधारभूत तत्त्व हैं। अरिहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु—इस प्रकार आत्मा के पाँच शुद्ध स्वरूपों को उक्त मन्त्र में नमस्कार किया गया है। इस मन्त्र में जैन संस्कृति के उपदेष्टा चौबीस तीर्थंकरों में से किसी भी तीर्थंकर का वैयक्तिक नाम नहीं है। यद्यपि श्रमण-संस्कृति में भगवान ऋषभदेव भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है तथापि इस मन्त्र में उनके नाम का उल्लेख भी नहीं है। यह मन्त्र नाम और रूप से बहुत दूर है। इसमें केवल आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ही उल्लेख किया गया है। अरिहन्त पद कहने से विश्व के समस्त अरिहन्तों का ग्रहण हो जाता है फिर भले ही वे अतीत काल में हुए हों और चाहे भविष्यकाल में होने वाले हों अथवा वर्तमान काल में कहीं भी हों। इसमें देश काल और जाति का बन्धन भी स्वीकार नहीं किया गया है फिर पंथ और सम्प्रदाय की बात तो हो ही कैसे सकती है। पंथ और सम्प्रदाय की बात वहीं आती है जहाँ स्वरूप को मुख्यता न देकर नाम और रूप को मुख्यता दे दी जाती है। जहाँ नाम और रूप को ही महत्त्व मिलता है वहाँ किसी न किसी सम्प्रदाय की गन्ध भी अवश्य ही आती रहेगी और वहाँ किसी न किसी व्यक्ति का नाम भी अवश्य ही जुड़ा हुआ रहेगा। यदि किसी मन्त्र में किसी व्यक्ति का नाम दे दिया जाता है तो वह मन्त्र असीम न रहकर सीमित हो जाता है। अतः नाम नहीं देने से इस मन्त्र में अनन्त सत्य को बिना नाम और रूप के व्यक्त कर दिया गया है। नाम और रूप अमर नहीं रहता है। भारतीय संस्कृति इस तथ्य को स्वीकार करती है कि नाम और रूप केवल शरीर तक ही सीमित रह जाते हैं। जब इस नाम रूपात्मक शरीर में से निकल जाता है आत्मा निकल जाता है तब केवल शव ही शेष रह जाता है जिसे अन्त में अग्नि की भेंट कर दिया जाता है। स्पष्ट है कि संसार में नाम और रूप स्थिर नहीं है केवल स्वरूप ही स्थिर रहता है और यही जीवन की वास्तविकता है।"

मैं आपसे पहले कह चुका हूँ कि सिद्धों में द्रव्य चारित्र नहीं भाव चारित्र रहता है। चारित्र के दो भेद हैं—निश्चय चारित्र और व्यवहार चारित्र। व्यवहार चारित्र को ही द्रव्य चारित्र कहा जाता है और इसी को क्रियात्मक एवं व्रतरूप चारित्र भी कहा जाता है। यह चारित्र सिद्धों में नहीं रहता परन्तु स्वरूपरमणतारूप स्वरूप में

लीनतारूप जो निश्चय चारित्र है, वह कभी नष्ट नही होता। यह निश्चय चारित्र ही सिद्धो मे रहता है। इसी प्रकार सम्यक् दर्शन के भी दो भेद किए गए हैं—व्यवहार सम्यक् दर्शन और निश्चय सम्यक् दर्शन। व्यवहार सम्यक् दर्शन चाहे कितनी भी वार क्यो न हो जाए, किन्तु उससे आत्मा के लक्ष्य की पूर्ति नही होती है। व्यवहार सम्यक् दर्शन अनन्त अतीत मे न जाने कितनी वार हो चुका है, परन्तु उससे कार्य की सिद्धि नही हो सकी। निश्चय सम्यक् दर्शन ही वास्तविक सम्यक् दर्शन है। निश्चय सम्यक् दर्शन के अभाव मे, मात्र व्यवहार सम्यक् दर्शन आत्मा मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही कर सकता। आत्मस्वरूप की उपलब्धि निश्चय सम्यक् दर्शन से ही होती है। निश्चय सम्यक् दर्शन को त्रिकाली सत्य कहा जाता है। व्यवहार की वात केवल समय विशेष के लिए होती है, समय-विशेष के वाद उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। इसीलिए मैं कहता हूँ, व्यवहार पर आश्रित जो भी कुछ है, वह स्थायी नही होता। इसके विपरीत निश्चय, जो कि आत्मा का अपना शुद्ध स्वरूप है, वही त्रिकाली सत्य है। जब तक निश्चय मे लीनता नही होगी, तव तक परमार्थ भाव की उपलब्धि भी नही हो सकेगी।

आपके सामने सम्यक् दर्शन की चर्चा चल रही है। अध्यात्म-वादी दर्शन के अनुसार सम्यक् दर्शन आत्मा का एक दिव्य प्रकाश है। मिथ्यात्व के अन्धकार को दूर करने के लिए, सम्यक् दर्शन रूप सूर्य की नितान्त आवश्यकता है। सम्यक् दर्शन के अभाव मे आत्मा का विकास हो ही नही सकता। यही कारण है, कि जैन-दर्शन मे अन्य तत्वो की अपेक्षा सर्वप्रथम सम्यक् दर्शन को ही महत्व दिया गया है। जैन-दर्शन के प्रत्येक ग्रन्थकार ने किसी न किसी रूप मे सम्यक् दर्शन का वर्णन अवश्य ही किया है। यह वर्णन किसी ग्रन्थ मे विस्तार के साथ है, तो किसी ग्रन्थ मे सक्षेप मे है। परन्तु इतना अवश्य ही ध्यान मे देने योग्य है, कि एक भी ग्रन्थकार सम्यक् दर्शन की उपेक्षा नही कर सका है, वल्कि कुछ ग्रन्थकारो ने तो अपने ग्रन्थ का मूल आधार ही सम्यक् दर्शन को वनाया है। साधक दो प्रकार के होते हैं—श्रद्धावादी और तर्कवादी। श्रद्धावादी, श्रद्धा को ही मुख्यता प्रदान करता है, जब कि तर्कवादी तर्क को ही प्रधानता देता है। वस्तुत श्रद्धा केवल श्रद्धा नही होनी चाहिए, उसके साथ तर्क का योग भी चाहिए, और तर्क भी केवल तर्क नही होना चाहिए, अपितु उसके साथ श्रद्धा का समन्वय भी चाहिए। श्रद्धा और प्रज्ञा का सुन्दर समन्वय ही, साधना का राजमार्ग है।

आगमों में हम देखते हैं, सुनते हैं और पढ़ते हैं कि गणधर गौतम भगवान महावीर से प्रश्न पूछते हैं और भगवान उसका उत्तर देते हैं। समाधान न होने पर गौतम फिर प्रश्न उपस्थित करते हैं और भगवान फिर उसका समाधान करते हैं। इस प्रकार तर्क और युक्ति चलती रहती है। परन्तु सत्य अभिव्यक्त होते ही गणधर गौतम उसे स्वीकार कर लेते हैं। जब सत्य की उपलब्धि हो गई तब तर्क और युक्ति का अपने आप में कोई मूल्य नहीं रहता। तर्क और युक्ति सत्य की उपलब्धि के साधन हैं साध्य नहीं। जैन-दर्शन में एकान्त तर्क और एकान्त श्रद्धा को जरा भी स्थान नहीं है। यद्यपि जैन दर्शन तर्क और बुद्धि का द्वार बन्द नहीं करता है, यहाँ गौतम के समान कोई भी भक्त प्रभु से तर्क और युक्ति कर सकता है, परन्तु उस तर्क और युक्ति का आधार सत्य का अनुसंधान होना चाहिए। जब सत्य की उपलब्धि हो जाए, तब तर्क और युक्ति विश्वास एवं श्रद्धा में परिणत हो जाते हैं। कितना भी तर्क किया जाए, अन्त में गुरु के हाथों में शिष्य को अपना मस्तिष्क अर्पित करना ही पड़ेगा। जब एक शिष्य गुरु के समक्ष अपना मस्तक समर्पित कर देता है तब इसका अर्थ यह होता है कि उसने श्रद्धा एवं विश्वास को स्वीकार कर लिया है। श्रद्धा को स्वीकार करने का अर्थ है—उसने अपने आत्मस्वरूप पर विश्वास कर लिया है और आत्मस्वरूप पर विश्वास करना ही निश्चय सम्यक् दर्शन है। एक युग आया था जिसमें विभिन्न सम्प्रदायों के पण्डितों ने एक दूसरे को पराजित करने के लिए दलीलों की अखाड़ेबाजी जमा दी थी। उस समय का एक मात्र ध्येय यही था कि अपने से भिन्न पन्थ के पण्डित को किसी भी प्रकार से निरुत्तर कर दिया जाए। इस युग को साहित्य के इतिहास में न्याययुग और तर्क-युग कहा जाता है। इस युग के जैन-विद्वानों में भी तर्क-युग का प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और आचार्य समन्तभद्र ने अपने ग्रन्थों में तर्क और युक्ति के बल पर ही अनेकान्तवाद की भव्य स्थापना की है। फिर आगे चलकर अकलंक और हरिभद्र ने इस तर्कवादी मोर्चे को सम्भाला और विभिन्न प्रकार के तर्कों के बदले प्रति तर्क उपस्थित किए। सबसे अन्त में न्याय-युग के प्रखर पण्डित वाचक यशोविजयजी ने इस तर्कवादी मोर्चे को सम्भाला और नवीन न्याय की शैली में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। परन्तु इस तर्क-युग में तर्क और प्रति तर्क करते हुए भी जैन विद्वान

१७

ससार और मोक्ष

• • •

सम्यक् दर्शन की चर्चा बहुत हो चुकी है फिर भी चर्चा को किनारा नही मिला है ? क्योकि सम्यक् दर्शन एक ऐसा विषय है जिस पर सम्पूर्ण जीवन भर भी लिखा जाए अथवा बोला जाए तो उसका अन्त नही आ सकता अन्त आ भी कैसे सकता है ? क्योकि प्रत्येक गुण जब अपने शुद्ध स्वरूप मे पहुँच जाता है तब वह अनन्त हो जाता है। यद्यपि तत्त्व श्रद्धानरूप मूलस्वरूप की दृष्टि से सम्यक् दर्शन मे किसी प्रकार का भेद अथवा खण्ड नही होता किन्तु किसी एक व्यक्ति की अपेक्षा अथवा देश और काल आदि की अपेक्षा उसके भेद एव प्रभेदो की कोई इयत्ता नही है और तदनुसार सम्यक् दर्शन की व्याख्या एव परिभाषाओ की भी कोई एक सीमा नही रहती है। गगा की एक ही निर्मल एव अखण्ड धारा होती है। गगा का जल जब अपनी मूल धारा मे प्रवाहित रहता है तो उसमे किसी प्रकार का भेद उपस्थित नही होता परन्तु जब धारा के जल को व्यक्ति अपने-अपने पात्र विशेष मे बन्द कर लेते है तब वह जल

एक होकर भी अनेक बन जाता है। इसी प्रकार सम्यक् दर्शन अपने आप मे एक अखण्ड तत्व होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति विभिन्न देश और विभिन्न काल के विभिन्न व्यक्तियो मे होने के कारण वह एक होकर भी अनेक हो जाता है। सम्यक् दर्शन के इस विशाल एव विराट रूप को समझने के लिए, किसी न किसी प्रकार का आधार अवश्य चाहिए। प्रश्न है, वह आधार क्या हो और कैसा हो ? भूतकाल के ग्रन्थकारो ने अपने-अपने ग्रन्थो मे उसका कैसा अकन एव चित्रण किया है ? यह प्रश्न बडा ही महत्वपूर्ण है। मुझे उक्त प्रश्न के समाधान मे केवल इतना ही कहना है, कि यदि आप उन ग्रन्थकारो के शब्दो को पकडेंगे, तब तो समाधान यह होगा कि जितने ग्रन्थकार हैं, उतने ही सम्यक् दर्शन की व्याख्या, परिभाषा और लक्षण हैं। इसके विपरीत जब आप उन ग्रन्थकारो की भाषा को न पकड कर, मूलभाव को ग्रहण करें, तब सबका लक्षण एक ही होगा, सबकी व्याख्या एक ही होगी और सबकी परिभाषा भी एक ही होगी। उसमे किसी प्रकार का भेद नही हो सकता।

सबसे पहला और सबसे मुख्य प्रश्न यह है, कि सम्यक्दर्शन क्या वस्तु है ? उसका क्या स्वरूप है और उसका क्या लक्षण है ? इस प्रश्न के समाधान मे कहा गया है, कि सप्त तत्व और नव पदार्थ पर श्रद्धान करना ही सम्यक् दर्शन है। जैन-दर्शन मे यह कहा गया है, कि पञ्च अस्तिकाय, षड्द्रव्य, सप्त तत्व और नवपदार्थ पर श्रद्धान करना, सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन का यह लक्षण ऐसा है, जिसे घूम फिर कर सभी ग्रन्थकारो ने स्वीकार किया है। ग्रन्थकारो की ही बात नही है, मूल आगम मे भी सम्यक् दर्शन का यही लक्षण किया गया है, और ग्रन्थकारो ने इसी को अपना आधार बनाया है। किसी भी युग का आचार्य क्यों न हो उसका मूल आधार तो वीतरागवाणी आगम ही रहेगा। आज मैं भी आपके समक्ष सम्यक् दर्शन की जो परिभाषा एव व्याख्या उपस्थित कर रहा हूँ, उसका आधार भी वीतरागवाणी आगम ही है। हमारा सौभाग्य है, कि हम एक ऐसे युग मे पैदा हुए हैं, जिसमे आगम और आगम के बाद के विशिष्ट आचार्यों का चिन्तन हमे उपलब्ध हुआ है। जैसे मूल आगम से आचार्यो ने भाव ग्रहण करके, उसे पल्लवित किया है, वैसे ही आज हम भी आगम और उत्तरकालीन ग्रन्थो के चिन्तन को लेकर उसे पल्लवित कर देते हैं। क्योकि सत्य सदा त्रैकालिक होता है, वह न कभी नया होता है और न कभी पुराना होता है। सत्य एक ही होता है, किन्तु उसे अभिव्यक्त करने वाली पद्धति

और शैली युगानुकूल बदलती रहती है। मैं आज आपके समक्ष जो सम्यक् दर्शन के स्वरूप का प्रतिपादन कर रहा हूँ और उसके लक्षण का कथन करने का प्रयत्न कर रहा हूँ वह पूर्वकालीन चिन्तन और साथ ही मेरे अपने वर्तमान चिन्तन का परिणाम ही है।

आज का सबसे मुख्य प्रश्न यह है कि सम्यक् दर्शन क्या है? यह प्रश्न आज ही उत्पन्न नहीं हुआ अतीत काल में भी उत्पन्न हो चुका है और अनन्त भविष्य में भी उत्पन्न होता रहेगा। परन्तु सभी युगों में मूलरूप से इसका एक ही उत्तर दिया जाता रहा है कि सप्त तत्त्व एवं नव पदार्थ पर यथार्थश्रद्धान ही सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन की इससे सुन्दर अन्य कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती। एक बात ध्यान में रहे। इस सम्बन्ध में पहले भी बताया जा चुका है कि सम्यक्दर्शन वास्तव में अनुभूति का विषय है। फिर भी यह सत्य है कि मन्द बुद्धि साधक को समझाने के लिए, उसका कुछ न कुछ शाब्दिक लक्षण करना ही होगा और वही लक्षण मैंने आपको बतलाया है। प्रश्न किया जा सकता है कि जब तत्त्व-श्रद्धान अथवा पदार्थ-श्रद्धान ही सम्यक् दर्शन है तब यह जिज्ञासा रहती है कि वह तत्त्व क्या है और कितना है? इसके समाधान में कहा गया है कि यथाभूत सत् अर्थ तत्त्व है और वह सात प्रकार का है—जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष। यदि इन सात तत्त्वों में आस्रव अथवा बन्ध के साथ पुण्य और पाप को और मिला दिया जाए, तब वे नव पदार्थ हो जाएँगे। इन तत्त्व एवं पदार्थों पर यथार्थ श्रद्धान सम्यक् दर्शन है और यथार्थ बोध सम्यक् ज्ञान है और उनका यथार्थ परिपालन सम्यक् चारित्र है। परन्तु इतनी बात ध्यान में रखिए, कि सम्यक् दर्शन के होने पर ही ज्ञान सम्यक् बनता है और चारित्र सम्यक् चारित्र बनता है।

भारतीय दर्शन में और विशेषतः अध्यात्मवादी दर्शन में साधना के स्वरूप का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। भारतीय दर्शन बाहर में देव गुरु और धर्म की बात अवश्य करता है परन्तु फिर वह झट अन्दर की ओर चला जाता है। अन्दर में यदि सत्य है तभी तो वह बाहर में प्रकट होगा। यदि अन्दर में ही अन्धकार है तो बाहर में प्रकाश कैसे फैलेगा? प्रत्येक सद्गुरु साधक से कहता है कि नरक और स्वर्ग तथा मोक्ष—ये कहीं बाहर में नहीं हैं ये तो मूलतः तेरे अन्दर में ही हैं। तेरे मन के अन्दर का नरक ही तुझे नरक में ले जाता है, तेरे मन के अन्दर का स्वर्ग ही तुझे स्वर्ग में ले जाता है और तेरे मन के अन्दर का मोक्ष ही तुझे मोक्ष में ले जाता है। यदि अन्धकार

से प्रकाश मे आना तुझे अभीष्ट है, तो पहले अपने मन के अन्धकार को दूर कर। अन्दर मन मे प्रकाश नही है, तो तेरे लिए बाहर भी प्रकाश नही है और यदि तेरे मन मे अन्दर अन्धकार नही है, तो बाहर भी तेरे लिए अन्धकार नही है। पुण्य और पाप के बीज तथा धर्म और अधर्म के बीज पहले तेरे अन्तर्मन मे ही प्रकट होते हैं। मनुष्य अपने जीवन मे जो पुण्य करता है वह क्यो करता है? इसलिए कि उसके मन मे पुण्य है। यदि मनुष्य अपने जीवन मे पाप करता है, तो इसलिए, कि उसके अन्तर्मन मे पाप है। जो कुछ तेरे अन्दर मे है, वही तो बाहर प्रकट होता है। इसलिए तू बाहर मे कैसा है, इसके लिए तुझे सर्वप्रथम यह सोचना होगा, कि मैं अन्दर मे कैसा हूँ?

सम्यक् दर्शन के सम्बन्ध में एक बात और सोचने एव समझने की है, कि उस पर किसी व्यक्ति विशेष या जाति विशेष की बपौती नही है और न उस पर किसी का पैतृक अधिकार है। जो श्रम एव साधना करेगा, वही उसे प्राप्त करेगा। सम्यक् दर्शन कोई ऐसी वस्तु नही है, जिसे पिता अपने पुत्र को उत्तराधिकार मे दे सके, अथवा गुरु अपने शिष्य को उत्तराधिकार मे दे सके। वह कोई धन-वैभव की वस्तु नही है, वह कोई राज्य-सिहासन नही है, जिसे उत्तराधिकार मे अपने उत्तराधिकारी को सौपा जा सके। वह तो साधक की अपनी निजी चीज है और अपनी निजी चीज पर सभी का अधिकार होता है। अपने स्वरूप की प्राप्ति का अधिकार सभी को है। शास्त्रकारो ने कहा है कि नव तत्वो की चर्चा अथवा नव-पदार्थों की चर्चा, केवल बुद्धि विलास के लिए नही है, यह तो स्वस्वरूप को समझने के लिए है और स्वस्वरूप की उपलब्धि के लिए है। आत्म-विवेक और आत्म-परिबोध के लिए है।

भारतीय दर्शनो मे, जिनका मूलस्वर मैं एक ही प्रकार का सुनता हूँ, किन्तु अपनी बात को कहने की जिनकी शैली भिन्न-भिन्न है, प्रश्न उठाया गया है कि मोक्ष एव मुक्ति का मार्ग, उपाय, साधन एव कारण क्या है? यह प्रश्न बहुत ही गम्भीर है। प्रत्येक युग के समर्थ आचार्य ने अपने युग की जन-चेतना के समक्ष इसका समाधान करने का प्रयत्न किया है। किन्तु जैसे-जैसे युग आगे बढा, वैसे-वैसे यह प्रश्न भी आगे बढता रहा, और हजार वर्ष पहले जैसा प्रश्न था, वैसा प्रश्न आज भी है। भौतिकवादी दर्शन को छोडकर, समग्र अध्यात्मवादी दर्शन का लक्ष्य एव साध्य एक ही है—मोक्ष एव मुक्ति। साध्य मे किसी प्रकार का विवाद नही है,

विवाद है केवल साधन में। एक ने कहा है—मुक्ति का एक मात्र साधन ज्ञान ही है। दूसरे ने कहा है—मुक्ति का एक मात्र साधन भक्ति ही है। और तीसरे ने कहा है मुक्ति का एकमात्र साधन कर्म ही है। मैं विचार करता हूँ कि एक ही साध्य को प्राप्त करने के लिए उसके साधन के रूप में किसी ने ज्ञान पर बल दिया किसी ने भक्ति पर बल दिया और किसी ने कर्म पर बल दिया। संसार में जितने भी साधना के मार्ग हैं क्रिया-कलाप हैं अथवा क्रियाकाण्ड हैं वे सब साधना के कलेवर तो हो सकते हैं किन्तु उसकी मूल आत्मा नहीं। किसी भी पंथ का विरोध करना मेरा उद्देश्य नहीं है मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि जो कुछ भी किया जाए सोच समझ कर किया जाना चाहिए। प्रत्येक साधक की रुचि अलग-अलग होती है कोई दान करता है कोई तप करता है और कोई सेवा करता है। दान तप और सेवा तीनों धर्म हैं किन्तु तब जबकि विवेक का दीपक घट में प्रकट हो गया हो। इसी प्रकार कोई सत्य की साधना करता है कोई अहिंसा की साधना करता है और कोई ब्रह्मचर्य की साधना करता है। किसी भी प्रकार की साधना की जाए कोई आपत्ति की बात नहीं है परन्तु ध्यान इतना ही रहना चाहिए कि वह साधना विवेक के प्रकाश में चलती रहे। अलग अलग राह पर चलना भी कोई पाप नहीं है यदि आत्मा के मूलस्वरूप की दृष्टि को पकड़ लिया है तो जिस व्यक्ति के हृदय में विवेक के दीपक का प्रकाश जगमगाता है वह जो भी साधना करता है वह उसी में एकरूपता एकरसता और समरसता प्राप्त कर लेता है। जीवन में समरसीभाव की उपलब्धि होना ही वास्तविक साधना है।

अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में विशुद्ध ज्ञान का बड़ा ही महत्त्व है। भारत के अध्यात्मवादी दर्शनों में इस विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है कि ज्ञान भी मुक्ति का एक साधन है। वेदान्त और सांख्य एक मात्र तत्त्व ज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान को ही मुक्ति का साधन स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ दार्शनिक भक्ति को ही मुक्ति का सोपान मानते हैं और कुछ केवल क्रिया काण्ड एवं कर्म को ही मुक्ति का कारण मानते हैं। जैन-दर्शन का कथन है कि तीनों का समन्वय ही मुक्ति का साधन हो सकता है। इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है कि अज्ञान और वासना के सघन अन्धकार को समाप्त करने वाला एकमात्र ज्ञान ही है। ज्ञान का अर्थ यहाँ पर किसी पुस्तक या पोथी का

ज्ञान नही है, अपने स्वरूप का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। "मैं हूँ" यह ज्ञान जिसे हो गया, उसे फिर अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नही रहती। परन्तु यह स्वरूप का ज्ञान भी तभी सम्भव है, जब कि उससे पहले सम्यक् दर्शन हो चुका हो। क्योंकि सम्यक् दर्शन के बिना जैनत्व का एक अश भी प्राप्त नही हो सकता है। यदि सम्यक् दर्शन की एक किरण भी जीवन-क्षितिज पर चमक जाती है, तो गहन से गहन गर्त में पतित आत्मा के भी उद्धार की आशा हो जाती है। सम्यक् दर्शन की उस किरण का प्रकाश भले ही कितना ही मन्द क्यो न हो, परन्तु उसमे आत्मा को परमात्मा बनाने की शक्ति होती है। याद रखिए, उस निरजन, निर्विकार, शुद्ध, बुद्ध, परमात्मा को खोजने के लिए कही बाहर भटकने की आवश्यकता नही है, वह आपके अन्दर मे ही है। जिस प्रकार घन-घोर घटाओ के बीच, बिजली की क्षीण रेखा के चमक जाने पर क्षणमात्र के लिए सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है, उसी प्रकार एक क्षण के लिए भी सम्यक् दर्शन की ज्योति के प्रकट हो जाने पर कभी न कभी आत्मा का उद्धार अवश्य हो ही जाएगा। बिजली की चमक मे सब कुछ दृष्टिगत हो जाता है, भले ही वह कुछ क्षण के लिए ही क्यो न हो ? इसी प्रकार यदि परमार्थ तत्व के प्रकाश की एक किरण भी अन्तर्हृदय मे चमक जाती है, तो फिर भले ही वह कितनी ही क्षीण क्यो न हो, उसके प्रकाश मे ज्ञान सम्यग् ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान को सम्यक् ज्ञान बनाने वाला, सम्यक् दर्शन ही है। यह सम्यक् दर्शन जीवन का मूलभूत तत्व है।

मैं आपसे कह रहा था, कि सप्त तत्व और नव पदार्थ पर श्रद्धान करना ही, सम्यक् दर्शन है। तत्वो मे अथवा पदार्थों मे सबसे पहला जीव ही है। जीव, चेतन, आत्मा और प्राणी ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। इस अनन्त विश्व मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण यदि कोई तत्व है, तो वह आत्मा ही है। 'मैं' की सत्ता का विश्वास और बोध यही अध्यात्म-साधना का चरम लक्ष्य है। इस समग्र ससार मे जो कुछ भी ज्ञात एव अज्ञात है, उस सबका चक्रवर्ती एव अधिष्ठाता यह आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त ससार मे अन्य दूसरे तत्व या पदार्थ हैं, वे सब उसके सेवक या दास हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल ये पाँचो द्रव्य जीव के सेवक और दास हैं। इनको इतना भी अधिकार नही है, कि वे जीव रूप राजा की आज्ञा मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित कर सकें। जीव रूपी राजा को धर्मा-

स्तिकाय सेवक यह आदेश नहीं दे सकता कि चलो जल्दी करो। अधर्मास्तिकाय सेवक उस राजा को यह नहीं कह सकता कि जरा ठहर जाओ। आकाशास्तिकाय यह नहीं कह सकता कि यहाँ ठहरिए और यहाँ नहीं। पुद्गलास्तिकाय सदा उसके उपभोग के लिए तैयार खड़ा रहता है। काल भी उसकी पर्यायपरिवर्तन के लिए प्रतिक्षण तैयार रहता है। ये सब जीव के प्रेरक कारण नहीं मात्र उदासीन और तटस्थ कारण ही होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सात तत्त्वों में षड्द्रव्यों में और नव पदार्थों में सबसे मुख्य और सबसे प्रधान जीव ही है। इसी आधार पर जीव को चक्रवर्ती और अधिष्ठाता कहा जाता है। एक बात और है हम जीव को अपनी अलङ्कृत भाषा में भले ही चक्रवर्ती कह लें वस्तुतः वह चक्रवर्ती से भी महान् है क्योंकि चक्रवर्ती केवल सीमित क्षेत्र का ही अधिपति होता है। सीमा के बाहर एक अणुमात्र पर भी उसका अधिकार नहीं होता और उसका शासन नहीं चल सकता। परन्तु जीव में वह शक्ति है कि जब वह केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है एवं अरिहन्त बन जाता है तब वह त्रिलोकनाथ और त्रिलोकपूजित हो जाता है। त्रिलोक के समक्ष चक्रवर्ती के छह खण्ड का विशाल राज्य भी महासिन्धु में मात्र एक बिन्दु के समान ही होता है। चक्रवर्ती को चक्रवर्ती अन्य कोई व्यक्ति नहीं बनाता है वह अपनी निज की शक्ति से ही चक्रवर्ती बनता है। इसी प्रकार इस आत्मा को भी त्रिलोकनाथ और त्रिलोकपूजित बनाने वाली अन्य कोई शक्ति नहीं है आत्मा स्वयं अपनी शक्ति से ही तीन लोक का नाथ और तीन लोक का पूज्य बन जाता है। मैं आपसे यह कह रहा हूँ कि आत्मा को परमात्मा बनाने वाला अन्य कोई नहीं होता। स्वयं आत्मा ही अपने विकल्प और विकारों को नष्ट करके आत्मा से परमात्मा बन जाता है।

आप इस बात को जानते ही हैं कि सिंह को वन-राज कहा जाता है। वन राज का अर्थ है—वन का राजा वन का सम्राट और वन का चक्रवर्ती। मैं पूछता हूँ आपसे कि आखिर उस सिंह को वन का राजा किसने बनाया? और ऐसा पशु एवं पक्षी है जो आगे बढ़कर उसका राज्याभिषेक करता है। सिंह को वन का राज्य दिया नहीं जाता बल्कि वह स्वयं अपनी शक्ति से उसका उपार्जन करता है। इसी प्रकार यहाँ पर भी यही सत्य है कि इस जीव को त्रिलोक का नाथ दूसरा कोई बनाने वाला नहीं है वह स्वयं ही अपनी शक्ति से तीन लोक का नाथ बन जाता है। जैसे

राजा के सेवक सदा राजा के आदेश का पालन करने के लिए तत्पर खडे रहते हैं, वैसे ही जीव रूप राजा के आदेश का पालन करने के लिए, अन्य द्रव्य, अन्य तत्व और अन्य पदार्थ सदा तत्पर खडे रहते हैं। किसी मे यह ताकत नही है, कि उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे चला सके, ठहरा सके अथवा अन्य भी कोई कार्य करा सके। जब उसकी इच्छा होती है, वह चलता है, जब उसकी इच्छा होती है, तब वह ठहरता है, जब उसकी इच्छा होती है तभी वह अपना अन्य कोई कार्य सपादन करता है। अन्य पदार्थ तो केवल उसकी आज्ञा-पालन मे तैयार खडे रहते हैं। कुछ भी करने वाला और कुछ भी न करने वाला तो स्वय जीव ही है। अन्य पदार्थ उसके कार्य मे अथवा क्रिया कलाप मे निमित्त मात्र ही रहते हैं। और निमित्ति भी प्रेरक नही, केवल उदासीन ही। यह जड शरीर और इसके अन्दर रहने वाली ये इन्द्रियाँ और मन भी तभी तक कार्य करते हैं, जब तक जीव रूप राजा इस शरीर रूप प्रासाद मे रहता है। उसकी सत्ता पर ही इस ससार के सारे खेल चलते हैं। इस जडात्मक जगत का अधिष्ठाता और चक्रवर्ती यह जीव जब तक इस देह मे है, तभी तक यह देह हरकत करता है, इन्द्रियाँ अपनी प्रवृत्ति करती हैं और मन अपना काम करता है। इस तन मे मे जब चेतन निकल जाता है, तब तन, मन और इन्द्रियाँ सब निरर्थक हो जाती हैं। इसी आधार पर मैं आपसे यह कह रहा था कि तत्वो मे मुख्य तत्व जीव हैं, द्रव्यो मे मुख्य द्रव्य जीव है और पदार्थो मे प्रधान पदार्थ जीव है। इस अनन्त सृष्टि का अधिनायकत्व जो जीव को मिला है, उसका मुख्य कारण, उसका ज्ञान-गुण ही है। ज्ञान होने के कारण ही यह ज्ञाता है और शेप समार ज्ञेय है। जीव उपभोक्ता है और शेप समग्र ससार उसका उपभोग्य है, ज्ञाता है, तभी ज्ञेय की सार्थकता है, उपभोक्ता है, तभी उपभोग्य की सफलता है। इस अनन्त विश्व मे जीवात्मा अपने शुभ या अशुभ कर्म करने मे स्वतन्त्र है वह पाप भी कर सकता है और पुण्य भी कर सकता है, वह अच्छा भी कर सकता है और बुरा भी कर सकता है। पाप करके यह नरक मे जा सकता है, पुण्य करके यह स्वर्ग मे जा सकता है तथा सवर एव निर्जरा रूप धर्म की साधना करके, यह मोक्ष में भी जा सकता है। मोक्ष अथवा मुक्ति जीव की ही होती है, अजीव की नही। जब हम अजीव शब्द का उच्चारण करते हैं, तो उसमे भी मुख्य रूप से जीव की ध्वनि ही कर्णगोचर होती है क्योकि जीव का विपरीत भाव ही तो अजीव है। कुछ लोग तर्क

करते हैं कि जीव से पहले अजीव को क्यों नहीं रक्खा ? यदि सात तत्त्वों में, षड् द्रव्यों में और नव पदार्थों में पहले जीव को न कहकर अजीव का ही उल्लेख किया जाता तो क्या आपत्ति थी ? सबसे पहले हमारी अनुभूति का विषय यह जड़ पदार्थ ही बनता है। यह शरीर भी जड़ है, इन्द्रियाँ भी जड़ है और मन भी जड़ है। जीवन की प्रत्येक क्रिया जड़ एवं पुद्गल पर ही आधारित है, फिर जीव से पूर्व अजीव क्यों नहीं ?

आपने देखा कि कुछ लोग अजीव की प्रमुखता के समर्थन में किस प्रकार तर्क करते हैं ? मेरा उन लोगों से एक ही प्रति प्रश्न है, प्रतितर्क है। यदि इस तन में से चेतन को निकाल दें, यदि इस देह से ब्रह्म को निकाल दें तो इस शरीर की क्या स्थिति रहेगी ? चेतन हीन और जीव विहीन शरीर को आप लोग शव कहते हैं। याद रखिए, इस शिव के सम्बन्ध से ही यह शव शिव बना हुआ है। यदि सात तत्त्वों में अथवा नव पदार्थों में जीव से पहले अजीव को रख दिया गया होता तो यह इन्सान के दिमाग का दिवालियापन ही होता। और तो क्या मोक्ष की बात को भी पहले नहीं रखा, सबसे अन्त में रखा है। सबका राजा तो आत्म ही है, उसी के लिए यह सब कुछ है, उसकी सत्ता से ही अजीव की सार्थकता है। पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा स्वतन्त्र कहाँ हैं, जीव की ही अवस्था विशेष हैं ये सब। मोक्ष भी जीव की ही अवस्था है और मोक्ष के हेतु संवर और निर्जरा भी जीव के ही स्वरूप हैं। बन्ध और मोक्ष जीव के अभाव में किसको होंगे ? अतः संसार में जीव की ही प्रधानता है।

संस्कृत भाषा में जिसे आत्मा कहते हैं, हिन्दी भाषा का 'आप' शब्द उसी का अपभ्रंश है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा से ही प्राकृत का अप्पा और अप्पा से हिन्दी का 'आप' बना है। आप और आत्मा दोनों का अर्थ एक ही है। आत्मा की बात अपनी बात है और अपनी बात आत्मा की बात है। यही जीवन का मूल तत्त्व है जिस पर जीवन की समस्त क्रियाएँ आधारित हैं। जब तक यह शरीर में विद्यमान रहता है, तभी तक शरीर क्रिया करता है। शुभ क्रिया अथवा अशुभ क्रिया का आधार जीव ही है। जीवन के अभाव में न शुभ क्रिया हो सकती है और न अशुभ क्रिया हो सकती है। मन, वचन और शरीर की जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, उन सबका आधार जीव ही तो होता है। यदि आत्म-तत्त्व न हो तो फिर इस विश्व में कोई भी व्यवस्था न रहे।

पर न यह जाना जाता है कि आत्मा शब्द का प्रयोग हिन्दी में उभयलिंग में किया जाता है। यह सब व्यवहार दृष्टि है निश्चय दृष्टि में तो आत्मा का कोई लिंग होता ही नहीं। आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। आत्मा न बाल है, न तरुण है, न प्रौढ़ है और न वृद्ध है। ये सब अवस्थाएँ आत्मा की नहीं शरीर की होती हैं। परन्तु इनके आधार पर शरीर को आत्मा समझना और आत्मा को शरीर समझना एक भयंकर मिथ्यात्व है। जब तक यह मिथ्यात्व नहीं टूटेगा तब तक आत्मा का उद्धार और कल्याण भी नहीं हो सकेगा। इस मिथ्यात्व को तोड़ने की शक्ति एकमात्र सम्यक् दर्शन में ही है।

मैं आपसे कह रहा था कि जीवन के रहने पर ही सब कुछ रहता है और जीवन के न रहने पर कुछ भी नहीं रहता। इसी आधार पर अध्यात्मवादी दर्शन में जीव को अन्य सभी तत्त्वों का राजा कहा है। यदि इस जीव, चेतन और आत्मा का वास्तविक बोध हो जाता है, तो जीव से भिन्न अजीव को एवं जड़ को पहचानना आसान हो जाता है। अजीव के परिज्ञान के लिए भी पहले जीव का परिबोध ही आवश्यक है। अपने को जानो, अपने को पहचानो यही सबसे बड़ा सिद्धान्त है, यही सबसे बड़ा ज्ञान है और यही सबसे बड़ा सम्यक् दर्शन है। जीव की पहचान ही सबसे पहला तत्त्व है। जब जीव का ज्ञान हो जाता है, तब प्रश्न उठता है कि क्या इस संसार में जीव का प्रतिपक्षी भी कोई तत्त्व है? इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि जीव का प्रतिपक्षी अजीव है। अतः अजीव के ज्ञान के लिए जीव को ही आधार बनाना पड़ता है। इसीलिए मैंने कहा था कि सप्त तत्त्वों में, षड् द्रव्यों में और नव पदार्थों में सबसे मुख्य तत्त्व और सबसे मुख्य द्रव्य एवं प्रधान पदार्थ जीव ही है। जीव के ज्ञान के साथ अजीव का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है। शास्त्रकारों ने जीव का लक्षण बतलाया है—उपयोग। और अजीव के लिए कहा है कि जिसमें उपयोग न हो वह अजीव है। अजीव का शब्दार्थ ही है कि जो जीव न हो वह अजीव अर्थात् अ+जीव। अतः अजीव से पहले जीव का ही प्रमुख स्थान है।

जीव और अजीव के बाद आस्रव तत्त्व आता है। आस्रव क्या है? जीव और अजीव का परस्पर विभावरूप परिणति में प्रवेश ही आस्रव है। दो विजातीय पृथक्भूत तत्त्वों के मिलन की क्रिया विभाव परिणाम ही आस्रव है। जीव की विभाव रूप परिणति और अजीव की विभाव रूप परिणति ही वस्तुतः आस्रव है। एक ओर आत्मा

रागद्वेपरूप विभाव अवस्था मे परिणत होता है, तो दूसरी ओर कार्मण पुद्गल भी कर्मरूप विभाव अवस्था मे परिणति करता है। उक्त उभयमुखी विभाव के द्वारा जब जीव और अजीव का सयोग होता है, उस अवस्था को शास्त्रकारो ने आस्रव कहा है। इसीलिए जीव और अजीव के बाद आस्रव को रखा गया है।

आस्रव के बाद बन्ध आता है। बन्ध का अर्थ है—कर्म पुद्गल रूप अजीव और जीव का दूध और पानी के समान एक क्षेत्रावगाही हो जाना। बन्ध का अर्थ है—वह अवस्था, जब कि दो विजातीय तत्त्व परस्पर मिल कर सम्बद्ध हो जाते हैं। इसी को ससार अवस्था कहा जाता है।

पुण्य और पाप, जो कि शुभ क्रिया एव अशुभ क्रियाएँ हैं, उनका अन्तर्भाव आस्रव मे और बन्ध मे कर दिया जाता है। आस्रव दो प्रकार का होता है—शुभ और अशुभ। आस्रव के बाद बन्ध की प्रक्रिया होती है, अत बन्ध भी दो प्रकार का होता है—शुभ बन्ध और अशुभ बन्ध। इस प्रकार शुभ और अशुभ रूप पुण्य और पाप दोनो ही आस्रव और बन्ध मे अन्तर्भुक्त है। यहाँ तक ससार-अवस्था का ही मुख्य रूप मे वर्णन है। बाहर के किसी भी वन, पर्वत, नदी आदि जड पदार्थ को ससार नही कहा जाता। वास्तविक ससार तो कर्म परमाणुओ का अर्थात् कर्म दलिको का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाना ही है। जब तक जीव और पुद्गल की यह सयोग अवस्था रहेगी, तब तक ससार की स्थिति और सत्ता भी रहेगी। यह स्वर्ग और नरको के खेल, यह पशु-पक्षी और मानव का जीवन, सब आस्रव और बन्ध पर ही आधारित हैं। शुभ और अशुभ अर्थात् पुण्य और पाप, यह भी सब ससार के ही खेल हैं। इन से आत्मा का कोई हित नही होता, बल्कि अहित ही होता है। अध्यात्म-ज्ञानी की दृष्टि मे शुभ भी बन्धन है और अशुभ भी बन्धन है, पाप भी बन्धन है, और पुण्य भी बन्धन है, सुख भी ससार है, और दुःख भी ससार है शुभ भी ससार है और अशुभ भी ससार है।

प्रश्न होता है, कि यदि यह सब कुछ ससार है, तो ससार का विपरीत भाव मोक्ष क्या है ? इसके समाधान मे कहा गया है, कि आत्मा की विशुद्ध अवस्था ही मोक्ष है, जो शुभ और अशुभ दोनो से अतीत है। दुःख की व्याकुलता यदि ससार है तो सुख की आसक्ति रूप आकुलता भी ससार ही है। मोक्ष की स्थिति मे न दुःख की व्याकुलता रहती है, और न सुख की आकुलता ही रहती है। जब तक जीव इस भेद-विज्ञान को नही समझेगा, तब तक वह ससार से

निकल कर मोक्ष के स्वरूप में रमण नहीं कर सकेगा। पुद्गल और जीव का संयोग यदि संसार है तो पुद्गल और जीव का वियोग ही मोक्ष है परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि जो अजीव कर्म पुद्गल जीव के साथ सम्बद्ध होने वाला है या हो चुका है उसे जीव से अलग रखने या अलग करने का प्रयत्न किया जाए, इसी को मोक्ष की साधना कहते हैं। इस साधना का मुख्य केन्द्र-बिन्दु है आत्मा और अनात्मा का भेद विज्ञान। जब तक जीव पृथक् है और अजीव पृथक् है यह भेद-विज्ञान नहीं हो जाता है तब तक मोक्ष की साधना सफल नहीं हो सकती। यह भेद विज्ञान तभी होगा जब कि आत्मा को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो जायगी। सम्यक् दर्शन के अभाव में न मोक्ष की साधना ही की जा सकती है और न वह किसी भी प्रकार से फलवती ही हो सकती है। भेद विज्ञान का मूल आधार सम्यक् दर्शन ही है। सम्यक् दर्शन के अभाव में जीवन की एक भी क्रिया मोक्ष का अंग नहीं बन सकती प्रत्युत उससे संसार की अभिवृद्धि ही होती है। मोक्ष की साधना के लिए साधक को जो कुछ करना है वह यह है कि वह शुभ और अशुभ दोनों से दूर हो जाए। न शुभ को अपने अन्दर आने दे और न अशुभ को ही अपने अन्दर आने दे। जब तक अन्दर के शुभ एवं अशुभ के विकल्प एवं विकार दूर नहीं होंगे तब तक मोक्ष की सिद्धि नहीं की जा सकेगी। आस्रव से बन्ध और बन्ध से फिर आस्रव यह चक्र आज का नहीं अनादि काल का है परन्तु इससे विमुक्त होने के लिए आत्म ज्ञान और अपनी सत्ता का पूर्ण विश्वास जाग्रत होना ही चाहिए। शुभ और अशुभ के विकल्प जब तक बने रहेंगे तब तक संसार का अन्त नहीं हो सकता भले ही हम कितना ही प्रयत्न क्यों न कर लें।

संसार के विपरीत मोक्ष-मार्ग की साधना करना ही अध्यात्म वाद है। मोक्ष का अर्थ है—आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था जिसमें आत्मा का किसी भी विजातीय तत्त्व के साथ संयोग नहीं रहता और समस्त विकल्प एवं विकारों का अभाव होकर, आत्मा स्व स्वरूप में स्थिर हो जाता है। जिस प्रकार संसार के दो कारण हैं—आस्रव और बन्ध। उसी प्रकार मोक्ष के भी दो कारण हैं—संवर और निर्जरा। संवर क्या है? प्रतिक्षण कर्म दलिकों का जो आत्मा में आगमन है उसे रोक देना। प्रतिक्षण आत्मा कषाय और योग के वशीभूत होकर, नवीन कर्मों का उपार्जन करता रहता है उन नवीन कर्मों के आगमन को रोक देना ही संवर कहा

जाता है। निर्जरा क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि पूर्वबद्ध कर्मों का एक देश से आत्मा से अलग हटते रहना ही निर्जरा है। इस प्रकार धीरे-धीरे जब पूर्वबद्ध कर्म आत्मा से अलग होता रहेगा, तब एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब कि आत्मा सर्वथा कर्म-विमुक्त बन जाए। वस्तुत इसी को मोक्ष कहा जाता है। संवर और निर्जरा मोक्ष के हेतु हैं। क्योंकि ये दोनों आस्रव और बन्ध के विरोधी तत्व हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है, कि जब तक संवर और निर्जरा रूप धर्म की साधना नहीं की जाएगी, तब तक मुक्ति की उपलब्धि भी सम्भव नहीं है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए संवर एवं निर्जरा की साधना आवश्यक है, इसके बिना आत्मा को स्वस्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती।

मैं आपसे कह रहा था कि सप्त तत्वों में अथवा नव पदार्थों में जीव ही प्रधान है। जीव के अतिरिक्त अन्य जितने भी पदार्थ एवं तत्त्व हैं, वे सब किसी न किसी प्रकार जीव से ही सम्बन्धित हैं। जीव की सत्ता के कारण ही आस्रव और बन्ध की सत्ता रहती है और जीव के कारण ही संवर एवं निर्जरा की सत्ता रहती है। मोक्ष भी क्या है, जीव की ही एक सर्वथा शुद्ध अवस्थाविशेष है। इस दृष्टि से विचार करने पर फलितार्थ यही निकलता है, कि जीव की प्रधानता है। समग्र अध्यात्म-विद्या का आधार ही यह जीव है, अतः जीव के स्वरूप को समझने की ही सबसे बड़ी आवश्यकता है। जीव के स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर और यह निश्चय हो जाने पर, कि मैं पुद्गल से भिन्न चेतन तत्त्व हूँ, फिर आत्मा में किसी प्रकार का मिथ्यात्व और अज्ञान का अन्धकार शेष नहीं रह सकता। अज्ञान और मिथ्यात्व का अन्धकार तभी तक रहता है, जब तक 'पर' में स्वबुद्धि रहती है और 'स्व' में पर-बुद्धि रहती है। स्व में पर बुद्धि का रहना भी बन्धन है और पर में स्व बुद्धि का रहना भी बन्धन है। स्व में स्व बुद्धि का रहना ही वस्तुत भेद विज्ञान है। जब स्व में स्वबुद्धि हो गई, तब पर में परबुद्धि तो अपने आप ही हो जाती है, उसके लिए किसी प्रकार के प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। प्रयत्न की आवश्यकता केवल स्व स्वरूप को समझने की है। जिसने स्व स्वरूप को समझ लिया उसे फिर अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रहती।

एक बार हम कुछ सन्त विहार-यात्रा कर रहे थे। सयोग की बात है, एक क्षेत्र में कुछ अधिक दिनों तक ठहरने का प्रसग आ गया। एक विरक्त गृहस्थ भाई भी अपने साथ था और गोचरी

करके भोजन लाता था। बचा हुआ भोजन भक्ती के कुत्ते को डाल देता था। जब हमने वहाँ से विहार किया तो वह कुत्ता भी साथ हो लिया। उसे दूर करने का बहुत प्रयत्न किया गया किन्तु कुछ दूर जाकर फिर लौट आता साथ के श्रावकों ने भी उसे वापिस गाँव में ले जाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु उस कुत्ते ने उस भाई का साथ नहीं छोड़ा। यह एक साधारण सी घटना है किन्तु विचार करने पर इसमें से एक बहुत बड़ा जीवन का मर्म निकलता है। जिस प्रकार रोटी का एक टुकड़ा डालने से कुत्ता साथ नहीं छोड़ता है उसी प्रकार संसार के ये कर्म-पुद्गल भी कुत्ते के समान हैं। राग एवं द्वेष का टुकड़ा डालने पर ये आत्मा के साथ चिपट जाते हैं फिर सहज ही आत्मा का साथ नहीं छोड़ते। राग द्वेष का टुकड़ा जब तक डाला जाता रहेगा तब तक कर्म रूप कुत्ता पीछा कैसे छोड़ सकता है? संसार एक बाजार है। आप जानते हैं कि बाजार में हजारों दुकानें होती हैं जिनमें नाना प्रकार की सामग्री भरी रहती है। बाजार में अच्छी चीज भी मिल सकती है और बुरी से बुरी चीज भी मिलती है। बाजार में कम कीमत की चीज भी मिल सकती है और अधिक मूल्य की वस्तु भी बाजार में उपलब्ध हो सकती है। यह खरीदने वाले की भावना पर है कि वह क्या खरीदता है और क्या नहीं खरीदता है? यदि कोई व्यक्ति वस्तु खरीद लेता है तो वह उसे लेनी होगी और उसकी कीमत चुकानी होगी। यदि कोई बाजार में से तटस्थ दर्शक के रूप में गुजरता है कुछ भी नहीं खरीदता है तो उसे दुकान की किसी वस्तु को लेने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है और न मूल्य चुकाने के लिए ही कोई दबाव डाला जा सकता है। संसार के बाजार में भी सभी कुछ है वहाँ विष भी है और अमृत भी है। वहाँ सुख भी है और दुःख भी है। वहाँ स्वर्ग भी है और नरक भी है। यदि आपकी दृष्टि कुछ भी खरीदने की नहीं है, मात्र दर्शक ही है आप तब तो समस्त बाजार में से पार होकर भी आप किसी वस्तु को लेने के लिए बाध्य न होंगे। बाजार की वस्तु उसी के चिपकती है जो उसे खरीदता है। जो व्यक्ति कुछ खरीदता ही नहीं उस व्यक्ति के साथ कोई भी वस्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध चिपट नहीं सकती। यदि आप संसार रूप बाजार की माला खरीददार बनकर चल रहे हैं संसार की वस्तुओं के साथ रागात्मक या द्वेषात्मक भाव रख रहे हैं तो तन्निमित्तक कर्म आपके साथ अवश्य चिपक जाएगा।

इसके विपरीत यदि आप ससार रूप बाजार की यात्रा केवल एक दर्शक के रूप मे कर रहे है, रागद्वेष का भाव नही रख रहे है, तो एक भी कर्म आपके साथ सम्बद्ध न हो सकेगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आप ससार के बाजार की यात्रा एक दर्शक के रूप मे कीजिए खरीददार बनकर नही। यदि एक बार भी कही कुछ खरीदा, राग द्वेष का भाव किया, तो समस्या ही खडी हो जाएगी। राग और द्वेष के वशीभूत होकर ही यह आत्मा अच्छे एव बुरे कर्मो का उपार्जन करता है, जिसका सुख दु खात्मक फल उसे भोगना पडता है।

• यहा पर मुझ एक पठान की कहानी याद आ रही है, जो हास्यात्मक होकर भी मानव जीवन के एक गहन मर्म को प्रकाशित करती है। घटना इस प्रकार है, कि काबुली पठान को एक बार कही दिल्ली जैसे शहर मे सोहन हलुवा खाने को मिला। उसने अपने जीवन मे यह पहली बार खाया था। सोहनहलुवा पठान को बहुत ही रुचिकर और प्रिय लगा। उसने उस व्यक्ति की बडी प्रशसा की, जिसने उसे सोहन हलवा खिलाया था। पठान ने विदा लेते समय बहुत ही कृतज्ञता व्यक्त की और कहा, कि आपने मुझे एक ऐसी सुन्दर वस्तु खिलाई है, जिसे मैं अपने जीवन मे नही भूल सकता। सयोग की बात कि कुछ वर्षो बाद वही पठान फिर उसी नगर मे किसी कार्यवश आया। एक दिन पठान नगर के बाजार मे इधर से उधर घूम रहा था, कि उसने एक दुकान पर सोहन हलुवे के आकार की और रग-रूप की बहुत सी साबुन की टिकियाँ रखी देखी। पठान सोहनहलुआ खाने की इच्छा का सवरण नही कर सका। साबुन की टिकिया को सोहन हलुवा समझकर दुकानदार से टिकिया तोल देने का कहा, दुकानदार से टिकिया खरीदकर पठान ने झोले मे डाली और चल दिया। कुछ दूर चलकर एक वृक्ष की शीतल छाया मे बैठ गया और खाने लगा। पठान ने ज्योही एक डली मुँह मे रखी, तो उसे बहुत खारा-पन प्रतीत हुआ, वह अपने मन मे सोचने लगा, शायद सोहन हलुवा दो प्रकार का होता हो, मीठा भी और खारा भी। वह साबुन का सोहनहलुवा समझकर खाता रहा, आखिर उसके मुँह मे आग सी लगने लगी, पेट कटने लगा और उसकी हालत बुरी हो गई। एक सज्जन व्यक्ति ने पठान की इस बुरी हालत को देखकर कहा, "पठान! यह क्या खा रहे हो?" पठान बोला—"दीखता नही है तुम्हे, सोहनहलुवा खा रहा हूँ।" आगन्तुक सज्जन ने पठान को

समझाते हुए कहा—"भले आदमी ! यह सोहनहलुआ नहीं है, यह तो साबुन की टिकिया है। यह खाने के काम की नहीं है, कपड़े धोने के काम आती है। इसे फेंक दो, मत खाओ। नहीं तो इसे खाकर तुम मर जाओगे।" पठान बोला 'मरें या जीवें, इसमें तुम्हें क्या मतलब? मैंने मुफ्त में नहीं, अपनी जेब से पैसा खर्च करके खरीदा है और अब खरीदा है तो खाना ही है, फिर चाहे पेट में पीड़ा हो, चाहे मौत हो।' संसारी मोहग्रस्त आत्मा की स्थिति भी उस नासमझ पठान जैसी ही है? संसार का प्रत्येक मोह-मुग्ध आत्मा वैसा ही काम करता है जैसा कि पठान ने किया था। आप भी जब संसार के बाजार में वस्तुओं के प्रति राग, द्वेष का कुछ मोल खरीद लाते हैं तो बन्धन में बद्ध होकर उसका फल भोगने के लिए विवश हो जाते हैं। जब कोई ज्ञानी आपको उस बन्धन की बात कहता है तब आप उसकी बात पर विश्वास नहीं करते। ज्ञानी कहता है कि संसार के बाजार में से शुभाशुभ विकल्पों से तटस्थ होकर निकलो। न पाप का सौदा खरीदो और न पुण्य का। पुण्य भी अन्ततः दुःखरूप ही है, सुखरूप नहीं। वह भी वस्तुतः बन्धन का तत्त्व है उसे समत्व की तराजू पर समान तोलकर अपनाने की भूल मत करो। परन्तु आप उस ज्ञानी की बात पर विश्वास नहीं करते और उस मोहक दुःखात्मक अथवा पाप पुण्यात्मक सुख की फिकर को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। यह बात निश्चित है कि जब तक आप शुभ या अशुभ का त्याग नहीं करेंगे तब तक विशुद्धभाव का आनन्द भी प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

मैं आपसे कह रहा था कि अध्यात्म-साधना में संलग्न होने वाले साधक के लिए राग और द्वेष के विकल्पों को त्यागने की आवश्यकता है। जब तक जीवन में अनासक्ति का भाव और वैराग्य का भाव नहीं जागता, तब तक जीवन का कल्याण नहीं हो सकेगा। कहने का यह मतलब कदापि नहीं है कि आप घर-बार छोड़ कर जंगल में चले जाएँ। मैं तो यह कहता हूँ कि संसार में रहते हुए भी अनासक्त भाव रखा जा सकता है। जब आत्मा में अनासक्त भाव आ जाता है, तब संसार के किसी भी पदार्थ का उसके जीवन पर अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। मैं आपसे कह रहा था कि संसार का जीवन भाव ही बन्धन है। वही दुःखरूप है और वही दीनता है। यह कर्म का फल कहलाता है। जब दोनों को मिला दिया जाता है तब वह दोनों की संयुक्त अवस्था कहलाती है। इसी प्रकार जीव

और पुद्गल की संयोगावस्था संसार है और इन दोनों की वियोगावस्था ही मोक्ष है। इस मोक्ष अवस्था में जीव, जीव रह जाता है और पुद्गल पुद्गल रह जाता है। वस्तुतः यही दोनों की विशुद्ध स्थिति है।

१८

सम्यग् दर्शन के विविध रूप

• • •

सम्यक् दर्शन में दो शब्द हैं—सम्यक् और दर्शन। दर्शन का सामान्यतः अर्थ है—किसी वस्तु का देखना अर्थात् साक्षात्कार करना। परन्तु यहाँ पर मोक्ष और उसके स्वरूप का वर्णन चल रहा है, अतः उसके साधन के अर्थ में प्रयुक्त दर्शन शब्द का कोई विशेष अर्थ होना चाहिए। और वह विशेष अर्थ क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहना है कि यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ केवल देखना ही नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में दर्शन शब्द के दो अर्थ हैं—दृष्टि और निश्चय। जब दर्शन शब्द का अर्थ दृष्टि और निश्चय किया जाता है, तब इसका अर्थ यह होगा कि दृष्टि भ्रान्त भी हो सकती है और निश्चय गलत भी हो सकता है। उस भ्रान्त दृष्टि और गलत निश्चय का निषेध करने के लिए ही दर्शन से पूर्व सम्यक् शब्द जोड़ा जाता है, जिसका अर्थ होता है—वह दृष्टि जिसमें किसी भी प्रकार की भ्रान्ति न हो और वह निश्चय जो अयथार्थ न होकर यथार्थभूत हो।

एक बात यहाँ पर और भी विचारणीय है, और वह यह कि प्रत्येक मत और प्रत्येक पथ, अपने को सच्चा समझता है और दूसरे को झूठा समझता है। वास्तव मे कौन सच्चा है और कौन झूठा है, इसकी परीक्षा करना भी आवश्यक हो जाता है। मै समझता हूँ जो धर्म और दर्शन सत्य की उपासना करता है, फिर भले ही वह सत्य अपना हो अथवा दूसरो का हो, बिना किसी मताग्रह एव पूर्वाग्रह के तटस्थ भाव से सत्य को सत्य समझना ही वास्तविक सम्यक् दर्शन है। मैं आपसे पहले कह चुका हूँ, कि सप्त तत्वों पर निश्चित दृष्टि, प्रतीति अर्थात् श्रद्धान ही मोक्ष साधन का प्रथम अग है। अध्यात्म-साधना मे सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक होता है, कि आत्म-धर्म क्या है और आत्म-स्वभाव क्या है? आत्मा और अनात्मा मे भेद-विज्ञान को अध्यात्म-भाषा मे सम्यक् दर्शन कहा जाता है। आत्म स्वरूप का स्पष्ट दर्शन और कल्याण-पथ की दृढ आस्था, यही सम्यक् दर्शन है। कभी कभी हमारी आस्था मे और हमारी श्रद्धा मे भय से और लोभ से चलता और मलिनता आ जाती है। इस प्रकार के प्रसग पर भेद-विज्ञान के सिद्धान्त से ही, उस चलता और मलिनता को दूर हटाया जा सकता है। सम्यक् दर्शन की ज्योति जगते ही, तत्व का स्पष्ट दर्शन होने लगता है। स्वानुभूति और स्वानुभव यही, सम्यक् दर्शन की सबसे सक्षिप्त परिभाषा हो सकती है। कुछ विचार-मूढ लोग बाह्य जड क्रिया काण्ड मे ही सम्यक् दर्शन मानते हैं। किन्तु सम्यक् दर्शन का सम्बन्ध किसी भी जड क्रियाकाण्ड मे नहीं है, उसका एक मात्र सम्बन्ध है आत्म-भाव की विशुद्ध परिणति से। सम्यक् दर्शन का सम्बन्ध न किसी देश-विशेष से है, न किसी जाति-विशेष से है और न किसी पथ-विशेष से ही है। जब तक यह आत्मा स्वाधीन सुख को प्राप्त करने की ओर उन्मुख नहीं होता है, तब तक किसी भी प्रकार की धर्म—साधना मे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। अपनी आत्मा मे अविचल आस्था रखना ही जब सम्यक् दर्शन का वास्तविक अर्थ है, तब शरीरापेक्ष किसी भी बाह्य जड क्रिया काण्ड मे और उसके विविध विधिनिषेध मे सम्यक् दर्शन नहीं हो सकता।

मैं आपसे सम्यक् दर्शन की बात कह रहा था। सम्यक् दर्शन के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा जा चुका है, किन्तु सम्यक् दर्शन एक ऐसा विषय है, कि जीवन भर भी यदि इस पर विचार किया जाए तब भी इस विषय का अन्त नहीं आ सकता, फिर भी

१८

सम्यग् दर्शन के विविध रूप

• • •

सम्यक् दर्शन में दो शब्द हैं—सम्यक् और दर्शन। दर्शन का सामान्य अर्थ है—किसी वस्तु का देखना अर्थात् साक्षात्कार करना। परन्तु यहाँ पर मोक्ष और उसके स्वरूप का वर्णन चल रहा है, अतः उसके साधन के अर्थ में प्रयुक्त दर्शन शब्द का कोई विशेष अर्थ होना चाहिए। और वह विशेष अर्थ क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहना है कि यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ केवल देखना ही नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में दर्शन शब्द के दो अर्थ हैं—दृष्टि और निश्चय। जब दर्शन शब्द का अर्थ दृष्टि और निश्चय किया जाता है तब इसका अर्थ यह होगा कि दृष्टि भ्रान्त भी हो सकती है और निश्चय गलत भी हो सकता है। उस भ्रान्त दृष्टि और गलत निश्चय का निषेध करने के लिए ही दर्शन से पूर्व सम्यक् शब्द जोड़ा जाता है जिसका अर्थ होता है—वह दृष्टि जिसमें किसी भी प्रकार की भ्रान्ति न हो और वह निश्चय जो अयथार्थ न होकर यथार्थभूत हो।

मिथ्या दर्शन को जब अधर्म कहा जाता है, तब इसका अर्थ यही होता है, कि सम्यक् दर्शन ही सच्चा धर्म है। धर्म क्या है ? यह भी एक विकट समस्या है। आज के युग मे जितने भी मतवाद, पथवाद और सम्प्रदायवाद है, सब अपने को धर्म कहते है। विचारणीय प्रश्न यह है, कि पथ और सम्प्रदाय धर्म हैं अथवा धर्म की प्रयोग-भूमि हैं। मैं पथ और सम्प्रदाय को धर्म न मानकर धर्म की प्रयोग-भूमि और साधना-भूमि ही मानता हूँ। मेरे विचार मे धर्म का सम्बन्ध किसी बाह्य वस्तु से नही है। मनुष्य के आन्तरिक जीवन की विशुद्धि को ही वस्तुत धर्म कहा जाना चाहिए। केवल मनुष्य ही नही, बल्कि समग्र चेतना के सम्बन्ध मे यही कहना चाहिए, कि चेतन की अतरग विशुद्ध परिणति को ही, धर्म कहा जाता है। कुछ आचार्यो ने इसी आधार पर वस्तु स्वभाव को धर्म कहा है। प्रत्येक वस्तु का अपना निज स्वभाव ही धर्म है, तथा प्रत्येक वस्तु का स्वभाव से च्युत होना ही अधर्म है। आत्मा जब तक अपने स्व स्वरूप मे स्थित है, वह धर्मी रहता हैं और जब वह स्व स्वरूप को छोड कर पर स्वरूप मे स्थित होता है, तब वह अधर्मी बन जाता है। सम्यक् दर्शन आत्मा का स्व स्वरूप है और मिथ्यादर्शन आत्मा का परस्वरूप है। शान्त रहना स्व स्वरूप है और क्रुद्ध होना परस्वरूप है। आत्मा के स्वस्वरूप से च्युत होने का कारण है, अपने स्वस्वरूप और अपनी सीमा का अज्ञान। जब आत्मा स्वस्वरूप को भूल जाता है, तब वह अपनी सीमा मे न रहकर पर की सीमा मे प्रवेश कर जाता है और यही सबसे बडा मिथ्यात्व है। शास्त्रकारो ने बतलाया है, स्वानुभूति और स्वस्वरूपस्थिति ही वास्तविक धर्म है, इसके अतिरिक्त जो भी कुछ बाह्य क्रिया काण्ड और विधि-विधान है, वे उपचार से ही धर्म कहे जा सकते हैं। वास्तविक रूप मे वे धर्म नहा कह जा सकते।

मैं जहाँ तक अध्ययन कर पाया हूँ, सम्यक् दर्शन की परिभाषा के तीन प्रकार उपलब्ध होते है—तत्त्वार्थ श्रद्धान, देव-गुरु-धर्म पर विश्वास औरआत्मा अनात्मा का भेद-विज्ञान। विभिन्न आचार्यो ने अपने विभिन्न ग्रथो मे उक्त तीन रूपो का ही कथन किया है। कही पर सक्षेप से वर्णन है और कही पर विस्तार के साथ। एक ने जिसको मुख्य माना तो दूसरे ने उसी को गौण मान लिया। परन्तु इन तीन रूपो के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा रूप नही है सम्यक् दर्शन का, जिसका उल्लेख किया जा सके। तत्त्वार्थ श्रद्धान दार्शनिक जगत की वस्तु

सम्यक दर्शन पर कुछ आवश्यक बातों पर विचार-विनिमय हो जाना आवश्यक है। जब सम्यक दर्शन में दर्शन पद का सामान्य रूप से देखना अर्थ किया जाता है तब प्रश्न उठता है, कि क्या देखना, क्यों देखना और किसको देखना? क्यों देखना यह एक प्रश्न है जिसके उत्तर में कहा जाता है कि जिसके पास दृष्टि है और देखने की शक्ति है वह अच्छी और बुरी वस्तु को देखेगा ही। मनुष्य की दृष्टि के समक्ष जैसी भी वस्तु आ जाती है वह उसे देखता ही है और देखकर उस पर कोई न कोई अच्छा या बुरा विचार भी करता है। सम्यक दर्शन कहता है कि जब अच्छी वस्तु को देखकर मन पर अच्छे संस्कार पड़ते हैं और बुरी वस्तु को देखकर मन पर बुरे संस्कार पड़ते हैं तब बुरी वस्तु को छोड़कर अच्छी वस्तु को ही क्यों न देखा जाय? कल्पना कीजिए, आपके सामने दो स्त्रियाँ खड़ी हुई हैं। दोनों तरुणी हैं, नव यौवना हैं और दोनों ही रूपवती हैं। परन्तु उनमें से एक सती एवं साध्वी है और दूसरी कुलटा एवं वेश्या है। दोनों में स्त्रीत्व समान होने पर भी साध्वी को देखकर हृदय में अध्यात्म विचार उठते हैं और वेश्या को देखकर हृदय में वासनामय विकार उठता है। इसलिए अध्यात्म साधक को किसी भी पदार्थ को देखने के समय यह विचार करना चाहिए, कि मैं इस पदार्थ को क्यों देख रहा हूँ? संसार के किसी भी पदार्थ को रागात्मक दृष्टि से देखना निश्चय ही अधर्म है, और उसे स्वरूप-बोध की दृष्टि से देखना निश्चय ही धर्म है। किसको देखना? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है, कि इस संसार में अनन्त पदार्थ हैं, तुम किस-किस को देखोगे? यह जटिल समस्या है। बस किसी ऐसे पदार्थ को देखो जिसके देखने से अन्य किसी के देखने की इच्छा ही न रहे और वह पदार्थ अन्य कोई नहीं एक मात्र आत्मा ही है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि किसको देखना इस प्रश्न का एक ही समाधान है कि आत्मा को ही देखो। आत्मा को देखने पर ही हम अपने लक्ष्य को अधिगत कर सकेंगे। कैसे देखना? इस प्रश्न के उत्तर में मुझे केवल इतना ही कहना है, कि अभी तक यह आत्मा अनन्त काल से संसार के पदार्थों को मिथ्या दृष्टि से ही देखता रहा है किन्तु जब तक सम्यक दृष्टि से नहीं देखा जायगा तब तक आत्मा का कल्याण एवं उत्थान नहीं हो सकता। इस प्रकार जब हम वस्तु स्थिति का अध्ययन करते हैं, तब हमें जीवन की वास्तविकता का परिबोध हो जाता है।

मिथ्या दर्शन को जब अधर्म कहा जाता है, तब इसका अर्थ यही होता है, कि सम्यक् दर्शन ही सच्चा धर्म है। धर्म क्या है ? यह भी एक विकट समस्या है। आज के युग मे जितने भी मतवाद, पथवाद और सम्प्रदायवाद है, सब अपने को धर्म कहते है। विचारणीय प्रश्न यह है, कि पथ और सम्प्रदाय धर्म है अथवा धर्म की प्रयोग-भूमि है। मैं पथ और सम्प्रदाय को धर्म न मानकर धर्म की प्रयोग-भूमि और साधना-भूमि ही मानता हूँ। मेरे विचार मे धर्म का सम्बन्ध किसी बाह्य वस्तु से नही है। मनुष्य के आन्तरिक जीवन की विशुद्धि को ही वस्तुत धर्म कहा जाना चाहिए। केवल मनुष्य ही नही, बल्कि समग्र चेतना के सम्बन्ध मे यही कहना चाहिए, कि चेतन की अतरग विशुद्ध परिणति को ही, धर्म कहा जाता है। कुछ आचार्यों ने इसी आधार पर वस्तु स्वभाव को धर्म कहा है। प्रत्येक वस्तु का अपना निज स्वभाव ही धर्म है, तथा प्रत्येक वस्तु का स्वभाव से च्युत होना ही अधर्म है। आत्मा जब तक अपने स्व स्वरूप मे स्थित है, वह धर्मी रहता है और जब वह स्व स्वरूप को छोड कर पर स्वरूप मे स्थित होता है, तब वह अधर्मी बन जाता है। सम्यक् दर्शन आत्मा का स्व स्वरूप है और मिथ्यादर्शन आत्मा का पर स्वरूप है। शान्त रहना स्व स्वरूप है और क्रुद्ध होना परस्वरूप है। आत्मा के स्वस्वरूप से च्युत होने का कारण है, अपने स्वस्वरूप और अपनी सीमा का अज्ञान। जब आत्मा स्वस्वरूप को भूल जाता है, तब वह अपनी सीमा मे न रहकर पर की सीमा मे प्रवेश कर जाता है और यही सबसे बडा मिथ्यात्व है। शास्त्रकारो ने बतलाया है, स्वानुभूति और स्वस्वरूपस्थिति ही वास्तविक धर्म है, इसके अतिरिक्त जो भी कुछ बाह्य क्रिया काण्ड और विधि-विधान है, वे उपचार से ही धर्म कहे जा सकते है। वास्तविक रूप मे वे धर्म नही कहे जा सकते।

मैं जहाँ तक अध्ययन कर पाया हूँ, सम्यक् दर्शन की परिभाषा के तीन प्रकार उपलब्ध होते है—तत्त्वार्थ श्रद्धान, देव-गुरु-धर्म पर विश्वास और आत्मा अनात्मा का भेद-विज्ञान। विभिन्न आचार्यों ने अपने विभिन्न ग्रथो मे उक्त तीन रूपो का ही कथन किया है। कही पर सक्षेप से वर्णन है और कही पर विस्तार के साथ। एक ने जिसको मुख्य माना तो दूसरे ने उसी को गौण मान लिया। परन्तु इन तीन रूपो के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा रूप नही है सम्यक् दर्शन का, जिसका उल्लेख किया जा सके। तत्त्वार्थ श्रद्धान दार्शनिक जगत की वस्तु

रहा। भेद-विज्ञान अध्यात्म-शास्त्र का विषय रहा और देव-गुरु एवं धर्म पर विश्वास यह एक सम्प्रदाय सम्बन्धी सम्यक् दर्शन रहा। किन्तु निश्चय दृष्टि से विचार करने पर आत्मा अनात्मा का भेदविज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। इसके अभाव में न तत्त्वों पर श्रद्धान होगा। न देव गुरु पर विश्वास ही। मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि बाहर के किसी भी पूजा-पाठ में अथवा बाहर के किसी भी क्रियाकलाप में सम्यक् दर्शन मानना उचित नहीं है। वीतराग वाणी में विश्वास भी तभी जमता है जब कि आत्मा पर आस्था जम गई हो। घूम फिर कर एक ही तथ्य पर दृष्टि केन्द्रित होती है, कि आत्मा को जानना ही सच्चे अर्थों में सम्यक् दर्शन माना जा सकता है। यदि आत्मा को नहीं जाना तो सब कुछ को जानने से भी किसी प्रकार का लाभ नहीं नहीं हो सकता। और यदि आत्मा को जान लिया और उसके स्वरूप की पहचान कर ली तो मैं समझता हूँ हमने सब कुछ प्राप्त कर लिया। अध्यात्म-साधना में सबसे मुख्य बात आत्म-स्वरूप को समझने की और आत्म-स्वरूप पर स्थिर दृष्टि करने की ही है। किसी भी वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए उसके मूल स्वरूप को समझने का ही प्रयत्न होना चाहिए, इसी में उसका यथार्थ दर्शन होता है।

सम्यक् दर्शन चेतना का धर्म है। परन्तु खेद है कि आज के युग में उसे समाज राष्ट्र और वर्ग एवं वर्ण के साथ भी जोड़ा जा रहा है। सम्प्रदायवादी लोग यह सोचते और समझते रहे हैं कि इस संसार में धर्म के सच्चे दावेदार हम ही हैं, अन्य कोई नहीं। एक अंग्रेज यह विश्वास करता है कि संसार में गोरी जाति शासन करने के लिए है और काली जाति शासित होने के लिए है। कुछ लोग यह सोचते हैं कि स्त्री जाति पुरुष जाति की अपेक्षा हीन है—बल में भी बुद्धि में भी और जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में भी। कुछ लोग यह सोचते हैं, कि मानव जाति में अमुक वर्ग और अमुक वर्ण श्रेष्ठ है, दूसरे निकृष्ट हैं। कुछ लोग यह सोचते हैं कि हमारा राष्ट्र सबसे बड़ा है और सबसे श्रेष्ठ है। कुछ लोग यह भी सोचते रहे हैं, कि अमुक भाषा पवित्र है और अमुक भाषा अपवित्र है। परन्तु मैं इन सबको मिथ्या विकल्प और मिथ्या विचार समझता हूँ। मानव-मानव में भेद, घृणा और द्वेष फैलाना किसी भी प्रकार से धर्म नहीं हो सकता। संसार के इतिहास को पढ़ने से पता लगता है, कि किस प्रकार विश्व की जातियाँ धर्म की रक्षा के लिए धर्म के नाम पर

लडती रही हैं। भारतवर्ष मे ब्राह्मणो के द्वारा अन्य वर्णो का तिरस्कार और जर्मन मे यहूदी जाति का वहिष्कार कुछ इस प्रकार के कृत्य हैं, जिन्हे धर्म के नाम पर किया गया था, किन्तु वस्तुत उसमे धर्म की आत्मा नही थी। आज के इस वर्तमान युग मे हम यह देख रहे हैं कि हिन्दी-रक्षा और हिन्दी विरोध मे तथा गौ-रक्षा और गौ-विरोध मे जो कुछ किया जा रहा है, उसमे धर्म नही, पथ वादी मानव वृत्ति ही अधिक काम कर रही है। दक्षिण भारत मे राम को गाली देना और रामायण को अग्नि मे जला देना, यह सव कुछ धर्म के नाम पर और सस्कृति के नाम पर किया जा रहा है। द्रविड लोग यह विश्वास रखते हैं, कि द्राविड सस्कृति ऊँची है और आर्य-सस्कृति नीची है। जाति के नाम पर रावण की पूजा करना और राम का तिरस्कार एव अनादर करना किस भाँति धर्म कहा जा सकता है? इस प्रकार के कृत्यो से यदि कोई व्यक्ति यह सोचता है, कि मैं अपनी सस्कृति और अपने धर्म की उन्नति कर रहा हूँ, तो वह धर्म और सस्कृति की रक्षा नही, अपितु हत्या ही करता है। मैं इन सभी प्रकार के अन्ध विश्वासो को, जो सम्यक् दर्शन के नाम पर प्रचलित हैं, मिथ्या दर्शन ही मानता है। किसी भी राष्ट्र के प्रति, किसी भी जाति के प्रति, किसी भी समाज के प्रति और किसी भी वर्ग विशेष के प्रति घृणा की भावना रखना धर्म नही कहा जा सकता, सम्यक् दर्शन नही कहा जा सकता।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि किसी युग मे लोगो ने पथ और सम्प्रदाय को ही धर्म मानकर जो कुछ दूसरे पथ और वर्ग पर अन्याय और अत्याचार किया, उसे भी लोगो ने अपनी मतान्धता के कारण धर्म मान लिया। औरङ्गजेब का विश्वास था, कि जितने भी अधिक हिन्दुओ को मुस्लिम वनाया जा सके, उतना ही अधिक धर्म होगा। इसी विश्वास के आधार पर अपनी तलवार की शक्ति से उसने हजारो हिन्दुओ को मुसलमान वनाया। ईसाई लोग और उनके धर्म गुरु पादरी आज मानव-जाति की सेवा के नाम पर जन धन का प्रलोभन देकर, पिछडी जातियो को ईसाई वनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनका विश्वास है, कि इस कार्य को करके, हम ईसा के सच्चे भक्त वन जाएँगे। परन्तु इस विषय पर गम्भीरता के साथ सोचने के वाद बुद्धिमान व्यक्ति इसी निर्णय पर पहुँचता है, कि इस प्रकार के कृत्यो मे न धर्म है और न सस्कृति। एक व्यक्ति, यदि वह ब्राह्मण से

मुसलमान बन जाए अथवा ब्राह्मण से ईसाई बन जाए, तो यह तो उसके चोटी और दाढ़ी आदि के रूप में तन का परिवर्तन हुआ मन का परिवर्तन नहीं। और इस तन के परिवर्तन को ही धर्म मानना सबसे बड़ा अज्ञान और सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। इस प्रकार के परिवर्तन से जीवन की समस्या का हल नहीं हो सकता। इस प्रकार के कार्यों से धर्म की रक्षा और संस्कृति की रक्षा करने का विश्वास मूलतः भ्रान्त ही है।

मैं आपसे यह कह रहा था कि सम्यक् दर्शन तन का धर्म नहीं है वह आत्मा का धर्म है। तन को बदलने से जीवन में चमत्कार नहीं आएगा आत्मा को बदलने से ही उसमें विशुद्धि और पवित्रता आ सकती है। आप किसी भी देश के हों आप किसी भी जाति के हों आप किसी भी वर्ग एवं वर्ण के हों और आप किसी भी पंथ एवं सम्प्रदाय के हों इससे हमें कोई प्रयोजन नहीं है। हम केवल एक ही बात जानना चाहते हैं कि आपको अपनी आत्मा पर विश्वास है, या नहीं? यदि आपने अपनी आत्मा पर आस्था कर ली है और उसके स्वरूप को समझ लिया है, तो निश्चय ही आपको सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो चुकी है। इसमें किसी भी प्रकार के विवाद को अवकाश नहीं रहता।

सम्यक् दर्शन के दो भेद हैं—निश्चय सम्यक् दर्शन और व्यवहार सम्यक् दर्शन। निश्चय नय परनिरपेक्ष आत्मस्वरूप को कहता है। उसकी दृष्टि परम पारिणामिक चैतन्य भाव पर रहती है। शास्त्र में निश्चय नय को भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ कहा गया है। भूतार्थ और अभूतार्थ का क्या अर्थ है? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि अनौपचारिक रूप से वस्तु के शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करने वाला भूतार्थ होता है और उपचार रूप से वस्तु स्वरूप को ग्रहण करने वाला अभूतार्थ होता है। संसारी आत्माएँ विभाव पर्यायों को धारण करके नाना रूप में परिणत हो रही हैं। इस परिणमन में एक द्रव्य की स्थिति जितनी सत्य और भूतार्थ है उतनी ही उसकी विभाव परिणतिरूप व्यवहार स्थिति भी सत्य और यथार्थ है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पदार्थ परिणमन की दृष्टि से निश्चय और व्यवहार दोनों भूतार्थ और सत्य हैं। परन्तु निश्चय जहाँ परनिरपेक्ष द्रव्य-स्वभाव को विषय करता है वहाँ व्यवहार परसापेक्ष भाव को विषय करता है यही दोनों में मौलिक

बताए पथ पर चलेगा वह परलोक में सुखी और सम्पन्न होगा। अन्य सम्प्रदायों में ही नहीं, जैन-धर्म में भी परलोक के सुखों का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। स्वर्ग, नरक और मोक्ष का साङ्गोपाङ्ग वर्णन अध्यात्मवादी सभी धर्मों में उपलब्ध होता है। परन्तु वस्तुतः परलोक क्या है और उसे कैसे सुधारा जा सकता है? इस पर बहुत कम लोग विचार कर पाते हैं। परलोक की जो सबसे व्यापक और सर्वमान्य परिभाषा हो सकती है, वह यह है, कि जब आत्मा एक स्थूल शरीर को छोड़कर अन्य योनि में पहुँच कर अन्य स्थूल शरीर को धारण करता है, तब यही परलोक कहलाता है। जो आत्मा सम्यग् दृष्टि होता है, उसे न परलोक का भय रहता है और न इस लोक का ही भय उसे रहता है। जब सम्यक् दृष्टि ने मिथ्यात्वमूलक पाप का परित्याग कर दिया, तब फिर उसे इस जन्म में या पर जन्म में भय किस बात का? परलोक का एक व्यापक अर्थ सामाजिक भी है, कि अपने से भिन्न लोक अर्थात् जनता। इस अर्थ में यदि परलोक का अर्थ लिया जाता है, तो परलोक सुधारने का अर्थ होगा—मानव समाज का सुधार। मानव मात्र के ही नहीं, बल्कि प्राणिमात्र के सुधार में विश्वास रखना यह भी एक प्रकार का सम्यक् दर्शन है। मानव समाज का सुख एवं दुःख बहुत कुछ अंशों में तत्कालीन समाज व्यवस्था का परिणाम होता है। अतः अपने सत्प्रयत्नों से स्वस्थ समाज के निर्माण की दिशा में कर्तव्य को भाग लेना ही चाहिए। इस अर्थ में परलोक का सम्यक् दर्शन यही है कि जिस परलोक का सुधार हमारे हाथ में है, उसका सुधार अहिंसा और समता के आधार पर यदि हम करें, तो निश्चय ही मानव-जाति का बहुत बड़ा कल्याण किया जा सकता है। यहाँ करने का अर्थ कर्तृत्व का अहं नहीं, मात्र निमित्तता है।

सम्यग् दर्शन इस सत्य को स्वीकार करता है, कि अपना उत्थान और अपना पतन स्वयं आत्मा के अपने हाथ में है। जीव का जैसा कर्म होता है, शुभ अथवा अशुभ, वैसा ही उसे फल मिल जाता है। इसके अतिरिक्त यह कहना कि कर्म हम करते हैं और उसका फल कोई अन्य देता है, सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। वह स्वयं अपने कर्म का कर्ता है और वह स्वयं ही उसके फल का भोक्ता भी है। बन्धन-बद्ध रहना आत्मा का स्वभाव नहीं है, बन्धन से विमुक्त रहना ही आत्मा का निज स्वरूप है। परन्तु

इस संसारी आत्मा की स्थिति उस पक्षी के समान है, जो चिरकाल से पिंजड़े में बन्द रहने के कारण अपनी स्वतन्त्रता को भूल चुका है। कर्म का बन्धन अवश्य है, किन्तु मैं कर्म से विमुक्त हो सकता हूँ, इस प्रकार का विश्वास ही कर्मवादी सम्यक् दर्शन है। कर्म वादी सम्यक् दर्शन मे आत्मा यह विचार करता है, कि मैं स्वय ही बँधा हूँ और मैं स्वय ही अपनी शक्ति से विमुक्त हो सकता हूँ। मेरे अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति ऐसी नही है जो मुझे मेरी इच्छा के विरुद्ध बन्धन मे डाल सके। कर्मवादी सम्यक् दृष्टि आत्मा यह भी आस्था रखता है, कि मैं अपने पुरुषार्थ से कर्म के बन्धन को दूर कर सकता हूँ। मैं पीछे बता आया हूँ, कि प्रतिक्षण प्रत्येक वस्तु मे अनेक परिणामो की परिणति होती रहती है। जैसा निमित्त और जैसी सामग्री मिल जाएगी, तदनुकूल योग्यता का परिणमन होकर, उस आत्मा का वैसा विकास हो जाएगा। कर्म की शक्ति अवश्य है, परन्तु कर्म के विषय मे यह सोचना और विश्वास करना, कि कर्म के बिना कुछ भी नही हो सकता—यह विचार सम्यक् विचार नही है। इसका अर्थ यह होगा, कि हमने चेतन की शक्ति को स्वीकार न करके जड की शक्ति को ही सब कुछ स्वीकार कर लिया है। मैं पूछता हूँ आपसे कि जब आत्मा अपने पुरुषार्थ से बद्ध हो सकता है, तब वह अपने पुरुषार्थ से मुक्त क्यो नही हो सकता ? वस्तुत बात यह है, कि अनादि कालीन बन्धन के कारण यह आत्मा अपने स्वरूप को भूल बैठा है। उसे अपने पर विश्वास नही रहा, और कर्म की शक्ति पर ही उसने विश्वास कर लिया है। इसीलिए वह अपने जीवन मे दीनता एव हीनता का अनुभव करता है। यह आत्मा अपने स्वरूप और अपनी शक्ति को कैसे भूल गया, इस तथ्य को समझने के लिए एक रूपक कहा जाता है। कल्पना कीजिए, एक वेश्या है, मनुष्य उसके रूप से विमुग्ध होकर उसके वशीभूत हो जाता है। वह इतना परवश हो जाता है। कि अपनी शक्ति को भूलकर वह उस वेश्या को ही सर्वस्व समझने लगता है। परन्तु एक दिन जब वह वेश्या की मोह की परिधि से बाहर निकल जाता है, तब वह अपने वास्तविक स्वरूप को समझकर अपनी शक्ति पर विश्वास करने लगता है। यही स्थिति जीव और कर्म पुद्गल की है। जीव पुद्गल के मोह मे आसक्त होकर अपने स्वरूप और अपनी शक्ति को भूल कर पुद्गल के अधीन हो गया है। किन्तु स्व स्वरूप की उपलब्धि होते ही, वह अपने विस्मृत स्वरूप को फिर प्राप्त कर लेता

१९

सम्यक् दर्शन के लक्षण : अतिचार

* * *

यह जगत् आदिहीन और अन्तहीन है। इसका प्रवाह अनन्त काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता ही रहेगा। यह जगत अतीत मे कभी नही था, यह नही कहा जा सकता। और यह जगत् भविष्य मे कभी नही रहेगा, यह भी नही कहा जा सकता। इस अनादि और अनन्त जगत् मे आत्मा अनादि काल से भ्रमरण करता आ रहा है। जब तक आत्मा मे मिथ्यात्व भाव और कषायभाव विद्यमान है, तब तक जन्म और मरण के परिचक्र को परिसमाप्त नहीं किया जा सकता। सम्यक् दर्शन की साधना और सम्यक् दर्शन की आराधना से ही, इस आत्मा का यह अनादि भ्रमरण समाप्त हो सकता है और उसे स्वस्वरूप की उपलब्धि हो सकती है। सम्यक् दर्शन मे वह दिव्य शक्ति है, जो अपनी पूर्ण विशुद्ध कोटि मे पहुँचकर एक एक दिन आत्मा के समग्र विकल्प और विकारो को दूर कर सकती है। जिस किसी भी आत्मा मे सम्यक् दर्शन की ज्योति का आविर्भाव हो जाता है, यह निश्चित है कि वह आत्मा देर सवेर मे मोक्ष की

प्राप्ति अवश्य ही करेगा। एक क्षणमात्र का सम्यक् दर्शन भी अनन्त जन्म मरण का नाश करने वाला है। सम्यक् दर्शन के अभाव में जीव अनन्त काल में अन्य अनेक साधनाएँ कर चुका है, परन्तु बन्धन की एक कड़ी भी टूट नहीं पाई। यदि एक क्षण के लिए भी यह जीव सम्यक् दर्शन प्रकट कर ले तो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे। सम्यक् दर्शन ही साधक की सर्वप्रथम अध्यात्म-साधना है। सम्यक् दर्शन की साधना के बल पर ही यह आत्मा अपने विविध भवों के मूल बीज को मिटा सकता है। जब तक आत्मा में मिथ्यात्व भाव और कषाय भाव किसी भी रूप में रहता है, तब तक भव-बन्धन से विमुक्ति मिलना कथमपि सम्भव नहीं है। जिस आत्मा में सम्यक् दर्शन की ज्योति प्रकट हो गई, वही ज्ञानी है, वही चरित्रवान है, वही शाश्वत सुख को प्राप्त करने वाला साधक है। सम्यक् दर्शन की विमल साधना करने वाला व्यक्ति कभी न कभी अवश्य ही इन संसारी बन्धनों से विमुक्त हो सकेगा।

आपके समक्ष सम्यक् दर्शन का वर्णन चल रहा है। सम्यक् दर्शन की महिमा एवं सम्यक् दर्शन की गरिमा के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है और बहुत कुछ कहा जा सकता है। अब सम्यक् दर्शन के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातों पर भी विचार कर लें जिन पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। सर्वप्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सम्यक् दर्शन आत्मा का अमूर्त गुण है। आत्मा एक अमूर्त तत्त्व है, फलतः गुण भी अमूर्त ही है, फिर उसे हम कैसे देख सकते हैं, और कैसे जान सकते हैं? इस स्थिति में हमें यह पता कैसे चले कि अमुक आत्मा को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो चुकी है, अथवा नहीं? प्रश्न बड़े ही महत्त्व का है। इसके समाधान में शास्त्रकारों ने एवं अन्य विभिन्न ग्रन्थकारों ने यह बतलाया है, कि प्रत्येक वस्तु को जानने के लिए, लक्षण की आवश्यकता है। बिना लक्षण के लक्ष्य को नहीं जाना जा सकता। यहाँ पर सम्यक् दर्शन लक्ष्य है, हम उसका परिबोध करना चाहते हैं, अतः उसके लक्षण की आवश्यकता है। आगम में सम्यक् दर्शन गुण को जानने के लिए पाँच लक्षण बताए गए हैं—प्रशम संवेग निर्वेद अनुकम्पा और आस्तिक्य। ये पाँचों अथवा इनमें से कोई भी एक लक्षण यदि मिलता है, तो समझना चाहिए कि उस आत्मा को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो चुकी है। परन्तु इतना ध्यान रखिए, कि यह लक्षण व्यवहार नय की अपेक्षा से कहे गए हैं

निश्चय नय की अपेक्षा से तो स्वस्वरूप पर आस्था होना ही सम्यक् दर्शन का वास्तविक लक्षण है। मैं यहाँ पर सक्षेप मे यह बतलाने का प्रयत्न करूँगा कि इन पांच लक्षणो का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

प्रशम क्या वस्तु है और प्रशम का स्वरूप क्या है ? इस सम्बन्ध मे यह कहा गया है, कि आत्मा मे कषाय भाव अनन्त काल से रहा है। वह कषाय भाव कभी तीव्र हो जाता है और कभी मन्द हो जाता है। जब कषाय की तीव्रता बढती है, तब आत्मा अपने स्वरूप से विमुख हो जाता है। और कषाय मन्द होता है, तब यह आत्मा अपने स्वरूप की ओर उन्मुख होता है। कषाय की मन्दता ही वस्तुत प्रशम है। एक व्यक्ति क्रोध आने पर भी जब शान्त रहता है, तब समझना चाहिए कि उसमे प्रशम गुण है। एक व्यक्ति लोभ का प्रसग आने पर भी सतोष रखता है, तब कहना चाहिए कि उसमे प्रशम गुण है। अभिमान और माया के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार समझलेना चाहिए। कषायभाव की मन्दता को ही प्रशम कहा जाता है और इस प्रशम गुण की अभिव्यक्ति जिस किसी भी जीवन मे होती है, समझना चाहिए कि वह जीवन सम्यक् दर्शन गुण से विशिष्ट है। प्रशम गुण आत्मा को उस विशुद्ध स्वरूप की स्थिति का परिचय कराता है, जिसमे आत्मा कषाय का उदय होने पर भी उसका उपशमन करता रहता है। कषाय के उदय-काल मे कषाय का उपशमन करना सहज और आसान नही है। कषायो का दमन करना और कषायो का उपशमन करना अपने आप मे एक बहुत बडा तप है और अपने आप मे एक बहुत बडी साधना है। विकार का कारण रहने पर भी विकार की अभिव्यक्ति न होने देना, यह एक आत्मा का असाधारण गुण है। इस गुण को प्रशम, उपशम और उपशमन भी कहा जाता है। यह सम्यक्त्व का पहला लक्षण है।

सम्यक् दर्शन का दूसरा लक्षण है—सवेग। सवेग का अर्थ क्या है, और उसका स्वरूप क्या है ? इस सम्बन्ध मे यह कहा जाता है, कि आत्मा के ऊर्ध्वमुखी भाव-वेग को ही सवेग कहा जाता है। वेग का अर्थ है—गति एव गमन। जब यह गमन अधोमुखी होता है, तब आत्मा पतन की ओर जाता है और जब यह गमन सम् अर्थात् अध्यात्म भाव मे ऊर्ध्वमुखी होता है, तब आत्मा उत्थान की ओर जाता है। सवेग का एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है कि भव भीति

प्राप्ति अवश्य ही करेगा। एक क्षणमात्र का सम्यक् दर्शन भी अनन्त जन्म मरण का नाश करने वाला है। सम्यक् दर्शन के अभाव में जीव अनन्त काल में अन्य अनेक साधनाएँ कर चुका है, परन्तु बन्धन की एक कड़ी भी टूट नहीं पाई। यदि एक क्षण के लिए भी यह जीव सम्यक् दर्शन प्रकट कर ले तो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे। सम्यक् दर्शन ही साधक की सर्वप्रथम अध्यात्म-साधना है। सम्यक् दर्शन की साधना के बल पर ही यह आत्मा अपने विविध भवों के मूल बीज को मिटा सकता है। जब तक आत्मा में मिथ्यात्व भाव और कषाय भाव किसी भी रूप में रहता है, तब तक भव-बन्धन से विमुक्ति मिलना कथमपि सम्भव नहीं है। जिस आत्मा में सम्यक् दर्शन की ज्योति प्रकट हो गई, वही ज्ञानी है, वही चरित्रवान है, वही शाश्वत सुख को प्राप्त करने वाला साधक है। सम्यक् दर्शन की विमल साधना करने वाला व्यक्ति कभी न कभी अवश्य ही इन संसारी बन्धनों से विमुक्त हो सकेगा।

आपके समक्ष सम्यक् दर्शन का वर्णन चल रहा है। सम्यक् दर्शन की महिमा एवं सम्यक् दर्शन की गरिमा के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है और बहुत कुछ कहा जा सकता है। अब सम्यक् दर्शन के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातों पर भी विचार कर लें जिन पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। सर्वप्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सम्यक् दर्शन आत्मा का अमूर्त गुण है। आत्मा एक अमूर्त तत्त्व है, फलतः गुण भी अमूर्त ही है, फिर उन्हें हम कैसे देख सकते हैं, और कैसे जान सकते हैं? इस स्थिति में हम यह पता कैसे लगावें कि अमुक आत्मा को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो चुकी है, अथवा नहीं? प्रश्न बड़े ही महत्त्व का है। इसके समाधान में शास्त्रकारों ने एवं अन्य विभिन्न ग्रन्थकारों ने यह बतलाया है कि प्रत्येक वस्तु को जानने के लिए लक्षण की आवश्यकता है। बिना लक्षण के लक्ष्य को नहीं जाना जा सकता। यहाँ पर सम्यक् दर्शन लक्ष्य है, हम उसका परिबोध करना चाहते हैं, अतः उसके लक्षण की आवश्यकता है। आत्मा के सम्यक् दर्शन गुण को जानने के लिए पाँच लक्षण बताए गए हैं—प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य। ये पाँचों अथवा इनमें से कोई भी एक लक्षण यदि मिलता है, तो समझना चाहिए कि उस आत्मा को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो चुकी है। परन्तु इतना ध्यान रखिए, कि यह लक्षण व्यवहार नय की अपेक्षा से कहे गए हैं,

न हो अथवा काम और भोगों के रहने पर भी उनके प्रति लोलुपता की अनुभूति न रहकर केवल आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का ही परिबोध हो, वस्तुत आत्मा की इसी स्थिति को निर्वेद कहा जाता है। जिस आत्मा मे निर्वेद की अभिव्यक्ति हो जाती है, वह आत्मा फिर ससार के किसी भी पदार्थ मे स्वरूपविच्युतिकारक आसक्ति और अनुरक्ति नही रखता। जिस व्यक्ति के हृदय मे मोक्ष की अभिरुचि होती है, उसी के हृदय मे यह निर्वेद स्थिर हो पाता है। निर्वेद का दिव्य दीपक जिस घट मे आलोकित होता है, उस व्यक्ति के मन मे फिर ससार के किसी भी पदार्थ के प्रति किसी भी प्रकार का स्वरूपानुभूति को भ्रष्ट करने वाला तीव्र आकर्षण नही रहता। यह निर्वेदभाव जिस किसी भी जीवन मे स्थिर हो जाता है, तो समझिए उस आत्मा को सम्यक् दर्शन की ज्योति की उपलब्धि हो चुकी है।

सम्यक् दर्शन का चतुर्थ लक्षण है—अनुकम्पा। अनुकम्पा, दया और करुणा—इन तीनो का एक ही अर्थ है। ससार मे अनन्त प्राणी है, और वे सब समान नही हैं। कोई सुखी है, तो कोई दुखी है। कोई निर्धन है, तो कोई धनवान। कोई मूर्ख है, तो कोई विद्वान। इस प्रकार ससार के प्रत्येक प्राणी की स्थिति दूसरे प्राणी से भिन्न प्रकार की है। इस विषमतामय ससार मे कही पर भी समता और समानता दृष्टिगोचर नही होती। इस विचित्रता और विषमता के आधार पर ही ससार को ससार कहा जाता है। ससार के सुखी जीव को देखकर प्रसन्न होना, प्रमोद-भावना है, और ससार के दुखी जीव को देखकर, उसके दुख से द्रवित होना, यह करुणा भावना है। करुणा और दया का अर्थ है—हृदय की वह सुकोमल भावना, जिसमे व्यक्ति अपने दुख से नही, बल्कि दूसरे के दुख से द्रवित हो जाता है। पर दुख कातरता और पर दुखद्रवणशीलता यह आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। निर्दय और क्रूर व्यक्ति के हृदय मे कभी भी करुणा का और दया का भाव जागृत नही होता है। करुणा रस सब रसो से अधिक व्यापक माना जाता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि जो समर्थ व्यक्ति अपने जीवन मे किसी के आँसू न पोछ सका, वह व्यक्ति किसी भी प्रकार की धर्म-साधना कैसे कर सकता है। सम्यक् दर्शन की उपलब्धि के लिए अन्य सभी गुणो की अपेक्षा, इस अनुकम्पा की ही सबसे बडी आवश्यकता है। जिस व्यक्ति के हृदय मे दया का सागर तरगित होता रहता है, वह आत्मा एक दिन अवश्य ही सम्यक् दर्शन के प्रकाश को

ही संवेग है। जब आत्मा संसार के दुःखों एवं क्लेशों को देखकर भयभीत होता है, तो उसके मन में इन दुःखों एवं कष्टों से छूटने का निर्मलभाव पैदा होता है, यही संवेग है। संवेग का तीसरा अर्थ है—भव-बन्धन से विमुक्त होने की अभिरुचि। संवेग शब्द के तीन अर्थों पर यहाँ पर विचार किया गया है—गमन, भव-भीति और मोक्ष की अभिरुचि। यह प्रवचनकारों की अपनी बुद्धि का चमत्कार है, कि वे किस प्रसंग पर किस शब्द का क्या अर्थ करते हैं। किन्तु संवेग का अर्थ—मोक्ष की अभिरुचि ही अधिक संगत प्रतीत होता है। क्योंकि जब आत्मा में प्रशम और उपशमन भाव आ जाता है, तब उस आत्मा में मोक्ष की अभिरुचि का होना भी सहज हो जाता है। मोक्ष की अभिरुचि का अर्थ है—कि संसार के अन्य पदार्थों की अभिरुचि का अभाव। संसार के पदार्थों की अभिरुचि का अभाव और मोक्ष की अभिरुचि का भाव—इन दोनों का तात्पर्य यह है, कि स्व में स्व की अभिरुचि। जब आत्मा अपने अतिरिक्त अन्य किसी की अभिरुचि नहीं रखता तब उसे न भव-बन्धनों का भय रहता है और न अधःपतन का ही भय रहता है। संवेग की यह परिभाषा और व्याख्या जब जीवन में साकार हो जाती है, तब समझना चाहिए कि उस जीवन में सम्यक् दर्शन के पीयूष का वर्षण हो रहा है।

सम्यक् दर्शन तीसरा लक्षण है—निर्वेद। निर्वेद शब्द में जो वेद है, उसका अर्थ है—अनुभव करना। वेद के पूर्व जब निर् लगा देते हैं तब यह निर्वेद बन जाता है। निर्वेद शब्द का अर्थ है—वैराग्य, विरक्ति और अनासक्ति। यह संसारी आत्मा अनन्त काल से संसार के पदार्थों में आसक्त और अनुरक्त रहा है। जिस किसी भी पदार्थ को वह देखता है, उसे रागवश ग्रहण करने की इच्छा उसके मन में पैदा हो जाती है इतना ही नहीं बल्कि उस पदार्थ के उपभोग की कामना में भान भूल जाता है। संसारी आत्मा को काम और भोग सदा प्रिय रहे हैं। वह काम और भोगों में सदा बद्ध रहा है इसी कारण वह अपने वास्तविक स्वरूप को जान नहीं सका। संसार के काम और भोगों के प्रति जब किसी आत्मा में वैराग्य भाव, विरक्ति और अनासक्ति आ जाती है, आत्मा की उस विशुद्ध स्थिति को ही यहाँ निर्वेद कहा गया है। निर्वेद का अर्थ है—जीवन की वह विशुद्ध स्थिति जब काम और भोगों के रहने पर भी उनकी रागरूप आसक्ति का अनुभव

कारण सम्यक् दर्शन की ज्योति एक बार प्राप्ति के बाद भी, विलुप्त हो सकती है। सम्यक् दर्शन के पाँच दोष बताए गए हैं, जिन्हें शास्त्रीय भाषा में अतिचार कहा जाता है। सम्यक् दर्शन के पाँच अतिचार होते हैं, जो इस प्रकार हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, पर-पाषण्ड प्रशंसा और परपाषण्डसंस्तव। अतिचार का अर्थ है—किसी भी प्रकार की अंगीकृत मर्यादा का उल्लंघन करना। मेरे कहने का तात्पर्य यह है, कि मनुष्य ने अपने अनियमित जीवन को नियन्त्रित रखने के लिए जो मर्यादा ग्रहण की है, आत्मविशुद्धि का जो अंश जागृत किया है, उसको दूषित करना अतिचार कहा जाता है। सम्यक्त्व एवं व्रतों के मूलदोष चार माने जाते हैं—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। किसी भी स्वीकृत साधना को भंग करने का जो संकल्प उठता है—उसे अतिक्रम कहा जाता है, और भंग करने के संकल्प के अनुसार साधन एवं सामग्री जुटाना, व्यतिक्रम कहा जाता है। स्वीकृत साधना को किसी अंश में सुरक्षित रखना और किसी अंश में भंग कर देना, इसको अतिचार कहा जाता है। जब स्वीकृत साधना सर्वथा भंग कर दी जाए, उस स्थिति को अनाचार कहा जाता है। इन चार में से अतिचार तक तो व्रत साधना किसी न किसी रूप में सुरक्षित रहती है, परन्तु अनाचार की स्थिति में पहुँचकर वह बिलकुल भंग हो जाती है। मैं आपसे अतिचार के सम्बन्ध में कह रहा था और यह बता रहा था, कि सम्यक्त्व को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक है, कि उसको पाँचों अतिचारों से बचाया जाए। क्योंकि ये पाँच अतिचार सम्यक्त्व में मलिनता उत्पन्न करते हैं। यदि सावधानी न रखी जाए और अतिचार रूप दूषण बढ़ता ही चला जाए, तो उस स्थिति में सम्यक्त्व के विनाश रूप का खतरा उपस्थित हो जाता है। अतः उस खतरे से बचने के लिए यह आवश्यक है, कि साधक सदा सजग और सदा सावधान रहे। एक क्षण का प्रमाद भी हमारे धर्म की सम्पत्ति को नष्ट कर सकता है। जिस अध्यात्म सम्पत्ति को इतने आत्म पुरुषार्थ से उपार्जित किया है, उसे नष्ट हो जाने देना, बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं है। अतः अतिचार रूप दोष से बचने का प्रयत्न करते रहिए।

सम्यक् दर्शन की साधना में सबसे पहला और सबसे बड़ा खतरा है—शंका। शंका अर्थात् संशय साधक के मन की दुर्बलता है। अपनी साधना में किसी भी प्रकार की शंका का होना, संदेह का रहना शुभ नहीं है। शंका रहते हुए न जीवन का विकास हो पाता है और

अधिगत कर लेता है। सम्यक् दर्शन की उपलब्धि में दया और करुणा एक अनिवार्य कारण है।

सम्यक् दर्शन के लक्षणों में पाँचवाँ लक्षण है—आस्तिक्य। आस्तिक्य का अर्थ है—आस्था अर्थात् विश्वास। परन्तु किसमें विश्वास ? पुद्गल में नहीं, आत्मा में ही विश्वास होना चाहिए। जिस व्यक्ति की आस्था अपनी आत्मा में है, उसका विश्वास कर्म में भी होगा और परलोक में भी होगा और मुक्ति में भी होगा। जो आत्मा जैसे अतीन्द्रिय पदार्थ है, उस पर विश्वास करना ही आस्था एवं आस्तिक्य कहा जाता है। जो व्यक्ति वीतराग साधना पर श्रद्धा रखता है, वह सम्यक् दृष्टि कहा जाता है। सम्यक् दृष्टि आत्मा मेरे विचार में वही हो सकता है, जो कम से कम अपनी आत्मा पर आस्था अवश्य ही रखता है। आत्मविश्वास ही सबसे बड़ा सम्यक् दर्शन है। यदि आपको अपनी आत्मा पर आस्था नहीं है, और शेष संसारी पदार्थों पर आप विश्वास रखते हैं, तब उस स्थिति में आप सम्यक् दृष्टि नहीं हो सकते। इसके विपरीत यदि आपको भले ही संसार के किसी अन्य पदार्थ पर विश्वास न हो, किन्तु आपको अपनी आत्मा पर अटल विश्वास है, तो आप निश्चय ही सम्यक् दृष्टि हैं। मैं आपसे सम्यक् दर्शन के लक्षणों के विषय में चर्चा कर रहा था और यह बता रहा था कि उक्त पाँच लक्षणों में से यदि आत्मा में पाँचों लक्षण अथवा कोई भी एक लक्षण विद्यमान है, तो वह आत्मा सम्यक् दृष्टि कहा जाता है। सम्यक् दृष्टि उसे कहा जाता है जिसने सम्यक् दर्शन की ज्योति को प्राप्त कर लिया है। प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य—ये पाँचों लक्षण इस बात के प्रतीक हैं कि जिस आत्मा में इनकी अभिव्यक्ति होती है, उस आत्मा ने सम्यक् दर्शन के प्रकाश को प्राप्त कर लिया है। किन्तु यह सब व्यवहार मार्ग है, निश्चय मार्ग नहीं। निश्चय की स्थिति तो बड़ी ही विलक्षण है। ऐसी भी स्थिति भी होती है कि व्यवहार में उक्त लक्षणों की प्रतीति न हो परन्तु अन्तरंग में सम्यक् दर्शन की ज्योति प्रदीप्त हो जाए। निश्चय में बाह्य मुख्य नहीं, अनुभूति मुख्य है।

सम्यक् दर्शन के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। यदि किसी व्यक्ति ने सम्यक्दर्शन के प्रकाश को प्राप्त कर लिया है, तो उसके सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह रहता है, कि उस प्रकाश को स्थायी एवं अखण्ड कैसे रखा जाए ? जैसे घर में प्रकाश फैलाने वाला दीपक पवन का झोंका लगने से बुझ जाता है, वैसे ही कुछ दोष हैं जिनके

कारण सम्यक् दर्शन की ज्योति एक बार प्राप्ति के बाद भी, विलुप्त हो सकती है। सम्यक् दर्शन के पाँच दोष बताए गए हैं, जिन्हें शास्त्रीय भाषा में अतिचार कहा जाता है। सम्यक् दर्शन के पाँच अतिचार होते हैं, जो इस प्रकार हैं—शका, काक्षा, विचिकित्सा, पर-पाषण्ड प्रशसा और परपाषण्डसस्तव। अतिचार का अर्थ है—किसी भी प्रकार की अगीकृत मर्यादा का उल्लघन करना। मेरे कहने का तात्पर्य यह है, कि मनुष्य ने अपने अनियन्त्रित जीवन को नियन्त्रित रखने के लिए जो मर्यादा ग्रहण की है, आत्मविशुद्धि का जो अश जागृत किया है, उसको दूषित करना अतिचार कहा जाता है। सम्यक्त्व एव व्रतों के मूलदोष चार माने जाते हैं—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। किसी भी स्वीकृत साधना को भग करने का जो सकल्प उठता है—उसे अतिक्रम कहा जाता है, और भग करने के सकल्प के अनुसार साधन एव सामग्री जुटाना, व्यतिक्रम कहा जाता है। स्वीकृत साधना को किसी अश में सुरक्षित रखना और किसी अश में भग कर देना, इसको अतिचार कहा जाता है। जब स्वीकृत साधना सर्वथा भग कर दी जाए, उस स्थिति को अनाचार कहा जाता है। इन चार में से अतिचार तक तो व्रत साधना किसी न किसी रूप में सुरक्षित रहती है, परन्तु अनाचार की स्थिति में पहुँचकर वह बिलकुल भग हो जाती है। मैं आपसे अतिचार के सम्बन्ध में कह रहा था और यह बता रहा था, कि सम्यक्त्व को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक है, कि उसको पाँचों अतिचारों से बचाया जाए। क्योंकि ये पाच अतिचार सम्यक्त्व में मलिनता उत्पन्न करते हैं। यदि सावधानी न रखी जाए और अतिचार रूप दूषण बढ़ता ही चला जाए, तो उस स्थिति में सम्यक्त्व के निर्मल रूप को खतरा उपस्थित हो जाता है। अत उस खतरे से बचने के लिए यह आवश्यक है, कि साधक सदा सजग और सदा सावधान रहे। एक क्षण का प्रमाद भी हमारे धर्म की सम्पत्ति को नष्ट कर सकता है। जिस अध्यात्म सम्पत्ति को इतने आत्म पुरुषार्थ से उपार्जित किया है, उसे नष्ट हो जाने देना, बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं है। अत अतिचार रूप दोष से बचने का प्रयत्न करते रहिए।

सम्यक् दर्शन की साधना में सबसे पहला और सबसे बड़ा खतरा है—शका। शका अर्थात् सशय साधक के मन की दुर्बलता है। अपनी साधना में किसी भी प्रकार की शका का होना, सदेह का रहना शुभ नहीं है। शका रहते हुए न जीवन का विकास हो पाता है और

में अध्यात्म-साधना में सफलता नहीं मिलती है। जब साधक के मन में अपनी साधना के प्रति किसी भी प्रकार की शंका रहती है, तब यह शंका उसके संकल्प में और उसकी स्थिरता शक्ति में दृढ़ता नहीं आने देता। वह साधक अपनी राह में हर कदम पर ठोकर खा सकता है, जिसके मन में शंका एवं संशय जमा हुआ है। शंका एक ऐसा घुन है, जो साधना में दृढ़ता नहीं आने देता। दृढ़ता के बिना साधक अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए, साधना में अपेक्षित आन्तरिक बल प्राप्त नहीं कर सकता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह आवश्यक है, कि हम शंका और संशय के वातावरण से दूर रहें। मैं यह नहीं कहता कि संशय और शंका एकान्त रूप से बुरी वस्तु है। यदि शंका और संशय न हो तो जिज्ञासा कैसे उत्पन्न होगी? और जब जिज्ञासा ही नहीं है, तब नवीन ज्ञान का द्वार कैसे खुलेगा? यहाँ पर मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि किसी तत्व को समझने एवं जानने के लिए शंका और तदनुसार प्रश्न आदि अवश्य किया जाना चाहिए, किन्तु एक बार जब किसी तत्व का सम्यक् समाधान हो जाता है और जब सम्यक् प्रकार से स्वीकृत सिद्धान्त को जीवन में साकार करने का प्रसंग उपस्थित होता है, उस समय साधना में जो शंका एवं संशय उत्पन्न होता है, वह साधक-जीवन की सबसे भयंकर बुरी स्थिति होती है। उस स्थिति से बचने के लिए ही यहाँ पर शंका रूप दोष से बचने के लिए, साधक को चेतावनी दी गई है। संशय साधना में एक प्रकार का विष होता है।

सम्यक्त्व के पाँच अतिचारों में दूसरा अतिचार है—कांक्षा। किसी किसी ग्रन्थ में कांक्षा के स्थान पर आकांक्षा का शब्द का प्रयोग भी किया जाता रहा है। दोनों का एक ही सामान्य अर्थ है—इच्छा और अभिलाषा। परन्तु यहाँ पर कांक्षा शब्द का सामान्य अर्थ अभिप्रेत नहीं है यहाँ पर इसका एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है। कांक्षा का क्या अर्थ है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि कि जब एक साधक किसी अन्य व्यक्ति की पूजा और प्रतिष्ठा को देखकर उसके वैभव और विलास को देख कर अपनी साधना के प्रति आस्था छोड़ देता है, और पूजा एवं प्रतिष्ठा की अभिलाषा करता है यही कांक्षा है। साधक का मन जब अपनी साधना में स्थिर नहीं रह पाता तब वह इधर उधर भटकना प्रारम्भ कर देता है। उस स्थिति में अपने पथ की प्रतिकूलता उसे पथ भ्रष्ट कर सकती है।

ससार के भोग-विलासो का आकर्षण एक प्रकार की कांक्षा ही है। जब साधक किसी भी प्रकार के भोग की भावना से प्रेरित हो जाता है, तब यह निश्चित है कि वह अपने मन की [illegible] को [illegible] वैसा करता है। कुछ आचार्यों ने कांक्षा का अर्थ यह भी किया है, कि अपने पंथ और सम्प्रदाय को छोड़कर दूसरे के पंथ और सम्प्रदाय की ओर आकर्षित होना। भावना योग मे किसी भी प्रकार की कांक्षा, आकांक्षा, कामना, अभिलाषा और इच्छा को अवकाश नही है। इन सबका मूल प्रलोभन मे है। जब तक साधक के मन मे किसी भी प्रकार का प्रलोभन विद्यमान रहता है, तब तक वह किसी न किसी प्रकार की कांक्षा की आग मे जलता ही रहेगा। कांक्षा चाहे किसी पंथ की हो, चाहे किसी पदार्थ की हो और चाहे किसी व्यक्ति विशेष की हो, वह साधक के लिए कभी हितकर नही होती। अतः आत्म-भावना करते हुए सभी प्रकार की कांक्षाओ से और इच्छाओ से दूर रहने का प्रयत्न करते रहना चाहिए, तभी साधक अपनी साधना के अभीष्ट फल को प्राप्त कर सकता है।

सम्यक्त्व का तीसरा दूषण है—विचिकित्सा। यह दूषण एक ऐसा दूषण है, जो साधक को उसकी किसी भी साधना मे स्थिर और एकाग्र नही बनने देता। विचिकित्सा शब्द का अर्थ है—फल-प्राप्ति मे सन्देह करना। जब साधक को अपनी साधना के फल मे सशय और सन्देह हो जाता है, तब साधना करने मे उसे न किसी प्रकार का आनन्द आता है और न उसके मन मे किसी प्रकार का उत्साह ही रहता है। कल्पना कीजिए किसी एक व्यक्ति को जो आपके घर पर आया है, आपने बड़े आदर से सुन्दर थाल मे स्वादिष्ट भोजन परोसकर उसके सामने रख दिया और वह व्यक्ति उस भोजन को बड़े आनन्द के साथ खाने भी लगा है। परन्तु उस प्रसग पर यदि उसे किसी प्रकार यह ज्ञात हो जाए, कि सम्भवत इस भोजन मे विष डाल दिया गया है तो उस व्यक्ति का वह सारा आनन्द विलुप्त हो जाएगा और उसके मन की सारी एकाग्रता नष्ट हो जाएगी। क्योकि वह यह सोचता है, कि इस विषमिश्रित भोजन को करने मे स्वस्थ एव जीवित नही रह सकता। यद्यपि उस भोजन मे विष डालने का एकान्त निश्चय उसे नही है, फिर भी सन्देह के कारण उसके मन मे भोजन के प्रति एक प्रकार की विचिकित्सा तो पैदा हो ही गई है। यहाँ प्रकृत मे इस तथ्य को इस प्रकार समझिए, कि जब साधक कोई भी साधना प्रारम्भ

करता है, और कुछ दूर दृढ़ता के साथ उस पथ पर आगे बढ़ता भी रहता है, किन्तु जिस क्षण उसके मन में यह भावना पैदा हो जाती है कि मैं जिस साधना का पालन कर रहा हूँ अथवा मैं जिस व्रत का पालन कर रहा हूँ उसका फल भी मुझे कभी मिलेगा अथवा नहीं? इस प्रकार की संशयशाली और डगमगाती मनोवृत्ति ही विचिकित्सा कही जाती है। विचिकित्सा किसी भी प्रकार की क्यों न हो वह अध्यात्म साधना का एक दूषण है और वह साधक की निष्ठा शक्ति को दुर्बल एवं कमजोर बनाती है। इससे बचने का एक ही उपाय है, कि मन में फल की आकांक्षा किये बिना अपनी साधना को निरन्तर करते रहना। यही एक मात्र साधना का राजमार्ग है।

सम्यक्त्व-साधना का चतुर्थ और पंचम दोष है—परपाषण्ड-प्रशंसा और परपाषण्ड संस्तव। हम यहाँ पर यह विचार करना है कि प्रशंसा और संस्तव का क्या अर्थ है? प्रशंसा का अर्थ है—किसी की स्तुति करना किसी के गुणों का उत्कीर्तन करना। संस्तव का अर्थ है—किसी से परिचय करना किसी से मेल-जोल बढ़ाना। सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि प्रशंसा और परिचय को अतिचार दोष और दूषण क्यों माना गया है? इसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि प्रशंसा और संस्तव अपने आप में न अच्छे हैं, न बुरे हैं। यह तो व्यक्ति के ऊपर निर्भर है कि वह कैसा है? यहाँ पर पाषण्ड की प्रशंसा और संस्तव निषिद्ध है। मनुष्य के मन पर संगति और वातावरण का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। अच्छी संगति मनुष्य को सन्मार्ग की ओर ले जाती है और बुरी संगति मनुष्य को उन्मार्ग की ओर ले जाती है। इसी प्रकार अच्छे वातावरण से मनुष्य अच्छा बनता है और बुरे वातावरण से मनुष्य बुरा बन जाता है। एक मिथ्या दृष्टि व्यक्ति की संगति में और वातावरण में रहने वाला व्यक्ति कभी न कभी अपने मार्ग को छोड़ कर उसके रंग में अवश्य रंग जाएगा। मनुष्य के मन पर निकट के व्यक्तियों के विचार और आचार का प्रभाव बहुत शीघ्रता से पड़ता है। यहाँ पाषण्ड शब्द का अर्थ भी समझने के योग्य है। पाषण्ड शब्द के विविध ग्रन्थों में अनेक अर्थ किए गए हैं। पाषण्ड शब्द का एक अर्थ है—पथ भ्रष्ट व्यक्ति पाषण्ड का दूसरा अर्थ है—पथ एवं सम्प्रदाय और पाषण्ड का तीसरा अर्थ है—व्रत। इस प्रकार पाषण्ड शब्द के अर्थ विभिन्न युग के आचार्यों ने विभिन्न किए हैं, परन्तु सम्यक्त्व के वर्णन के प्रसंग पर इसका अर्थ—सम्प्रदाय एवं पथ ही लेना चाहिए। यहाँ

पाषण्ड से पूर्व 'पर' शब्द जुड़ा है, अतः पर पाषण्ड प्रशंसा और परपाषण्ड संस्तव का अर्थ होता है—दूसरे मिथ्यात्वी एवं कुमार्गी पाषण्ड अर्थात् मत आदि की प्रशंसा और परिचय करना। इस प्रसंग पर मुझे यह कहना चाहिए, कि जबतक उदारता के साथ विचार नहीं किया जाएगा, तब तक इसमें अनर्थ होने की सम्भावना बनी रहेगी। इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरे पंथों एवं पंथ वालों से घृणा की जाय, उनकी निन्दा की जाय, यथावसर विषम स्थिति में उन्हें उचित सहयोग न दिया जाय। यह अलग रहने की बात प्राथमिक श्रेणी के दुर्बल साधकों के लिए है। एक मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के सम्पर्क में रहने वाला सम्यक् दृष्टि व्यक्ति, यदि दुर्बल विचार वाला है, तो उसके मिथ्या दृष्टि व्यक्ति के चंगुल में फँस जाने की सम्भावना है। इसलिए जब तक विचारों में परिपक्वता न आ जाए, अथवा स्व समय एवं पर समय का दृढ़ परिबोध न हो जाए, तब तक पर पाषंड की प्रशंसा और संस्तव से बचना आवश्यक है। इसी अभिप्राय से सम्यक्त्व के दोषों का वर्णन करते हुए यह कहा गया है, कि अतिचारों को समझो अवश्य, किन्तु उनका आचरण कभी भूल कर भी मत करो। पाप को समझना तो आवश्यक है, किन्तु पाप का आचरण नहीं करना चाहिए। उसका समझना इसलिए आवश्यक है, ताकि हम समय पर उस पाप से बच सकें। जब शास्त्रकार यह कहते हैं, कि पाप को भी समझो और पुण्य को भी समझो, तथा धर्म को भी समझो और अधर्म को भी समझो, तब इस कथन का अभिप्राय केवल इतना ही होता है, कि पाप से बचने के लिए और अधर्म से बचने के लिए पाप और अधर्म को पहचानना आवश्यक है।

आज के वर्णन में मैंने दो बातों का स्पष्टीकरण किया है—सम्यक्त्व के लक्षण और सम्यक्त्व के अतिचार। किसी भी साधना में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक होता है, कि उस पथ की विशेषताओं को भी समझा जाए। और उस पथ में आने वाली विघ्न-बाधाओं को भी समझा जाए। विशेषताओं को समझने की अपेक्षा भी यह अधिक आवश्यक है, कि उस पथ में आने वाली रुकावट और अड़चन को भली प्रकार समझा जाए, जिससे कि मार्ग पर कदम बढ़ाते हुए प्रतिकूल स्थिति आने पर साधक व्याकुल न बने। जब तक स्वीकृत पथ में अचल आस्था न होगी, तब तक उसमें सफलता के बीज का आधान नहीं किया जा सकता। द्वादश व्रतों का वर्णन करने से पहले सम्यक्त्व का वर्णन इसी अभिप्राय से किया जाता है, कि इन

व्रत, तपस्या नियमों की सार्थकता तभी है जब कि उनके मूल में शुद्ध सम्यक्त्व हो। सम्यक्त्व की अपार महिमा है सम्यक्त्व की अपार महिमा है और आत्मा में सम्यक्त्व गुण की अपार एवं अद्भुत शक्ति है।

२०

आठ अङ्ग और सात भय

* * *

सम्यक् दर्शन का स्वरूप क्या है ? उसकी व्याख्या क्या है और उसकी परिभाषा क्या है ? इस सम्बन्ध मे आपको विस्तार के साथ बताया जा चुका है। सम्यक् दर्शन के सम्बन्ध मे जो मुख्य-मुख्य सिद्धान्त हैं उनका परिचय आपको करा दिया गया है। अब सम्यक् दर्शन के सम्बन्ध मे एक बात शेष रह जाती है, वह यह है, कि जिस व्यक्ति मे सम्यक् दर्शन होता है, उस व्यक्ति का आचरण कैसा होता है। शास्त्रीय भाषा मे इसको दर्शनाचार कहते हैं। सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर जीवन के आचरण मे जो एक प्रकार की विशेषता आ जाती है, उसे दर्शनाचार कहा जाता है, इसके आठ अग हैं—निश्शकता, निष्कांक्षता, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टिता, उपबृहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

निश्शकता, सम्यक्त्व का प्रथम अग है। इसका अर्थ है—सर्वज्ञ एव वीतराग कथित तत्व मे किसी भी प्रकार की शका न रखना। कुछ आचार्य इसका एक दूसरा अर्थ भी करते हैं। उनका कहना है,

कि मोक्ष मार्ग पर, आध्यात्मिक साधना पर दृढ़ विश्वास रखना ही निश्शंकता है। जब तक जीवन में निश्शंकता का भाव नहीं आएगा तब तक साधना में किसी भी प्रकार की दृढ़ता नहीं आ सकेगी। श्रद्धा एवं विश्वास के बिना जीवन का विकास नहीं हो सकता। साधना चाहे कितनी भी कठोर क्यों न हो और चाहे कितनी भी दीर्घकालीन क्यों न हो श्रद्धा के अभाव में वह मोक्ष का अंग नहीं बन सकती है। जीवन में सत्य के प्रति अगाध आस्था ही वस्तुतः निश्शंकता है।

निष्कांक्षता दर्शनाचार का दूसरा अंग माना जाता है। निष्कांक्षता का अर्थ है—किसी भी प्रकार के अविहित एवं मर्यादाहीन भोग-पदार्थ की इच्छा और अभिलाषा न करना। जीवन में सुख और दुःख दोनों आते हैं, दोनों को समभाव से सहन करना ही सच्ची साधना है। सांसारिक सुख का प्रलोभन साधक को साधना के मार्ग से विचलित कर देता है। सुखों के आकर्षण का संवरण न कर सकने के कारण जब साधक भौतिक बन्धन के जाल में फँस जाता है, तब वह साधना कैसे कर सकता है। साधना की सफलता के लिए यह आवश्यक है, कि मन में किसी भी पदार्थ के प्रति साधना पथ से पतित करने वाला आकर्षण न हो। इन्द्रिय-सुख को साधक इतना महत्व न दे, कि उसके लिए वह अन्याय अत्याचार तथा अनाचार करने को तैय्यार हो जाए, बस इसी को निष्कांक्षता कहा जाता है।

निर्विचिकित्सा का अर्थ है—शरीर के दोषों पर दृष्टि न रखते हुए, आत्मा के सद्गुणों से प्रेम करना। सम्यक् दृष्टि में जब तक सद्गुणों के प्रति अभिरुचि पैदा न होगी तब तक वह अपने जीवन को श्रेष्ठ नहीं बना सकेगा। गुण-दृष्टि और गुणानुराग ही निर्विचिकित्सा का प्रधान उद्देश्य है। निर्विचिकित्सा का एक अर्थ यह भी किया जाता है, कि मन में अपनी साधना के प्रति यह विकल्प नहीं रहना चाहिए, कि जो कुछ साधना मैं कर रहा हूँ, उसका फल मुझे मिलेगा या नहीं? साधक का कर्तव्य है, साधना करना। फल की आकांक्षा करना उसका कर्तव्य नहीं है। निर्विचिकित्सा का एक अर्थ यह भी लिया जाता है, कि संयम-परायण एवं तपोधन मुनि के मलमलिन कुवसन और देह को देख कर ग्लानि न करना। इस प्रकार निर्विचिकित्सा के विभिन्न

अर्थ किए गए हैं, जो मूलत एक ही भाव रखते है। विचिकित्सा अर्थात् ग्लानि एक प्रकार का कषाय भाव है। इसलिए वह पाप है, और पाप का त्याग करना, यही साधना का मुख्य उद्देश्य है।

दर्शनाचार का चौथा अग है, अमूढदृष्टिता। सम्यक् दृष्टि को कर्तव्य एव अकर्तव्य का विवेक होता है, अत उसके समस्त कार्य विवेक पूर्वक ही होते हैं। जीवन मे विवेक स्थिर कैसे रहे, इसके लिए मूढता का परित्याग करना आवश्यक है। मूढता का अर्थ है—अज्ञान, भ्रम, सशय और विपर्यास। सम्यक् दृष्टि का विचार पवित्र रहना चाहिए। यदि विचार पवित्र नही रहा, तब वह साधना-मार्ग से कभी भ्रष्ट भी हो सकता है। विचार को स्वच्छ और पावन रखने के लिए मूढता का परित्याग परमावश्यक है। शास्त्र मे अनेक प्रकार की मूढताओ का वर्णन किया गया है, उनमे मुख्य ये हैं—लोक-मूढता, शास्त्र-मूढता और गुरु-मूढता। लोक-मूढता का क्षेत्र सबसे अधिक विशाल है। इसके सम्बन्ध मे कहा गया है कि किसी नदी-विशेष में स्नान करने मे धर्म मानना, पर्वत से गिर कर मरने मे धर्म मानना, अथवा अग्नि मे जल कर मरने मे धर्म मानना इत्यादि लोकमूढता है। लोक-मूढता मे उन सब पापो का समावेश हो जाता है, जो लोक एव समाज की अन्ध-श्रद्धा के बल पर चलते हैं। समाज मे प्रचलित रूढियाँ भी लोक-मूढता का ही एक रूप हैं। शास्त्र-मूढता भी सम्यक् दृष्टि मे नही होनी चाहिए। सम्यक् दृष्टि जीव किसी भी शास्त्र को तभी मानता है, जबकि वह उसकी कसौटी कर लेता है। शास्त्र के नाम पर और पोथी पन्नो के नाम पर भी ससार मे अनेक प्रकार की मूढताएँ चलती रहती हैं। कल्पना कीजिए, जब एक व्यक्ति यह कहता है, कि मेरी सम्प्रदाय का शास्त्र ही सच्चा है, अन्य सब झूठे हैं, तो यह भी एक प्रकार की शास्त्र-मूढता ही है। दूसरा व्यक्ति कहता है, सस्कृत मे लिखित शास्त्र ही सच्चे हैं, अन्य सब मिथ्या हैं, तो यह भी एक प्रकार की शास्त्र-मूढता ही है। क्यो कि सत्य न किसी पोथी मे बन्द है, न किसी सम्प्रदाय मे बन्द है और न किसी भाषा मे बन्द है। देव-मूढता का अर्थ है—काम, क्रोध, मोह आदि विकारो के पूर्ण विजेता और परिपूर्ण शुद्ध वीतराग देव को देव न मानकर, अन्य विकारी देव को देव मानना। जीवन-विकास के लिए

सच्चे देव की पहिचान आवश्यक है। जब तक सच्चे देव की उपासना नहीं की जाएगी तब तक देव मूढ़ता का अन्त नहीं होगा। रागी देव को देव मानना ही देव-मूढ़ता का वास्तविक लक्षण है। आत्म-विवेक की साधना करने वाले साधक के लिए यह आवश्यक है, कि वह सुदेव की उपासना करने का निरन्तर अभ्यास करे और उसके बतलाए हुए पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता रहे। गुरु-मूढ़ता भी एक प्रकार का पाप ही है। गुरु का अर्थ है, साधना का मार्ग बताने वाला। जो व्यक्ति स्वयं साधना-भ्रष्ट है, जो स्वयं कामी है और जो स्वयं लोभी है, उसे गुरु मानना ही गुरु-मूढ़ता है। गुरु-मूढ़ता का अर्थ यह भी लिया जाता है कि परीक्षा किए बिना ही हर किसी को गुरु स्वीकार कर लेना और फिर स्वार्थ सिद्ध न होने पर परित्याग कर फिर किसी अन्य को अन्धभाव से गुरु बना लेना। गुरु-मूढ़ता भी त्याज्य है।

उपबृंहण यह दर्शनाचार का पाँचवा अंग माना जाता है। इसका अर्थ है—वृद्धि करना बढ़ाना या पोषण करना। स्व और पर की धार्मिक भावना को बढ़ाना ही उपबृंहण कहा जाता है। न अपने सत्कर्म की अवहेलना करनी चाहिए, और न दूसरे के सत्कर्म की। जहाँ तक बन सके सद्गुणों एवं सत्कर्मों को बढ़ावा ही देना चाहिए। उपबृंहण के स्थान पर उपगूहन शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। उसका अर्थ है—'छुपाना'। धर्म की निन्दा को और धर्म की अप्रभावना को छुपाना ही उपगूहन कहा जाता है। सम्यक् दृष्टि को ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए, जिससे उसके धर्म और उसकी संस्कृति की लोक में निन्दा हो। कदाचित् किसी कारण से उसके धर्म की अवहेलना होती भी हो तो उसे दूर करना ही उपगूहन कहा जाता है। परदोष-दर्शन की प्रवृत्ति बड़ी ही भयंकर है। जिसके मुख को एकबार परनिन्दा का रस लग जाता है, फिर उसका छूटना कठिन हो जाता है। दूसरे के दोषों का सुधार तो करना चाहिए परन्तु उसकी निन्दा के ढोल नहीं बजाने चाहिएँ। दूसरों के दोषों का उपगूहन कर उसके गुणों का आदर करो उसके गुणों की अभिवृद्धि करो यही इस अंग का प्रधान उद्देश्य है।

दर्शनाचार का छठा अंग है—स्थिरीकरण। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई मनुष्य अपने धर्म के मार्ग से गिर रहा है, तो उसे सहारा देकर फिर धर्म में स्थिर कर देना। व्यक्ति आपत्ति में

फँसकर अथवा प्रलोभन मे फँसकर अपने धर्म से गिर जाता है। उस गिरते हुए को ऊपर उठाना, उसे फिर कल्याण के मार्ग पर लगा देना, यह साधारण बात नही है। नि स्वार्थ और पवित्र हृदय वाला व्यक्ति ही इस प्रकार का कार्य कर सकता है। जिसके ठोकर लग चुकी है, उसे साहस बँधा कर फिर धर्म पर आरूढ करना, इसी को स्थिरीकरण कहा जाता है। सघ मे जो व्यक्ति निर्धन हैं और अभाव ग्रस्त हैं, और जो अपनी अभावग्रस्तता के कारण अथवा अपनी निर्धनता के कारण, अपनी सस्कृति और अपने धर्म से दूर हट रहे हैं, उनकी समस्याओ को सुलझाकर और उनके मानसिक विकल्पो को दूर कर पुन धर्म के पथ पर उन्हे लगा देना ही स्थिरीकरण का अभिप्राय है।

वात्सल्य का अर्थ है—प्रेम और स्नेह। यह दर्शनाचार का सातवा अग है। जिस प्रकार माता-पिता अपनी सतान पर वात्सल्यभाव रखते हैं, प्रेम और स्नेह के साथ उनका लालन-पालन करते हैं, उसी प्रकार धर्म के क्षेत्र मे भी जो व्यक्ति इस उदात्तभावना को लेकर चलता है और अपने सह धर्मी के प्रति निर्मल एव निष्काम वात्सल्य-भाव रखता है, वह व्यक्ति धर्मसघ मे सबसे अधिक आदरणीय है। वात्सल्य का अर्थ है—समाज-भावना और परिवार-भावना। जिस प्रकार व्यक्ति अपने कुटुम्ब पर स्नेह और प्रेम रखता है, उसी प्रकार अपनी समाज के हर व्यक्ति पर प्रेम और स्नेह रखना ही, वात्सल्य भाव है। स्वधर्मी के प्रति किया जाने वाला प्रेम वस्तुत धर्म-प्रेम का ही एक अग माना जाता है। दर्शनाचार का यह सातवां अग वात्सल्य, सघ और समाज की दृष्टि से बडा महत्व पूर्ण है।

दर्शनाचार का आठवां अग है—प्रभावना। प्रभावना का अर्थ है—महिमा और कीर्ति। जिस कार्य के करने से अपने धर्म और अपनी सस्कृति की महिमा का प्रसार हो, और कीर्ति का प्रचार हो, वह प्रभावना है। धर्म की प्रभावना का कोई एक मार्ग और कोई एक पद्धति नही हो सकती। ज्ञान का प्रचार करने से, सदाचार को पवित्र रखने से तथा लोगो के साथ मधुर व्यवहार करने से धर्म की महिमा बढती है। स्वय शुद्ध आचार का पालन करना और दूसरो को शुद्ध आचार का पालन करने के लिए प्रेरित करना, यह भी प्रभावना का एक अग है। त्याग, तपस्या और सघ-सेवा भी प्रभावना का एक मुख्य अग माना जाता है।

मैं आपसे यह कह रहा था कि जिस व्यक्ति को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो जाती है, उस व्यक्ति का व्यवहार और आचरण कितना सुन्दर हो जाता है ? वह व्यक्ति दूसरे के लिए केवल धर्म प्रेरणा का निमित्त ही नहीं बनता बल्कि स्वयं भी उस दिव्य सिद्धान्त को अपने जीवन-धरातल पर उतारता है, जो उसने अपनी अध्यात्म साधना के द्वारा प्राप्त किया है।

सम्यक् दर्शन के इन आठ अगो के आचरण से यह अभिव्यक्त हो जाता है, कि इस व्यक्ति ने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है। यह अग जीवन मे सन्तुष्ट एव सुखी रहने की कला सिखाते हैं, फलत ससार मे सुख की अभिवृद्धि भी करते हैं। इसी आधार पर इन्हे कल्याण मार्ग का अग कहा जाता है। उक्त आठ अगो का आचरण इस तथ्य को प्रमाणित करता है, कि सत्य की उपलब्धि हो जाने पर साधक का जीवन परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए अभिशाप नहीं बल्कि एक सुन्दर वरदान होता है।

सम्यक् दृष्टि आत्मा के जीवन मे अन्य क्या विशेषता होती है जिसके आधार पर यह जाना जा सके कि यह सम्यक् दृष्टि है। सम्यक् दृष्टि के आचार विचार के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा जा चुका है, फिर भी एक बात शेष रह जाती है, जिसका कथन और प्रतिपादन करना अत्यन्त आवश्यक है। सम्यक् दृष्टि के जीवन की सबसे बडी विशेषता है—निर्भयता। जहा भय है, वहाँ धर्म नही रह सकता सस्कृति नही रह सकती। जहाँ भय है वहाँ सत्य नही रह सकता और जहाँ सत्य है, वहाँ भय नही ठहर सकता। भय मन की एक कमजोरी है, भय आत्मा की एक दुर्बलता है। भय एक अन्धकार है। जहाँ भय का अन्धकार रहता है, वहाँ किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक साधना सफल नही हो सकती। शास्त्र मे कहा गया है, कि जो व्यक्ति सत्य की साधना करना चाहता है और जो व्यक्ति सत्य की उपासना करना चाहता है उसके लिए यह आवश्यक है, कि वह अपने मन के भय को दूर करदे। जो व्यक्ति कदम-कदम पर भयभीत होता है, वह धर्म की साधना कैसे कर सकता है ? धर्म की आराधना के लिए निर्भयता की आवश्यकता है। निर्भयता का अर्थ है-मन की वह वृत्ति जिससे साधक मे एक ऐसी अद्भुत शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो विकट सकट के क्षण मे भी उस साधक को धर्म मे स्थिर रखती है। जब तक वह शक्ति साधक को नही मिलती तब तक वह अपने साधना-पथ पर न अग्रसर

हो सकता है और न उसे अपनी धर्म साधना का दिव्य फल ही मिल सकता है। सम्यक् दृष्टि के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए शास्त्र मे कहा गया है, कि सम्यक् दृष्टि आत्मा को सात प्रकार का भय नही होता। वे सातभय कौन से हैं, इसके सम्बन्ध कहा गया है, कि इहलोकभय, परलोकभय, वेदना-भय, मरण-भय, आदान-भय, अपयश-भय और अकस्माद्भय। इन सात प्रकार के भयो मे से एक भी भय जिसके मन मे न हो, वही सच्चा सम्यक् दृष्टि है।

इहलोक-भय, सात भयो में सबसे पहला भय है। इहलोक का अर्थ है-मनुष्य के लिए अपना सजातीय मनुष्य-समाज, और परलोक का अर्थ है—विजातीय समाज। परलोक मे पशु-पक्षी और सुर-असुर आदि सभी का समावेश हो जाता है। इस लोक का भय और परलोक का भय किस प्रकार होता है, यह बताने से पहले यह आवश्यक है, कि यहाँ पर जो भयो की परिगणना की गई है, वह केवल सम्यक् दृष्टि के जीवन को लक्ष्य करके ही की गई है। सम्यक दृष्टि के जीवन मे किसी भी प्रकार का किसी भी अश मे भय नही रहता यह कहने का यहाँ उद्देश्य नही है। यहाँ तो केवल इतना ही कहना अभीष्ट है, कि उक्त सात प्रकार के भयो मे से सम्यक्त्व ज्योति का विघातक—ऐसा किसी भी प्रकार का भय सम्यक् दृष्टि को होता नही है।

इहलोक-भय के अनेक कारण हैं, किन्तु हम उनको दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं इष्ट-वियोग और अनिष्ट-सयोग। इष्ट-वियोग का अर्थ है-किसी भी प्रिय वस्तु का वियोग हो जाना। प्रिय वस्तु के दो भेद किए जा सकते हैं—चेतन और अचेतन। चेतन मे माता, पिता, पति, पत्नी, भ्राता, भगिनी, पुत्र एव पुत्री आदि चेतन का समावेश हो जाता है। अचेतन मे धन, सम्पत्ति एव भोग्य-पदार्थ आदि सभी जड का समावेश हो जाता है। जड और चेतन रूप अपनी किसी भी इष्ट वस्तु का वियोग हो जाने पर सम्यक् दृष्टि के मन मे व्याकुलता नही होती। क्योकि वह इस तथ्य को भलीभाति जानता है, कि जो भी, जितना भी और जैसा भी सयोग है, उसका एक दिन वियोग अवश्य होगा। सयोग का वियोग होना और वियोग का सयोग होना, यही तो ससार का खेल है। सम्यक् दृष्टि आत्मा इस ससार को खेल का एक मैदान समझता है और अपने आपको उसका एक खिलाडी। ससार के इस खेल में कभी जय और कभी पराजय होती ही रहती है। कभी सयोग और कभी वियोग चलता ही रहता है। सम्यक्दृष्टि आत्मा सोचता है,

कि जो कुछ आता है वह पर है, और जो पर है वह एक दिन जाएगा भी अवश्य ही। अत जड़ और चेतन के किसी भी प्रकार के वियोग से वह विचलित नहीं होता।

अब रही अनिष्ट-संयोग की बात इस अनिष्ट-संयोग से भी सम्यक् दृष्टि आत्मा विचलित एवं व्याकुल नहीं होता है। आप पूछ सकते हैं कि अनिष्ट-संयोग का क्या तात्पर्य है? इस सम्बन्ध में मेरा यही कहना है, कि इस संसार में जितनी भी अनिष्ट वस्तुएँ हैं, चाहे वे चेतन हो चाहे अचेतन हो उनकी प्राप्ति ही अनिष्ट-संयोग है। कल्पना कीजिए, एक पिता का पुत्र कपूत है, उद्दत है और अविनीत है। पिता उसे अपने घर में देखना नहीं चाहता किन्तु फिर भी पिता की इच्छा के विरुद्ध वह पुत्र उसके घर में रहता है यह अनिष्ट संयोग है। कल्पना कीजिए, कि घर में पति-पत्नी के विचार नहीं मिलते हैं। कभी-कभी इस प्रकार की स्थिति आजाती है, कि मास पर मास निकलते जाते हैं और वे दोनो एक दूसरे से नहीं बोलते। बोलना तो दूर रहा व एक दूसरे को देखना भी पसन्द नहीं करते किन्तु फिर भी उन्हें एक ही घर में रहना पड़ता है। यह भी एक प्रकार का अनिष्ट संयोग ही है। कल्पना कीजिए, भयंकर गर्मी का समय है आपको प्यास लगी है। उस समय आपके हृदय में अभिलाषा है कि कहीं शीतल और मधुर जल मिल जाए, किन्तु इसके विपरीत आपको मिलता है, गरम और खारा जल जो आपको इष्ट नहीं है। यह भी एक प्रकार का अनिष्ट संयोग है। आपके हृदय में यह अभिलाषा रहती है, कि मुझे खाने के लिए अमुक वस्तु मिले किन्तु संयोगवश उसके विपरीत ही आपको दूसरी वस्तु मिलती है किन्तु अपनी तीव्र भूख को शान्त करने के लिए आपको वह ही खाना पड़ता है यह भी एक प्रकार का अनिष्ट संयोग ही है। इस प्रकार के अनिष्ट संयोगों में भी सम्यक् दृष्टि आत्मा स्थिर रहता है। घृणा और वैर के विकल्पों में उलझ कर अपने को अशान्त नहीं करता है।

परलोकभय का अर्थ है-अपने से भिन्न विजातीय किसी पशु एवं देव आदि से प्राप्त होने वाला भय। सम्यक् दृष्टि विचारता है कि दूसरा कोई किसी का कुछ बिगाड़ नहीं सकता। दूसरा दूसरे का कर्ता कैसे हो सकता है? जो कुछ मुझे दूसरे से मिल रहा है, वह मेरा किया हुआ ही मुझे मिल रहा है। इस प्रकार वह दूसरों से घृणा नहीं करता। परलोक भय का अर्थ दूसरे लोक का भय भी किया जाता है।

इसका अर्थ है—दूसरे लोक मे उपलब्ध होने वाले सुख एव दुख की चिन्ता करना। परन्तु जिसका जीवन पवित्र एव निर्भीक है, उसे परलोक का भय नही सताता। सम्यक्‌दृष्टि आत्मा के कर्तव्य मार्ग मे परलोक का-भय वाधक नही वन सकता। सम्यक् दृष्टि को अपने वर्तमान जीवन की पवित्रता एव निर्मलता पर विश्वास होना है। वह सोचता है, कि जव मैंने अपने जीवन मे किसी भी प्रकार का पाप नही किया है, और जव मैंने दूसरे किसी का अहित नही किया है, तव मुझे भयभीत होने की आवश्यकता ही क्या ? सम्यक् दृष्टि आत्मा को न अपने से भिन्न किसी मनुष्य का भय होता है, न पशुपक्षी का भय होता है और न किसी देव का भय होता है। न परलोक का ही भय होता है कि मरने के वाद मेरा वहाँ क्या हाल होगा ? वह अपने मन मे यही विचार करता है,कि जो कुछ शुभ और अशुभ कर्म मैंने किया है, उसका फल मुझे स्वय को ही भोगना है। दूसरा व्यक्ति न मुझे सुख दे सकता है, और न दु ख दे सकता है। इस प्रकार सुख-दु ख के सम्वन्ध मे उसके मानस मे यह ध्रुव धारणा रहती है, कि कोई किसी को सुख-दु ख नही दे सकता। सम्यक् दृष्टि के मन मे न स्वर्ग का प्रलोभन होता है, और न नरक का भय। अपने वर्तमान जीवन मे पवित्र जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के हृदय मे न इहलोक का भय होता है और न परलोक का भय होता है। इसी आधार पर यह कहा जाता है, कि सम्यक् दृष्टि को अपने इस वर्तमान जीवन मे, अपने साधना के पथ से न इस लोक का भय हटा सकता है और न परलोक का भय ही हटा सकता है।

सात भयो मे तीसरा भय है, वेदना-भय। वेदना का अर्थ है-पीडा या कष्ट। जीवन मे किसी भी प्रकार का सकट उपस्थित हो जाने पर सम्यक् दृष्टि विचलित नही होता है। सवसे भयकर वेदना वर्तमान जीवन मे रोग की मानी जाती है। जव शरीर मे किसी भी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाता है, तव वह वडे से वडे वीर पुरुष को भी अधैर्यशील वना देता है। कहा गया है, कि इस शरीर के रोम-रोम मे रोग भरे हुए हैं। न जाने किस समय कौन सा रोग फूट पडे। जव मनुष्य स्वस्थ होता है, तव उसके मन मे प्रसन्नता रहती है, और उसके तन मे स्फूर्ति रहती है, परन्तु ज्यो ही वह, रोग-ग्रस्त हो जाता है, तो उसके मन की प्रसन्नता और उसके तन की स्फूर्ति न जाने कहाँ चली जाती है। इस विशाल विश्व मे एक भी व्यक्ति ऐसा नही है, जो यह

चाहता हो कि मैं बीमार पड़ जाऊं रोग ग्रस्त हो जाऊँ। इसके विपरीत सभी लोग यह चाहते हैं कि हम सदा स्वस्थ एवं प्रसन्न बने रहें। किन्तु जो कुछ मनुष्य चाहता है, वही तो संसार में नहीं होता। होता वही है, जो कुछ होना होता है। जीवन के इसी स्वर्णिम सूत्र को पकड़ कर सम्यक् दृष्टि आत्मा सर्व प्रकार की व्याधिजन्य वेदनाओं की व्याकुलता से विमुक्त हो जाता है। वेदना किसी भी प्रकार की क्यों न हो? चाहे वह शारीरिक हो अथवा मानसिक हो सम्यक् दृष्टि को वह व्याकुल नहीं बना सकती। कारण स्पष्ट है कि सम्यग् से सम्यक् दृष्टि की दृष्टि इस देह पर नहीं इस देह में निवास करने वाले देही पर ही होती है। इस तन के विनाश को वह अपना विनाश नहीं समझता। वह समझता है, कि शरीर में जो रोग उत्पन्न हुआ है, वह मेरे अपने स्वयं के असातावेदनीय कर्म का ही फल है, और वह मुझे ही भोगना है।

सात भयों में चौथा भय है—मरण-भय। मरण-भय का अर्थ है—मृत्यु का भय। कहा जाता है, कि संसार में जितने भी प्रकार के भय हो सकते हैं, उनमें सबसे भयंकर भय मृत्यु का ही होता है। जिस समय जीवन देहली पर मृत्यु की छाया आकर खड़ी होती है, उस समय संसार के बड़े-बड़े कोटिभट जैसे वीर भी प्रकम्पित हो जाते हैं। जब मृत्यु शब्द भी लोक में प्रिय नहीं है, तब लोक में साक्षात् मृत्यु प्रिय कैसे हो सकती है? संसार का प्रत्येक प्राणी इस संसार में अमर होकर जीवित रहना चाहता है। भगवान महावीर की भाषा में जीवन का यह परम सत्य है, कि जीवन सबको प्रिय है और मरण किसी को भी प्रिय नहीं होता। जिस समय किसी मनुष्य के प्राणों पर आपत्ति आती है, तब वह प्राणों से भी अधिक प्रिय धन को एवं जन को भी अपने जीवन की रक्षा के लिए छोड़ने को तैयार हो जाता है। इतना भयंकर होता है, मृत्यु का भय! किन्तु सम्यक् दृष्टि आत्मा इस भय से भी विचलित नहीं होता। वह अपनी अध्यात्म भाषा में कहता है, कि जब जीवन आया है, तब एक दिन वह जाएगा भी। जो आया है, उसे एक दिन अवश्य जाना ही होगा। जिसका जन्म हुआ है, उसका मरण न हो यह कैसे सम्भव हो सकता है? सम्यक् दृष्टि सोचता है, कि मैं अविनाशी हूँ अजर हूँ अमर हूँ। आत्मा का नाश त्रिकाल में कभी भी नहीं होता। नाश होता है देह का। देह पर है, अतः उसका नाश होता है तो उससे मेरी क्या हानि हो सकती

है ? अपने जीवन के प्रति यह अध्यात्म-भावना और अध्यात्म-दृष्टि ही सम्यक् दृष्टि को निर्भय बना देती है।

सात भयो मे पाँचवा भय है—आदान-भय। इसको अत्राण-भय भी कहा जाता है। इसका अभिप्राय यही है, कि सम्यक् दृष्टि आत्मा को कभी भी अशरण का, अरक्षकता और अत्राण का भय नही होता। क्योकि सम्यक् दृष्टि जीवन के इस तथ्य को भली भांति समझता है, कि इस ससार मे न कोई किसी को शरण दे सकता है और न कोई अन्य किसी की रक्षा ही कर सकता है। अपनी आत्मा ही एक मात्र अपने को शरण देने वाला और रक्षा करने वाला है। पाप कर्म का विपाक-समय आने पर उसके कटु फल से न माता-पिता बचा सकते हैं, न भाई-बहिन बचा सकते हैं, न पुत्र-पुत्री बचा सकते हैं और न पति-पत्नी ही एक दूसरे की रक्षा कर सकते है। और तो क्या, न्याय और अन्याय से मनुष्य ने जिस धन का सचय किया है, वह धन भी अन्त मे उसकी रक्षा नही कर सकता। आत्मा से भिन्न अन्य कोई भी पदार्थ, फिर भले ही वह जड हो या चेतन, मुझे त्राण और रक्षा नही दे सकता, इस प्रकार का दृढ विश्वास सम्यक् दृष्टि की अन्तर आत्मा मे होता है। इसीलिए जीवन मे विकट, विपरीत और सकटमय क्षण आने पर भी वह अपने जीवन की रक्षा के लिए एव अपने जीवन के त्राण के लिए, अपने प्राणो की किसी से भीख नही मागता। जो लोग इस मरण-भय से मुक्त नही होते हैं, वे अपनी या अपने प्रियजन की जीवन रक्षा के लिए देवी देवताओ पर पशुबलि चढाते हैं, निरीह मूक पशुओ का रक्त बहाते है। अन्य अनेक प्रकार के अन्धविश्वासो के शिकार हो जाते हैं। साधक को मरण-भय से मुक्त होना चाहिए। अत सम्यक् दृष्टि मे आदान-भय और अत्राण-भय भी नही रहता। इस अपेक्षा से भी उसका जीवन सदा निर्भय रहता है।

सात भयो मे छठा भय है—अपयश का भय। इसको अश्लोक-भय भी कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रशसा प्रिय होती है और निन्दा अप्रिय होती है। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है, कि ससार मे मेरा आदर एव सत्कार हो, और आस-पास के समाज मे मेरी पूजा एव प्रतिष्ठा हो। मनुष्य अपने जीवन मे प्रशसा तो बहुत बटोर सकता है, किन्तु अपयश का एक कण भी उसे स्वीकार नही होता। किन्तु सम्यक् दृष्टि यह विचार करता है, कि मेरे यश का आधार मेरा सत्य

है। सत्य है तो सब कुछ है और सत्य नहीं है तो कुछ भी नहीं है। सत्य की रक्षा के लिए मैं निन्दा भी स्वीकार कर लूँगा, अपमान भी स्वीकार कर लूँगा और अपयश भी सहन कर लूँगा किन्तु सत्य को खोकर प्रशंसा आदर, सत्कार, पूजा और प्रतिष्ठा मुझे किसी भी प्रकार ग्राह्य नहीं है। अपने सत्य की रक्षा के लिए, अपने धर्म की रक्षा के लिए और अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए, सम्यक्दृष्टि आत्मा अपयश और निन्दा से भयभीत नहीं होता है।

सात भयों में सातवाँ भय है—अकस्मात् भय। इसको आकस्मिक भय भी कहते हैं। अकस्मात् भय एवं आकस्मिक भय का अर्थ यही है, कि वह भय जिसकी मनुष्य कल्पना भी नहीं कर पाता है। इस भय की व्याख्या करते हुए कहा गया है, कि किसी प्रकार की दुर्घटना का घटना घर पर चोर एवं डाकुओं का अचानक आक्रमण होना जंगल में किसी जंगली जानवर का अचानक आक्रमण कर देना और घर आदि का अचानक गिर पड़ना अथवा आग लग जाना आदि-आदि आकस्मिक भय के अगणित एवं असंख्यात प्रकार हैं। सम्यक् दृष्टि आत्मा को अपनी आत्मा की अमरता एवं शाश्वतता पर विश्वास होता है। इसलिए यह अकस्मात् भय भी उसे कभी व्याकुल और परेशान नहीं करता है।

मैं आप से यह कह रहा था कि सम्यक् दृष्टि आत्मा का व्यवहार और आचार कैसा होता है? सम्यक् दृष्टि के जीवन में सम्यक् दर्शन के आठ अंगों की अभिव्यक्ति होती रहती है और उसके जीवन में सात प्रकार के भयों में से किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। आठ अंगों की साधना से और सात प्रकार के भयों की विमुक्ति से उसका जीवन सदा सुन्दर मधुर और शान्त रहता है। वह निरन्तर अपने स्वरूप में ही स्थिर रहने का प्रयत्न करता है।

★

२१

तीन प्रकार की चेतना

* * *

भारतीय दर्शन मे आत्मा के स्वरूप का वर्णन एव प्रतिपादन बहुत ही विस्तार के साथ किया गया है। एक चार्वाक दर्शन को छोड कर भारत के शेष समस्त दर्शन आत्मा की सत्ता मे विश्वास रखते हैं और अपने-अपने विश्वास के अनुसार उसके स्वरूप के प्रतिपादन का प्रयत्न भी करते हैं।

आत्मा, चेतन और जीव—ये तीनो पर्यायवाची शब्द हैं। अध्यात्मशास्त्र मे आत्मा के सम्बन्ध में कहा गया है, कि वह ज्ञाता और द्रष्टा है। ज्ञाता का अर्थ है—जानने वाला, और द्रष्टा का अर्थ है—देखने वाला। प्रमाण-शास्त्र मे आत्मा को प्रमाता कहा गया है। इस प्रकार आत्मा के जितने भी नाम हैं, उन सबमे चेतना प्रतिभासित होती है। अत चेतना ही आत्मा का मुख्य लक्षण है। चेतना को ही उपयोग भी कहते हैं। आत्मा चेतन है, इसका अर्थ है कि वह ज्ञानस्वरूप है। आत्मा के जितने भी नाम हैं, उन सबमे सबसे अधिक महत्वपूर्ण दो नाम हैं—ज्ञाता और द्रष्टा। ज्ञाता और द्रष्टा कहने से

आत्मा का परिपूर्ण बोध हो जाता है। जब हम यह कहते हैं, कि आत्मा प्रमाता है तब इसका अर्थ यह होता है कि वह विश्व के सभी पदार्थों की प्रामाणिकता का बोध करने वाला है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा तो है ही किन्तु साथ में वह कर्ता और भोक्ता भी है। विश्व की प्रत्येक आत्मा अपने शुभ एवं अशुभ कर्म का कर्ता है और स्वयंकृत कर्म का भोक्ता भी है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आत्मा के अनन्त गुणों में चेतना-शक्ति ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यदि अन्य समस्त गुण हों और चेतना न हो तो आत्मा चेतन न रह कर जड़ बन जाएगा। चेतना के बिना आत्मा के अन्य गुणों का कुछ भी महत्व न रहेगा। चेतना का अर्थ है—उपयोग और उपयोग का अर्थ है—ज्ञान एवं दर्शन। आत्मा को चेतन बनाने वाला गुण एक मात्र चेतना ही है। यही कारण है, कि भारत के प्रत्येक आस्तिक दर्शनकार ने आत्मा के अन्य गुणों की अपेक्षा उसके चेतना गुण को ही अधिक महत्व दिया है। चेतना के सम्बन्ध में जैन दर्शन में तो यहाँ तक कहा गया है, कि चेतन-सत्ता पर ही संसार और मोक्ष दोनों ही आधारित हैं। चेतना के अभाव में न संसार की ही सत्ता रह सकती है और न मोक्ष की ही। संसार और मोक्ष अथवा बन्ध और मोक्ष तथा सुख और दुःख एवं पाप और पुण्य इन सबकी व्यवस्था बिना चेतना के नहीं हो सकती। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने आत्मा के अनन्त गुणों में से उसके चेतना गुण को सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी माना है। यदि आत्मा में चेतना न हो तो फिर वह ज्ञाता द्रष्टा कर्ता और भोक्ता भी कैसे हो सकता है? चेतना के अभाव में यह आत्मा न बद्ध हो सकता है और न मुक्त ही। बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था का एक मात्र आधार आत्मा का ज्ञान रूप चेतना गुण ही है।

मैं आपसे चेतना की बात कह रहा था। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि अपने चेतना गुण के आधार पर ही आत्मा चेतन है। आत्मा का बन्ध भी उसके चेतन भाव में ही है, जड़ भाव में नहीं। उसका मोक्ष भी उसके चेतन-भाव में ही है, जड़ भाव में नहीं। चेतन की चेतना में ही बन्ध है और चेतन की चेतना में ही मोक्ष है। प्रश्न होता है, कि बन्ध कहाँ से आया और मोक्ष कहाँ से आया? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि न बन्ध ही कहीं बाहर से आया और न मोक्ष ही कहीं बाहर से आया। चेतना में ही बन्ध है और चेतना में

ही मोक्ष है। आप कह सकते हैं, कि बन्ध और मोक्ष दोनो परस्पर विरोधी अवस्थाएँ है, फिर वे दोनो एक चेतन मे कैसे हो सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर मे भारत के तत्वचिन्तको ने बहुत कुछ लिखा है और बहुत कुछ कहा है। इस तथ्य को समझने के लिए, उन्होने एक बहुत सुन्दर रूपक कहा है, जो इस प्रकार है। शिष्य प्रश्न करता है, भगवन्! इस अनन्त आकाश मे मेघ कहाँ से आ रहा है तथा उसे कौन लाता है?" गुरु ने अपने शिष्य के प्रश्न के उत्तर मे कहा—"मेघ कही बाहर से नही आता, इस अनन्त आकाश मे प्रवह मान पवन ने ही इसे उत्पन्न कर दिया है।" शिष्य ने फिर पूछा "इस मेघ को नष्ट कौन करता है? गुरु ने कहा—"जो पवन उसे उत्पन्न करता है, वह पवन ही उसे नष्ट भी कर देता हैं।" पवन मे एक ऐसी शक्ति है, जिससे वह मेघ को उत्पन्न भी कर सकता है और नष्ट भी कर सकता है। पवन ही इस अनन्त गगन मे घटाओ का निर्माण करता है और पवन ही उन्हे बिखेर भी देता है। यह मैंने आपसे बाह्य प्रकृति की बात कही, किन्तु अन्दर मे, आत्मा मे क्या होता है? इस आत्म-रूपी आकाश मे बन्ध रूपी मेघ कहाँ से आता है और फिर कौन उसे छिन्न भिन्न कर डालता है? याद रखिए, चिदाकाश मे एक घटा नही, अनन्त-अनन्त घटाएँ घुमड-घुमड कर आती हैं, सुख-दुख की वर्षाएँ होती हैं और फिर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। जब चिदाकाश मे कर्म की घटाएँ उमड घुमड कर छा जाती हैं, उस समय जीवन अन्धकारमय बन जाता है, कुछ भी सूझता नही है, उस समय निरन्तर सुख-दुख की वर्षा होती रहती है। इस प्रकार की स्थिति मे यह कौन विचार कर सकता है, कि इस चिदाकाश मे से इन कारी कजरारी मेघ घटाओ का कभी अभाव भी होगा? परन्तु निश्चय ही एक दिन चिदाकाश मे से कर्म रूपी घटाओ का अन्त हो जाता है। पर प्रश्न यह है, कि इन कर्म रूपी घटाओ को उत्पन्न करने वाला कौन है और अन्त करने वाला कौन है? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है, कि स्वय आत्मा ही अपने अनन्त चिदाकाश मे कर्म की मेघ घटाओ को उत्पन्न करता है और स्वय आत्मा ही उनको छिन्न-भिन्न एव नष्ट-भ्रष्ट भी कर डालता है। इसीलिए मैंने आप से यह कहा था, कि बन्ध भी चेतन मे ही है और मोक्ष भी चेतन मे ही है। चेतन से बाहर न बन्ध है और न मोक्ष है। जिस प्रकार पवन स्वय ही मेघो को उत्पन्न करता है और स्वय ही उन्हे नष्ट भी कर देता है,

उसी प्रकार स्वयं आत्मा ही अपनी चेतना शक्ति से कर्मों को उत्पन्न करता है और नष्ट भी कर डालता है। इस दृष्टि से बन्ध भी आत्मा मे है और मोक्ष भी आत्मा मे है। याद रखिए, जहाँ चेतन है वही पर कर्म है और जहाँ कर्म है, वहीं उसका भोग भी है और जहाँ भोग है वहीं उसका मोक्ष भी है। बन्ध और मोक्ष दोनो आत्मा में ही रहते हैं। अत यह ज्ञानस्वरूप आत्मा एक विलक्षण शक्ति है।

मैं आपसे चेतना की बात कह रहा था। चेतना एक शक्ति है जो चेतन मे रहती है। इस चेतना के आधार से ही चेतन चेतन कहलाता है। चेतना एक विशिष्ट गुण है। इस गुण की सत्ता से ही आत्मा ससार के विविध भावो को जान सकता है और देख सकता है। चेतना से ही यह चेतन आत्मा जड पदार्थों से भिन्न परिलक्षित होता है। जड और चेतन पदार्थों मे यदि कोई भेद रेखा है, तो वह चेतन की चेतना ही है। शास्त्रो मे चेतना के सम्बन्ध मैं बहुत कुछ लिखा गया है। केवल लिखा ही नहीं गया बल्कि जो कुछ अनुभव किया गया था उसे ही लिपि-बद्ध किया गया है।

जैन-दर्शन मे चेतना के तीन भेद माने गये हैं—कर्म चेतना कर्म फल चेतना और ज्ञान चेतना। इन तीनो चेतनाओं के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है, कि चेतना यद्यपि अपने आपमें अखण्ड और एक तत्व है, किन्तु उसके साथ तीन विशेषण लगे हुए हैं—कर्म कर्मफल और ज्ञान। सबसे पहले कर्म चेतना का विवेचन किया गया है कि कर्म को केवल कर्म ही मत समझना क्योंकि उसके साथ चेतना भी है। और इसी कारण से बन्ध भी होता है। यदि कर्म के साथ चेतना न हो तो बन्ध भी नहीं हो सकता। कल्पना कीजिए आप एक भव्य भवन मे बैठे हैं और उसकी छत मे लटकने वाला पखा किसी कारण वश नीचे गिर पड़ता है, नीचे बैठे लोगों मे से अनेक व्यक्तियो का सिर फट जाता है। यह एक कर्म है जो पखे से हुआ है। आप बतलाइए, उस पखे को कौन सा कर्म लगा? अथवा उस पखे को कौन सा बन्ध हुआ? इसी बात को दूसरे प्रकार से समझिए कहीं चन्दन रखा हुआ है अथवा जलती हुई अगरबत्ती रखी है, वहाँ से गुजरने वाले सभी व्यक्ति उसकी भीनी सुगन्ध का आनन्द लेते हैं। यह भी एक प्रकार का कर्म है। आप बतलाइए, उस चन्दन को और अगरबत्ती को कौन सा बन्ध हुआ? आप कहेंगे उसे बन्ध कैसे हो सकता है, क्योंकि वे तो जड हैं। परन्तु मैं कहता

है कि वे जड तो अवश्य हैं, पर कर्म और क्रिया तो उनमे हैं, क्योकि जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल मे भी क्रिया-शक्ति रहती ही है, तब वन्ध क्यो नही होता ? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा गया है, कि पखे मे कर्म एव क्रिया होते हुए भी अथवा चन्दन एव अगरवत्ती मे कर्म एव क्रिया होते हुए भी चेतना नही है, इसी लिए वहाँ वन्ध नही होता। मैं आपसे कह रहा था कि कर्म के साथ जहाँ चेतना होती है, वही पर वन्ध होता है। चेतना-शून्य कर्म तो जड पदार्थ मे भी होता है, किन्तु उसे किसी प्रकार का वन्ध नही होता। यहाँ पर एक वात और समझलेनी है, कर्म का अर्थ है—क्रिया। क्रिया का अर्थ है—चेष्टा और प्रयत्न। क्रिया और चेष्टा दो हो तत्वो में होती है—जीव मे और अजीव मे, आत्मा मे और पुद्गल मे। इतना अन्तर अवश्य है, कि चेतन की क्रियाएँ चेतन मे होती हैं और जड क्रियाएँ जड मे होती हैं। चेतन की क्रिया जड मे नही हो सकती और जड की क्रिया चेतन मे नही हो सकती। मैं आप से कह रहा था, कि खाली कर्म होने पर वन्ध नही होता, किन्तु कर्म-चेतना के होने पर ही वन्ध होता है। यदि केवल कर्म हो और उसके साथ चेतना न हो, तो वहाँ वन्ध नही होता। जैसा कि मैंने पखे, चन्दन और अगरवत्ती के उदाहरण मे कहा है। उन तीनो मे कर्म तो हैं किन्तु कर्म के साथ चेतना नही है, इसलिए पखे को अशुभ वन्ध नही होता। प्रत्येक साधक को कर्म-चेतना का रहस्य भली भाँति समझलेना चाहिए। कर्म चेतना का अर्थ यह है कि चेतना-पूर्वक जो कर्म किया जाता है, उसी से वन्ध होता है और चेतना-पूर्वक कर्म चेतना मे ही सम्भव है। अत चेतना मे ही वन्ध होता है और चेतना मे ही मोक्ष होता है। पुद्गल मे कर्म होते हुए भी चेतना का अभाव होने से न उसका वन्ध होता है और न उसका मोक्ष होता है। यही कर्म चेतना का मूल रहस्य है।

मैं आपसे कर्म चेतना की वात कर रहा था। जव हमारे अन्तर मे राग से या द्वेष से क्रिया की स्फुरणा होती है, और कर्म की भाव लहरी लहराने लगती है, तव भाववती शक्ति से आत्म-चेतना विविध विकल्प करती है। वे विकल्प इस प्रकार के होते हैं—यह करूँ, यह न करूँ, वह करूँ, वह न करूँ, क्या करूँ, क्या न करूँ ? इस प्रकार के विकल्पो की अन्तर मे जो ध्वनि निरन्तर उठा करती है, यही कर्म चेतना है। यह सव चेतना एव स्फुरणा कहाँ से आती है ? यह कही

बाहर की नहीं है, हमारे अन्दर की ही है? यह अन्दर की चेतना ही कर्म चेतना है, भले ही बाहर में तदनुरूप कोई क्रिया हो या न हो। अध्यात्म जगत में कर्मबन्ध-सम्बन्धी मूल प्रश्न कर्म का नहीं है, बल्कि कर्म-चेतना का है। बाहर की क्रिया की कोई बात नहीं है। अन्तर में जब भी करने एवं न करने का विकल्प होता है, चेतना में जो कर्म मूलक विधि निषेध के विविध विकल्पों की लहरें उठती हैं, चेतना के महासागर में एक प्रकार का तूफान सा आ जाता है, तब आत्मा स्व-स्वरूप में स्थिर नहीं रहने पाता। और जब आत्मा स्व स्वरूप में स्थिर नहीं होता तब कर्म बन्ध के जाल में उलझ जाता है। यद्यपि आत्म-चेतना अपने सहज स्वरूप से शान्त सरोवर के समान है, किन्तु जब उसमें कर्म कर्तृत्व-सम्बन्धी विविध विकल्पों की ऊर्मियाँ उठने लगती हैं, तब वह अशान्त बन जाती है। विकल्पों की ये लहरें ही कर्म चेतना है जो बन्ध का मूल कारण बनती है। इस दृष्टि से मैं आपसे कह रहा था कि कर्म-चेतना ही बन्ध है। शास्त्रकारों ने इसी को चेतन-बन्ध कहा है। बन्ध के दो भेद हैं—चेतन-बन्ध और जड़-बन्ध। जैन दर्शन के अनुसार इस विशाल और विराट विश्व में सर्वत्र कार्मण वर्गणाओं का अक्षय भण्डार भरा पड़ा है। लोकाकाश का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है, जहाँ पर अनन्त अनन्त कार्मण वर्गणाओं की सत्ता न हो। जब चेतना में विविध विकल्पों का तूफान उठता है, तब वही कार्मण वर्गणाएँ कर्म का रूप धारण कर लेती हैं और आत्मा से बद्ध हो जाती हैं। अनन्तकाल से कार्मण वर्गणाएँ कर्म का रूप ले रही हैं और भविष्य में भी लेती रहेंगी। प्रत्येक आत्मा प्रतिक्षण नवीन कर्मों का बन्ध कर रहा है और पुरातन कर्मों का क्षय भी करता जा रहा है। जब पुरातन कर्म के साथ नवीन कर्म का बन्ध हो जाता है तब इसको जड़-बन्ध कहा जाता है। यह बन्ध जड़ का जड़ के साथ होने वाला बन्ध है। परन्तु याद रखिए, भले ही यह जड़ बन्ध है, पर यह जड़ बन्ध बिना कारण के स्वयं नहीं होता है। प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है। आत्म-प्रदेशों के साथ कर्म परमाणुओं का संश्लेष बन्ध कहा जाता है किन्तु यह बन्ध बिना कारण के नहीं हो सकता उसका कोई कारण अवश्य ही होना है। प्रत्येक जड़ बन्ध के पीछे चेतन की विकल्प-शक्ति होती है। कोई काम अपने आप हो जाता है, यह सत्य नहीं है। किसी कार्य के कारण का पता लगे अथवा न लगे किन्तु वह अकारण

नही होता है। मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य होता है। इसी प्रकार कर्म का जो जड बन्ध होता है, वह अपने आप नही होता है। उसका भी कारण अवश्य होता है। जडकर्मबन्धरूप कार्य के प्रति जो चेतना का रागद्वेषात्मक विकल्प निमित्त कारण होता है, उस निमित्त कारण को ही चेतन-बन्ध कहा जाता है। शास्त्र मे जड कर्म को द्रव्य कर्म और चेतन-कर्म को भाव कर्म भी कहा गया है। भाव कर्म से द्रव्य कर्म और द्रव्य कर्म से भाव कर्म का बन्ध होता रहता है। जैन दर्शन कहता है, कि कार्य की अपेक्षा कारण से ही अधिक सघर्ष करने की आवश्यकता है। कारण के टूटने पर कार्य स्वय टूट जाएगा। कार्य से अधिक महत्वपूर्ण वह कारण है, जो कार्य का जन्म दाता है। जैन दर्शन और जैन साधना मे सर्व प्रथम कारण से ही सघर्ष करने की बात कही गई है। यही जीवन का सच्चा लक्ष्य है।

जैन दर्शन मे कर्म चेतना का जो स्वरूप बतलाया है, मैं उसी का प्रतिपादन कर रहा था। मैंने आपसे कहा था, कि जैन दर्शन कार्य मे परिवर्तन लाने की अपेक्षा पहले कारण मे परिवर्तन लाने की बात कहता है। अभी मैंने आपसे द्रव्य कर्म और भावकर्म की बात कही थी, जिसे कर्म चेतना कहा जाता है, वस्तुत वही भाव कर्म है। कर्म चेतना के दो भेद हैं-पुण्य कर्म-चेतना और पाप कर्म चेतना। किसी दु खी व्यक्ति को देखकर उसके दु ख को दूर करने की भावना से उसे जो दान दिया जाता है अथवा उसकी सेवा की जाती है, वह पुण्य कर्म चेतना है। इसी प्रकार रागात्मक भाव से देव की उपासना करना, गुरु की भक्ति करना आदि भी सब पुण्य कर्म चेतना है। पुण्य कर्म चेतना मे दूसरे को सुख आदि देने की अनुराग भावना मुख्य रहती है। पुण्य कर्म चेतना भी आत्मा का एक विकल्प है। भले ही वह शुभ ही क्यो न हो, किन्तु है तो विकल्प ही? आत्म-चेतना मे जब कभी शुभ कार्य करने का विकल्प उत्पन्न हो, तब वहाँ उसे पुण्य कर्म चेतना ही समझना चाहिए। शास्त्र मे कहा गया है, कि आठ प्रकार के कर्मो मे से चार कर्म घाती हैं और चार अघाती हैं। चार घाती कर्म ये हैं-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। चार अघाती कर्म इस प्रकार हैं वेदनीय आयुष्य, नाम, और गोत्र। घाती कर्म का अर्थ है-आत्मा के ज्ञान आदि गुणो का घात करने वाला कर्म। अघाती कर्म का अर्थ है-वह कर्म जो आत्मा के गुणो का घात तो नही करता, किन्तु

वह मोक्ष का प्रतिबन्धक होता है। क्योंकि जब तक यह कर्म रहता है, मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इन आठ प्रकार के कर्मों के बन्धन काल मे जब पुण्यमय विकल्प उठता है, तब वह पुण्य कर्म-चेतना कहलाती है। और जब पापमय विकल्प उठता है, तब पाप कर्म चेतना कहलाती है। शुभ विकल्प रूप पुण्यकर्म चेतना से अघाती कर्मों मे मुख्य रूप से पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है, परन्तु पापकर्म चेतना से मुख्यरूप से घाती और अघाती पाप प्रकृतियों का बन्धन होता है, क्योकि उनके मूल मे अशुभ विकल्प रहता है। पुण्य कर्म चेतना से मुख्यरूप से अघाती कर्मों में तो उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है और गौण रूप से पुण्य कर्म चेतना के काल में जो घाती कर्म रूप पाप प्रकृति का बन्ध होता है, वह स्थिति रस आदि के रूप मे अल्प एवं मन्द बन्ध ही होता है, तीव्र नही। जिस प्रकार विशाल क्षीर सागर में यदि विष का एक बिन्दु डाल दिया जाए, तो उसका अस्तित्व तो उसमे अवश्य रहता है, किन्तु उसका कोई अनिष्ट प्रभाव नही पड़ता। इसी प्रकार पुण्य प्रकृति के साथ जो घाती कर्म का बन्ध होता है, उसका स्थिति-बन्ध और रस-बन्ध बहुत ही अल्प होता है। याद रखिए, पुण्य और पाप का बन्ध कभी अकेले नही होता है। नीचे के गुणस्थानो मे जहाँ पुण्य का बन्ध होता है, वहाँ किसी अंश मे पाप का बन्ध भी रहता है, और जहाँ पाप का बन्ध होता है वहाँ भी किसी अंश मे पुण्य का बन्ध होता ही है। वीतराग गुण स्थानो मे यद्यपि एक मात्र पुण्य बन्ध होता है, परन्तु वहाँ कषाय के क्षय अथवा उपशम होने से उस पुण्य बन्ध का भी स्थिति बन्ध और रस-बन्ध नही होता। केवल प्रकृति एवं प्रदेश बन्ध ही होता है और वह भी मात्र एक समय के लिए ही। दूसरे समय मे कर्म परमाणु स्वतः ही आत्मा से अलग हो जाते हैं, उन्हे आत्मा से दूर करने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता नही है।

कर्म बन्ध आत्मा के परिणाम से होता है। बन्ध के समय आत्मा का जैसा परिणाम होता है वैसा ही बन्ध हो जाता है। एक सम्यक् दृष्टि आत्मा जब पुण्य कर्म चेतना द्वारा पुण्य का बन्ध करता है, तब एक ओर कर्म बन्ध की धारा होती है, तो दूसरी ओर ज्ञान की धारा भी बहती रहती है, जितने जितने अंशो मे विशुद्ध ज्ञान-धारा रहती है, उतने-उतने अंशो मे वहाँ संवर एवं निर्जरा अवश्य होती है। हम कहीं एकान्त निर्जरा कहीं एकान्त बन्ध कहीं एकान्त पुण्य और कहीं एकान्त पाप की चर्चा करते हैं, परन्तु यह उचित नही है। वस्तु

स्थिति का विश्लेपण किए विना ही इस प्रकार का कथन किया जाता है। बात यह है कि जब साधक नीचे का भावभूमिकाओ मे कोई भी पुण्य क्रिया करते हैं, तब अन्तर मे उसके चार परिणाम होते है—पुण्य, पाप, सवर और निर्जरा। सामायिक करना, उपवास करना गुरु की भक्ति करना और दान करना आदि साधना रूप क्रियाएँ अमुक अश मे शुभ, अमुक अश मे अशुभ हैं और अमुक अश मे शुद्ध भी हैं। उक्त क्रियाओ को करते समय मन्द कषाय की धारा होती है, अत इस अश मे शुभ उपयोग होने से पुण्य प्रकृति का वन्ध होता है। कषाय भाव के होने से अमुक अश मे अशुभ उपयोग है, अत पाप प्रकृति का वन्ध होता है। मन्द कषाय के साथ अमुक अश मे सम भाव रूप शुद्ध उपयोग है अत अमुक अश मे सवर और निर्जरा भी होती है। मैं यहाँ आपसे पुण्य कर्म चेतना की बात कर रहा था। पुण्य कर्म चेतना का अर्थ है—वह चेतना जिसमे पुण्य की धारा प्रवाहित हो रही है। यह पुण्य की धारा शुभ योग मे ही प्रवाहित हो सकती है। शुभ योग मे स्थित आत्मा पुण्य प्रकृतियो का वन्ध करता है।

दूसरी चेतना पाप कर्मचेतना है। पाप कर्म चेतना का अर्थ है—वह चेतना जिसमे पाप की धारा प्रवाहित होती रहती है। क्योकि जिस समय आत्मा अशुभ उपयोग मे स्थित होता है, उस सयम वह पाप प्रकृतियो का वन्ध करता है। अशुभ उपयोग किस प्रकार का होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि किसी को कष्ट देने का विचार, किसी को दु ख देने की भावना, काम क्रोध मोह आदि अशुभ विकल्प अशुभ उपयोग है। अशुभ विकल्प मे भी घाती कर्म अशुभ और अघाती कर्म दोनो का वन्ध होता है। घातिक कर्म तो सभी अशुभ ही होती है।

पाप प्रकृति के वन्ध के समय भी अमुक अश मे पुण्य प्रकृति का वन्ध होता है पर वह स्थिति और रस की दृष्टि से अल्प एव मन्द होता है। किसी की वस्तु छीनना, किसी को गाली देना, किसी के साथ मारपीट करना ये, सब पाप कर्म-चेतना के उदाहरण हैं। मिथ्या दृष्टि आत्मा ही नही, सम्यक् दृष्टि आत्मा भी यदि इन क्रियाओ को करता है, तो उसे भी पाप प्रकृतियो का वन्ध होता है। मिथ्या दृष्टि आत्मा पाप करता है, किन्तु पाप के फल को नही चाहता पुण्य के फल को चाहता है। सम्यक् दृष्टि आत्मा न पाप के फल को

आकांक्षा करता है और न पुण्य के फल की ही आकांक्षा करता है। वह तो दोनों को बन्धनरूप समझता है, पाप भी एक बेड़ी है और पुण्य भी एक बेड़ी है। जिस प्रकार लोहे की बेड़ी बन्धन है, उसी प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी तो बन्धन ही है। सम्यक् दृष्टि आत्मा पुण्य और पाप दोनों बन्धनों से मुक्त होकर जीवन के शुद्ध भाव को प्राप्त करना चाहता है।

सम्यक्दृष्टि आत्मा कितना भी अधिक संसारी सुख दुःख प्राप्त करले किन्तु उस सुख दुःख को वह संसार का रूप ही समझता है। विवेक की वह ज्योति उसके जीवन में सदा प्रज्वलित रहती है। सम्यक् दृष्टि आत्मा पाप न करता हो यह बात नहीं है। उसके जीवन में भी पाप होते हैं। साधारण पाप क्या युद्ध जैसे भयंकर पाप भी उसे अपने जीवन में करने पड़ते हैं। चक्रवर्ती भरत ने कितना भयंकर युद्ध किया था और वह युद्ध भी किसी अन्य से नहीं अपने भाई के साथ ही। आप देखते हैं कि इतना भयंकर युद्ध करने पर भी चक्रवर्ती भरत की उसी जन्म में मुक्ति हो गई। यही स्थिति शान्तिनाथ कुन्थुनाथ और अरनाथ के जीवन की भी रही है। भरत के जीवन की अपेक्षा इनके जीवन की यह विशेषता थी कि वे अपने जीवन-काल में चक्रवर्ती भी रहे और अन्त में तीर्थंकर भी बन गए। उक्त जीवन-गाथाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि संसार के ऊँचे से ऊँचे भोग उन लोगों को मिले किन्तु फिर भी वे मन्दकषायी थे। उन्होंने अपने जीवन में यथा प्रसंग पाप भी किया और पुण्य भी किया, किन्तु फिर भी वे पाप और पुण्य—दोनों के बन्धनों से मुक्त हो गए। कैसे हो गए यह प्रश्न समाधान चाहता है। बात यह है कि बाहर में वे कैसे भी रहे हों किन्तु अन्तर में मन्द कषायी थे 'उदासीन' वृत्ति वाले थे। सम्यक् दृष्टि आत्मा के पाप ऐसे होते हैं जैसे मलिन सूखे वस्त्र पर धूलि कण बैठ गए हों। जरा झटकारने से ही जैसे वे दूर हो जाते हैं, वैसे ही सम्यक् दृष्टि आत्मा के पाप शुद्धोपयोग रूप एक झटके से समाप्त हो जाते हैं। जो आत्मा अध्यात्म भाव में स्थिर हो गया है उसे न पाप पकड़ सकता है और न पुण्य रोक सकता है।

भगवान महावीर ने साधक जीवन के सम्बन्ध में एक बहुत सुन्दर रूपक कहा है। पक्षी के पंखों पर तभी तक धूलि-कण पड़े रहते हैं जब तक कि वह पंख नहीं फड़फड़ाता है। जैसे ही उसने अपने पंख फड़फड़ाये कि एक धूलि साफ हो जाती है। अध्यात्म-साधक के जीवन

मे लगने वाले पाप और पुण्य भी इसी प्रकार दूर हो जाते हैं। शुद्धोपयोग की धारा मे पाप और पुण्य के सब विकार साफ हो जाते हैं और साधक की वन्धन मुक्ति क्षणभर मे हो जाती है।

मैं आपसे तीन प्रकार की चेतनाओ की बात कह रहा था। दूसरी चेतना है—कर्मफल चेतना। कर्मफल चेतना का अर्थ है–जिसमे जीव अपने शुभ एव अशुभ कर्म के फल का अनुभव करते समय शुभफल को पाकर वह प्रसन्न हो जाता है और अशुभ फल को पाकर वह खिन्न हो जाता है। उसकी दृष्टि पुण्य पाप और उनके फल मे ही उलझी रहती है। कर्म-फल-चेतना मे जीव को अपने स्वरूप का भान नही हो पाता। वह कर्मो के भार से इतना दबा रहता है, कि कर्म और कर्म-फल के अतिरिक्त अविनाशी शुद्ध आत्म-तत्व पर उसकी दृष्टि ही नही पहुँचती। यह सुख भोगलूँ, वह सुख भोगलूँ, यह दुःख न भोगूँ और वह दुःख न भोगूँ—इस प्रकार भोगने और न भोगने के विकल्पो मे उलझे रहना ही कर्मफल चेतना है। इस प्रकार आत्मा स्वभाव को भूल कर पर भाव में ही रचा-पचा रहता है। उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी न होकर वहिर्मुखी ही होती है। इन्द्रियजन्य भोगो मे वह इतना आसक्त हो जाता है, कि उसे कर्म-फल के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का ध्यान ही नही रह पाता। उसके जीवन की यह स्थिति बडी विकट है।

ससार मे जितने भी प्रकार के शुभ या अशुभ विकल्प हैं, वे किसी भी स्थिति मे और किसी भी काल मे क्यो न हो, कर्म वन्धन के कारण होते हैं। कर्मफल चेतना वाला व्यक्ति अपने आध्यात्मिक आनन्द को, अपने आन्तरिक सुख को भूल जाता है। उसे यह भान ही नही होने पाता, कि जिस आनन्द एव सुख की खोज मैं कर रहा हूँ, वह सुख और आनन्द भौतिक पदार्थो मे और इन्द्रियो के विषयो मे नही, वल्कि अपनी अन्तर आत्मा मे ही है। वह वहिर्मुखी होने के कारण आनन्द और सुख की खोज वाहर मे ही करता है। इसके सम्वन्ध मे एक कथानक है, जो इस प्रकार है

एक वार की वात है, एक सेठ अकेला ही विदेश के लिए चल पडा। उसने अपने साथ में किसी को नही लिया। मार्ग लम्बा और विकट था, फिर भी उसके मन मे इसकी चिन्ता न थी। उसे अपने आप पर विश्वास था। उसे अपनी वुद्धि और अपने विवेक पर विश्वास था। वह हमेशा अपनी स्वय की वुद्धि और विवेक पर चलता था।

मार्ग में जब वह चला जा रहा था तब उसे एक व्यक्ति मिला। दोनों परस्पर साथी बन गए। सेठ ने भी सोचा चलो एक से दो भले। दूसरा साथी वस्तुतः सच्चा साथी नहीं था वह तो एक ठग था। लोगों को ठगना ही उसका काम था। पहले वह दूसरों का साथी बनता और फिर विश्वास साध कर धीरे-धीरे उसे ठगता। उसने कुछ दूर चलने पर सेठ पर भी अपना हाथ साफ करने का विचार किया। चलते-चलते सन्ध्या हो जाने पर एक गाँव के बाहर रात्रि-निवास के लिए वे ठहरे। रात्रि को सोने से पहले उस ठग ने सेठ से कहा— "यह गाँव ठीक नहीं है, अपनी सम्पत्ति को सम्भाल कर ठीक से रखना।" सेठ ने अपना बटुआ दिखाकर उस ठग साथी से कहा— 'यदि यह मेरा है, तो कहीं जा नहीं सकता और यदि यह मेरा नहीं है, तो फिर इसकी हिफाजत किसी तरह भी नहीं या सकती। उस ठग ने समझ लिया कि यह सेठ पूरा बुद्धू है। इस पर हाथ साफ करना कठिन नहीं आसान है।

रात्रि मे सेठ सो गया। वह ठग भी सोया तो नहीं किन्तु सोने का नाटक करने लगा। जब उसने देखा कि सेठ को गहरी नींद आगई है, तब वह उठा और सेठ के बस्त्रो की तलाशी करने लगा। बहुत देर तक तलाश करने पर भी उसके हाथ वह बटुआ नहीं लगा। आखिर थक कर और परेशान होकर वह ठग भी सो गया। प्रातःकाल जब दोनों उठे तब उस ठग साथी ने सेठ से कहा कि "अपनी पूँजी को सँभाल लो वह सुरक्षित है या नहीं।" सेठ ने सहज भाव से कहा 'क्या सँभाल लें सब ठीक है। देखो यह बटुआ मेरे पास ही है।' वह ठग सारी रात जिस बटुए को तलाश करता रहा प्रातःकाल उसे सेठ के पास देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। दूसरे दिन और तीसरे दिन भी इसी प्रकार घटना घटी। वह ठग सोचने लगा—आखिर यह बात क्या है ? इसके पास ऐसा कौनसा जादू है, जिससे यह रात मे इस बटुए को गायब कर देता है। आखिर उसने सेठ से पूछा— 'सेठ! मैं तुम्हारे साथ धनापहरण के लिए रहा परन्तु उसमे मैं सफल नहीं हो सका। मैं इस रहस्य को जानना चाहता हूँ कि दिन में वह बटुआ आपके पास रहता है किन्तु रात्रि मे कहाँ चला जाता है ?' सेठ ने हँस कर कहा— "जिस दिन पहली बार तुम मुझे मिले उसी दिन तुम्हारे मुख की आकृति देखकर मैं यह समझ गया था कि तुम एक ठग हो। बात यह है, कि बटुआ कहीं आता-जाता नहीं था फर्क इतना ही था कि दिन

मे वह मेरी जेव मे रहता था और रात्रि को वह तुम्हारी जेव मे रहता था। मैंने यह सोच लिया था, कि ठग सदा दूसरे की जेव ही तलाश किया करता है, वह कभी अपनी जेव नही देखता, इसी विश्वास के आधारपर मैं यह हेरा-फेरी किया करता था।"

वस्तुत यह परम सत्य है कि अपनी तलाश करना ठग का काम नही साहूकारका काम है। ठग को सदा अपनी जेव खाली लगती है और दूसरो की जेव भरी हुई लगती है, क्यो कि उसकी दृष्टि पर मे रहती है। जिसकी दृष्टि अपने पर न रह कर दूसरे पर रहती है, उसे सत्य का वटुआ कैसे मिल सकता है? सेठ के जीवन मे जो घटना घटी और उससे जो सिद्धान्त निकला है, वही सिद्धान्त आध्यात्मिक जीवन पर भी लागू होता है। यह आत्मा जव तक पर परिणति मे रहता है, तव तक इसे सच्चा सुख और आनन्द प्राप्त नही होता। अनादिकाल से मिथ्या दृष्टि आत्मा पर पदार्थों मे सुख की गवेषणा करता रहा है, उन्ही के पीछे दौडता रहा है तथा स्वय को कगाल एव भिखारी समझता रहा है। मिथ्या दृष्टि का लक्ष्य दूसरो की जेव तलाश करने का रहता है और सम्यक् दृष्टि की दृष्टि अपने जेव मे हाथ डालने और खोज करने की रहती है। सम्यक् दृष्टि सोचता है, कि जिस आनन्द की खोज, मैं करता हूँ, वह कही वाहर मे नही, मेरे अन्दर मे है। मैं ऐश्वर्यशाली हूँ, मैं परम सौभाग्यशाली हूँ, मेरे पास क्या नही है, मेरे पास सव कुछ है। मेरे पास अनन्तज्ञान है, मेरे पास अनन्त दर्शन है, मेरे पास अनन्त सुख है और मेरे पास अनन्तशक्ति है फिर मैं अपने आपको भिखारी क्यो समझूँ, मैं अपने आपको कगाल क्यो समझूँ? यह अध्यात्म दृष्टि जव तक जीवन मे नही आती है, तव तक जीवन मे आनन्द और सुख की प्राप्ति अथवा उपलब्धि नही हो सकती है।

तीसरी ज्ञान चेतना है। ज्ञान चेतना मे साधक ससार से पराड्मुख होकर मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। ज्ञान चेतना वीतराग भाव की एक पवित्र धारा है। ज्ञान चेतना मे साधक वहिर्मुखी न रहकर अन्तर्मुखी वन जाता है। जव स्व का उपयोग स्व मे चलता है, वस्तुत उसी स्थिति का नाम ज्ञान चेतना है। स्वय मे स्व का उपयोग अथवा अपने अन्दर मे अपने स्वरूप का ज्ञान, यही सव से वडी साधना है और यही सव से वडा धर्म है। ज्ञान चेतना की अखण्डधारा सम्यक् दर्शन की साधना से विकसित होते-होते सिद्ध दशा तक पहुँच जाती है। यद्यपि ज्ञान चेतना मे भी वीच-वीच मे शुभ धारा आती अवश्य है,

पर ज्ञान चेतना होने से वे विकल्प अधिक स्थिर नहीं रह पाते। वस्तुत शुभ और अशुभ विकल्पों को तोड़ना ही हमारी साधना का एक मात्र लक्ष्य है। मन के विकल्प अन्य किसी प्रकार से नहीं टूटते उनको तोड़ने का एक मात्र साधन ज्ञान-चेतना ही है। निश्चय दृष्टि में एक आत्म स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अपना नहीं है और यह आत्म-स्वरूप स्थिति ही ज्ञान चेतना है।

★

अध्यात्म-प्रवचन

सम्यग्-ज्ञान-मीमांसा

१

ज्ञान-मीमांसा

* * *

ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध दण्ड और दण्डी के सम्बन्ध से भिन्न है। दण्ड और दण्डी का सम्बन्ध सयोग-सम्बन्ध होता है। सयोग-सम्बन्ध दो भिन्न पदार्थों मे ही हो सकता है। आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध मे यह बात नहीं है। क्योकि ज्ञान आत्मा का एक स्वाभाविक गुण है। स्वाभाविक गुण उसे कहा जाता है, जो कभी भी अपने आश्रयभूत द्रव्य का परित्याग नही करता। ज्ञान के अभाव मे आत्मा की कल्पना करना सम्भव नही है। जैन-दर्शन ज्ञान को आत्मा का मौलिक गुण मानता है, जबकि कुछ अन्य दार्शनिक ज्ञान को आत्मा का मौलिक गुण न मानकर एक आगन्तुक गुण स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन मे कही-कही तो ज्ञान को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है, कि आत्मा के अन्य गुणो को गौण करके ज्ञान और आत्मा को एक ही मान लिया गया है। व्यवहार नय की अपेक्षा से ज्ञान और आत्मा मे भेद माना गया है, किन्तु निश्चय नय से ज्ञान और आत्मा मे किसी भी प्रकार का भेद स्वीकार नही किया गया है। इस प्रकार ज्ञान और

आत्मा में तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। ज्ञान आत्मा का एक निजगुण है, और जो निजगुण होता है वह कभी अपने गुणी द्रव्य से भिन्न नहीं हो सकता। जिस प्रकार दण्ड और दण्डी दोनों पृथक् पृथक् पदार्थ हैं, उस प्रकार आत्मा से भिन्न ज्ञान को नहीं माना जा सकता और आत्मा को भी ज्ञान से भिन्न नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है। दोनों में किसी भी प्रकार का भेद किया नहीं जा सकता है।

सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान का अन्तर समझने के लिए, एक बात आपको ध्यान में रखनी चाहिए। दर्शन-शास्त्र में और अध्यात्म-शास्त्र में सम्यक् ज्ञान के सम्बन्ध में थोड़ा सा मतभेद है। दर्शनशास्त्र में ज्ञान का सम्यक्त्व ज्ञेय की यथार्थता पर आधारित रहता है। जिस ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ अपने सही रूप में प्रतिभासित होता है, दर्शन-शास्त्र में उस ज्ञान को सम्यक्ज्ञान कहा जाता है। ज्ञेय को अन्यथा रूप में जानने वाला ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहा जाता है। उदाहरण के लिए शुक्ति और रजत को लीजिए। शुक्ति को शुक्ति समझना और रजत को रजत समझना सम्यक् ज्ञान है। शुक्ति को रजत समझ लेना अथवा रजत को शुक्ति समझ लेना मिथ्या ज्ञान है। दर्शन-शास्त्र में सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है और मिथ्या ज्ञान को अप्रमाण कहा जाता है। दर्शन-शास्त्र में प्रमेय की यथार्थता और अयथार्थता पर ही प्रमाण की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता निर्भर रहती है। दर्शन-शास्त्र में पदार्थ का सम्यक् निर्णय करने वाला ज्ञान प्रमाण माना जाता है, और जो ज्ञान पदार्थ का सम्यक् निर्णय न करे, उस ज्ञान को दार्शनिक परिभाषा में अप्रमाण कहा जाता है। अध्यात्म-शास्त्र में ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता सम्यक् दर्शन के सद्भाव और असद् भाव पर निर्भर रहती है। जिस आत्मा में सम्यक् दर्शन की ज्योति प्रज्वलित है, उस आत्मा का ज्ञान सम्यक् ज्ञान है और जिसमें सम्यक् दर्शन की ज्योति नहीं है उसका ज्ञान मिथ्या ज्ञान होता है। यही कारण है, कि अध्यात्म-शास्त्र में ज्ञान को सम्यक् बनाने वाले सम्यक् दर्शन का कथन ज्ञान से पूर्व किया गया है। अध्यात्म शास्त्र की दृष्टि में मिथ्या दृष्टि का ज्ञान अज्ञान ही होता है, फिर भले ही वह कितना ही विशाल एवं कितना ही विविध क्यों न हो। मिथ्या दृष्टि आत्मा का बन्धन-मुक्ति पर विश्वास नहीं होता उसका ज्ञान संसार के पोषण के लिए ही होता है, आदर और सम्मान आदि

सम्बन्ध मे मूलत किसी प्रकार का विचार-भेद न होने पर भी इनके वर्गीकरण की पद्धति अवश्य ही भिन्न-भिन्न प्रकार की रही है। आगम काल से आगे चलकर प्रमाण-शास्त्र मे ज्ञान के भेद प्रभेद का जो कथन किया गया है, वह वस्तुत तर्क विकास का प्रतीक है। जब हम दर्शन शास्त्र का अध्ययन करते हैं, तब ज्ञात होता है, कि मूल मे ज्ञान के जो पाँच भेद हैं, उन्ही को दर्शन-शास्त्र एव प्रमाण शास्त्र मे तर्कानुकूल बनाने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु इस प्रयत्न मे मूल मान्यता मे किसी भी प्रकार की गडबड नही हुई है। आगम-शास्त्र मे ज्ञान के सीधे जो पाचभेद किए गए है, उन्ही को दर्शन-शास्त्र मे दो भागो मे विभाजित कर दिया है—प्रत्यक्ष-प्रमाण और परोक्षप्रमाण। प्रमाण के इन दो भेदो मे ज्ञान के समस्त भेदो का समावेश कर दिया गया है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण मे माना गया है तथा अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवल ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मे माना गया है। इसके बाद आगे चलकर ज्ञान-विभाजन की एक अन्य पद्धति भी स्वीकार की गई थी। इस पद्धति को विशुद्ध तर्क पद्धति कहा जाता है। इस तर्क पद्धति के अनुसार सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है और उसके मूल मे दो भेद किए है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—मुख्य और साव्यवहारिक। मुख्य प्रत्यक्ष को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष और साव्य वहारिक को इन्द्रिया निन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा गया है। निश्चय ही इस विभाजन-पद्धति पर तर्क-शास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है।

मैं आपसे कह रहा था कि मूल आगम मे ज्ञान के सीधे पाँच भेद स्वीकार किए गये हैं, जिनका कथन मैं पहले कर चुका हूँ। पाँच ज्ञानो मे पहला ज्ञान है—मतिज्ञान। मतिज्ञान का अर्थ है—इन्द्रिय और मन सापेक्ष ज्ञान। जिस ज्ञान मे इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रहती है, उसे यहाँ पर मतिज्ञान कहा गया है। शास्त्र मे मतिज्ञान के पर्यावाची रूप मे स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिवोध शब्दो का प्रयोग भी किया गया है। मैंने अभी आप से कहा था, कि इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान होता है। इस प्रकार मतिज्ञान के दो भेद हैं—इन्द्रिय जन्यज्ञान और मनोजन्यज्ञान। जिस ज्ञान की उत्पत्ति मे मात्र इन्द्रिय निमित्त हो, वह इन्द्रियजन्यज्ञान है और जिस ज्ञान की उत्पत्ति मे मात्र मन ही निमित्त हो, वह मनोजन्यज्ञान है।

पदार्थ को ही जानती है, वैसे ही ज्ञान ज्ञान को कैसे जान सकता है वह दूसरे को ही जान सकता है। प्रस्तुत प्रश्न के समाधान में जैन-दर्शन का कथन है कि ज्ञान अपने आपको जानता हुआ ही दूसरे पदार्थों को जानता है। जैसे दीपक स्वयं अपने को प्रकाशित करता हुआ ही पर पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान अपने आप को जानता हुआ ही परपदार्थों को जानता है। दीपक में यह गुण है कि वह स्वयं को भी प्रकाशित करता है और अपनी शक्ति के अनुसार अपने सीमा पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। दीपक को प्रकाशित करने के लिए प्रदेश से भिन्न अन्य किसी अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं रहती इसी प्रकार ज्ञान को जानने के लिए भी ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। अतः ज्ञान दीपक के समान स्वयं और पर प्रकाशक माना गया है।

मैं आपसे ज्ञान के सम्बन्ध में विचार विनिमय कर रहा था। आगम में अभेद दृष्टि से कहा गया है, कि जो ज्ञान है, वह आत्मा है, और जो आत्मा है वही ज्ञान है। जो आत्मा है, वह जानता है और जो जानता है, वह आत्मा है। भेद दृष्टि से कथन करते हुए ज्ञान को आत्मा का गुण कहा गया है। अतः भेदाभेद दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है, किन्तु कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है। ज्ञान आत्मा ही है इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है। और ज्ञान आत्मा का गुण है, इसलिए वह उससे भिन्न भी है। फलितार्थ यह है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है।

प्रश्न होता है, कि ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है? जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान और ज्ञेय दोनों स्वतन्त्र हैं। मैंने आपसे कहा कि ज्ञान आत्मा का गुण है और वह अपने ज्ञेय को जानता है। ज्ञेय तीन प्रकार का होता है—द्रव्य गुण और पर्याय। जहाँ तक ज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है, जैन दर्शन के अनुसार यह कहा जा सकता है, कि न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञेय ज्ञान से। हमारा ज्ञान ज्ञेय को जानता है, ज्ञेय से उत्पन्न नहीं होता है। ज्ञान आत्मा में अपने गुण स्वरूप से सदा अवस्थित रहता है और पर्याय रूप से प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है।

शास्त्र में ज्ञान के पाँच भेद माने गए हैं—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान। इन पाँच ज्ञानों के

भावमन संसार के प्रत्येक प्राणी को होता है, किन्तु द्रव्यमन किसी को होता है और किसी को नहीं भी होता है। जिस संसारी जीव में भावमन के साथ द्रव्यमन भी हो, वह संज्ञी कहलाता है और जिसके भावमन के साथ द्रव्यमन न हो तो वह असंज्ञी कहा जाता है। मन का कार्य है [illegible] चिन्तन [illegible] के अति-रिक्त इन्द्रिय के द्वारा गृहीत वस्तु [illegible] चिन्तन [illegible] मन से [illegible] वह [illegible] में आती। अर्थ का चिन्तन भी [illegible] होता है। [illegible] उदाहरण [illegible] कल्पना कीजिए, आपने [illegible] कान से [illegible] सुना तो [illegible] घट शब्द [illegible] का ही ज्ञान होता है, किन्तु यह घट [illegible] क्या है, यह [illegible]ज्ञान नहीं [illegible]। यह मन का विषय है। मन के व्यापार में इन्द्रिय का [illegible] होता भी है और नहीं भी। संसार में जितने भी विषय [illegible] हो, उन सब का ज्ञान मन से हो सकता है। [illegible] मन को [illegible] ग्राही कहा जाता है।

किसी भी पदार्थ के ज्ञान के लिए इन्द्रिय और मन की [illegible]ता अपेक्षित तो रहती ही है, किन्तु [illegible] आदि [illegible] कारण हैं, जो मतिज्ञान में निमित्त होते हैं। किन्तु यह प्रकाश आदि ज्ञानोत्पत्ति के अनिवार्य और अव्यवहित कारण नहीं है। आकाश और काल आदि की भांति व्यवहित कारण हो सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं, कि मतिज्ञान के लिए इन्द्रिय और मन की सहायता की आवश्यकता रहती है। शब्द के ज्ञान के लिए श्रोत्र की, रूपज्ञान के लिए चक्षु की, गन्धज्ञान के लिए घ्राण की, रसज्ञान के लिए रसन की और स्पर्श ज्ञान के लिए स्पर्शन इन्द्रिय की आवश्यकता रहती है। और मन, वह तो इन्द्रियों द्वारा गृहीत और अगृहीत सभी विषयों में चिन्तन और मनन करता है।

मतिज्ञान के शास्त्रों में मुख्य रूप से चार भेद किए गए हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। यद्यपि मतिज्ञान के अन्य भी बहुत से भेद प्रभेद होते हैं, किन्तु मुख्य रूप में मतिज्ञान के इतने ही भेद हैं। मतिज्ञान के उक्त चार भेदों में सबसे पहला भेद है, अवग्रह। अवग्रह के पर्यायवाची रूप में ग्रह, ग्रहण, आलोचन और अवधारण शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। अवग्रह का क्या अर्थ है, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि—इन्द्रिय और पदार्थ का योग्य-

अब यह प्रश्न उठ जाता है कि इन्द्रिय क्या है और मन क्या है? जब तक इन्द्रिय और मन के स्वरूप को नहीं समझा जाएगा तब तक वस्तुतः मतिज्ञान को समझना आसान नहीं है। आत्मा की स्वाभाविक ज्ञान शक्ति पर कर्म का आवरण होने से सीधा आत्मा से ज्ञान नहीं हो पाता। अतः उस स्थिति में ज्ञान के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता रहती है। ज्ञान का यह माध्यम इन्द्रिय और मन हो सकता है। इन्द्र का अर्थ—आत्मा है और इन्द्र का अनुमान कराने वाले चिह्न का नाम है—इन्द्रिय। शास्त्र में इन्द्रियों के पाँच भेद बताए गए हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इन पाँच इन्द्रियों के शास्त्रों में दो भेद किए गये हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पुद्गल की रचना का आकार विशेष द्रव्येन्द्रिय है और आत्मा का ज्ञानात्मक परिणाम भावेन्द्रिय है। इस प्रकार इन्द्रिय के भेद और प्रभेद बहुत से हैं, किन्तु मैं आपके समक्ष उनमें से मुख्य मुख्य भेदों का ही कथन कर रहा हूँ। पाँच इन्द्रियों के विषय भी पाँच ही हैं। स्पर्शन का विषय स्पर्श, रसन का विषय रस, घ्राण का विषय गन्ध, चक्षु का विषय रूप और श्रोत्र का विषय शब्द।

अब प्रश्न यह होता है कि मन क्या है? मन के विषय में बहुत कुछ गम्भीर विचार किया गया है, किन्तु मैं यहाँ पर आपके समक्ष संक्षेप में ही कथन करूँगा। मैं अभी आपसे कह चुका हूँ कि उक्त पाँचों इन्द्रियों का विषय भिन्न भिन्न है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए रूप को चक्षु ही ग्रहण कर सकती है, श्रोत्र नहीं और शब्द को श्रोत्र ही ग्रहण कर सकता है, चक्षु नहीं। प्रत्येक इन्द्रिय की अपनी अपनी विषयगत सीमा और मर्यादा है। परन्तु मन के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। मन एक सूक्ष्म इन्द्रिय है, जो सभी इन्द्रियों के सभी विषयों को ग्रहण कर सकता है। इसी आधार पर मन को सर्वार्थग्राही इन्द्रिय कहा जाता है। मन को कहीं कहीं पर अनिन्द्रिय भी कहा गया है। मन को अनिन्द्रिय कहने का अभिप्राय यही है, कि उसका कोई बाह्य आकार न होने से वह अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः वह इन्द्रिय न होते हुए भी इन्द्रिय सदृश है। मन के दो भेद किए गए हैं—द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन पौद्गलिक है। भावमन उपयोग रूप है। इस प्रकार शास्त्रों में मन के स्वरूप का जो प्रतिपादन किया गया है, वहाँ यह बताया गया है कि

जाता है। व्यञ्जनावग्रह के लिए पदार्थ और इन्द्रिय का सयोग अपेक्षित है। परन्तु चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं, अत इनके साथ पदार्थ का सयोग नही होता। इसी कारण चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है। अर्थावग्रह सयोगरूप नहीं होता, वह व्यक्त सामान्य ज्ञान रूप ही होता है। इसलिए चक्षु और मन से सीधा अर्थावग्रह होने मे किसी प्रकार की बाधा नही आती। अर्थावग्रह पाँच इन्द्रिय और छठे मन से होता है। अर्थावग्रह के सम्बन्ध में कुछ बातें और हैं किन्तु वे तर्क-शास्त्र से अधिक सम्बन्ध रखती हैं। अत उनका वर्णन यहाँ पर करना उचित नही है और वह अधिक गम्भीर भी है।

मतिज्ञान का दूसरा भेद है, ईहा। अवग्रह के बाद ज्ञान ईहा मे परिणत हो जाता है। ईहा क्या है? इसके उत्तर मे कहा गया है कि अवग्रह के द्वारा अवगृहीत पदार्थ के विषय मे विशेष रूप मे जानने की ज्ञानपरिणति को ईहा कहा जाता है। ईहा शब्द के पर्याय-वाची रूप मे ऊह, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। कल्पना कीजिए, कोई व्यक्ति आपका नाम लेकर आप को बुला रहा है, उसके शब्द आपके कानो मे पडते है। अवग्रह मे आपको इतना ज्ञान हो जाता है कि कही से शब्द आ रहा है। शब्द सुनकर व्यक्ति विचार करता है, कि यह शब्द किसका है? कौन बोल रहा है? बोलने वाला स्त्री है अथवा पुरुष? फिर सुनने वाला उस शब्द के स्वर के सम्बन्ध मे विचार करता है, कि यह शब्द मधुर एव कोमल है, अत किसी स्त्री का होना चाहिए, क्योकि पुरुष का स्वर कठोर एव रूक्ष होता है। यहाँ तक ईहा ज्ञान की सीमा है। यहाँ पर प्रश्न उठाया जा सकता है, कि यह तो एक प्रकार का सशय है, सशय मे और ईहा मे भेद क्या रहा? उक्त प्रश्न के समाधान मे यह कहा जाता है कि ईहा सशय नही है, क्योकि सशय मे दोनो पक्ष बराबर होते है अत सशय उभयकोटिस्पर्शी होता है। सशय मे ज्ञान का किसी एक ओर झुकाव नही होता। वह स्त्री का स्वर है अथवा पुरुष का स्वर है, यह निर्णय नही होने पाता। सशय मे न पुरुष के स्वर का निर्णय होता है, न स्त्री के ही स्वर का निर्णय होने पाता है। सशय अवस्था मे ज्ञान त्रिशकु के समान बीच मे ही लटकता रहता है। ईहा के सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता, क्योकि ईहा मे ज्ञान एक

देशावस्थित सम्बन्ध होने पर नाम आदि की विशेष कल्पना से रहित जो सामान्य रूप ज्ञान है वह अवग्रह है। इस ज्ञान में यह निश्चय नहीं हो पाता कि किस पदार्थ का ज्ञान हुआ। केवल इतना ही परिज्ञान होता है कि कुछ है। उस ज्ञान में सत्तामात्र का भान द्वारा दर्शन से अधिक विशिष्ट जो बोध होता है उसे अन्य पदार्थ का प्रारम्भिक अनिर्दिष्ट विलक्षण सामान्य बोध कहा गया है।

अवग्रह के दो भेद होते हैं—व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। पदार्थ और इन्द्रिय का संयोग व्यञ्जनावग्रह है। व्यञ्जनावग्रह के बाद अर्थावग्रह होता है। व्यञ्जनावग्रह जो अव्यक्त ज्ञान कहा गया है वही ज्ञान आगे पुष्ट होकर अर्थावग्रह की कोटि में पहुँच कर कुछ-कुछ व्यक्त हो जाता है। उदाहरण के लिए, कुम्भकार के आवा में से एक ताजा सकोरा निकाल कर यदि कोई उसमें एक-एक बूंद पानी डालता जाए तो क्या स्थिति होगी है? प्रथम जलबिन्दु सकोरे में पड़ते ही सूख जाता है, इसी प्रकार दूसरा एवं तीसरा आदि जल बिन्दु भी सूखते चले जाते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे निरन्तर जल बिन्दु डालते रहने का परिणाम यह होता है कि फिर उस सकोरे में जल को शोषण करने की शक्ति नहीं रहती और एक-एक बूंद संचित होकर अन्त में वह सकोरा जल से भर जाता है। प्रथम बिन्दु से लेकर अन्तिम बिन्दु तक जल उस सकोरे में विद्यमान है, किन्तु प्रथम जल बिन्दु उसमें अव्यक्त रूप में रहने के कारण दृष्टि गोचर नहीं होता, जबकि व्यक्त जल बिन्दु दृष्टि गोचर हो जाता है। ज्यों-[illegible] जल की शक्ति बढ़ती गई, वह अभिव्यक्त होता गया। यहाँ पर यह समझना चाहिए कि अव्यक्त स्थिति में जो जल बिन्दु है उनके समान व्यञ्जनावग्रह का अव्यक्तज्ञान है और जो जल बिन्दु व्यक्त हैं उनके समान अर्थावग्रह का व्यक्तज्ञान के तुल्य है।

यहाँ पर एक प्रश्न यह भी होता है, कि क्या व्यञ्जनावग्रह समग्र इन्द्रियों से हो सकता है, अथवा नहीं? इसके समाधान में कहा गया है, कि चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता शेष सभी इन्द्रियों से व्यञ्जनावग्रह होता है। चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह इसलिए नहीं होता है, क्योंकि ये दोनों अप्राप्यकारी इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी। प्राप्यकारी उसे कहा जाता है, जिसका पदार्थ के साथ सम्बन्ध हो। और जिसका पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होता उसे अप्राप्यकारी कहा

मे ज्ञान के भेद प्रभेदो मे न उलझ कर उसके मर्म एन रहस्य को ही समझने का प्रयत्न होना चाहिए। आपको यह समझना चाहिए, कि मतिज्ञान क्या है और उसके क्या कारण है तथा जीवन मे उस मति-ज्ञान का उपयोग और प्रयोग कैसे किया जा सकता है?

पाँच ज्ञानो मे दूसरा ज्ञान है—श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान क्या है? यह अतीव विचारणीय प्रश्न है। मति ज्ञानोत्तर जो चिन्तन मनन के द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। इसका यह अर्थ है कि इन्द्रिय एव मन के निमित्त से जो ज्ञानधारा प्रवाहित होती है, उसका पूर्वरूप मतिज्ञान है, और उसी का मन के द्वारा मनन होने पर जो अधिक स्पष्ट उत्तर रूप होता है, वह श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान का दार्शनिक विश्लेपण है। प्राचीन आगम की भाषा मे श्रुतज्ञान का अर्थ है—वह ज्ञान, जो श्रुत से अर्थात् शास्त्र से सम्बद्ध हो। आप्त पुरुप द्वारा प्रणीत आगम या अन्य शास्त्रो से जो ज्ञान होता है, उसे श्रुत-ज्ञान कहते है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। श्रुतज्ञान मे अन्य ज्ञानो की अपेक्षा एक विशेपता है। चार ज्ञान मूक है, जबकि श्रुतज्ञान मुखर है। चार ज्ञानो से वस्तु स्वरूप का परिबोध तो हो सकता है, किन्तु वस्तु स्वरूप का कथन नही हो सकता। वस्तुस्वरूप के कथन की शक्ति श्रुतज्ञान मे ही होती है। क्योकि श्रुतज्ञान शब्दप्रधान होता है। श्रुतज्ञान के दो भेद है—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। श्रुत का ज्ञाना-त्मक रूप भावश्रुत है और शब्दात्मकरूप द्रव्यश्रुत है। श्रुतज्ञान के अन्य प्रकार से भी भेद किए गए है। उसमे मुख्य भेद दो हैं—अगबाह्य और अगप्रविष्ट। आवश्यक आदि के रूप मे अगबाह्य अनेक प्रकार का होता है और अगप्रविष्ट के आचाराग आदि द्वादश भेद होते है। श्रुतज्ञान के अन्य भेद दिए जाते हैं किन्तु यहाँ पर उसके मूल भेदो का ही कथन कर दिया गया है। यहाँ एक प्रश्न होता है कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक क्यो होता है? उक्त प्रश्न के समाधान मे कहा गया है, कि श्रुतज्ञान के लिए शब्द श्रवण आवश्यक है, क्योकि शास्त्र वचनात्मक होता है। शब्द का श्रवण मतिज्ञान है, क्योकि वह श्रोत्र का विपय है। जब शब्द सुन लिया जाता है, तभी उसके अर्थ का चिन्तन किया जाता है। शब्दश्रवण रूप जो ज्ञान है, वह मतिज्ञान है, उसके बाद उत्पन्न होने वाला विकसितज्ञान श्रुतज्ञान होता है। इसी आधार पर यह कहा जाता है, कि मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान उसका कार्य है। मतिज्ञान होगा, तभी श्रुतज्ञान होगा। यहाँ पर एक बात

ओर मुड़ जाता है। किस ओर झुकता है? इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि अवाय में जिस वस्तु का निश्चय होने वाला है, ईहा में उस ओर ही ज्ञान का झुकाव हो जाता है। संशय ज्ञान उभयकोटि स्पर्शी होता है जबकि ईहा ज्ञान एक कोटि स्पर्शी ही होता है। यह सत्य है कि ईहा में पूर्ण निर्णय एवं पूर्ण निश्चय नहीं होने पाता है, फिर भी ईहा में ज्ञान का झुकाव निर्णय की ओर अवश्य हो जाता है। संशय और ईहा में यही सबसे बड़ा अन्तर है।

मतिज्ञान का तीसरा भेद है—अवाय। अवाय का अर्थ है निश्चय। ईहा के द्वारा ईहित पदार्थ का निश्चित रूप में अन्तिम निर्णय करना ही अवाय है। ईहा में हमारा ज्ञान यहीं तक पहुँचा था कि यह शब्द किसी स्त्री का होना चाहिए, क्योंकि इसमें मृदुता और कोमलता है, परन्तु अवाय में पहुँच कर हमें यह निश्चय हो जाता है कि यह शब्द स्त्री का ही है। अवाय के पर्यायवाची रूप में शास्त्रों में प्रायः अपगम तथा अपाय और विज्ञान आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अवाय ज्ञान एक प्रकार का निश्चय ज्ञान है। इसमें पदार्थ का निश्चय हो जाता है कि वह क्या है।

मतिज्ञान का चौथा भेद है धारणा। धारणा का अर्थ है—किसी ज्ञान का बहुत काल के लिए स्थायी होना। अवाय के बाद जो धारणा होती है, उसमें ज्ञान इतना दृढ़ हो जाता है कि वह कालान्तर में स्मृति का कारण बन सकता है। इसी आधार पर दर्शन शास्त्र में धारणा को स्मृति का हेतु कहा गया है। धारणा संख्येय या असंख्येय काल तक रह सकती है। धारणा के पर्यायवाची रूप में प्रतिपत्ति, अवधारण, अवस्थान और अवबोध आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। धारणा के सम्बन्ध में कहा गया है कि ज्ञान की अविच्युति को धारणा कहते हैं। जो ज्ञान शीघ्र नष्ट न होकर चिर स्थायी रह सके और स्मृति का हेतु बन सके वही ज्ञान धारणा है। धारणा के तीन भेद हैं—अविच्युति, वासना और अनुस्मरण। अविच्युति का अर्थ है—पदार्थ के ज्ञान का विनाश न होना। वासना का अर्थ है—संस्कार का निर्माण होना और अनुस्मरण का अर्थ है भविष्य में प्रसंग मिलने पर उन संस्कारों का स्मृति रूप में उद्बुद्ध होना।

यहाँ पर मैंने संक्षेप में मतिज्ञान के चार मुख्य भेदों के स्वरूप को बताने का प्रयत्न किया है। शास्त्र में और बाद के दर्शन ग्रन्थों में मति ज्ञान के अन्य भी बहुत से भेदों का वर्णन किया गया है। मेरे विचार

मे ज्ञान के भेद प्रभेदों में न उलझ कर उसके मर्मभूत रहस्य को ही समझने का प्रयत्न होना चाहिए। आपको यह समझना चाहिए, कि मतिज्ञान क्या है और उसके क्या कारण हैं तथा जीवन में उस मति-ज्ञान का उपयोग और प्रयोग कैसे किया जा सकता है?

पाँच ज्ञानों में दूसरा ज्ञान है श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान क्या है? यह अतीव विचारणीय प्रश्न है। मति ज्ञानानन्तर जो चिन्तन मनन के द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। इसका यह अर्थ है कि इन्द्रिय एवं मन के निमित्त से जो ज्ञानधारा प्रवाहित होती है, उसका पूर्वरूप मतिज्ञान है और इसी का मनन के द्वारा स्पष्ट होने पर जो अधिक स्पष्ट उत्तर रूप होता है, वह श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान का दार्शनिक विश्लेषण है। प्राचीन आगम की भाषा में श्रुतज्ञान का अर्थ है—वह ज्ञान, जो श्रुत में अर्थात् शास्त्र से सम्बद्ध हो। आप्त पुरुष द्वारा प्रणीत आगम या अन्य शास्त्रों से जो ज्ञान होता है, उसे श्रुत-ज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। श्रुतज्ञान में अन्य ज्ञानों की अपेक्षा एक विशेषता है। चार ज्ञान मूक हैं, जबकि श्रुतज्ञान मुखर है। चार ज्ञानों से वस्तु स्वरूप का परिबोध तो हो सकता है, किन्तु वस्तु स्वरूप का कथन नहीं हो सकता। वस्तुस्वरूप के कथन की शक्ति श्रुतज्ञान में ही होती है। क्योंकि श्रुतज्ञान शब्दप्रधान होता है। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। श्रुत का ज्ञाना-त्मक रूप भावश्रुत है और शब्दात्मक रूप द्रव्यश्रुत है। श्रुतज्ञान के अन्य प्रकार से भी भेद किए गए हैं। उसमें मुख्य भेद दो हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। आवश्यक आदि के रूप में अंगबाह्य अनेक प्रकार का होता है और अंगप्रविष्ट के आचारांग आदि द्वादश भेद होते हैं। श्रुतज्ञान के अन्य भेद किए जाते हैं किन्तु यहाँ पर उसके मूल भेदों का ही कथन कर दिया गया है। यहाँ एक प्रश्न होता है कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक क्यों होता है? उक्त प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि श्रुतज्ञान के लिए शब्द श्रवण आवश्यक है, क्योंकि शास्त्र वचनात्मक होता है। शब्द का श्रवण मतिज्ञान है, क्योंकि वह श्रोत्र का विषय है। जब शब्द सुन लिया जाता है, तभी उसके अर्थ का चिन्तन किया जाता है। शब्दश्रवण रूप जो ज्ञान है, वह मतिज्ञान है, उसके बाद उत्पन्न होने वाला विकसितज्ञान श्रुतज्ञान होता है। इसी आधार पर यह कहा जाता है, कि मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान उसका कार्य है। मतिज्ञान होगा, तभी श्रुतज्ञान होगा। यहाँ पर एक बात

और समझने योग्य है कि श्रुत ज्ञान का अन्तरंग कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम ही है। मतिज्ञान तो उसका बहिरंग कारण है, इसी कारण कहा जाता है कि श्रुतज्ञान से पूर्व मतिज्ञान होता है अर्थात् मतिज्ञान के होने पर ही श्रुतज्ञान हो सकता है।

यहाँ पर मैं आप लोगों को एक बात और बतला देना चाहता हूँ कि हमारे यहाँ पर अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट की क्या व्याख्या की गई है। अंगप्रविष्ट उसे कहते हैं, जो साक्षात् तीर्थंकर द्वारा भाषित होता है और गणधरों द्वारा जिसे सूत्रबद्ध किया जाता है। परन्तु आगे चलकर बल और बुद्धि की मन्दता के कारण समर्थ आचार्य अथवा श्रुतधर आचार्य अंगप्रविष्ट आगमों का आधार लेकर शिष्य हित के लिए एवं ज्ञान प्रसार के लिए, जो ग्रंथ रचना करते हैं, उन्हें अंगबाह्य ग्रन्थ कहते हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें ऐसी हैं, जिनका जानना अनिवार्य है। मैं आपको संक्षेप में उन बातों को यहाँ बतलाने का प्रयत्न करूँगा। एक बात तो यह है कि प्रत्येक संसारी जीव में कम से कम दो ज्ञान तो अवश्य होते ही हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। प्रश्न यह होता है, कि यह ज्ञान कब तक रहते हैं? केवल ज्ञान होने के पूर्व तक ये रहते हैं अथवा केवल ज्ञान होने के बाद भी यह रहता है? इस विषय में अनेक प्रकार के मतभेद हैं, जिनके विस्तार की यहाँ आवश्यकता नहीं है। कुछ आचार्यों का अभिमत है कि केवल ज्ञान की उत्पत्ति के बाद भी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की सत्ता रहती है। जिस प्रकार दिवाकर के प्रखर प्रकाश के समक्ष ग्रह और नक्षत्रों का प्रकाश नष्ट नहीं होता, बल्कि तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार केवल ज्ञान के महा प्रकाश के समक्ष मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का प्रकाश नष्ट नहीं होता है बल्कि तिरोहित हो जाता है। दूसरे आचार्यों का अभिमत यह है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है। और केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान। जब समस्त आवरण का क्षय हो जाता है तब क्षायिक ज्ञान प्रकट होता है जिसे केवल ज्ञान कहते हैं। उस समय क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकता। अतः केवल ज्ञान हो जाने पर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की सत्ता भी उसी में मिल जाती है। उस समय अकेला केवल ज्ञान ही रहता है। यह पक्ष प्रथम पक्ष की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत है।

पाँच ज्ञानों में तीसरा ज्ञान है—अवधि ज्ञान। अवधिज्ञान वाली

गतियो के जीवो को हो सकता है। अवधिज्ञान रूपी पदार्थों का होता है। अवधिज्ञान क्या है ? इसके सम्बन्ध मे कहा गया है, कि अवधि का अर्थ है—सीमा। जिस ज्ञान की सीमा होती है, उसे अवधि ज्ञान कहा जाता है। अवधिज्ञान की सीमा क्या है ? रूपी पदार्थों को जानना। अवधिज्ञान के दो भेद हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भव प्रत्यय अवधि ज्ञान देव और नारक को होता है। गुण प्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यञ्च को होता है। जो अवधिज्ञान विना किसी साधना के मात्र जन्म के साथ ही प्रकट होता है, उसे भवप्रत्यय कहते हैं। जो अवधिज्ञान किसी साधना-विशेष से प्रकट होता है, उसे गुणप्रत्यय कहा जाता है। अवधिज्ञान के अन्य प्रकार से भी भेद किए गए हैं, किन्तु उनका यहाँ पर विशेष वर्णन करना अभीष्ट नही है। यहाँ तो केवल अवधिज्ञान के स्वरूप और उसके मुख्य भेदो का ही कथन करना अभीप्ट है।

पाँच ज्ञानो मे चौथा ज्ञान है—मन पर्याय ज्ञान। यह ज्ञान मनुष्य गति के अतिरिक्त अन्य किसी गति मे नही होता है। मनुष्य मे भी सयत मनुष्य को ही होता है, असयत मनुष्य को नही। मन पर्याय ज्ञान का अर्थ है—मनुष्यो के मन के चिन्तित अर्थ को जानने वाला ज्ञान। मन एक प्रकार का पौद्गलिक द्रव्य है। जब व्यक्ति किसी विषय-विशेष का विचार करता है, तब उसके मन का तदनुसार पर्यायो मे परिवर्तन होता रहता है। मन पर्याय ज्ञानी मन की इन पर्यायो का साक्षात्कार करता है। उस पर से वह यह जान सकता है, कि अमुक व्यक्ति किस समय क्या वात सोचता रहा है। अत मन पर्याय ज्ञान का अर्थ है—मन के परिणमन का साक्षात् प्रत्यक्ष करके मनुष्य के चिन्तित अर्थ को जान लेना। मन पर्याय ज्ञान के दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति का ज्ञान विशुद्धतर होता है। क्योकि विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा मन के अति सूक्ष्म परिणामो को भी जान सकता है। दूसरी वात यह है कि ऋजुमति प्रतिपाती होता है और विपुलमति अप्रतिपाती होता है। यही इन दोनो मे अन्तर है।

अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञान प्रत्यक्ष अवश्य है, क्योकि ये दोनो ज्ञान सीधे आत्मा से ही होते हैं, इनके लिए इन्द्रिय और मन की सहायता की आवश्यकता नही रहती। किन्तु अवधि ज्ञान और मन पर्याय ज्ञान दोनो ही विकल प्रत्यक्ष हैं, जबकि केवल ज्ञान सकल

प्रत्यक्ष होता है। अवधि ज्ञान केवल रूपी पदार्थों का ही प्रत्यक्ष कर सकता है और मनःपर्याय ज्ञान रूपी पदार्थों के अनन्तवें भाग मन की पर्यायों का ही प्रत्यक्ष कर सकता है। इसलिए ये ज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं।

पाँच ज्ञानों में पाँचवाँ ज्ञान है—केवल ज्ञान। यह ज्ञान निरावरण है। केवल ज्ञान को अद्वितीय और परिपूर्ण ज्ञान भी कहा जाता है। आगम की भाषा में इसे क्षायिक ज्ञान कहा जाता है। आत्मा की ज्ञान-शक्ति का पूर्ण विकास अथवा आविर्भाव केवल ज्ञान है। इसके प्रकट होते ही फिर शेष ज्ञान नहीं रहते। केवल ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान है, अतः उसके साथ मति आदि अपूर्ण ज्ञान नहीं रह सकते। जैन दर्शन के अनुसार केवल ज्ञान आत्मा की ज्ञान शक्ति का चरम विकास है। केवल से बढ़कर अन्य कोई ज्ञान नहीं होता है। इस ज्ञान में अतीत, अनागत और वर्तमान के अनन्त पदार्थ और प्रत्येक पदार्थ के अनन्त गुण और पर्याय केवल ज्ञान के दर्पण में प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। केवल ज्ञान देश और काल की सीमा बन्धन से मुक्त होकर रूपी एवं अरूपी समस्त अनन्त पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है। अतः उसे सकल प्रत्यक्ष कहते हैं।

मैं आपसे पहले कह चुका हूँ कि उपयोग के दो भेद हैं—साकार और अनाकार। साकार ज्ञान को कहते हैं और अनाकार दर्शन को। इसे एक दूसरे रूप में भी कहा जाता है—सविकल्पक और निर्विकल्पक। जो उपयोग वस्तु के विशेष स्वरूप को ग्रहण करता है, वह सविकल्पक है और जो वस्तु के सामान्य स्वरूप को ग्रहण करता है, वह निर्विकल्पक है। यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जैन दर्शन को छोड़कर अन्य किसी दर्शन में तो इस प्रकार का कोई वर्गीकरण नहीं है, फिर जैन दर्शन की इस मान्यता का आधार क्या है? उक्त प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि जैन दर्शन में ज्ञान और दर्शन की मान्यता अत्यन्त प्राचीन है। मूल आगम में इसके दो प्रयोग मिलते हैं—जाणइ और पासइ। इनका अर्थ है—जानना और देखना। जानना ज्ञान है और देखना दर्शन है। दूसरा आधार यह है कि जैन दर्शन में कर्म के आठ भेद स्वीकार किए गये हैं। उन आठ भेदों में पहला है—ज्ञानावरण और दूसरा है दर्शनावरण। ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म ज्ञानावरण और दर्शन को आच्छादित करने वाला कर्म दर्शनावरण कहलाता है। इससे यह सिद्ध होता है, कि जैन दर्शन में

ज्ञान और दर्शन की मान्यता बहुत ही प्राचीन है। यह सिद्धान्त तर्क से भी सिद्ध होता है। सर्व प्रथम वस्तु के अस्तित्व मात्र का बोध होता है, तदनन्तर वस्तु की अनन्तानेक विशेषताओं का। इससे भी स्पष्ट है कि दर्शन और ज्ञान दो उपयोग भिन्न हैं। एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है, कि दर्शन और ज्ञान में पूर्व कौन होता है? इसके समाधान में कहा गया है, कि जहाँ तक छद्मस्थ का प्रश्न है, सभी आचार्य एकमत हैं कि दर्शन और ज्ञान युगपत् न होकर क्रमशः होते हैं। प्रथम दर्शन होता है और पश्चात् ज्ञान होता है। केवली के प्रश्न को लेकर आचार्यों में मतभेद अवश्य है। इस विषय में तीन प्रकार के मत हैं—एक मत के अनुसार दर्शन और ज्ञान क्रमशः होते हैं। दूसरे मत के अनुसार दर्शन और ज्ञान युगपद् होते हैं। तीसरे मत के अनुसार दर्शन और ज्ञान भिन्न न होकर—अभिन्न हैं।

सबसे पहले हमें यह विचार करना चाहिए कि इन तीन मतों का मूल आधार क्या है? आचार्यों के मतभेद का आधार कौनसा ग्रन्थ है अथवा कौन सी परम्परा है? प्राचीनता की दृष्टि से विचार करने पर सबसे पहले हमारी दृष्टि आगम की ओर जाती है। प्रज्ञापना, आवश्यक-निर्युक्ति एवं विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है, कि केवली के भी दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते। श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन आगम इस विषय में एकमत हैं। आगम केवली के दर्शन और ज्ञान को युगपद् नहीं मानते। दिगम्बर परम्परा के अनुसार केवल दर्शन और केवलज्ञान युगपद् होते हैं। इस विषय में दिगम्बर परम्परा के सभी आचार्य एकमत हैं। युगपद्वादी का कथन है, कि जिस प्रकार सूर्य में प्रकाश और आतप एक साथ रहते हैं उसी प्रकार केवली में दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं, कि केवली के दर्शन और ज्ञान को लेकर श्वेताम्बर परम्परा और दिगम्बर परम्परा में मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा क्रमवादी है और दिगम्बर परम्परा युगपद्वादी है। परन्तु यह मतभेद केवली के दर्शन और ज्ञान को लेकर ही है, छद्मस्थ के दर्शन और ज्ञान को लेकर श्वेताम्बर परम्परा और दिगम्बर परम्परा में न किसी प्रकार का विवाद है और न किसी प्रकार का मतभेद ही है। दोनो परम्पराएँ छद्मस्थ व्यक्ति में दर्शन और ज्ञान को क्रमशः ही स्वीकार करती है, इस दृष्टि से इस विषय में दोनो परम्पराएँ क्रमवादी हैं।

अब प्रश्न रहता तीसरी परम्परा का, जिसके आविष्कारक चतुर्थ

शताब्दी के महान् दार्शनिक प्रखर तार्किक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर हैं। आचार्य सिद्धसेन का कथन है कि मतिज्ञान से लेकर मन पर्याय ज्ञान तक दर्शन और ज्ञान में भेद सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु केवल ज्ञान और केवल दर्शन का भेद सिद्ध करना कथमपि सम्भव नहीं है। दर्शनावरण और ज्ञानावरण का जब हम युगपद् क्षय मानते हैं, तब उस क्षय से होने वाले उपयोग में यह पहले होता है और यह बाद में होता है अथवा युगपद् होते हैं, इस प्रकार का कथन करना न न्याय-संगत है और न तर्कसंगत है। पूर्ण उपयोग में किसी भी प्रकार का भेद नहीं रहता है। अतः केवली के दर्शन में और ज्ञान में किसी भी क्रम का और युगपद् को स्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः केवल ज्ञान और केवल दर्शन दोनों अलग-अलग हैं ही नहीं दोनों एक ही हैं। इस प्रकार जैसा कि मैंने आपको कहा था दर्शन और ज्ञान को लेकर जैनाचार्यों में कुछ मतभेद है, पर इस मतभेद से मूल वस्तु स्थिति पर किसी प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। वस्तु-स्थिति को भेदगामी दृष्टि से देखने पर भेद की प्रतीति होती है और अभेदगामी दृष्टि से देखने पर अभेद की प्रतीति होती है। अनेकान्त दृष्टि में भेद और अभेद दोनों का सुन्दर समन्वय किया गया है।

जैन दर्शन में ज्ञानवाद की चर्चा बहुत पुरानी और बहुविध है। अङ्ग, उपाङ्ग और मूल-सूत्रों में यत्र-तत्र जो ज्ञानवाद की चर्चा उपलब्ध होती है, वह अनेक पद्धतियों से प्रतिपादित है। स्थानांग सूत्र में, राजप्रश्नीय सूत्र में और उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञान के सीधे पाँच भेद किए गए हैं। भगवती सूत्र में और अनुयोगद्वार सूत्र में ज्ञान का चार प्रमाण के रूप में तर्क पद्धति पर वर्णन भी उपलब्ध है। नन्दी सूत्र में पाँच ज्ञान का वर्णन आगम और तर्कशैली से भिन्न वर्णन शैली पर किया गया है। इस प्रकार आगम साहित्य में ज्ञानवाद की चर्चा बहुविध और अनेकविध पद्धति पर आधारित है। ज्ञानवाद के वर्णन की उक्त पद्धतियों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—आगमिक शैली, दार्शनिक शैली और तार्किक अर्थात् न्याय शैली।

आगमिक शैली से पाँच ज्ञान का वर्णन—अंग, उपांग और मूल सूत्रों में उपलब्ध है। इसमें ज्ञान के सीधे पाँच भेद करके उनके उपभेदों का वर्णन कर दिया गया है। कर्म-ग्रन्थों में भी ज्ञानवाद का वर्णन आगमिक शैली के आधार पर ही किया गया है। दार्शनिक शैली का प्रयोग नन्दी-सूत्र में उपलब्ध है। इसमें ज्ञान का सांगोपांग

वर्णन किया गया है। जितने अधिक विस्तार के साथ में और जितनी सुन्दर व्यवस्था के साथ में पांच ज्ञान का वर्णन नन्दी-सूत्र में किया गया है, उतने विस्तार के साथ और उतनी सुन्दर व्यवस्था के साथ अन्य किसी आगम में नहीं किया गया है। आवश्यक निर्युक्ति में जो ज्ञान का वर्णन है, वह दार्शनिक शैली का न होकर आगमिक शैली का है। आचार्य जिनभद्र क्षमा-श्रमण कृत विशेषावश्यक भाष्य में पांच ज्ञान का सांगोपांग और अति विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इसकी शैली विशुद्ध दार्शनिक शैली है। यह एक ऐसा महा सागर है, जिसमें सब कुछ समाहित हो जाता है। विशेषावश्यक भाष्य आगम की पृष्ठ-भूमि पर दार्शनिक क्षेत्र की एक महान देन है। आगम का ज्ञानवाद इसमें पीन और परिपुष्ट हो गया है। पांच ज्ञान के सम्बन्ध में विशेषावश्यक भाष्य में जो कुछ कहा गया है, वही अन्यत्र उपलब्ध होता है। और जो कुछ इसमें नहीं कहा गया, वह प्राय अन्यत्र भी नहीं कहा गया है। आचार्य जिनभद्र क्षमा-श्रमण के उत्तर-भावी समग्र दार्शनिक विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों में ज्ञानवाद के प्रतिपादन में और ज्ञानवाद की व्याख्या करने में विशेषावश्यक भाष्य को ही आधार बनाया है। इसमें ज्ञानवाद का प्रतिपादन इतने विशाल और विराट रूप में हुआ है कि इसे पढकर ज्ञानवाद के सम्बन्ध में अन्य किसी ग्रन्थ के पढने की आवश्यकता ही नहीं रहती। आचार्य ने अपने युग तक की परम्परा के चिन्तन का इसमें आकलन और सकलन कर दिया है।

विशेषावश्यक भाष्य के बाद पांच ज्ञान का सांगोपांग वर्णन अथवा प्रतिपादन उपाध्याय यशोविजय कृत 'ज्ञान बिन्दु' और 'जैन-तर्क-भाषा' में उपलब्ध होता है। जैन दार्शनिक साहित्य में उक्त दोनों कृतियाँ अद्भुत और बेजोड हैं। 'ज्ञान-बिन्दु' में पांच ज्ञान का वर्णन दर्शन की पृष्ठ भूमि पर तार्किक शैली से किया गया है। परन्तु 'जैन-तर्क-भाषा' में ज्ञान का वर्णन विशुद्ध तार्किक शैली पर ही किया गया है। उपाध्याय यशोविजय अपने युग के एक प्रौढ दार्शनिक और महान् तार्किक थे, इन्होंने अपने ग्रथों की रचना नव्य न्याय की शैली पर की है। दार्शनिक शैली का एक दूसरा रूप, हमें पांच ज्ञान के सम्बन्ध में आचार्य कुन्द-कुन्द कृत 'प्रवचन सार' और 'नियम सार' में भी मिलता है। परन्तु यहाँ पर ज्ञानवाद का वर्णन उतने विस्तार से और क्रमबद्ध नहीं है, जैसा कि 'नन्दी-सूत्र' में 'विशेषावश्यक भाष्य, में

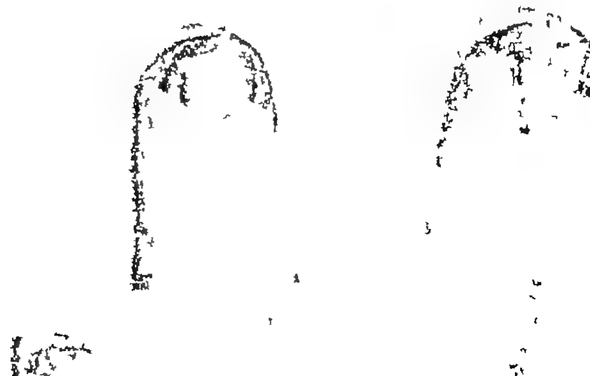

२

प्रमाण-वाद

• • •

मैं आज आपसे प्रमाण के सम्बन्ध में चर्चा कर रहा हूँ। प्रमाण के बिना प्रमेय की सिद्धि नहीं होती। न्याय-शास्त्र का एक यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है। प्रमाण से ही प्रमेय का यथार्थ परिज्ञान होता है। अतः भारतीय दर्शन शास्त्र में प्रमाण पर बहुत कुछ लिखा गया है। जैन वैदिक और बौद्ध—समस्त दार्शनिकों ने प्रमाणवाद पर बड़ा बल लगाया है। भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा में प्रमाण पर गंभीर चिन्तन और अनुशीलन किया गया है। न्याय दर्शन का तो मुख्य विषय ही प्रमाण है। वैशेषिक दर्शन में प्रमेय की बहुलता होने पर भी उसमें प्रमाणवाद को स्वीकार किया गया है। सांख्य दर्शन में भी प्रमाण पर पर्याप्त विवेचन किया गया है किन्तु वैशेषिक की भाँति इसमें तत्त्व चर्चा अधिक है। योग तो क्रियात्मक प्रयोग पर ही खड़ा है, फिर भी उसमें प्रमाण चर्चा की गई है। मीमांसा और वेदान्त में भी प्रमाणवाद पर बहुत बल दिया गया है। भूतवादी चार्वाक को भी प्रमाण

स्वीकार करना पड़ा। बौद्ध दर्शन में तो प्रमाणवाद ने बहुत ही गम्भीर रूप लिया है। बौद्ध दार्शनिकों के सूक्ष्म और पैने तर्क सुप्रसिद्ध हैं। जैन दर्शन में तो प्रमाणवाद पर सख्यावद्ध ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। प्रमाण विषय पर भारतीय दर्शन की विभिन्न परम्पराओं में आज तक जो कुछ भी लिखा गया है उसमें जैन दार्शनिकों का महान् योग दान रहा है। प्राचीन न्याय की परम्परा से लेकर नव्य युग के नव्यन्याय तक की परम्परा जैन दर्शन के प्रमाणवाद में सरक्षित है। प्रमाण की मीमासा में और प्रमाण की विचारणा में जैन दार्शनिक कभी पश्चात् पद नहीं रहे हैं। भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा ने अपने-अपने अभिमत प्रमेय की सिद्धि के लिए प्रमाण को स्वीकार किया है, और अपने-अपने ढग से उसकी व्याख्या की है। प्रमाण के स्वरूप में विभिन्नता होने पर भी प्रमाण की उपयोगिता के सम्बन्ध में सब एकमत है। भले ही प्रमाणों की सख्या किसी ने कम मानी हो और किसी ने अधिक मानी हो, पर उसकी आवश्यकता का अनुभव सबने किया है।

प्रमेय की सिद्धि के लिए समस्त दर्शन प्रमाण को स्वीकार करते हैं। परन्तु जैन दर्शन प्रमाण के अतिरिक्त नय को भी वस्तु-परिज्ञान के लिए आवश्यक मानता है। जैन दर्शन में कहा गया है, कि वस्तु का यथार्थ अधिगम एव परिबोध प्रमाण और नय से होता है। अत वस्तु-परिज्ञान के लिए प्रमाण और नय दोनों की आवश्यकता है। दोनों में अन्तर यही है, कि प्रमाण वस्तु को अखण्ड रूप में ग्रहण करता है, अत वह सकलादेश है। नय वस्तु को खण्ड रूप में ग्रहण करता है, अत वह विकलादेश है। 'यह घट है'—यह सकलादेश प्रमाण है। 'यह रूपवान् घट है' यह विकलादेश नय है। क्योंकि इसमें घट वस्तु का परिज्ञान रूपमुखेन हुआ है, जबकि 'घटोऽयम्' कहने में घट के समस्त धर्मों का समावेश उसमें हो जाता है। वस्तुगत किसी एक धर्म का अथवा किसी एक गुण का बोध करने के लिए नय की आवश्यकता है। यह जैन दर्शन की अपनी विशेषता है, जो अन्य दर्शनों में नहीं है। जैन दर्शन, क्योंकि अनेकान्त दर्शन है, और अनेकान्तदर्शन में प्रत्येक वस्तु को अनन्त धर्मात्मक माना गया है। उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु का यथार्थ बोध, प्रमाण और नय से ही किया जा सकता है। प्रमाण के स्वरूप के विषय में भी जैन दर्शन का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। उसके प्रमाण का

वर्गीकरण या अन्य परम्पराओं से सर्वथा भिन्न शैली पर हुआ है।

सामान्यतया प्रमाण का अर्थ है—जिसके द्वारा पदार्थ का सम्यक् परिज्ञान हो। प्रमा-प्रमिति की दृष्टि या प्रमा का साधकतम करण हो वह प्रमाण है। नैयायिक प्रमा में साधकतम इन्द्रिय और सन्निकर्ष को मानते हैं परन्तु जैनदर्शन ज्ञान को ही प्रमा में साधकतम मानता है। प्रमा क्रिया एक चेतन क्रिया है अतः उसका साधकतम करण भी ज्ञान ही हो सकता है सन्निकर्ष नहीं क्योंकि वह अचेतन है। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण का लक्षण है— स्व-पर व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्। इस लक्षण में कहा गया है कि स्व और पर का निश्चय करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है। स्व का अर्थ है—ज्ञान और पर का अर्थ है—ज्ञान से भिन्न पदार्थ। जैन दर्शन उसी ज्ञान को प्रमाण मानता है जो अपने आपको भी जाने और अपने से भिन्न पर पदार्थों को भी जाने। और वह भी निश्चयात्मक एवं यथार्थ रूप में। उपादेय क्या है? तथा हेय क्या है? और हेय उपादेय से भिन्न उपेक्षित क्या है? इसका निर्णय करना ही प्रमाण का उपयोगिता है। परन्तु प्रमाण की यह उपयोगिता तभी सिद्ध हो सकती है जबकि प्रमाण को ज्ञानरूप माना जाए। यदि प्रमाण ज्ञान रूप न होकर, अज्ञान रूप होगा तो वह उपादेय एवं हेय का विवेक नहीं कर सकेगा। फिर प्रमाण की सार्थकता कैसे होगी? प्रमाण की सार्थकता और उपयोगिता तभी है जबकि उसमें स्व और पर का परिज्ञान हो जाए तो क्रम के हान उपादान एवं उपेक्षा का विवेक हो।

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमा का साधकतम करण सन्निकर्ष को माना है। परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि सन्निकर्ष जड़ है। जो जड़ होता है वह घट की तरह स्व और पर का निश्चय करने में असमर्थ होता है। क्या कभी घट को पता होता है कि मैं कौन हूँ और ये मेरे आस-पास में क्या है? नहीं होता क्योंकि वह जड़ है चेतनाशून्य है अतः वह घट प्रमा का साधकतम करण भी नहीं बन सकता है। न्याय दर्शन में इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहा है। वैशेषिक दर्शन भी सन्निकर्ष को प्रमाण मानता है। परन्तु ज्ञान रूप न होने से सन्निकर्ष की प्रमाणता का जैन-दर्शन में स्पष्ट निषेध किया गया है।

प्रमाण का स्वरूप एवं लक्षण करते समय यह कहा गया है कि प्रमाण निश्चयात्मक एवं व्यवसाय-स्वभाव होता है। परन्तु बौद्ध दर्शन में अव्यवसायी निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण माना गया

है। जैन दर्शन में जिसे दर्शनोपयोग कहते हैं — जिसमें सामान्य वस्तु की सत्तामात्र का भान होता है — वही बौद्ध का निर्विकल्पक ज्ञान है। निर्विकल्पक ज्ञान में 'यह घट है' और 'यह पट है' — इत्यादि वस्तुगत विभिन्न विशेषों का परिज्ञान नहीं होता। इसी कारण निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण नहीं कहा जा सकता। जब तक वस्तु की विशिष्टता का परिज्ञान नहीं होता, तब तक वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझा नहीं जा सकता। इसी आधार पर कहा गया है कि बौद्ध दर्शन में अभिमत निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण नहीं है।

ज्ञान मात्र प्रमाण नहीं है, जो ज्ञान व्यवसायात्मक होता है, वही प्रमाणकोटि में आता है। यदि ज्ञान मात्र को ही प्रमाण माना जाए, तब तो विपर्यय संशय और अनध्यवसाय को भी प्रमाण कहा जाएगा। क्योंकि ये भी ज्ञान तो हैं ही, भले ही विपरीत ही क्यों न हों? उक्त तीनों के प्रमाणत्व का निषेध करने के लिए प्रमाण को व्यवसायस्वभाव अथवा निश्चयरूप कहा गया है। सीप को चाँदी समझ लेना, और रस्सी को साँप समझ लेना — इस प्रकार के विपरीतैककोटि स्पर्शी मिथ्याज्ञान को जैन दर्शन में विपर्यय कहा जाता है। विपर्यय में वस्तु का एक ही धर्म जान पड़ता है और वह विपरीत ही होता है। इसी कारण वह मिथ्याज्ञान है, प्रमाण नहीं है। एक ही वस्तु में अनेक कोटियों को स्पर्श करने वाला ज्ञान, संशय है। जैसे अन्धकार में दूरस्थ किसी ठूंठ को देख कर सन्देह होना कि यह स्थाणु है या पुरुष है। संशय भी मिथ्याज्ञान होने से प्रमाण नहीं है। क्योंकि इसमें न तो स्थाणु को सिद्ध करने वाला साधक प्रमाण ही होता है, और न पुरुष का निषेध करने वाला बाधक प्रमाण ही होता है। अतः न इसमें स्थाणुत्व का निश्चय होता है और न पुरुषत्व का ही। निश्चय का अभाव होने से इसे प्रमाण नहीं कह सकते। मार्ग में गमन करते समय तृण आदि का स्पर्श होने पर 'कुछ है' — इस प्रकार के ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। इसमें किसी भी वस्तु का निश्चय नहीं हो पाता है। निश्चय न होने के कारण से ही इसको प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। विपर्यय और संशय में भेद यह है, कि विपर्यय में एक अंश की प्रतीति होती है, जबकि संशय में दो या अनेक अंशों की प्रतीति होती है। विपर्यय में एक अंश निश्चित होता है — भले ही वह विपरीत ही क्यों न हो। परन्तु संशय में दोनों अंश अनिश्चित होते हैं। संशय और

अनध्यवसाय में भेद यह है कि संशय में यद्यपि विषय वस्तु का निश्चय नहीं होता फिर भी उसमें विकल्प का स्पर्श तो होता है परन्तु अनध्यवसाय में तो किसी भी प्रकार के विकल्प का स्पर्श ही नहीं होता। विपर्यय संशय और अनध्यवसाय ज्ञान होने पर भी प्रमाणकोटि में नहीं आते। क्योंकि ये तीनों सम्यक् ज्ञान नहीं मिथ्याज्ञान हैं। मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है।

प्रमाण का स्वरूप समझाते समय कहा गया था कि जो ज्ञान स्व-पर का निश्चय करता है वह प्रमाण है। स्व का अर्थ है—ज्ञान और पर का अर्थ है—ज्ञान से भिन्न 'घट पट' आदि पदार्थ। परन्तु शून्यवादी बौद्ध घट आदि बाह्य पदार्थ को और ज्ञान आदि आन्तरिक पदार्थ को स्वीकार नहीं करता है। उसके विचार में शून्य ही सब कुछ है। इस विषय में शून्य के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है यही उसका अभिमत है। इसी आधार पर उसे शून्यवादी कहा जाता है। शून्यवादी बौद्ध शून्य को ही सत् मानता है उसके अतिरिक्त सबको मिथ्या। विज्ञानवादी बौद्ध घट आदि बाह्य पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करता। उसके मत में विज्ञान ही सब कुछ है। विज्ञान के अतिरिक्त जो भी कुछ है वह सब मिथ्या है। वेदान्तदर्शन भी बाह्य पदार्थ को मिथ्या मानता है। वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थ असत् हैं। इन सबके विपरीत जैन दर्शन ज्ञान को सत् स्वीकार करता है और ज्ञान के द्वारा प्रतीत होने वाले घट आदि बाह्य पदार्थ को भी सत् स्वीकार करता है। इसी आधार पर जैन दर्शन के प्रमाण लक्षण में 'स्व और पर' दोनों का समावेश किया गया है। इसका अर्थ है कि प्रमाण अपने को भी जानता है और पर को भी।

प्रमाण के स्वरूप और लक्षण का निर्धारण धीरे-धीरे विकसित हुआ है। कणाद ने निर्दोष ज्ञान को प्रमाण कहा था। गौतम के न्याय-सूत्र में प्रमाण सामान्य का लक्षण उपलब्ध नहीं होता किन्तु उसके समर्थ भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है कि अर्थ की उपलब्धि में साधन ही प्रमाण है। मीमांसक प्रभाकर ने अनुभूति को प्रमाण कहा है। सांख्य दर्शन में इन्द्रिय-व्यापार के सामान्य लक्षण को प्रमाण स्वीकार किया है। बौद्ध दर्शन में अज्ञात अर्थ के प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा गया है। जैन परम्परा के विभिन्न आचार्यों ने भी प्रमाण का विभिन्न प्रकार से लक्षण किया है। जैन न्याय के पिता और अपने युग के प्रौढ़ दार्शनिक

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने 'न्यायावतार' नामक न्याय-ग्रन्थ मे स्व-पर के निश्चय करने वाले बाधविवर्जित ज्ञान को प्रमाण माना है। आचार्य सिद्धसेन की भाँति आचार्य समन्तभद्र ने भी स्व-पर-अवभासि ज्ञान को प्रमाण कहा है। वादिदेव सूरि न अपने प्रसिद्ध तर्क-ग्रन्थ 'प्रमाण-नय तत्वालोक' मे उसी ज्ञान को प्रमाण माना है, जो स्व-पर का निश्चय कराने वाला हो। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने सुप्रसिद्ध न्याय ग्रन्थ प्रमाण मीमासा मे अर्थ के सम्यक् निर्णय को प्रमाण माना है। जैन तर्क भापा में उपाध्याय यशोविजय जी ने वादिदेव सूरि के लक्षण को ही स्वीकार कर लिया है। श्वेताम्वर आचार्यो ने प्रमाण-लक्षण का विकास किस प्रकार किया, यह मैंने आपको वताया। दिगम्वर परम्परा के आचार्यो ने भी इस विपय मे पर्याप्त चिन्तन किया है। 'परीक्षा-मुख' में उस ज्ञान को प्रमाण मान है, जो स्व और अपूर्व अर्थ का ग्राहक हो। यतिभूपण ने अपने 'न्याय-दीपिका' ग्रन्थ में सीधी भाषा मे सम्यक् ज्ञान को ही प्रमाण माना है। इस प्रकार जैनो की उभय परम्पराओ ने घूम फिर कर एक ही वात कही है, कि सम्यक्ज्ञान ही प्रमाण है। जैन-दर्शन के प्रमाण लक्षणो में सम्यक् ज्ञान को प्रमाण माना गया है। सवकी शब्दा-वली भिन्न होने पर भी सवका अभिप्राय एक ही है।

न्याय-शास्त्र मे प्रमाण का सामान्य लक्षण है—'प्रमा का करण।' प्रमा का करण ही प्रमाण है। प्रश्न उठ सकता है, कि प्रमा क्या है? इसके उत्तर मे यह कहा गया है, जो वस्तु जैसी है, उस वस्तु को वैसी ही समझना प्रमा है। रजत को रजत समझना प्रमा है, और शुक्ति को रजत समझ लेना अप्रमा है। करण का अर्थ है—साधकतम। एक कार्य की सिद्धि मे अनेक साधन हो सकते है, पर वे सव करण नही वन सकते। करण तो एक ही होता है। जिस व्यापार के तुरन्त वाद फल की प्राप्ति हो, वही करण होता है। न्याय-शास्त्र मे प्रमा के पूर्वक्षणवर्ती करण को ही वस्तुत प्रमाण कहते हैं। परन्तु प्रश्न उठता है, कि करण है क्या वस्तु? न्याय-दर्शन मे, जैसा कि मैं पहले आपको वता चुका हूं, सन्निकर्ष को प्रमा का करण माना है। वौद्ध दर्शन मे योग्यता को प्रमा का करण कहा है। जैन दर्शन मे ज्ञान ही प्रमा का करण है। सन्नि-कर्ष तथा योग्यता तो ज्ञान की सहकारी सामग्री है।

प्रमाण-शास्त्र के अनुसार प्रमाण का मौलिक फल है—अज्ञान की निवृत्ति, अनन्तर फल है—अभिमत वस्तु का स्वीकार, अनभिमत वस्तु

परिहार और तटस्थ उपेक्षा। जैनदर्शन में इन्ही को प्रमाण का फल माना है। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि ज्ञान को ही प्रमाण माना जाए। इसी आधार पर जैनदर्शन में यथार्थ ज्ञान को अर्थात् 'सम्यक् ज्ञान' को प्रमाण माना है।

प्रश्न होता है कि क्या ज्ञान और प्रमाण एक ही है? अथवा उनमे कुछ अन्तर भी है? उक्त प्रश्न के समाधान मे कहा गया है कि दोनो मे यही अन्तर है—ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य है। ज्ञान और प्रमाण मे व्याप्य-व्यापक भाव-सम्बन्ध है। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनो प्रकार का होता है। सम्यक् ज्ञान यथार्थ और संशय आदि मिथ्या ज्ञान अयथार्थ। परन्तु प्रमाण तो यथार्थ ज्ञान ही हो सकता है। अत समस्त जैन तार्किको ने अपने-अपने प्रमाणलक्षण मे किसी न किसी रूप मे यथार्थ अथवा सम्यक् ज्ञान को अवश्य ही रखा है। जैन दृष्टि से सम्यक् ज्ञान ही प्रमाण है।

जैनदर्शन मे आगम और तत्त्वार्थभाष्य के समय तक प्रमाण का लक्षण स्पष्ट और परिष्कृत नही हो पाया था। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने 'न्यायावतार-सूत्र' मे प्रमाण का स्पष्ट लक्षण देकर वस्तुत जैन प्रमाण-शास्त्र की आधार-शिला रखी। आचार्य समन्तभद्र ने जो अपने युग के एक समर्थ आचार्य थे उन्होने अपने ग्रन्थो मे आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के लक्षण का ही समर्थन किया। आगे चलकर अकलकदेव ने उसे तर्क की कसौटी पर कसा। फिर आचार्य माणिक्यनन्दी प्रभाचन्द्र वादिदेवसूरि हेमचन्द्र और मुनि धर्मभूषण ने अपने-अपने ग्रन्थो मे अपने-अपने ढग से उसका विश्लेषण किया। परन्तु उपाध्याय यशोविजय ने प्रमाण-लक्षण को नव्य-न्याय के नव्य आलोक मे पहुँचा दिया। आचार्य सिद्धसेन से प्रारम्भ होकर उपाध्याय यशोविजय तक प्रमाण का लक्षण अधिकाधिक स्पष्ट परिष्कृत और परिपुष्ट बनता गया। जैन तार्किको ने अपने प्रमाण शास्त्र की परिपुष्टि के साथ साथ बौद्ध और वैदिक तार्किको की ओर से उठने वाले तर्कों के तूफान का उत्तर भी दिया। आचार्य अकलकदेव प्रभाचन्द्र वादिदेवसूरि और आचार्य हेमचन्द्र इस दिशा मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। परन्तु उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञान बिन्दु जैनतर्क भाषा और नयोपदेश जैसे ग्रन्थ देकर जैनदर्शन को एक अपूर्व देन दी है। दर्शन और न्याय के क्षेत्र में उपाध्याय यशोविजय जो भी यह भावना का सदा आदर और सत्कार होता रहेगा।

मैंने आपके सामने प्रमाण के लक्षण के सम्बन्ध में मुख्य मुख्य बातें कही हैं, प्रमाण के सम्बन्ध में बहुत गहनता और सूक्ष्मता में उतरना यहाँ अभीष्ट नहीं है, किन्तु प्रमाण के सम्बन्ध में एक बात और जान लेना आवश्यक है, और वह है—प्रमाण का प्रमाणत्व। प्रमाण के द्वारा जिस वस्तु का जिस रूप में बोध होता है, उस वस्तु का उसी रूप में प्राप्त होना—प्रमाण का प्रमाणत्व है। तर्क शास्त्र में इसको प्रामाण्यवाद कहते हैं। प्रामाण्य का क्या लक्षण है? उक्त प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि प्रमाण के द्वारा प्रतिभात विषय का अव्यभिचारी होना, प्रामाण्य है। अथवा प्रमाण के धर्म को प्रामाण्य कहते हैं। प्रमाण का प्रमाणत्व क्या है? इस विषय में वादिदेवसूरि ने स्वप्रणीत 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' ग्रन्थ में कहा है—प्रमेय पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही जानना यही प्रमाण का प्रमाणत्व है। इसके विपरीत प्रमेय पदार्थ को अन्यथा रूप में जानना- यही प्रमाण का अप्रमाणत्व है। प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व का यह भेद बाह्य पदार्थ की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप को तो वास्तविक रूप में ही जानता है। स्वरूप की अपेक्षा सब ज्ञान प्रमाणरूप होते हैं। प्रमाण में प्रमाणत्व अथवा अप्रमाणत्व बाह्य पदार्थ की अपेक्षा से ही आता है। प्रमाण के प्रमाणत्व को निश्चय करने वाली कसौटी क्या है? इस विषय में जैनदर्शन का कथन है, कि प्रमाण के प्रमाणत्व का निश्चय कभी स्वतः होता है, कभी परतः होता है। अभ्यास-दशा में स्वतः होता है और अनभ्यास दशा में परतः होता है। मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी है। वह कहता है कि प्रत्येक ज्ञान प्रमाण रूप ही होता है। ज्ञान में जो अप्रामाण्य आता है, वह बाह्य दोष के कारण से आता है। मीमांसा दर्शन में प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वतः मानी गई है, और अप्रामाण्य की परतः। इसको तर्क शास्त्र में स्वतः प्रामाण्यवाद कहा जाता है। नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी है। वह कहता है, कि ज्ञान प्रमाण है अथवा अप्रमाण है? इसका निर्णय बाह्य पदार्थ के आधार पर ही किया जा सकता है। न्याय-दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की कसौटी बाह्य पदार्थ माना गया है। ज्ञान स्वतः न तो प्रमाण है और न अप्रमाण। यह परतः प्रामाण्यवाद है। सांख्य-दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः हैं। सांख्य की यह मान्यता नैयायिक के विपरीत है। क्योंकि नैयायिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः मानता है, जबकि सांख्यदर्शन दोनों को स्वतः मानता है। बौद्ध-

दर्शन मे प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनो को अवस्थाविशेष मे स्वतः और अवस्थाविशेष मे परतः माना गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रमाण व प्रमाणत्व को लेकर, विभिन्न दार्शनिकों मे विचार भेद एवं मतभेद रहा है।

प्रमाण के सम्बन्ध मे बहुत सी बातो पर विचार किया गया है, उनमे एक है प्रमाण की संख्या का विचार। प्रमाण की संख्या के विषय मे भी भारत के दार्शनिक एकमत नहीं हैं। चार्वाक दर्शन केवल एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है। वैशेषिक दर्शन मे दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष अनुमान। सांख्य दर्शन मे तीन प्रमाण हैं प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द। न्याय-दर्शन मे चार प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द। प्रभाकर मीमांसा दर्शन मे पाँच प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द और अर्थापत्ति। भट्ट मीमांसा दर्शन मे छह प्रमाण हैं—पूर्वोक्त पाँच और छठा अभाव। बौद्ध दर्शन मे दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान।

जैन दर्शन मे प्रमाणो की संख्या के विषय में तीन मत हैं—कहीं पर चार प्रमाण स्वीकार किए गए हैं कहीं पर तीन प्रमाण माने गए हैं और कहीं पर दो प्रमाण ही कहे गए हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र मे चार प्रमाणो का उल्लेख है—प्रत्यक्ष अनुमान आगम और उपमान। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर प्रणीत न्यायावतार सूत्र मे तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष अनुमान और आगम। आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थ सूत्र मे दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जैनदर्शन के ग्रन्थो मे प्रमाण का विभाजन और वर्गीकरण विविध प्रकार से किया गया है। आगमकाल के जैनदर्शन के ग्रन्थो मे प्रमाण के जो चार और तीन भेदो का वर्णन है यह स्पष्ट है कि उस पर न्याय और सांख्य दर्शन का प्रभाव है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रमाणो के सम्बन्ध मे जैनो का अपना कोई मौलिक विचार न हो। जैनदर्शन के अधिकांश ग्रन्थो मे प्रमाण के दो भेद किए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। उक्त भेदो मे प्रमाण के समग्र भेद समाहित हो जाते हैं। अन्य किसी भी दर्शन मे प्रमाण का इस प्रकार वर्गीकरण और विभाजन नहीं किया गया है। उक्त दो भेदो मे तर्कशास्त्र सम्मत सभी भेद और उपभेदो को समाहित किया गया है। सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि जैन दर्शन के

नुसार प्रत्यक्ष और परोक्ष की क्या परिभाषा की गई है? मुख्य रूप से प्रत्यक्ष का लक्षण सरल रूप में कहा गया है, कि जो ज्ञान आत्म-मात्र सापेक्ष है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। और जो ज्ञान इन्द्रिय और मन सापेक्ष होता है, उसे परोक्ष कहा गया है। प्रत्यक्ष के भी दो भेद किए गए हैं—सकलप्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। सकल प्रत्यक्ष में केवलज्ञान को माना गया है और विकल प्रत्यक्ष में अवधि ज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान को माना गया है।

दार्शनिक जगत में प्रायः सभी ने एक ऐसे प्रत्यक्ष को स्वीकार किया है जो लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न हो। शास्त्रीय भाषा में इसे अलौकिक प्रत्यक्ष तथा योगि-प्रत्यक्ष कहा गया है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि आत्मा में एक अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव है। जैन दर्शन में आत्ममात्रसापेक्ष एवं अतीन्द्रिय ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया है। जिस प्रकार दूसरे दर्शनों में अलौकिक प्रत्यक्ष के परचित्त ज्ञान एवं कैवल्य ज्ञान आदि रूप से भेद पाए जाते हैं, उसी प्रकार जैन दर्शन में बहुत ही अधिक स्पष्ट रूप में आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान में अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान का कथन किया गया है। इसका अर्थ इतना ही है कि जैनदर्शन में प्रत्यक्ष के अवधि आदि तीन भेद किए गए हैं और आगे चल कर फिर प्रत्यक्ष के दो भेद किए गए—सकल और विकल। भले ही सकल और विकल भेद प्रत्यक्ष के किए गए हों, किन्तु इन तीनों में प्रत्यक्षत्व इस आधार पर है, कि इन तीनों ज्ञानों में इन्द्रिय-व्यापार और मनोव्यापार की आवश्यकता नहीं रहती। कुछ जैन-तर्क ग्रन्थों में लोक सम्मत प्रत्यक्ष को समाहित करने के लिए प्रत्यक्ष के दो भेद किए हैं—पारमार्थिक प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सापेक्ष और मन सापेक्ष ज्ञान को कहते हैं। वस्तुतः यह प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु व्यवहार मात्र के लिए इसे प्रत्यक्ष कहा गया है। परमार्थ-दृष्टि से तो आत्ममात्रसापेक्ष अवधि, मनःपर्याय और केवल—यह तीन ज्ञान ही पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण का दूसरा भेद परोक्ष है। यद्यपि बौद्ध तार्किकों ने परोक्ष शब्द का प्रयोग अनुमान के विषयभूत अर्थ में किया है, क्योंकि उन्होंने दो प्रकार का अर्थ माना है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष तो साक्षात् क्रियमाण है और परोक्ष उससे भिन्न। परन्तु जैन दर्शन में परोक्ष शब्द का प्रयोग परापेक्ष ज्ञान में ही होता रहा है। प्रत्यक्षता और परोक्षता वस्तुतः ज्ञान-

निष्ठ धर्म है। ज्ञान के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष होने पर ही अर्थ भी उपचार से प्रत्यक्ष और परोक्ष कहा जाता है। मैं यह अवश्य कहूँगा कि जैनदर्शन में प्रयुक्त परोक्ष शब्द का व्यवहार और उसकी परिभाषा दूसरों को कुछ विलक्षण सी प्रतीत होती है परन्तु वह इतनी स्पष्ट और यथार्थ है कि सहज में ही उसका आर्थिक बोध हो जाता है। एक बात और है परोक्ष की जैन दर्शन-सम्मत परिभाषा विलक्षण इसलिए भी प्रतीत होती है कि लोक में इन्द्रिय इन्द्रिय व्यापार से सहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है और इन्द्रिय व्यापार से रहित ज्ञान को परोक्ष। वास्तव में परोक्ष शब्द से यह अर्थ ध्वनित भी होता है। अतः आचार्य अकलंक देव ने परोक्ष की एक दूसरी परिभाषा रखी है और कहा है कि अविशद ज्ञान ही परोक्ष है। ऐसा जान पड़ता है कि आचार्य अकलंक देव का यह प्रयत्न सिद्धान्त पक्ष का लोक के साथ समन्वय करने की दृष्टि से हुआ है। उत्तर काल के समस्त आचार्यों ने आगे चलकर परोक्ष के इसी लक्षण को अपनाया और अपने अपने ग्रन्थों में प्रकारान्तर और शब्दान्तर से व्याख्यान किया। एक बात यहाँ पर और जान लेनी चाहिए कि आचार्य अकलंक देव से पूर्ववर्ती जिन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में परोक्ष प्रमाण का निरूपण किया है उनमें आचार्य कुन्द कुन्द और वाचक उमास्वाति मुख्य हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने परोक्ष का लक्षण तो कर दिया परन्तु उसके भेदों का कोई निर्देश नहीं किया। वाचक उमास्वाति ने स्वप्रणीत तत्त्वार्थ सूत्र और उसके भाष्य में परोक्ष के भेदों का भी कथन स्पष्टतया किया है। वाचक उमास्वाति ने परोक्ष के दो भेद किए हैं मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थ सिद्धि में उसमें अनुमान आदि प्रमाण का परोक्ष में अन्तर्भाव किया। आचार्य वादिदेव सूरि ने स्वप्रणीत 'प्रमाणनय तत्त्वालोक' में परोक्ष का स्पष्ट लक्षण करते हुए विस्तार के साथ उसके भेदों का भी कथन किया है। परोक्ष प्रमाण के कितने भेद हैं ? इस प्रश्न का उत्तर एक प्रकार से नहीं दिया जा सकता। कहीं पर परोक्ष प्रमाण के दो भेद किए गए हैं—अनुमान और आगम। और कहीं पर परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद किए गए हैं—स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान और आगम। इन सभी ने निर्विवाद रूप से परोक्ष प्रमाण स्वीकार किया है। परोक्ष प्रमाण के उक्त भेदों में सभी भेद और उपभेद समाहित हो जाते हैं।

स्मृति का अर्थ है—जिस ज्ञान को पहले कभी अनुभवात्मक था और निमित्त मिलने पर जिसका स्मरण होता है। यद्यपि अनु

भूतार्थ विषयक ज्ञान के रूप मे स्मृति को सभी दर्शनो ने स्वीकार किया है, परन्तु उसे प्रमाण नही माना गया। जैन दर्शन स्मृति को भी प्रमाण मानता है। स्मृति को प्रमाण न मानने वालो का सामान्यतया कथन यही है, कि स्मृति अनुभव के द्वारा गृहीत विषय मे ही प्रवृत्त होती है, इसलिए गृहीत ग्राही होने से वह प्रमाण नही है। न्याय और वैशेषिक तथा मीमासक और बौद्ध गृहीतग्राही को प्रमाण नही मानते है। जैनदार्शनिको का कथन है, कि किसी भी ज्ञान के प्रामाण्य मे प्रयोजक अविसवाद होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष से जाने हुए अर्थ मे विसवाद न होने से वह प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार स्मृति से जाने हुए अर्थ मे भी किसी प्रकार का विसवाद नही होता। अत स्मृति को प्रमाण मानने मे किसी प्रकार की बाधा नही आती। और जहा स्मृति मे विसवाद आता है, वहा वह स्मृति न होकर स्मृत्याभास होती है। स्मृत्याभास को हम प्रमाण नही मानते। दूसरे विस्मरणादि रूप अज्ञान का वह व्यवच्छेद करती है, इसलिए भी स्मृति प्रमाण है। तीसरे अनुभव तो वर्तमान अर्थ को ही विषय करता है और स्मृति अनुभूत अर्थ को अतीत रूप से विषय करती है, अत इस अर्थ मे स्मृति अगृहीत-ग्राही होने से भी प्रमाण रूप है। उसे अप्रमाण नही कहा जा सकता।

परोक्ष प्रमाण का दूसरा भेद है—प्रत्यभिज्ञान। पूर्वोत्तरविवत-वर्ती वस्तु को विषय करने वाले ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। बौद्ध प्रत्येक वस्तु को क्षणिक मानते हैं, अत क्षणिकवादी होने के नाते वे प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नही मानते। उनका कथन है कि पूर्व और उत्तर अवस्थाओ मे रहने वाला जब कोई एकत्व ही नही है, तब उसको विषय करने वाला एक ज्ञान कैसे हो सकता है? यह वही है—यह ज्ञान सादृश्य विषयक हैं। क्योकि भूत काल की अनुभूत वस्तु तो उसी क्षण नष्ट हो गई, और अब वर्तमान मे जो वस्तु है, वह उसके सदृश अन्य ही वस्तु है। अत प्रत्यभिज्ञान उस भूतकाल की वस्तु का वर्तमान मे नही देखता, अपितु उसके सदृश अन्य वस्तु को ही जान रहा है। अथवा वह प्रत्यक्ष और स्मरण रूप दो ज्ञानो का समुच्चय है। 'यह' इस अश को विषय करने वाला ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और 'वही' इस अश को विषय करने वाला स्मरण है। इस प्रकार वह एक ज्ञान नही, बल्कि दो ज्ञान हैं। बौद्ध दार्शनिक प्रत्यभिज्ञान को एक ज्ञान मानने को तैय्यार नही हैं। इसके विपरीत नैयायिक, वैशेषिक और मीमासक एकत्व-विषयक प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानते है। पर वे उस ज्ञान को स्वतन्त्र

एवं परोक्ष प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन का कथन है कि प्रत्यभिज्ञान न तो बौद्धों के समान अप्रमाण है और न नैयायिक वैशेषिक आदि के समान प्रत्यक्ष ही है। किन्तु यह प्रत्यक्ष और स्मृति के अनन्तर उत्पन्न होने वाला तथा अपनी पूर्व तथा उत्तर पर्यायों में रहने वाले एकत्व एवं सादृश्य आदि को विषय करने वाला स्वतन्त्र ही परोक्ष प्रमाण विशेष है। प्रत्यक्ष तो मात्र वर्तमान पर्याय को ही विषय करता है और स्मरण अतीत-पर्याय को ग्रहण करता है परन्तु प्रत्यभिज्ञान एक ऐसा प्रमाण है जो उभय पर्यायवर्ती एकत्वादि का विषय करने वाला सकलनात्मक ज्ञान है। यदि पूर्वोत्तर पर्यायव्यापी एकत्व का अपलाप किया जाएगा तो कहीं भी एकत्व का प्रत्यय न होने से एक सन्तान की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञान का विषय एकत्वादि वास्तविक होने से वह प्रमाण ही है अप्रमाण नहीं। प्रत्यभिज्ञान के अनेक भेद जैन दर्शन के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं जैसे—एकत्व प्रत्यभिज्ञान सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदि। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान को जैन दर्शन में प्रमाण माना है अप्रमाण नहीं। जहाँ तक उसके भेद और उपभेदों का प्रश्न है वहाँ कुछ विचार भेद अवश्य हो सकता है परन्तु इस विषय में किसी प्रकार का विवाद एवं विचार भेद नहीं है कि प्रत्यभिज्ञान एक परोक्ष प्रमाण है।

परोक्ष प्रमाण का तीसरा भेद है तर्क। साधारणतया विचार विशेष को तर्क कहा जाता है। चिन्ता ऊहा ऊहापोह आदि इसके पर्यायवाची शब्द हैं। तर्क को प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। तर्क के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्बन्ध में न्याय दर्शन का अभिमत है कि तर्क न तो प्रत्यक्षादि प्रमाण चतुष्टय के अन्तर्गत कोई प्रमाण है और न प्रमाणान्तर क्योंकि वह अपरिच्छेदक है किन्तु परिच्छेदक प्रमाणों के विषय का विभाजन होने से वह उनका अनुग्राहक है—सहकारी है। नैयायिक का कथन है कि प्रमाण से जाना हुआ पदार्थ तर्क के द्वारा परिपुष्ट होता है। प्रमाण जहाँ पदार्थों को जानते हैं वहाँ तर्क उनका पोषण करके उनकी प्रमाणता को स्थिर करने में सहायता देता है। यही कारण है कि न्याय दर्शन में तर्क को सभी प्रमाणों के सहायक रूप में माना गया है। किन्तु उत्तरकालवर्ती आचार्य उदयन ने और उपाध्याय वर्द्धमान आदि ने विशेषतः अनुमान प्रमाण में ही व्याप्ति

मैंने आपसे प्रमाण के सम्बन्ध में संक्षेप में किन्तु स्पष्ट विचार-चर्चा की है। प्रमाण के भेद और उपभेदों में अधिक गहरा उतरना और उनकी विस्तार में चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। इसका गम्भीर विचार तर्क शास्त्र में विस्तार के साथ किया गया है। यहाँ तो केवल इतना बतलाना ही अभीष्ट है, कि जैन दर्शन में प्रमाण की जो स्थिति है, उसका क्या स्वरूप है और उसके मुख्य-मुख्य भेद कितने हैं? आगमों में अनेक स्थलों पर प्रमाण की गम्भीर विचारणा की गई है। आगमोत्तर साहित्य के ग्रन्थों में, जो विशेष रूप से तर्क-शास्त्र से सम्बद्ध हैं, तर्क शैली के आधार पर प्रमाण के स्वरूप पर गम्भीरता और विस्तार के साथ विचार किया गया है।

प्रमाण के स्वरूप को और उसके प्रमुख भेदों को जान लेने के बाद एक प्रश्न उपस्थित यह होता है, कि प्रमाण का फल क्या है? प्रत्येक व्यक्ति क्रियमाण क्रिया के फल को जानने की अभिलाषा रखता है। प्रमाण भी एक बोधरूप क्रिया है। उसका फल क्या है? यह एक सहज जिज्ञासा है, जो प्रत्येक व्यक्ति के मानस में उठती रहती है। प्रमाण के फल के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों का क्या दृष्टिकोण रहा है, और वे प्रमाण के फल को किस रूप में स्वीकार करते है, यह विषय भी बड़ा ही रोचक और महत्वपूर्ण है। प्रमाण के फल के सम्बन्ध में जो कुछ विचार विभिन्न ग्रन्थों में उपनिबद्ध है, उसका सार इस प्रकार है

प्रमाण का मुख्य फल एवं प्रयोजन अज्ञान-निवृत्ति है, अर्थ-प्रकाश है। किसी भी पदार्थ का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए एवं पदार्थ-सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति के लिए प्रमाण की आवश्यकता है। प्रमाण के अभाव में वस्तु का परिबोध नहीं हो सकता। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि प्रमाण का फल अज्ञान का नाश ही है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने 'न्यायावतार' ग्रन्थ में प्रमाण के फल का कथन करते हुए कहा है, कि प्रमाण का साक्षात फल अज्ञान-निवृत्ति ही है। अज्ञान-निवृत्ति के अनन्तर होने वाले परम्परा फल के रूप में केवलज्ञान का फल सुख और उपेक्षा है। शेष चार ज्ञानों का फल ग्रहण-बुद्धि और त्याग-बुद्धि है। सामान्य रूप से प्रमाण का फल इतना ही है कि उसके रहते अज्ञान नहीं रहने पाता। जिस प्रकार सूर्य के आकाश में स्थित होने पर अन्धकार का नाश हो जाता है, अन्धकार कहीं ठहर नहीं पाता, उसी प्रकार प्रमाण से अज्ञान का विनाश हो जाता है। इस अज्ञान-नाश का किसके

साध्य का ज्ञान होता है वही अनुमान है। यदि हेतु साध्य के साथ अविनाभूत नहीं है तो वह साध्य का अनुमापक नहीं हो सकता है। और यदि वह साध्य का अविनाभावी है तो वह नियम से साध्य का ज्ञान कराएगा। इसी आधार पर जैन तार्किकों ने त्रिरूप या पञ्च रूप लिङ्ग से जनित ज्ञान को अनुमान न कहकर अविनाभावी साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा है। कल्पना कीजिए एक व्यक्ति कहीं यात्रा करते हुए जा रहा है उसने दूर पर किसी पर्वत पर धूम उठता हुआ देखा। धूम को प्रत्यक्ष देखकर वह अनुमान करता है कि उस पर्वत पर धूम है अत वहाँ पर अग्नि भी होनी चाहिए। क्योंकि धूम बिना अग्नि के कभी नहीं होता है। इस प्रकार धूम रूप साधन से अग्नि रूप साध्य का ज्ञान करना अनुमान है। साधन से साध्य का ज्ञान जब स्वयं के लिए किया जाता है तब वह स्वार्थानुमान कहलाता है और जब वह किसी दूसरे को कराया जाता है तब वह परार्थानुमान कहा जाता है। जैनदर्शन के अनुसार अनुमान प्रमाण होते हुए भी वह परोक्ष प्रमाण है। सभी दार्शनिक अनुमान को परोक्ष प्रमाण मानते हैं इसमें किसी भी प्रकार का विचार भेद नहीं है

परोक्ष प्रमाण का पाँचवाँ भेद है—आगम। न्याय-शास्त्र में आगम प्रमाण को शब्द प्रमाण भी कहा जाता है। आगम प्रमाण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि आप्त पुरुष के वचन से आविर्भूत होने वाला अर्थ-संवेदन आगम है। आप्त-पुरुष कौन होता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि जो तत्त्व को यथावस्थित जानने वाला हो और जो तत्त्व का यथावस्थित निरूपण करने वाला हो वह आप्तपुरुष है। राग एवं द्वेष आदि दोषों से रहित पुरुष ही आप्त हो सकता है क्योंकि वह कभी विसंवादी और मिथ्यावादी नहीं होता है। जो व्यक्ति विसंवादी अथवा मिथ्यावादी होता है उसे आप्त पुरुष नहीं कहा जा सकता। जैन दर्शन में कहा गया है कि आप्त पुरुष के वचनों से होने वाला ज्ञान आगम प्रमाण कहलाता है। जब हम ज्ञान को प्रमाण कहते हैं तब उस आप्त पुरुष के जड़ वचन को प्रमाण कैसे कह सकते हैं? इसके उत्तर में कहा गया है कि उपचार से आप्त के वचनों को प्रमाण कहते हैं। निश्चय में तो आप्तवचनों के श्रवण या अध्ययन से होने वाला ज्ञान ही आगम प्रमाण है। आप्त-पुरुष के दो भेद हैं—लौकिक और लोकोत्तर। सत्य वक्ता साधारण व्यक्ति लौकिक आप्त होता है और तीर्थंकर आदि विशिष्ट व्यक्ति लोकोत्तर आप्त होते हैं।

मैंने आपसे प्रमाण के सम्बन्ध मे सक्षेप मे किन्तु स्पष्ट विचार-चर्चा की है। प्रमाण के भेद और उपभेदो मे अधिक गहरा उतरना और उसकी विस्तार मे चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नही है। इसका गम्भीर विचार तर्क शास्त्र मे विस्तार के साथ किया गया है। यहाँ तो केवल इतना बतलाना ही अभीष्ट है, कि जैन दर्शन मे प्रमाण की जो स्थिति है, उसका क्या स्वरूप है और उसके मुख्य-मुख्य भेद कितने हैं? आगमो मे अनेक स्थलो पर प्रमाण की गम्भीर विचारणा की गई है। आगमोत्तर साहित्य के ग्रन्थो मे, जो विशेष रूप से तर्क-शास्त्र से सम्बद्ध हैं, तर्क शैली के आधार पर प्रमाण के स्वरूप पर गम्भीरता और विस्तार के साथ विचार किया गया है।

प्रमाण के स्वरूप को और उसके प्रमुख भेदो को जान लेने के बाद एक प्रश्न उपस्थित यह होता है, कि प्रमाण का फल क्या है? प्रत्येक व्यक्ति क्रियमाण क्रिया के फल को जानने की अभिलाषा रखता है। प्रमाण भी एक बोधरूप क्रिया है। उसका फल क्या है? यह एक सहज जिज्ञासा है, जो प्रत्येक व्यक्ति के मानस मे उठती रहती है। प्रमाण के फल के सम्बन्ध मे जैन दार्शनिको का क्या दृष्टिकोण रहा है, और वे प्रमाण के फल को किस रूप मे स्वीकार करते हैं, यह विषय भी बडा ही रोचक और महत्वपूर्ण है। प्रमाण के फल के सम्बन्ध मे जो कुछ विचार विभिन्न ग्रन्थो मे उपनिबद्ध हैं, उसका सार इस प्रकार है

प्रमाण का मुख्य फल एव प्रयोजन अज्ञान-निवृत्ति है, अर्थ-प्रकाश है। किसी भी पदार्थ का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए एव पदार्थ-सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति के लिए प्रमाण की आवश्यकता है। प्रमाण के अभाव मे वस्तु का परिबोध नही हो सकता। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि प्रमाण का फल अज्ञान का नाश ही है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने 'न्यायावतार' ग्रन्थ मे प्रमाण के फल का कथन करते हुए कहा है, कि प्रमाण का साक्षात। फल अज्ञान-निवृत्ति ही है। अज्ञान-निवृत्ति के अनन्तर होने वाले परम्परा फल के रूप मे केवलज्ञान का फल सुख और उपेक्षा है। शेष चार ज्ञानो का फल ग्रहण-बुद्धि और त्याग-बुद्धि है। सामान्य रूप मे प्रमाण का फल इतना ही है कि उसके रहते अज्ञान नही रहने पाता। जिस प्रकार सूर्य के आकाश मे स्थित होने पर अन्धकार का नाश हो जाता है, अन्धकार कही ठहर नही पाता, उसी प्रकार प्रमाण से अज्ञान का विनाश हो जाता है। इस अज्ञान-नाश का किसके

लिए क्या फल है, इसे स्पष्ट करने लिए बताया गया है कि जिस व्यक्ति को केवल ज्ञान हो जाता है उसके लिए अज्ञान-नाश का यही फल है कि उसे आध्यात्मिक सुख एवं आनन्द प्राप्त हो जाता है और जगत के पदार्थों के प्रति उसका उपेक्षा भाव रहता है। दूसरे लोगों के लिए अर्थात् छद्मस्थ जीवों के लिए अज्ञान नाश का फल ग्रहण और त्याग रूप बुद्धि का उत्पन्न होना है। निर्दोष वस्तु को ग्रहण करना और सदोष वस्तु का परित्याग करना। हेय को छोड़ना और उपादेय को ग्रहण करना। इस प्रकार का विवेक अज्ञान के विनाश से ही हो सकता है। यही विवेक सत् कार्य में प्रवृत्ति की प्रेरणा देने के साथ-साथ असत् कार्य से हटने की भी प्रेरणा देता है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रमाण का यह फल ज्ञान से भिन्न नहीं है। पूर्वकाल भावी ज्ञान उत्तर काल भावी ज्ञान के लिए प्रमाण है और उत्तर काल भावी ज्ञान पूर्वकाल भावी ज्ञान का फल है। इस प्रकार प्रमाण और उसके फल की यह परम्परा उत्तरोत्तर चलती ही रहती है।

प्रमाण के सम्बन्ध में जो कुछ मुझे कहना था संक्षेप में मैं उसका कथन कर चुका हूँ। मैंने आपको प्रारम्भ में ही यह बतलाने का प्रयत्न किया था कि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु का और प्रत्येक पदार्थ का अधिगम प्रमाण और नय से होता है। वस्तु जड़ हो अथवा चेतन उसके वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान प्रमाण और नय के अभाव में नहीं हो सकता। अतः प्रमाण और नय वस्तु-विज्ञान के लिए परमावश्यक साधन हैं।

★

३

नय-वाद

* * *

भगवान महावीर ने आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप-निरूपण के अवसर पर कभी मौन धारण नही किया। जब कभी कोई जिज्ञासु उनके समीप आया और उसने आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध मे कोई प्रश्न पूछा, तब भगवान ने अनेकान्त दृष्टि के आधार पर उसके प्रश्न का समाधान करने का सफल प्रयत्न किया है। जबकि भगवान महावीर के समकालीन तथागत बुद्ध ने इस प्रकार के प्रश्नो को अव्याकृत कोटि मे डाल दिया था। भगवान् महावीर के युग के प्रचलित वादो का अध्ययन जब कभी हम प्राचीन साहित्य का अनुशीलन करते समय करते हैं, तब ज्ञात होता है, कि एक आत्मा के सम्बन्ध मे ही किस प्रकार की विभिन्न धारणाएँ उस युग मे थी। आत्मा के सम्बन्ध मे इस प्रकार के विभिन्न विकल्प उस समय प्रचलित थे—आत्मा है भी, नही भी, नित्य भी, अनित्य भी, कर्ता भी और अकर्ता भी आदि-आदि। भगवान महावीर ने अपनी अनेकान्तमयी और अहिंसामयी दृष्टि से अपने युग के विभिन्न

वादों का समन्वय करने का सफल प्रयत्न किया था। भगवान महावीर ने कहा—स्वस्वरूप से आत्मा है, परस्वरूप से आत्मा नहीं है। द्रव्य-दृष्टि से आत्मा नित्य है और पर्याय-दृष्टि से आत्मा अनित्य है। द्रव्य-दृष्टि से आत्मा अकर्ता है और पर्याय दृष्टि से आत्मा कर्ता भी है। वस्तुतः वस्तु-स्वरूप के प्रतिपादन की यह उदार दृष्टि ही अनेकान्तवाद है। इस अनेकान्त दृष्टि का और अनेकान्तवाद का जब हम भाषा के माध्यम से कथन करते हैं, तब उस भाषा-प्रयोग को स्याद्वाद और सप्तभंगी कहा जाता है। अनेकान्तवाद का आधार है, सप्त नय। और सप्तभंगी का आधार है—सप्तभंग एवं सप्तविकल्प। भगवान महावीर ने अनेकान्त-दृष्टि और स्याद्वाद की भाषा का आविष्कार करके दार्शनिक जगत की विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया था। यही कारण है, कि भगवान महावीर की यह अहिंसा मूलक अनेकान्त दृष्टि और अहिंसा मूलक सप्तभंगी जैन दर्शन की आधार-शिला है। भगवान महावीर के पश्चात् विभिन्न युगों में होने वाले जैन आचार्यों ने समय-समय पर अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की युगानुकूल व्याख्या करके उसे पल्लवित और पुष्पित किया है। इस क्षेत्र में सबसे अधिक और सबसे पहले अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को विशद रूप देने का प्रयत्न आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने तथा आचार्य समन्तभद्र ने किया था। उक्त दोनों आचार्यों ने अपने-अपने युग में उपस्थित होने वाले समस्त दार्शनिक प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न किया। आचार्य सिद्धसेन ने अपने 'सन्मतितर्क' नामक ग्रंथ में सप्त नयों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है? जबकि आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'आप्त-मीमांसा' ग्रन्थ में सप्तभंगी का सूक्ष्म विश्लेषण और विवेचन किया है। मध्य युग में इसी कार्य को आचार्य हरिभद्र और आचार्य अकलंक देव ने आगे बढ़ाया। नव्यन्याय युग में वाचक यशोविजय जी ने अनेकान्तवाद और स्याद्वाद पर नव्य न्याय शैली में तर्क ग्रन्थ लिखकर दोनों सिद्धान्तों को अजेय बनाने का सफल प्रयत्न किया है। भगवान महावीर से प्राप्त मूल दृष्टि को उत्तरकाल के आचार्यों ने अपने युग की समस्याओं का समाधान करते हुए विकसित किया है।

भगवान महावीर के अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को समझने के लिए नयवाद और सप्तभंगीवाद को समझना आवश्यक है। मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ कि अनन्त-धर्मात्मक वस्तु के स्वरूप

को समझने के लिए प्रमाण और नय दोनो को जानना आवश्यक है। प्रमाण की चर्चा मैं कर चुका हूँ। यहाँ पर सप्त नयो की चर्चा करनी ही अभीष्ट है। नय क्या वस्तु है और नय-ज्ञान से क्या लाभ है? यह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रश्न है। नयो को समझने के लिए यह आवश्यक है, कि उसके मूल स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया जाए। सामान्यतया इस जगत मे विचार-व्यवहार तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी। एक व्यक्ति अपने ज्ञान की सीमा मे ही किसी भी वस्तु पर विचार कर सकता है। उसका जितना ज्ञान होगा, उतना ही वह उस वस्तु के स्वरूप को समझ सकेगा। यह ज्ञानाश्रयी पक्ष वस्तु का प्रतिपादन विचार प्रधान दृष्टि से करता है। अर्थाश्रयी अर्थ का विचार करते हैं। अर्थ में जहाँ एक ओर एक, नित्य और व्यापी रूप से चरम अभेद की कल्पना की जाती है, तो वहाँ दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्व की दृष्टि से अन्तिम भेद की कल्पना भी की जाती है। तीसरी कल्पना इन दोनो चरम कोटियो के मध्य की है। पहली कोटि में सर्वथा अभेद—एकत्व स्वीकार करने वाले अद्वैतवादी हैं, तो दूसरी ओर वस्तु की सूक्ष्म तम वर्तमान क्षणिक अर्थ पर्याय के ऊपर दृष्टि रखने वाले क्षणिक वादी बौद्ध हैं। तीसरी कोटि मे पदार्थ को नाना रूप से व्यवहार मे लाने वाले नैयायिक एव वैशेषिक आदि हैं। शब्दाश्रयी लोग भाषा-शास्त्री होते हैं, जो अर्थ की ओर ध्यान न देकर केवल शब्द की ओर ही विशेष ध्यान देते हैं। इनका कहना है कि भिन्न काल वाचक, भिन्न कारको मे निष्पन्न, भिन्न वचन वाले, भिन्न पर्यायवाचक और भिन्न क्रिया-वाचक शब्द एक अर्थ को नही कह सकते। इनके कथन का तात्पर्य यह है कि जहाँ शब्दभेद होता है, वहाँ अर्थभेद होना ही चाहिए। मैं आपसे कह रहा था कि इस प्रकार ज्ञान, अर्थ और शब्द का आधार लेकर प्रयुक्त होने वाले विचारों के समन्वय के लिए, जिन नियमो का प्रतिपादन किया गया है, उन्हे नय, अपेक्षा-दृष्टि और दृष्टिकोण कहा जाता है। नय एक प्रकार का विचार ही है।

ज्ञानाश्रित व्यवहार का सकल्प मात्र अर्थात् विचारमात्र को ग्रहण करने वाले नैगम नय मे समावेश किया जाता है। अर्थाश्रित अभेद व्यवहार का सग्रह नय मे अन्तर्भाव किया गया है। न्याय एव वैशेषिक आदि दर्शन के विचारो का व्यवहार नय मे समावेश किया गया है। क्षणिकवादी बौद्ध विचार को ऋजुसूत्र नय मे आत्मसात्

किया गया है। यहाँ तक अर्थ को सामने रख कर भेद एवं अभेद पर विचार किया गया है। इससे आगे शब्द शास्त्र का विषय आता है। काल, कारक संख्या और क्रिया के साथ लगने वाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदि की दृष्टि से प्रयुक्त होने वाले शब्दों के वाच्य (अर्थ) भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार कारक एवं काल आदि वाचक शब्द-भेद से अर्थ भेद ग्रहण करने वाली दृष्टि का शब्द-नय में समावेश किया गया है। एक ही साधन से निष्पन्न तथा एक कालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। इन पर्यायवाची शब्दों से भी अर्थ भेद मानने वाली दृष्टि समभिरूढ नय है। एवम्भूत नय कहता है, कि जिस समय जो अर्थ क्रिया में परिणत हो उसी समय उसमें उस क्रिया से निष्पन्न शब्द का प्रयोग होना चाहिए। इसकी दृष्टि में सभी शब्द क्रिया से निष्पन्न हैं। गुणवाचक 'शुक्ल' शब्द शुचिभवन रूप क्रिया से जातिवाचक 'अश्व' शब्द आशुगमन रूप क्रिया से क्रियावाचक 'चलति' शब्द चलने रूप क्रिया से नाम वाचक शब्द देवदत्त आदि भी देव ने इसको दिया इस क्रिया से निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार ज्ञान अर्थ और शब्दरूप से होने वाले व्यवहारों का समन्वय इन सप्तनयों में किया गया है। सप्त नयों में प्रत्येक दृष्टि जब तक अपने स्वरूप का प्रतिपादन करती है तब तक वह सुनय कहलाती है, परन्तु जब वह अपने स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए दूसरी दृष्टि का विरोध करती है, तब उसे दुर्नय कहा जाता है। नयों का एक अन्य प्रकार से भी प्रतिपादन किया गया है—अभेदग्राही दृष्टि और भेदग्राही दृष्टि। अभेदग्राही दृष्टि द्रव्य प्रधान होती है और भेदग्राही दृष्टि पर्याय प्रधान होती है। इस दृष्टि से मूल में नय के दो भेद होते हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। जितने भी प्रकार के नय हैं, उन सबका समावेश इन दो नयों में हो जाता है। इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि सामान्य अभेद एवं एकत्व को ग्रहण करने वाली दृष्टि द्रव्यार्थिक नय है। और विशेष भेद तथा अनेकत्व को ग्रहण करने वाली दृष्टि पर्यायार्थिक नय है। पहली एकत्व को ग्रहण करती है, तो दूसरी अनेकत्व को। एक दूसरे प्रकार से भी इस विषय पर विचार किया गया है। श्रुत के दो भेद हैं—सकलादेश और विकलादेश। सकलादेश को प्रमाण कहते हैं, क्योंकि इससे वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान होता है। विकलादेश को नय कहते हैं, क्योंकि इससे अनन्तधर्मात्मक वस्तु के किसी एक अंश का ही बोध होता है।

अभी तक मैंने आपको यह बतलाने का प्रयत्न किया कि नयवाद की पृष्ठभूमि क्या है और उसकी आवश्यकता क्यों है ? यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि बिना नयवाद के वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझा नहीं जा सकता। मुख्य प्रश्न यह है, कि नय क्या वस्तु है ? उसका लक्षण क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? और उसकी परिभाषा क्या है ? उक्त प्रश्नों के उत्तर में कहा गया है, कि प्रमाण से गृहीत अनन्तधर्मात्मक वस्तु के किसी भी एक धर्म का मुख्य रूप से ज्ञान होना, नय है। नय की परिभाषा करते हुए यह भी कहा गया है, किसी भी विषय के सापेक्ष निरूपण को नय कहा जाता है। किसी एक ही वस्तु के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मनुष्यों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं। ये दृष्टिकोण ही नय हैं—यदि वे परस्पर सापेक्ष हैं, तो। विभिन्न विचारों के वर्गीकरण को भी नय कहा जाता है अथवा विचारों की मीमांसा को नय कह सकते हैं। एक विद्वान ने यह कहा है कि—परस्पर विरुद्ध विचारों में समन्वय स्थापित करने वाली दृष्टि को नय कहा जाता है। नयों के स्वरूप के प्रतिपादन से पूर्व यह जान लेना भी आवश्यक है, कि नयों की सीमा और परिधि क्या है ? नैगम नय का विषय सबसे अधिक विशाल है, क्योंकि वह सामान्य और विशेष दोनों को ग्रहण करता है। संग्रहनय केवल सामान्य को ग्रहण करता है। अतः इसका विषय नैगम से कम है। व्यवहार नय का विषय संग्रह से भी कम है, क्योंकि यह संग्रहनय से संगृहीत वस्तुओं में व्यवहार के लिए भेद डालता है। ऋजुसूत्र नय भूतकाल और भविष्य काल को छोड़कर केवल वर्तमान काल की पर्याय को ही ग्रहण करता है। शब्द-नय वर्तमान काल में भी लिङ्ग, संख्या और कारक आदि के कारण भेद डाल देता है। समभिरूढ नय व्युत्पत्ति के भेद के कारण वाच्यभेद को स्वीकार करके चलता है। एवम्भूत नय उस-उस क्रिया में परिणत वस्तु को उस उस रूप में ग्रहण करता है। यह है नयों की अपनी-अपनी सीमा और अपनी-अपनी परिधि। प्रत्येक नय अपनी ही परिधि में रहता है।

मैं आपसे नय के विषय में चर्चा कर रहा था। मैंने अभी आपसे यह कहा था, कि किसी विषय के सापेक्ष निरूपण को नय कहते हैं। किसी एक वस्तु के विषय में भिन्न भिन्न मनुष्यों के अथवा देश-काल-परिस्थिति आदि की अपेक्षा से एक व्यक्ति के भी अलग-अलग विचार

हो सकते हैं। मनुष्य के विचार असीमित और अपरिमित होते हैं। उन सब का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन करना सम्भव नहीं है। अपने प्रयोजन के अनुसार अतिविस्तार और अतिसंक्षेप दोनों को छोड़कर मध्यम दृष्टि से ही नयों के द्वारा विचारों का प्रतिपादन किया जाता है। नय के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है, कि जिससे श्रुत प्रमाण के द्वारा गृहीत पदार्थ का एक अंश जाना जाए, वक्ता के उस अभिप्राय-विशेष को नय कहते हैं। नय के निरूपण का अर्थ है विचारों का वर्गीकरण। नयवाद का अर्थ है—विचारों की मीमांसा। वास्तव में परस्पर विरुद्ध दीखने वाले किन्तु यथार्थ में अविरोधी विचारों के मूल कारणों की खोज करना ही इसका मूल उद्देश्य है। इस व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परस्पर विरुद्ध दीखने वाले विचारों के मूल कारणों का शोध करते हुए उन सब का समन्वय करने वाला शास्त्र नयवाद है। उदाहरण के लिए आत्मा को ही लीजिए। किसी का कहना है, कि आत्मा एक है और किसी का कहना है कि आत्मा अनेक है। यहाँ पर आप देखते हैं कि एकत्व और अनेकत्व परस्पर विरोधी हैं। नयवाद इस विचार का समन्वय करता हुआ कहता है कि—आत्मा एक भी है और अनेक भी है। द्रव्य-दृष्टि से आत्मा एक है और प्रदेश-दृष्टि से अथवा गुणपर्याय दृष्टि से एक आत्मा अनेक है। अथवा व्यक्ति की अपेक्षा आत्मा अनेक है और स्वरूप की दृष्टि से आत्मा एक है। इसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में नित्यत्व और अनित्यत्व आदि अनेक विवाद हैं, जिनका वास्तविक समाधान नयवाद के द्वारा ही किया जा सकता है।

सामान्य रूप से मनुष्य की ज्ञान-शक्ति अधूरी होती है। मनुष्य में अस्मिता एवं अभिनिवेश के कारण अपने को ही ठीक मानने की भावना बहुत अधिक होती है। इसका फल यह होता है, कि जब वह किसी विषय में किसी प्रकार का विचार करता है, तब अपने उस विचार को ही वह अन्तिम पूर्ण तथा परम सत्य मान लेता है। इसका अर्थ यह होता है कि वह दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण को नहीं समझ पाता। वह अपने अल्प तथा आंशिक ज्ञान को ही पूर्ण मान बैठता है। यही कारण है कि संसार में संघर्ष और विवाद खड़े हो जाते हैं। दर्शन के क्षेत्र में हम देखते हैं, कि एक दर्शन आत्मा आदि के विषय में अपने माने हुए पुरुष विशेष के किसी एक देशीय विचार को सर्वदेशीय सत्य मान लेता है। फिर उसके विरोधी प्रतिभासित होने वाले सत्य विचार को भी वह झूठा ही समझता है। इसी प्रकार दूसरा दर्शन पहले को और फिर

दोनो मिल कर तीसरे को झूठा समझते हैं। फलस्वरूप समता के स्थान पर विषमता और विचार के स्थान पर विवाद खडा हो जाता है। विचारो की इस विषमता को दूर करने के लिए तथा परस्पर के विवाद को दूर करने के लिए भगवान महावीर ने नय-मार्ग प्रतिपादित किया है। नयवाद यह कहता है, कि प्रत्येक तथ्य को और प्रत्येक विचार को, अनेकान्त की तुला पर तोलना चाहिए।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि नय दर्शन शास्त्र का एक गम्भीर विषय है। इसे समझने के लिए समय भी चाहिए और बुद्धिबल भी चाहिए। मैं अधिक गहराई मे न जाकर उसके स्वरूप का सक्षेप मे ही प्रतिपादन कर रहा हूँ। सक्षेप मे नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। ससार मे छोटी-बडी सब वस्तुएँ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न भी नही हैं और एक दूसरे से सर्वथा अभिन्न भी नही हैं। विश्व की प्रत्येक वस्तु मे कुछ समानता भी है और कुछ भिन्नता भी है। इसी आधार पर जैन दर्शन मे प्रत्येक वस्तु को सामान्य-विशेषात्मक अथवा उभयात्मक कहा जाता है। मानवी बुद्धि कभी वस्तु के सामान्य की ओर झुकती है, तो कभी विशेष की ओर। जब वह वस्तु के सामान्य अश की ओर झुकती है, तब उसे द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है और जब मनुष्य की बुद्धि वस्तु के विशेष धर्म की ओर झुकती है, तब उसे पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद और पर्यायार्थिक नय के चार भेद होते हैं—इस प्रकार नय के सात भेद हैं। द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय के स्वरूप को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए आप घूमने के लिए अपने घर से बाहर निकले, और घूमते-घूमते आप समुद्र की ओर जा पहुँचे। जिस समय आपने पहली बार समुद्र की ओर दृष्टिपात किया, तब केवल आपने सागर के जल को ही देखा। उस समय आपने न उसका स्वाद लिया, न उसका रग देखा और न उसके अन्य विशेष धर्मो को ही आप जान पाए। केवल आपने सामान्य रूप मे समुद्र के जल को ही देखा। इसको सामान्य दृष्टि कहा जाता है। इसके बाद आप समुद्र के तट पर पहुँच गए। वहाँ पर आपने सागर के जल के रग को देखा, उसमे प्रतिक्षण उठने वाली तरगो को देखा, उसके जल को पीकर उसका स्वाद भी चखा, उसकी एक-एक विशेषता को जानने का आपने प्रयत्न किया, इसको विशेष दृष्टि कहते हैं। लोक में जिसे सामान्य दृष्टि कहा जाता है, वस्तुत- वही द्रव्यार्थिक नय है। लोक में जिसे

विशेष दृष्टि कहा जाता है, वस्तुतः वही पर्यायार्थिक नय है। मैं आपसे यह कह रहा था कि प्रमाण से परिज्ञात अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य रूप से जानने वाला ज्ञान नय है। उक्त दो नयों के ही विस्तार दृष्टि से सात भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत। उक्त सात नयों की संक्षेप में चर्चा मैं पहले भी कर चुका हूँ। अब यहाँ कुछ और अधिक स्पष्टीकरण के साथ आपको परिचय दे रहा हूँ जिससे आप भली-भाँति नय स्वरूप को समझ सकें। एक बात आप और समझलें और वह यह है, कि जैन ग्रन्थों में नय का वर्णन दो प्रकार से किया गया है—दार्शनिक दृष्टि से और आध्यात्मिक दृष्टि से। दार्शनिक दृष्टि से नय का वर्णन इस प्रकार है :

सात नयों में पहला नय है—नैगम। निगम शब्द का अर्थ है—जनपद अथवा देश। जिस जनपद की जनता में जो शब्द जिस अर्थ के लिए नियत है वहाँ पर उस अर्थ और शब्द के सम्बन्ध को जानना ही नैगम नय है। इस शब्द का वाच्य यह अर्थ है और इस अर्थ का वाचक यह शब्द है, इस प्रकार वाच्य-वाचक भाव के सम्बन्ध-ज्ञान को नैगम नय कहते हैं। जो अनेक अर्थों से वस्तु को जानता है अथवा अनेक भावों से वस्तु का निर्णय करता है उसे नैगम नय कहते हैं। निगम का अर्थ—संकल्प भी है। जो निगम (संकल्प) का विषय करे, वह नैगम नय कहा जाता है। उदाहरण के लिए समझिए कि एक व्यक्ति बैठा हुआ है और बातचीत के प्रसंग में वह कहता है, कि "मैं दिल्ली जा रहा हूँ।" यद्यपि अभी उसने गमन क्रिया प्रारम्भ नहीं की है मात्र जाने का संकल्प ही किया है, फिर भी वह कहता है, कि मैं दिल्ली जा रहा हूँ। इसी आधार पर नैगम नय को संकल्प मात्र ग्राही कहा गया है। शब्दों के जितने और जैसे अर्थ लोक में माने जाते हैं, उनको मानने की दृष्टि नैगम नय है। नैगमनय पदार्थ को सामान्य, विशेष और उभयात्मक मानता है, नैगमनय तीनों कालों और चारों निक्षेपों को मानता है, तथा नैगमनय धर्म और धर्मी दोनों को ग्रहण करता है। इसी आधार पर दर्शन ग्रन्थों में नैगमनय के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि दो पर्यायों की, दो द्रव्यों की तथा द्रव्य और पर्याय की प्रधान एवं गौण भाव से विवक्षा करने वाले नय को नैगमनय कहते हैं। नैगमनय के दो भेद हैं सर्वग्राही और देशग्राही। क्योंकि शब्द का प्रयोग दो ही प्रकार से हो सकता है—एक सामान्य अंश की अपेक्षा से और दूसरा विशेष अंश

की अपेक्षा से। सामान्य अंश का आधार लेकर प्रयुक्त होने वाले नय को सर्वग्राही नैगमनय कहते है। विशेष अश का आश्रय लेकर प्रयुक्त होने वाले नय को देश-ग्राही नैगमनय कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम यह कहते है कि 'यह घडा है' यहाँ पर यह विवक्षा नही की जाती कि 'यह घडा' चाँदी का है, सोने का है अथवा पीतल का है अथवा वह सफेद है या काला है, तो यह सर्वग्राही सामान्य दृष्टि है। किन्तु जब यह कहा जाता है, कि 'यह चाँदी का घट है, यह सोने का घट है और यह पीतल का घट है, अथवा यह सफेद है या काला है, तो यह कथन पूर्व की अपेक्षा विशेषग्राही हो जाता है। जब दृष्टि विशेष की ओर न जाकर सामान्य तक ही रहती है, तब उसे सर्वग्राही नैगम नय कहा जाता है। इसके विपरीत जब दृष्टि विशेष की ओर जाती है, तब उसे देशग्राही नैगम-नय कहा जाता है। एक दूसरे प्रकार से नैगमनय के तीन भेद किए गए हैं—भूत नैगमनय, भावी नैगमनय और वर्तमान नैगम-नय। अतीत काल का वर्तमान काल मे सकल्प भूत नैगमनय है। जैसे यह कहना कि आज 'महावीर जयन्ती हैं।' यहाँ आज का अर्थ है—वर्तमान दिवस, लेकिन उसमे सकल्प हजारो वर्ष पहले के दिन का किया गया है। भविष्य का वर्तमान मे सकल्प करना भावी नैगमनय है। जैसे अरिहन्त को सिद्ध कहना। यहाँ पर भविष्य मे होने वाली सिद्ध पर्याय को वर्तमान मे कह दिया गया है। किसी कार्य को प्रारम्भ कर दिया गया हो, परन्तु वह अभी तक पूर्ण नही हुआ हो, फिर भी उसे पूर्ण कह देना; वर्तमान नैगमनय है। जैसे यह कहना कि 'आज तो भात बनाया है'। यद्यपि भात बना नही है, फिर भी उसे बना हुआ कहना। इस प्रकार नैगम नय के विविध रूपो का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थो मे किया गया है।

सात नयो में दूसरा नय है—सग्रह। वस्तु के विशेष से रहित द्रव्यत्व आदि सामान्यमात्र को ग्रहण करने वाला विचार सग्रह नय है। जैसे कि जीव कहने से नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध सब का ग्रहण हो जाता है। सग्रहनय एक शब्द के द्वारा अनेक पदार्थों को भी ग्रहण करता है। अथवा एक अश या अवयव का नाम लेने से समग्रगुण और पर्याय से सहित वस्तु को ग्रहण करने वाला विचार सग्रह नय है। जैसे किसी सेठ ने अपने सेवक को आदेश दिया कि दातुन लाओ। दातुन शब्द को सुनकर वह सेवक अपने स्वामी को केवल दातुन ही नही देता, बल्कि साथ मे जीभी, पानी का लोटा और हाथ पोछने के लिए

तौलिया भी प्रस्तुत कर देता है। यहाँ पर 'दातुन' इतना ही कहने से समग्र सामग्री का संग्रह हो गया है। संग्रह नय के दो भेद हैं—पर संग्रह और अपर संग्रह। सत्ता मात्र अर्थात् द्रव्यमात्र को ग्रहण करने वाला नय पर संग्रह नय कहलाता है, क्योंकि यह नय सत् या द्रव्य कहने से जीव और अजीव के विशेष भेदों को न मानकर केवल द्रव्य मात्र का ग्रहण करता है। जीव और अजीव आदि अवान्तर सामान्य को ग्रहण करने वाला और उनके भेदों की उपेक्षा करने वाला—अपर संग्रह नय है। जैसे जीव कहने से सब जीवों का ग्रहण तो हुआ किन्तु अजीव द्रव्यों का ग्रहण नहीं हो सका। अजीव कहने से धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाश काल आदि का तो ग्रहण हो जाता है, परन्तु जीव का ग्रहण नहीं होता। संग्रह नय का अर्थ है—संग्रह करने वाला विचार। अतः इस के अपर संग्रह में भी भेद की नहीं अभेद की ही प्रधानता रहती है।

सात नयों में तीसरा नय है—व्यवहार। लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाले विचार को व्यवहारनय कहते हैं। जैसे जो सत् है, वह द्रव्य है अथवा पर्याय। जो द्रव्य है उसके जीव आदि छह भेद हैं। जो पर्याय है उसके दो भेद हैं—सहभावी और क्रमभावी। इसी प्रकार जो जीव है उसके अनेक भेद हैं। जैसे संसारी और मुक्त आदि आदि। सब द्रव्यों और उनके विषय में सदा भेदानुसारी वचन-प्रवृत्ति करने वाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। यह नय सामान्य को नहीं मानता केवल विशेष को ही ग्रहण करता है, क्योंकि लोक में घट आदि विशेष पदार्थ ही जल-धारण आदि क्रियाओं के योग्य देखे जाते हैं। केवल सामान्य नहीं। रोगी को औषधि दो इतना कहने से समाधान नहीं है, समाधान के लिए आवश्यक है कि औषधि का विशेष नाम बताया जाय कि अमुक औषधि दो। यद्यपि निश्चय नय की अपेक्षा से घट में पाँच वर्ण दो गन्ध पाँच रस और आठ स्पर्श होते हैं किन्तु साधारण लोग उस घट को लाल काला या पीला ही कहते हैं। व्यवहार नय से कोयल काली है, परन्तु निश्चय नय से उसमें पाँच वर्ण दो गन्ध पाँच रस और आठ स्पर्श पाए जाते हैं। व्यवहार नय में उपचार होता है। बिना उपचार के व्यवहार नय का प्रयोग नहीं किया जा सकता। व्यवहार नय के दो भेद हैं—सामान्य भेदक और विशेष भेदक। सामान्य संग्रह में जो भेद करने वाले नय को सामान्य भेदक व्यवहार नय कहते हैं, जैसे द्रव्य के दो भेद हैं—जीव और अजीव। विशेष-संग्रह में अनेक भेद

करने वाला विशेष भेद का व्यवहार नय कहलाता है। जैसे जीव के चार भेद—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव।

सात नयों में चतुर्थ नय है—ऋजु सूत्र। वर्तमान क्षण में होने वाली पर्याय को प्रधान रूप से ग्रहण करने वाले नय को ऋजु सूत्र नय कहते हैं। जैसे 'मैं सुखी हूँ।' यहाँ पर सुख पर्याय वर्तमान समय में है। ऋजु-सूत्र नय वर्तमान क्षणस्थायी सुख पर्याय को प्रधान रूप से विषय करता है, परन्तु सुख पर्याय की आधारभूत आत्मा को गौण रूप से मानता है। ऋजुसूत्र नय भूत और भविष्य काल की पर्याय को नहीं मानता, केवल वर्तमान पर्याय को ही स्वीकार करता है। ऋजुसूत्र की दृष्टि में वर्तमान का धन ही धन है और वर्तमान का सुख ही सुख है, भूत और भविष्य के धनादि वर्तमान में अनुपयोगी हैं। ऋजुसूत्र नय के दो भेद हैं—सूक्ष्म ऋजुसूत्र और स्थूल ऋजुसूत्र। जो एक समय मात्र की वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है, उसे सूक्ष्म ऋजुसूत्र कहते हैं। जो अनेक समयों की वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है, उसे स्थूल ऋजुसूत्र कहते हैं।

सप्त नयों में पाँचवाँ नय है—शब्द। काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग आदि के भेद से शब्दों में अर्थ-भेद का प्रतिपादन करने वाले नय को शब्द नय कहते हैं, जैसे, मेरु था, मेरु है और मेरु होगा। उक्त उदाहरण में शब्द नय भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल के भेद से मेरु पर्वत के भी तीन भेद मानता है। वर्तमान का मेरु और है, भूत का और था, एवं भविष्यत् का कोई और ही होगा। काल पर्याय की दृष्टि से यह सब भेद हैं। इसी प्रकार घट को करता है और घट किया जाता है। यहाँ कारक के भेद से शब्द नय घट में भेद करता है। लिङ्ग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग के भेद से भी शब्द नय भेद को स्वीकार करता है। शब्द नय ऋजुसूत्र नय के द्वारा गृहीत वर्तमान को भी लिंग आदि के कारण विशेष रूप से मानता है। जैसे 'तट तटी, तटम्'—इन तीनों के अर्थों को लिंग भेद से शब्दनय भिन्न-भिन्न मानता है। जब कि मूल में तट शब्द एक ही है। यह शब्द नय की एक विशेषता है।

सात नयों में छठा नय है—समभिरूढ। पर्यायवाची शब्दों में भी निरुक्ति के भेद से भिन्न अर्थ को मानने वाले नय को समभिरूढ नय कहते हैं। यह नय कहता है, कि जहाँ शब्द-भेद है, वहाँ अर्थ-भेद अवश्य ही होगा। शब्दनय तो अर्थ भेद वहीं मानता है, जहाँ लिङ्ग आदि का भेद होता है, परन्तु समभिरूढ नय की दृष्टि में तो प्रत्येक

शब्द का अर्थ अलग-अलग ही होता है, भले ही वे शब्द पर्यायवाची हों और उनमें लिंग संख्या एवं काल आदि का भेद न भी हो। जैसे इन्द्र और पुरन्दर शब्द पर्यायवाची हैं अतः शब्द नय की दृष्टि से इनका एक ही अर्थ है—इन्द्र। परन्तु समभिरूढ नय के मत मे इनके अर्थ मे अन्तर है। 'इन्द्र' शब्द से ऐश्वर्यशाली का बोध होता है, जबकि पुरन्दर से नगर के विनाशक का बोध होता है। यहाँ दोनो का एक ही व्यक्ति आधार होने से दोनो शब्द पर्यायवाची बताए गए हैं, किन्तु इनका अर्थ भिन्न-भिन्न ही है। समभिरूढ नय शब्दो के प्रचलित रूढ अर्थ को नहीं किन्तु उनके मूल उत्पत्ति अर्थ को पकड़ता है। अतः शब्द नय इन्द्र और पुरन्दर—इन दोनो शब्दों का एक ही वाच्य मानता है, परन्तु समभिरूढ नय की दृष्टि से इन दोनो के दो भिन्न-भिन्न वाच्य हैं, क्योंकि इन दोनो की प्रवृत्ति के निमित्त भिन्न-भिन्न हैं।

सात नयो मे सातवाँ नय है—एवम्भूत। एवम्भूत नय निश्चय प्रधान होता है, इसलिए यह किसी भी पदार्थ को तभी पदार्थ स्वीकार करता है जबकि वह पदार्थ वर्तमान में क्रिया से परिणत हो। अतः एवम्भूत नय के सम्बन्ध में यह कहा जाता है, कि शब्दों की प्रवृत्ति के निमित्त भूत क्रिया से युक्त पदार्थों को ही शब्दो का वाच्य मानने वाला विचार एवम्भूत नय है। समभिरूढ नय इन्दन आदि के होने या न होने पर भी इन्द्र आदि शब्दो का वाच्य मान लेता है क्योंकि वे शब्द अपने वाच्यो के लिए रूढ हो चुके हैं। परन्तु एवम्भूत नय इन्द्र आदि को इन्द्र आदि शब्दों का वाच्य तभी मानता है जबकि वह इन्दन आदि क्रियाओ मे वर्तमान में परिणत हो। एवम्भूत नय इन्दन क्रिया का अनुभव करते समय ही इन्द्र को इन्द्र का वाच्य मानता है अन्यथा नहीं। एवम्भूत नय के मत से इन्द्र तभी इन्द्र है, जबकि वह ऐश्वर्यशाली हो।

यहाँ तक नयों पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है। अब आध्यात्मिक दृष्टि से भी नयों पर विचार कर लेना चाहिए। जैन दर्शन के अनेक ग्रन्थो मे आध्यात्मिक दृष्टि से भी नयों पर विचार किया गया है। मैं आपको यहाँ पर संक्षेप मे यह बतलाने का प्रयत्न करूँगा कि आध्यात्मिक दृष्टि से नय के स्वरूप का प्रतिपादन किस प्रकार किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से नय के दो भेद हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय। व्यवहार नय को उपनय भी कहा गया है। जो नय वस्तु के मूल स्वरूप को बतलाता है, उसे निश्चय नय कहा जाता है।

जो नय दूसरे पदार्थों के निमित्त से वस्तु के स्वरूप को अन्यथा वतलाता है, उसे व्यवहार नय कहा जाता है। यद्यपि व्यवहार नय वस्तु के स्वरूप को दूसरे रूप मे वतलाता है,तथापि वह मिथ्या नही है। क्योंकि जिस अपेक्षा से अथवा जिस रूप मे वह वस्तु को विपय करता है, वह वस्तु उस रूप में उपलब्ध भी होती है। उदाहरण के लिए, हम कहते हैं—'घी का घडा।' इस वाक्य से वस्तु के असली स्वरूप का ज्ञान तो नही होता, यह तो नही मालूम पडता कि घडा मिट्टी का है, पीतल का है, अथवा अन्य किसी धातु का है। इसलिए इसे निश्चय नय नही कह सकते। लेकिन उक्त वाक्य से इतना अवश्य ज्ञात हो जाता है, कि उस घडे मे 'घी' रखा जाता है। जिसमे घी रखा जाता हो, उस घडे को व्यवहार नय मे घी का घडा कहते हैं। उक्त कथन व्यवहार नय से सत्य है और इसी आधार पर व्यवहार नय भी सत्यरूप है, मिथ्या रूप नही। व्यवहार नय मिथ्या तभी हो सकता है, जबकि उसका विपय निश्चय का विपय मान लिया जाए। यदि आप 'घी का घडा'—इसका अर्थ यह समझें कि घडा घी का वना हुआ है, तो लोक मे कही पर भी यह वात सत्य प्रमाणित नही हो सकती, क्योंकि कहीं पर भी घडा घी से वनता नही है, वल्कि घडा घी का आधार मात्र ही रहता है। जव तक व्यवहार नय अपने व्यावहारिक सत्य पर स्थिर है, तव तक उसे मिथ्या नही कहा जा सकता। निश्चय नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वस्तु के सामान्य धर्म को विपय करने वाले नय को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। वस्तु के विशेप धर्म को ग्रहण करने वाला नय पर्यायार्थिक कहा जाता है। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—नैगम, सग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शव्द, समभिरूढ और एवम्भूत। इस प्रकार यह वर्गीकरण आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया है। इसके भेद और उप-भेद मे किसी प्रकार का अन्तर नही है।

आध्यात्मिक दृष्टि से निश्चय नय का स्वरूप मैंने आपको वतलाया। अव आध्यात्मिक दृष्टि से व्यवहार नय का स्वरूप भी समझ लेना आवश्यक है। व्यवहार नय का लक्षण आपको वताया जा चुका है। व्यवहार नय के दो भेद हैं—सद्भूत व्यवहार नय और असद्भूत व्यवहार नय। एक वस्तु मे गुणगुणी के भेद से भेद को विपय करने वाला सद्भूत व्यवहार नय है। इसके भी दो भेद हैं—उपचरित सद्भूत व्यवहार नय और अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय।

सोपाधिक गुण एवं गुणी में भेद ग्रहण करने वाला उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। निरुपाधिक गुण एवं गुणी में भेद ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जैसे जीव का मति-ज्ञान तथा श्रुतज्ञान इत्यादि लोक में व्यवहार होता है। इस व्यवहार में उपाधि-रूप ज्ञानावरण कर्म के आवरण से कलुषित आत्मा का मलसहित ज्ञान होने से जीव के मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान सोपाधिक हैं, अतः यह उपचरित सद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है। निरुपाधिक गुण-गुणी के भेद को ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। उपाधिरहित गुण के साथ जब उपाधिरहित आत्मा का सम्बन्ध बताया जाता है, तब निरुपाधिक गुण-गुणी के भेद से अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय सिद्ध होता है। जैसे केवल ज्ञानरूप निरुपाधिक गुण से सहित निरुपाधिक केवल ज्ञानी की आत्मा। केवल ज्ञान आत्मा का सर्वथा निरावरण शुद्ध ज्ञान है अतः वह उपाधिरहित होने से निरुपाधिक है। इसलिए वीतराग आत्मा का केवल ज्ञान, यह प्रयोग निरुपाधिक गुण गुणी के भेद का है।

असद्भूत व्यवहार नय के भी दो भेद हैं—उपचरित असद्भूत व्यव अनुपचरित असद्भूत व्यवहार। सम्बन्ध से रहित वस्तु में सम्बन्ध को हार और विषय करने वाला नय उपचरित असद्भूत कहा जाता है, क्योंकि सम्बन्ध का योग न होने पर भी कल्पित सम्बन्ध मानने पर उपचरित असद्भूत व्यवहार होता है। जैसे 'देवदत्त का धन'। यहाँ पर देवदत्त का धन के साथ सम्बन्ध माना गया है, परन्तु वास्तव में यह कल्पित होने से उपचरित है, क्योंकि देवदत्त और धन—वास्तव में दोनों दो भिन्न द्रव्य हैं, एक द्रव्य नहीं है। इसलिए भिन्न द्रव्य होने से देवदत्त तथा धन में यथार्थ सम्बन्ध नहीं है, उपचरित है। अतः असद्भूत एवं उपचरित होने के कारण इसे उपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। सम्बन्ध से सहित वस्तु में सम्बन्ध को विषय करने वाला नय अनुपचरित असद्भूत नय कहा जाता है। इस प्रकार का भेद वहाँ होता है, जहाँ कर्म जनित सम्बन्ध होता है। जैसे जीव का शरीर। यहाँ पर आत्मा और शरीर का सम्बन्ध देवदत्त और उसके धन के समान कल्पित नहीं है, किन्तु जीवन पर्यन्त स्थायी होने से अनुपचरित है। जीव और शरीर के भिन्न होने से यह असद्भूत व्यवहार भी है। इस प्रकार संक्षेप में आध्यात्मिक दृष्टि से यह व्यवहार नय का वर्णन किया गया है।

अब नय के सम्बन्ध मे एक प्रश्न और खडा होता है, कि वस्तुत नयो की सख्या कितनी है ? नयो की सख्या के सम्बन्ध मे आचार्यों का एक मत नही है। नयो के अगणित एव असख्यात भेद हैं, फिर भी अतिविस्तार तथा अति सक्षेप को छोडकर नयो के प्रतिपादन मे मध्यम मार्ग को ही अपनाया गया है। नयो के सम्बन्ध में एक बात कही जाती है, कि जितने प्रकार के वचन है, उतने ही प्रकार के नय हैं। इस पर से दो तथ्य फलित होते हैं—नयो की सख्या स्थिर नही है और नयो का वचन के साथ सम्बन्ध रहा हुआ है, फिर भी यहाँ पर इतना बतला देना आवश्यक है कि स्थानाग सूत्र मे और अनुयोग द्वार सूत्र मे सात नयों का स्पष्ट उल्लेख है। दिगम्बर परम्परा मे भी उक्त सात नय माने गये है। किन्तु वाचक उमास्वाति प्रणीत 'तत्त्वार्थ सूत्र' मे मूलरूप मे पाँच नयो का उल्लेख है—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। शब्द नय के तीन भेद किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—साम्प्रत, समभिरूढ और एवम्भूत। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने दार्शनिक ग्रन्थ 'सन्मति प्रकरण' मे नयों की सख्या और उनके वर्गीकरण मे एक नयी शैली को अपनाया है। वे नैगम नय को छोडकर शेष छह भेदो को मानते हैं। इनसे पूर्व कही भी यह शैली और यह पद्धति देखने को नहीं मिलती है। यह एक तर्क-पूर्ण दार्शनिक शैली है। वादि देव सूरि ने स्वप्रणीत 'प्रमाणनय-तत्त्वालोक' ग्रन्थ मे आगम परम्परा के अनुसार नैगम से लेकर एवम्भूत तक के सात नयो को ही स्वीकार किया है। इस प्रकार नयो की सख्या के सम्बन्ध मे विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न विचार अभिव्यक्त किए है, किन्तु मूल विचार सबका एक ही है।

नयो की सख्या पर विचार करने के बाद, नयो के वर्गीकरण का प्रश्न सामने आता है। नयो का वर्गीकरण विविध प्रकार से और विभिन्न शैली से किया गया है। सबसे पहला वर्गीकरण यह है कि नय के दो भेद है—अर्थ-नय और शब्द-नय। जिस विचार मे शब्द की गौणता और अर्थ की मुख्यता रहती है, वह अर्थ-नय कहा जाता है। जिस विचार मे अर्थ की गौणता और शब्द की मुख्यता रहती है, वह शब्द-नय है। इस वर्गीकरण के अनुसार नैगम से ऋजु तक के नय अर्थ-नय हैं, और शब्द से एवम्भूत तक के नय, शब्द नय हैं। एक दूसरे वर्गीकरण के अनुसार नय के दो भेद हैं—ज्ञान-नय और क्रिया नय। किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप

का परिबोध करना ज्ञान-नय है। ज्ञान-नय से प्राप्त बोध को जीवन में धारण करने का प्रयत्न करना, क्रिया-नय है। तीसरे प्रकार का वर्गीकरण इस प्रकार से है कि नय के दो भेद हैं—द्रव्य-नय और भाव-नय। शब्द-प्रधान अथवा शब्दनात्मक नय को द्रव्य, नय कहा जाता है, और ज्ञानप्रधान अथवा ज्ञानात्मक नय को भाव-नय कहा जाता है। चतुर्थ प्रकार का वर्गीकरण भी है। इसके अनुसार नय के दो भेद हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय। जो नय वस्तु के वास्तविक स्वरूप को बतलाए वह निश्चय नय कहा जाता है। जो नय अन्य पदार्थ के निमित्त से वस्तु का अन्य रूप बतलाए, वह व्यवहार-नय कहा जाता है एक पाँचवें प्रकार का भी नय का वर्गीकरण किया गया है—सुनय और दुर्नय। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करने वाला और इतर धर्मों का निषेध न करके उदासीन रहने वाला नय सुनय कहा जाता है। जो इतर धर्मों का निषेध करता है, वह दुर्नय है।

नयों के वर्गीकरण के बाद एक प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि नयों की परिधि एवं परिसीमा क्या है? इसके सम्बन्ध में मैं आपको पहले बतला चुका हूँ कि किस नय की क्या परिधि है और क्या परिसीमा है। सबसे अधिक विशाल एवं व्यापक विषय नैगम नय का है, एवं सबसे थोड़ा विषय एवम्भूत नय का है। नयों के सम्बन्ध में, मूल आगमों से लेकर और अद्यावधि तक के ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा गया है, किन्तु यहाँ पर मैंने नयों का तथा नयों से सम्बद्ध कुछ अन्य विषयों का संक्षेप में ही परिचय कराया है। एक बात अवश्य है, कि जब तक नयवाद को नहीं समझा जाएगा तब तक जैन दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त को भी नहीं समझा जा सकता। किसी भी व्यक्ति के दृष्टिकोण को समझे बिना उसके विषय में किसी प्रकार का निर्णय करना न उचित है और न न्याय-संगत। नयवाद और अनेकान्तवाद हमें यही सिखाता है, कि हम सत्य-दृष्टि को किस प्रकार ग्रहण करें। किसी एक दृष्टि से सत्य को समझा नहीं जा सकता। एकाङ्गी दृष्टि वस्तु के स्वरूप को ग्रहण करने में असमर्थ है। वस्तुतः अनेकाङ्गी दृष्टि ही सत्य के स्वरूप को समझ सकती है। नय-ज्ञान का उद्देश्य यही है कि हम अनन्त धर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को नयवाद के द्वारा ही भली भाँति समझ सकते हैं। अपने विचारों का समाधान ही वस्तुतः अनेकान्त है और उस अनेकान्त की आधार शिला है—नयवाद एवं अपेक्षावाद।

४

निक्षेप-सिद्धान्त

मनुष्य अपने विचारो को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है। बिना भाषा के अथवा बिना शब्द प्रयोग के वह अपने विचारो की अच्छी तरह अभिव्यक्ति नही कर पाता। पशु की अपेक्षा मनुष्य की यह विशेषता है, कि वह अपने विचारो की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से भली भाँति कर लेता है। यह एक सत्य है, कि जगत का कोई भी व्यवहार बिना भाषा के चल नही सकता। अत परस्पर के व्यवहार को सुचारु रूप से चलाने के लिए भाषा का सहारा और शब्द प्रयोग का माध्यम मनुष्य को पकडना पडता है। ससार में हजारो-हजार प्रकार की भाषाएँ है और उन भाषाओ के शब्द हजारो ही प्रकार के है। प्रत्येक भाषा के शब्द अलग-अलग ही होते हैं। भाषा के ज्ञान के लिए शब्द-ज्ञान आवश्यक है और शब्द-ज्ञान के लिए भाषा-ज्ञान आवश्यक है। भाषा अवयवी है और शब्द उसके अवयव हैं। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार अवयवी के ज्ञान के लिए अवयव का ज्ञान परमा-

आवश्यक है। भाषा ज्ञान के लिए शब्दों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। हम किसी भी भाषा का उचित प्रयोग तभी कर सकेंगे जबकि उसके शब्दों का उचित प्रयोग करना हम सीख सकेंगे। किस समय पर और किस स्थिति में किस शब्द का प्रयोग कैसे किया जाता है और वक्ता के अभिप्राय को कैसे समझा जाता है? यह एक बहुत बड़ा सिद्धान्त है। शब्द प्रयोग के आधार पर वक्ता के अभिप्राय को ठीक रूप से समझ लेना जैनदर्शन में इस को निक्षेपवाद कहा जाता है। निक्षेप का दूसरा नाम न्यास भी है। निक्षेप और न्यास के सिद्धान्त को समझने के लिए भाषा के शब्दों को और उन शब्दों के अर्थों को ठीक रूप में समझना आवश्यक है। जैन दर्शन के अनुसार निक्षेप का लक्षण यह है कि शब्दों का अर्थों में और अर्थों का शब्दों में आरोप करना अर्थात् न्यास करना।

संस्कृत-व्याकरण के अनुसार शब्द अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे नाम आख्यात उपसर्ग और निपात। घट पट आदि नाम शब्द हैं। पठति गच्छति आदि आख्यात अर्थात् क्रिया-शब्द हैं। प्र परा उप आदि उपसर्ग एवं निपात शब्द हैं। इन चार प्रकार के शब्दों में निक्षेप का सम्बन्ध केवल नाम से है। अन्य शब्दों के साथ निक्षेप का सम्बन्ध नहीं होता। क्यों नहीं होता? इसके उत्तर में कहा गया है कि आख्यात शब्द उपसर्ग शब्द और निपात शब्द वस्तुवाचक नहीं होते हैं। निक्षेप का सम्बन्ध उसी शब्द से रहता है जो वस्तुवाचक होता है। व्याकरण के अनुसार वस्तुवाचक शब्द नाम ही होता है। अतः उक्त चार प्रकार के शब्दों में से निक्षेप का सम्बन्ध केवल नाम के साथ ही रहता है।

निक्षेप-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ अवश्य ही होते हैं। वैसे एक शब्द के अधिक अर्थ भी हो सकते हैं और होते भी हैं किन्तु यहाँ पर निक्षेप का कथन अभीष्ट है अतः शब्दकोष के अनुसार शब्द का अर्थ ग्रहण न करके यहाँ पर केवल निक्षेप-सिद्धान्त के अनुसार ही शब्द का अर्थ ग्रहण करना है। एक बड़ा ही महत्व का प्रश्न यह है कि निक्षेप के सिद्धान्त का उद्देश्य क्या है और उसका जीवन में क्या उपयोग है? उक्त प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि निक्षेप-सिद्धान्त का प्रयोजन एवं उपयोग यही है कि अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण करके प्रस्तुत अर्थ को बतलाना। उदाहरण के लिए, किसी ने कहा कि "गुरु तो मेरे हृदय में हैं।" यहाँ पर गुरु शब्द का अर्थ गुरु व्यक्ति का ज्ञान लेना होगा क्योंकि शरीर संयुक्त गुरु किसी के

हृदय में कैसे रह सकता है ? अत उक्त वाक्य मे गुरु का ज्ञान, यह अर्थ प्रस्तुत है, न कि स्वय गुरु व्यक्ति। इस आधार पर यह कहा जाता है, निक्षेप का सबसे बड़ा उपयोग यह है, कि वह अप्रस्तुत अर्थ को दूर करके प्रस्तुत अर्थ का ज्ञान हमें करा देता है। निक्षेप की उपयोगिता केवल शास्त्रो में ही नही, वल्कि मनुष्य के दैनिक व्यवहार मे भी रहती है। विना निक्षेप के मनुष्य का दैनिक व्यवहार भी सुचारु रूप से चल नही सकता है।

ससार के जीवो का समग्र व्यवहार पदार्थ के आश्रित रहता है। पदार्थ एक नही, अनन्त हैं। उन समग्र पदार्थो का व्यवहार एक साथ नही हो सकता। यथावसर प्रयोजन वशात् अमुक किसी एक पदार्थ का ही व्यवहार होता है। अत जिस उपयोगी पदार्थ का ज्ञान हम करना चाहते हैं, उसका ज्ञान शब्द के आधार से ही किया जा सकता है। किन्तु किस शब्द का क्या अर्थ है, यह कैसे जाना जाए ? वस्तुत इसी प्रश्न का समाधान निक्षेप-सिद्धान्त है। व्याकरण के अनुसार शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष होते है। शब्द को अर्थ की अपेक्षा रहती है और अर्थ को शब्द की अपेक्षा रहती है। यद्यपि शब्द और अर्थ दोनो स्वतन्त्र पदार्थ है, फिर भी उन दोनो मे एक प्रकार का सम्बन्ध माना गया है। इस सम्बन्ध को वाच्य-वाचक-सम्बन्ध कहा जाता है। शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य है। वाच्य-वाचक-सम्बन्ध का ज्ञान होने पर ही शब्द का उचित प्रयोग किया जा सकता है। इस दृष्टि से निक्षेप का सिद्धान्त एक वह सिद्धान्त है जिससे शब्द के अर्थ को समझने की कला का परिज्ञान होता है। प्रश्न यह है कि निक्षेप के कितने प्रकार है ? इसके उत्तर मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि, किसी भी वस्तु-विन्यास के जितने क्रम हो सकते हैं, उतने ही निक्षेप होते है। परन्तु कम से कम चार निक्षेप माने गए हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

किसी वस्तु का अपनी इच्छा के अनुसार नाम रख देना—नाम-निक्षेप है। जैसे किसी मनुष्य का नाम उसके माता-पिता ने 'महा-वीर' रख दिया। यहाँ पर महावीर शब्द का जो अर्थ है, वह अपे-क्षित नही है, वल्कि एक सज्ञामात्र ही है। नामनिक्षेप मे जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया की आवश्यकता नही रहती है, क्योकि यह नाम तो केवल लोक-व्यवहार चलाने के लिए ही होता है। नाम-करण सकेत मात्र से किया जाता है। यदि नाम के अनुसार उसमें गुण भी हो, तव वह नामनिक्षेप न कहलाकर भाव निक्षेप कह

जाएगा। भाव-निक्षेप उसी को कहा जाता है जिसमें तदनुरूप गुण भी विद्यमान हो।

किसी वस्तु की किसी अन्य वस्तु में यह परिकल्पना करना कि यह वह है स्थापना निक्षेप कहा जाता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि जो अर्थ तद्रूप नहीं है उसे तद्रूप मान लेना ही स्थापना-निक्षेप है। स्थापना निक्षेप के दो भेद हैं—तदाकार स्थापना और अतदाकार-स्थापना। किसी मूर्ति अथवा किसी चित्र में व्यक्ति के आकारानुरूप स्थापना करना तदाकार-स्थापना है। तथा शतरंज आदि के मोहरों में अश्व गज आदि की जो अपने आकार में भिन्न कल्पना की जाती है उसे अतदाकार स्थापना कहा जाता है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि नाम और स्थापना दोनों वास्तविक अर्थ से शून्य होते हैं।

अतीत अवस्था अनागत अवस्था और अनुयोग-दशा—ये तीनों विवक्षित क्रिया में परिणत नहीं होते। इसी कारण इन्हें द्रव्य निक्षेप कहा जाता है। जैसे जब कोई कहता है कि "राजा तो मेरे हृदय में है" तब उसका अर्थ होता है—राजा का ज्ञान मेरे हृदय में है। क्योंकि शरीरधारी राजा का कभी किसी के हृदय में रहना सम्भव नहीं है। यह अनुयोग दशा है। द्रव्य निक्षेप के अन्य दो उदाहरण हैं कि जो पहले कभी राजा रहा है किन्तु वर्तमान में राजा नहीं है उसे राजा कहना अतीत द्रव्य निक्षेप है। वर्तमान में जो राजा नहीं है किन्तु भविष्य में जो राजा बनेगा उसे वर्तमान में राजा कहना अनागत द्रव्य निक्षेप है। उक्त द्रव्य निक्षेप का अर्थ है—जो अवस्था अतीत काल में हो चुकी हो अथवा भविष्य काल में होने वाली हो उसका वर्तमान में कथन करना।

वर्तमानपर्याय-सहित द्रव्य को भाव निक्षेप कहते हैं। जैसे राज्य सिंहासन पर स्थित व्यक्ति को राजा कहना। भाव-निक्षेप की दृष्टि में राजा वही व्यक्ति हो सकता है जो वर्तमान में राज्य कर रहा हो। इसके विपरीत जो व्यक्ति पहले राज्य कर चुका है अथवा भविष्य में राज्य करेगा किन्तु वर्तमान में वह राज्य नहीं कर रहा है—उसे भाव-निक्षेप राजा नहीं मानता। निक्षेप के अनुसार राजा शब्द के चार अर्थ हुए—नाम राजा स्थापना राजा द्रव्य राजा और भाव राजा। किसी व्यक्ति का नाम राजा रख देना नामराजा है। किसी राजा के चित्र को राजा कहना अथवा किसी भी पदार्थ में यह राजा है—इस प्रकार की परिकल्पना करना यह स्थापना राजा है। द्रव्य राजा उसे कहा जाता है जो वर्तमान में

तो राजा नही है किन्तु अतीत मे रह चुका है अथवा भविष्य मे राजा बनेगा। भाव-राजा वह है जो वर्तमान मे राज्य पद पर स्थित है और राज्य का सचालन कर रहा है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है, कि नाम निक्षेप मे और स्थापना निक्षेप मे क्या अन्तर है? क्योंकि नाम-निक्षेप मे किसी व्यक्ति का कुछ भी नाम रख दिया जाता है और स्थापना निक्षेप मे भी मूर्ति अथवा चित्र आदि मे नाम रख दिया जाता है? इसके समाधान मे कहा गया है कि नाम और स्थापना मे इतना ही भेद है, कि नाम-निक्षेप मे आदर और अनादर-बुद्धि नही रहती, जबकि स्थापना निक्षेप मे आदर और अनादर बुद्धि की जा सकती है। कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति किसी नदी मे से गोल पत्थर उठा लाया और उसने उसमे सालिग्राम की स्थापना करली, उस स्थिति मे वह व्यक्ति उसमे आदर-बुद्धि भी रखता है। इस प्रकार आपने देखा निक्षेप-सिद्धान्त के द्वारा किस प्रकार जीवन-समस्याओ का समाधान किया जाता है। शास्त्रीय रहस्य को समझने के लिए ही निक्षेप की आवश्यकता नही है, बल्कि लोकव्यवहार की उलझनो को सुलझाने के लिए भी निक्षेप की आवश्यकता रहती है। अत निक्षेप का परिज्ञान परम आवश्यक है।

एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है, कि नय और निक्षेप मे क्या भेद है? इसके उत्तर मे कहा गया है कि नय और निक्षेप मे विषय और विषयी-भाव सम्बन्ध है। नय ज्ञानात्मक है और निक्षेप ज्ञेयात्मक। निक्षेप को जानने वाला नय है। शब्द और अर्थ मे जो वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, उसके स्थापना की क्रिया का नाम निक्षेप है और वह नय का विषय है, तथा नय उसका विषयी है। आदि के तीन निक्षेप-द्रव्यार्थिक नय के विषय है और अन्तिम भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है। यहाँ पर मैंने सक्षेप मे ही निक्षेप का वर्णन किया है, वैसे निक्षेप का विषय बहुत ही गम्भीर है।

५

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय

• • •

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का एक निज गुण है। ज्ञान आत्मा का एक स्वभाव है। निज गुण अथवा स्वभाव उसे कहा जाता है जो सदाकाल अपने गुणी के साथ रहता है। आत्मा को छोड़कर ज्ञान अन्यत्र कहीं नहीं रहता और आत्मा भी ज्ञान से शून्य कभी नहीं रहता। इस आधार पर यह कहा जाता है कि आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है। आत्म-स्वरूप की जितनी भी चर्चा और वर्णन किया जाता है उसका मूल केन्द्र ज्ञान है। आत्मा क्या है और उसका क्या स्वरूप है? उक्त प्रश्नों का समाधान ज्ञान से ही होता है। चेतना आत्मा की एक शक्ति है जो आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ में उपलब्ध नहीं होती। आत्मा की स्थिति और सत्ता अनन्तकाल से है इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है। आत्मा अनन्त गुणों का निधि है उसमें प्रमेयत्व एवं ज्ञेयत्व आदि सामान्य एवं विशेष अनन्त गुण हैं। उन सबकी जानकारी एवं उन सब गुणों का पता ज्ञान के द्वारा ही

लगता है। अत ज्ञान आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। विशिष्ट गुण भी क्या है ? वह उसका स्वस्वरूप और निज स्वभाव ही है। अब प्रश्न यह उठता है, कि आत्मा का जो यह ज्ञान गुण है, जिससे सब कुछ का ज्ञान और पता लगता है, उन ज्ञान गुण की स्थिति और सत्ता का बोध किस प्रकार होता है ? आत्मा के दूसरे गुणो को तो ज्ञान जान सकता है, परन्तु स्वय ज्ञान को कैसे जाना जाए। ज्ञान दूसरो की जानकारी तो प्राप्त कर लेना है, परन्तु ज्ञान की जानकारी किससे होती है ? प्रश्न का अभिप्राय यह है, कि ज्ञान कभी ज्ञेय बनता है कि नही ?

जिस शक्ति के द्वारा आत्मा को वस्तुओके स्वरूप आदि का बोध होता है, आत्मा की उस शक्ति का नाम ज्ञान है। ज्ञेय वह है, जिसे ज्ञान की शक्ति से जाना जाता है। ज्ञाता वह है, जो ज्ञान प्राप्त करता है। अत जिसके द्वारा बोध होता है, वह ज्ञान है। जिसे बोध होता है वह ज्ञाता है। और जिसका बोध होता है, वह ज्ञेय है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ज्ञान का विषय होने मे ज्ञाता आत्मा और उसके दूसरे गुण भी ज्ञेय हैं। उनकी विभिन्न पर्याय भी ज्ञेय हैं, क्योकि वे भी ज्ञान मे प्रतिबिम्बित होती है। हमारा ज्ञान सीमित होता है, परन्तु केवलज्ञानी का ज्ञान असीम और अनन्त होता है। उनके अनन्त ज्ञान मे समस्त पदार्थ और एक एक पदार्थ के अनन्त-अनन्त गुण तथा पर्याय प्रतिक्षण प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। विश्व का एक भी ऐसा पदार्थ नही है, जो केवल ज्ञान का ज्ञेय न बनता हो। मेरे कहने का अभिप्राय यही है, कि आत्मा अपनी जिस शक्ति से पदार्थों का बोध करता है, उसे ज्ञान कहा जाता है। वह ज्ञान केवल दूसरो को ही जानता है अथवा अपने आपको भी जान सकता है ? यह एक बहुत बडा प्रश्न है, दर्शनशास्त्र का। भारत के दर्शनों मे से एक दर्शन ने यह भी कहा है, कि ज्ञान पर पदार्थ को तो जान सकता है, किन्तु स्वय अपने को नही जान सकता। अपने विचार की पुष्टि के लिए उन्होने एक रूपक प्रस्तुत किया है। उनका कहना है, कि नट-पुत्र नट-कला मे कितना भी निपुण हो, वह दूसरे के कन्धो पर तो चढ सकता है, किन्तु स्वय अपने कन्धो पर नही चढ सकता। नट-पुत्र बास पर चढ सकता है, पतली रस्सी पर नाच सकता है और दूसरे के कन्धो पर चढ कर लोगो का मनोरजन कर सकता है। किन्तु वह कितना भी निपुण क्यो न हो, स्वय अपने कन्धो पर नृत्य नही कर सकता। इस तर्क ने एक बहुत बडी विचार धारा एव चिन्तन धारा खडी करदी है। इस

मीमांसा दर्शन के अनुसार ज्ञान कितना ही निर्मल और स्वच्छ क्यों न हो उसमें पर पदार्थ को जानने की शक्ति तो है परन्तु अपने को जानने की शक्ति उसमें नहीं है। आँख दूसरे पदार्थों को देख लेती है परन्तु वह अपने आपको नहीं देख सकती। यही स्थिति ज्ञान की है। जिस प्रकार आँख स्वयं को नहीं जानती वह अपने से भिन्न दूसरा को ही जानती है उसी प्रकार ज्ञान दूसरे पदार्थों का ज्ञान रखता है परन्तु स्वयं अपने आपको नहीं जान सकता। इसका अभिप्राय यही हुआ कि ज्ञान एक अज्ञेय तत्त्व है। आश्चर्य है दूसरों को जानने वाला स्वयं अपने आपको नहीं जान सकता। परन्तु भारत के दार्शनिकों का मस्तिष्क ज्ञान की इस अज्ञेयता पर चुप नहीं रह सका। मीमांसा दर्शन ने ज्ञान को अज्ञेय मान लिया परन्तु प्रश्न यह है कि जो स्वयं प्रकाश रूप नहीं है वह दूसरे को प्रकाशित कैसे कर सकता है? जिस अन्धे व्यक्ति में स्वयं देखने की शक्ति नहीं है, वह अपने से भिन्न दूसरे अन्धों का मार्ग का परिज्ञान कैसे करा सकता है? भारत के दूसरे दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप में यह कहा कि ज्ञान को अज्ञेय मानना तर्क-संगत नहीं है। ज्ञान में जब जानने की शक्ति है, तो जैसे वह दूसरे को जानता है वैसे स्वयं अपने आपको क्यों नहीं जान सकता। जैन दर्शन का सबसे बड़ा तर्क यही है कि यदि ज्ञान में जानने की शक्ति है तो दूसरों के समान वह स्वयं अपने आपको क्यों नहीं जान सकता? जैन दर्शन ने कहा कि ज्ञान तो दीपक के समान है जैसे दीपक स्वयं अपने को भी जानता है और अपने से भिन्न दूसरे पदार्थों को भी जानता है। जिस प्रकार दीपक अपने से भिन्न दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार वह स्वयं को भी प्रकाशित करता है। यदि दीपक में स्वयं को प्रकाशित करने की शक्ति न हो तो वह दूसरे पदार्थों को भी प्रकाशित नहीं कर सकेगा।

मैं आपसे आत्मा के ज्ञान गुण की चर्चा कर रहा था और आपको यह बता रहा था कि भारत के विभिन्न दार्शनिक ज्ञान के सम्बन्ध में क्या सोचते और विचारते रहे हैं? भारत के दार्शनिकों में कणाद और गौतम भी विख्यात दार्शनिक रहे हैं। वे भी ज्ञान को अज्ञेय नहीं मानते। उनका कहना है कि ज्ञान ज्ञेय भी ज्ञेय है परन्तु ज्ञान को ज्ञेय मानने की पद्धति उनकी भिन्न है। उनका कथन है कि एक ज्ञान के बाद एक दूसरा ज्ञान होता है जिसे अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहते हैं। प्रथम ज्ञान का ज्ञान इस दूसरे ही ज्ञान से होता है। अनुव्यवसायात्मक ज्ञान की कल्पना करके कणाद और गौतम

ने एक बहुत बडा प्रयत्न यह किया कि उन्होने ज्ञान को अज्ञेय कोटि मे निकाल कर ज्ञेय की कोटि मे खडा कर दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान स्वय अपने को नही जानता, किन्तु उस ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता है और उस दूसरे ज्ञान को जानने के लिए तीसरे ज्ञान की आवश्यकता है। इस पर जैन दर्शन का कथन है, कि यदि उत्तर ज्ञान पूर्व ज्ञान का ज्ञान करता है तो फिर उस उत्तर ज्ञान का ज्ञान कौन करेगा? इस प्रकार जो सबसे अन्त का ज्ञान है, वह तो अज्ञेय ही रह जाएगा। इस प्रकार अनवस्था दोष भी आया और अन्तिम ज्ञान अज्ञेय ही बना रह गया। इसकी अपेक्षा यही मानना अधिक तर्क सगत और समुचित होगा कि ज्ञान दीपक के समान दूसरे पदार्थों को जानता है और स्वय अपने को भी जानता है, बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त रहेगा कि ज्ञान स्वय अपने को जान कर ही दूसरो को जनता है। दूसरी बात यह है कि यदि प्रथम ज्ञान के लिए दूसरे ज्ञान की कल्पना की जाएगी, तो यह प्रश्न खडा होगा, कि पहले ज्ञान की परीक्षा दूसरे ज्ञान ने ठीक रूप मे की है या नही? अर्थात् उत्तर ज्ञान ने पूर्वज्ञान को ठीक रूप मे समझा है या नही? इसकी परीक्षा के लिए एक तीसरे ज्ञान की कल्पना करनी पडेगी। इस दृष्टि से यही अधिक तर्क सगत है कि ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक मान लिया जाए। इससे न अनवस्था दोष रहेगा और न दूसरे-तीसरे ज्ञान आदि की अनन्त कल्पना ही करनी पडेगी। अत ज्ञान स्व-पर प्रकाशक ही है।

इस सम्बन्ध मे मैं आपसे यह कह रहा था कि ज्ञान को दीपक के समान स्व-पर प्रकाशक मानना ही तर्क सगत एव उचित है। यदि ज्ञान मे ज्ञेयता नही है, तो वह ज्ञान, ज्ञान नही कहा जा सकता। जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान को ज्ञेय न मानना उचित नही है। जैनदर्शन का यह विश्वास है, कि ज्ञान मे एक ऐसी अद्भुत शक्ति है, जो स्वय को भी जानता है और अपने से भिन्न को भी जानता है। इसी अभिप्राय से जैनदर्शन मे ज्ञान को स्वपराभासी कहा है। स्वपराभासी का अर्थ है—स्वय अपने को और अपने से भिन्न पर पदार्थ को प्रकाशित करने वाला। जिस प्रकार दीपक दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है, तो साथ ही वह स्वय को भी प्रकाशित करता है। स्वय को प्रकाशित किए बिना वह दूसरे को प्रकाशित नही कर सकता। यह कथमपि सम्भव नही है, कि दीपक जले और वह दूसरो को प्रकाशित करे, परन्तु स्वय अप्रकाशित

रहे अथवा उसको प्रकाशित करने के लिए दूसरा दीपक जलाना पड़े। इसी प्रकार ज्ञान के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त है वह दूसरे को भी जानता है और स्वयं अपने को भी जानता है। इतना ही नहीं बल्कि स्वयं को जान कर ही वह दूसरों को जानता है। जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान न स्वाभासी है और न पराभासी है बल्कि स्व-पराभासी है। स्वपराभासी का अर्थ यही है, कि अपने आपको जानता हुआ दूसरों को जानने वाला ज्ञान।

मैं आपसे पहले यह कह चुका हूँ कि आत्मा में अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुणों में ज्ञान भी आत्मा का एक गुण है किन्तु वह सामान्य नहीं एक विशिष्ट गुण है। विशिष्ट गुण इस लिए है कि इस चेतना शक्ति के आधार पर ही आत्मा को जड़ पदार्थों से भिन्न किया जा सकता है। आत्मा के स्वरूप का परिबोध और आत्मा से भिन्न पुद्गल आदि तत्त्वों का परिबोध इस ज्ञान गुण के आधार पर ही किया जाता है। आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं का परिज्ञान ज्ञानगुण से ही किया जाता है। आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध अवस्था का परिबोध भी ज्ञानगुण के आधार पर ही होता है। पाप क्या है? पुण्य क्या है? धर्म क्या है? अधर्म क्या है।? कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है? इस सब का बोध ज्ञान से ही होता है। इस दृष्टि से ज्ञानगुण सामान्य गुण नहीं आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। आत्मा के प्रमेयत्व आदि गुण तो आत्मा से भिन्न जड़ पदार्थ में भी रहते हैं किन्तु ज्ञान गुण तो आत्मा का एक असाधारण गुण है जो एकमात्र आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं रहता है। ज्ञान गुण ही जड़ और चेतन की भेद-रेखा है। अभेद दृष्टि से विचार करने पर ज्ञान गुण में आत्मा के अन्य अशेष गुणों का समावेश हो जाता है। यह केवल कथन ही नहीं है किन्तु कुछ जैन आचार्यों ने इस दिशा में प्रयत्न भी किया है। आचार्य कुन्द-कुन्द उन आचार्यों में से एक हैं जिन्होंने अभेद दृष्टि में और अद्वैत प्रधान दृष्टि से यह बताया कि ज्ञानगुण में आत्मा के अन्य समस्त गुणों का समावेश हो जाता है।

ज्ञान वस्तुओं को प्रकाशमान करता है उस समय क्या वह आत्मा को कर्म का बन्ध कराता है यह एक दार्शनिक प्रश्न है। समाधान है कि निम्न अवस्था में ज्ञान के साथ जो राग द्वेष का मिश्रण रहता है चारित्र मोहनीय के उदय से ज्ञान-धारा में जो शुभ अशुभ भाव होता है जैनदर्शन के अनुसार वही बन्ध का

है। परन्तु जब ज्ञान-धारा मे न रागाश रहता है और न द्वेषाश रहता है, तब उससे कर्म का बन्ध नही होता। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि रागद्वेष के कारण जब चेतना अशुद्ध हो जाती है, तभी कर्म का बन्ध होता है। और जब ज्ञान-चेतना विशुद्ध एव पवित्र रहती है, तब कर्म का बन्धन नही होता। ज्ञान का काम किसी पर राग करना, किसी पर द्वेष करना, किसी पर वैर करना अथवा किसी पर प्रेम करना नही है। ज्ञान का काम तो एक मात्र वस्तुओ को प्रकाशित करना ही है। इतनी बात अवश्य है, कि जबतक उसमे चारित्र-मोह का और दर्शन-मोह का प्रभाव रहता है, तब तक यह अशुद्ध ज्ञान बन्ध का हेतु ही रहता है। परन्तु सकलमलकलकरहित विशुद्ध ज्ञान कभी बन्धन का हेतु नही बनता है। जब राग-द्वेष का अभाव हो जाता है, तब आत्मा का ज्ञान गुण पूर्णरूप से निर्मल और पवित्र बन जाता है। उस समय ससार के अनन्त-अनन्त जड चेतन पदार्थ ज्ञान मे ज्ञेय रूप मे प्रतिभासित होते हैं, परन्तु उनसे किसी प्रकार का कर्मबन्ध नही होता। अत सिद्ध है कि ज्ञान बन्ध का हेतु नही है।

मैं आपसे ज्ञानगुण के सम्बन्ध मे चर्चा कर रहा था और यह कह रहा था, कि ज्ञाता ज्ञान के द्वारा ज्ञेय पदार्थों को जानता है। किन्तु जानने के तरीके दो प्रकार के हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। जैनदर्शन के अनुसार यह विश्व षड्द्रव्यात्मक है। छह द्रव्यो के अतिरिक्त ससार अन्य कुछ भी नही है। ससार का जो कुछ भी खेल है, वह सब षड्द्रव्यों का ही है। षड्द्रव्य इस प्रकार हैं - जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन छह द्रव्यों मे जीव ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी है और शेष द्रव्य मात्र ज्ञेय हैं। ज्ञाता मे ज्ञेय पदार्थ प्रतिक्षण झलकते रहते हैं। अन्तर इतना ही है, कि केवल ज्ञानी उन ज्ञेय पदार्थो को पूर्ण प्रत्यक्ष रूप मे जानता है, जबकि श्रुत ज्ञानी शास्त्र के आधार पर उन्हे परोक्ष रूप में जानता है। एक बात यहाँ पर और ध्यान मे रखनी चाहिए कि इन षड्द्रव्यो मे से प्रत्येक द्रव्य एक होकर भी अनन्त है। क्योकि जैनदर्शन मे प्रत्येक वस्तु को अनन्त धर्मात्मक माना गया है। जिज्ञासा होती है, कि वस्तु के अनन्त धर्म कौन से हैं ? इसके उत्तर मे कहा गया है, कि वस्तु के गुण और पर्याय ही वस्तु के धर्म है। और गुण तथा पर्याय प्रत्येक वस्तु के अनन्त ही होते हैं। इस दृष्टि से एक वस्तु भी अपने आप मे अनन्त है। श्रुत ज्ञानी श्रुतज्ञान के आधार पर परोक्ष रूप में द्रव्यो को जान सकता है, किन्तु उनकी अनन्त पर्यायो को

नहीं जान सकता। सान्तज्ञान से अनन्त पर्यायों को कैसे जाना जा सकता है ? अनन्त को जानने के लिए ज्ञान भी अनन्त ही चाहिए। इसी अभिप्राय से यह कहा गया है कि केवल ज्ञानी ही अपने अनन्त ज्ञान में समग्र द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है। केवल ज्ञान के अतिरिक्त शेष जितने भी ज्ञान हैं उनसे सीमित रूप में ही पदार्थों का परिज्ञान होता है। कल्पना कीजिए, आपके समक्ष सरसों का एक विशाल ढेर लगा हुआ है। आप उस ढेर को देखकर यह तो जान सकते हैं कि यह सरसों का ढेर है परन्तु उन सरसों के दानों की संख्या कितनी है यह आप नहीं बतला सकते। जब आप और हम सरसों जैसी स्थूल वस्तु का भी पूर्ण ज्ञान नहीं कर सकते तब एक-एक द्रव्य की अनन्त अनन्त पर्यायों का ज्ञान हम कैसे कर सकते हैं ? इसी प्रकार मनुष्यों के समूह को देखकर हम यह कहते हैं कि यह समाज है अथवा सभा है ? एक मनुष्य के एक शरीर का ज्ञान तो जाना है किन्तु उसके अनन्त अनन्त परमाणुओं का ज्ञान करना हमारे वश की बात नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार सावरण ज्ञान ससीम होता है और निरावरण ज्ञान असीम होता है। केवल ज्ञान ही निरावरण ज्ञान है। इसीसे उससे वस्तु के अनन्त गुण पर्यायों का परिज्ञान होता है।

ज्ञान के साथ पदार्थों का क्या सम्बन्ध है ? यह भी एक जटिल प्रश्न है। पदार्थ का ज्ञान के साथ विषय विषयी भाव सम्बन्ध है। ज्ञान विषयी है और पदार्थ विषय है। ज्ञान के साथ पदार्थों का ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव सम्बन्ध भी हो सकता है। ज्ञान ज्ञापक है और पदार्थ ज्ञाप्य है। कुछ आचार्यों ने ज्ञान के साथ पदार्थों का बोध्य-बोधक भाव सम्बन्ध भी बतलाया है। ज्ञान बोधक है और पदार्थ बोध्य है। परन्तु सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि ज्ञान का ज्ञान के साथ क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न के उत्तर में दो विचार-धाराएँ सामने आती हैं—एक विचार धारा वह है जो ज्ञान को केवल पर प्रकाशक ही मानती है। और दूसरी विचार धारा वह है जो ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक मानती है। दूसरी विचार-धारा के अनुसार ज्ञान के साथ तीनों प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है—विषय विषयी भाव सम्बन्ध ज्ञाप्य ज्ञापक भाव सम्बन्ध और बोध्य-बोधकभाव सम्बन्ध। जब ज्ञान स्वयं को जानता है तब वह स्वयं ही विषयी है और स्वयं ही अपना विषय है तब वह स्वयं ही ज्ञापक है और स्वयं ही ज्ञाप्य है तब वह स्वयं ही बोधक है और स्वयं ही बोध्य है। मैं अपने आपको आपमें जानता हूँ। इस वाक्य में जानने वाला और

जिसको जाना जाता है वे दोनों एक हैं और जिससे जानता है, वह भी भिन्न नहीं है। इस उदाहरण में हम देखते हैं कि यहाँ पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों एक हो गए हैं। व्यवहार के विवेचन पर से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का पदार्थों के साथ ज्ञान ज्ञेय सम्बन्ध है। इसी प्रकार जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान का ज्ञान के साथ भी ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध है।

संसार का प्रत्येक पदार्थ, फिर भले ही वह चेतन हो अथवा जड़ हो, ज्ञान का विषय होने के योग्य होता है। ज्ञान का विषय शुभ एवं सुन्दर पदार्थ भी हो सकता है तथा अशुभ एवं असुन्दर पदार्थ भी हो सकता है। इस प्रकार ज्ञेय पदार्थ शुभ और अशुभ, सुन्दर और असुन्दर सभी हो सकते हैं। वृक्ष की टहनी में खिलने वाला फूल भी ज्ञेय है और उसी वृक्ष की टहनी में जन्म लेने वाला काँटा भी ज्ञेय रूप में प्रतिभासित और प्रतिबिम्बित होता है। मनुष्य के ज्ञान में ज्ञेय रूप से तीर्थंकर एवं सिद्ध जैसी पवित्र आत्माएँ भी प्रतिबिम्बित होती हैं और उसके ज्ञान में अभव्य एवं नारक आदि जैसे मलिन जीव भी प्रतिभासित होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है, कि आत्मा के ज्ञान गुण में ज्ञेय रूप से संसारी जीव भी प्रतिबिम्बित होता है और सकलकर्मकलङ्क-विकल सिद्ध भी प्रतिभासित होता है। ज्ञान का विषय मूर्त और अमूर्त सभी प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं। स्थूल और सूक्ष्म सभी प्रकार के पदार्थ ज्ञान के विषय हैं। जब हम ज्ञान को दर्पण के समान मान लेते हैं, तब उसमें किसी भी प्रकार के पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़े बिना कैसे रह सकता है? यह तथ्य आप को नहीं भूल जाना चाहिए कि ज्ञान का काम किसी पदार्थ को रागरूप अथवा द्वेष रूप में प्रतिभासित करना नहीं है। ज्ञान किसी भी पदार्थ को हित अहित रूप में प्रतिबिम्बित नहीं करता। ज्ञान का कार्य पदार्थ के रूप को प्रतिबिम्बित करना है। दर्पण का पदार्थों के साथ जो सम्बन्ध है, वही आत्मा के ज्ञान-गुण का सम्बन्ध पदार्थों के साथ में है। यह कभी सम्भव नहीं है, कि पदार्थ ज्ञान का विषय न हो अथवा ज्ञान पदार्थ को विषय न करे।

जब आत्मा अपनी ज्ञान-शक्ति से अपने शुद्ध स्वरूप को समझ लेता है, तब वह संसार के पदार्थों में न राग करता है और न द्वेष करता है, किन्तु जब आत्मा अपने स्वरूप को नहीं समझ पाता, तभी अज्ञानवश वह पदार्थों में राग-बुद्धि अथवा द्वेष-बुद्धि करता रहता है। सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि जब आत्मा ज्ञान-स्वरूप है और ज्ञान

का कार्य राग-द्वेष करना नहीं है, तब आत्मा में राग-द्वेष कहाँ से और कैसे आ जाते हैं ? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि आत्मा में राग अथवा द्वेष की उत्पत्ति ज्ञान से नहीं होती, वह तो मोह के कारण ही होती है। पर पदार्थों के साथ जो राग अथवा द्वेष का सम्बन्ध होता है, उस का कर्ता आत्मा ज्ञान नहीं है बल्कि चारित्र मोहनीयकर्म है। चारित्र गुण के विपरीत परिणाम को चारित्र मोह कहते हैं। जीव की क्रिया शक्ति की विकारी दशा चारित्र-मोह है और जीव की इसी शक्ति की अविकारी दशा चारित्र गुण है। इसी प्रकार आत्मा के दर्शन गुण के विकार को मिथ्यात्व कहा जाता है जबकि आत्मा के दर्शनगुण के अविकार को सम्यक्त्व कहा जाता है। वस्तुतः चारित्र मोहनीय और दर्शन मोहनीय के कारण ही आत्मा में नाना प्रकार के विकारों की उत्पत्ति होती है, ज्ञान के कारण नहीं। ज्ञान तो आत्मा का एक विशिष्ट गुण है जिसके प्रकाश में आत्मा अपने स्वरूप का परिबोध करता है। ज्ञान अपने आपमें विशुद्ध होता है। परन्तु चारित्र मोह तथा दर्शन मोह के कारण वह अशुद्ध बन जाता है जिससे नवीन कर्मों का बन्ध होता है।

वैशेषिक दर्शन के उपदेष्टा कणाद ने कहा है कि संसार में सुख-दुःख और बन्धन आदि सभी का मूल कारण ज्ञान ही है। यही कारण है कि प्रभु से प्रार्थना करते हुए एक आचार्य ने यह कहा है कि भगवन्! इस ज्ञान से मेरा पिण्ड छुड़ाओ क्योंकि जबतक ज्ञान विद्यमान है तब तक शान्ति सम्भव नहीं है। अपने विचारों को पुष्ट करने के लिए उनका तर्क है कि बालक को परिवार के किसी व्यक्ति के मरण का अथवा धन हानि आदि का दुःख नहीं होता है क्योंकि उस में दुःख की अनुभूति करने जैसे ज्ञान का अभाव रहता है। बालक को केवल देह का भान रहता है और इसीलिए भूख अथवा प्यास लगने पर वह रोता है। बाल्य काल में दुःख शरीर तक ही सीमित रहता है। फिर आगे ज्यों ज्यों वह बढ़ता है और उसके ज्ञान का विकास होता है, त्यों-त्यों उसके मन में माता-पिता आदि परिवार एवं परिजन के विविध विकल्प उत्पन्न होने लगते हैं क्योंकि ज्ञान के विकास के साथ साथ उसके मन में पदार्थों के प्रति अपनत्व का विकल्प भी पैदा हो जाता है। जैसे-जैसे ज्ञान विकसित होता और बढ़ता है वैसे वैसे दुःख और सुख के विकल्प भी विकसित होते रहते हैं और बढ़ते रहते हैं। विवाह करने से पूर्व उसके मन के विकल्प माता

पिता और बहिन-भाई तक ही सीमित थे, विवाह होने पर उन विकल्पो का विस्तार पत्नी और उसके माता-पिता तथा आगे चलकर अपने पुत्र और पुत्री तक फैल जाते हैं। कणाद के अनुसार इस प्रकार ज्ञान के बढने पर दुःख ही दुःख होता है। मनुष्य के मन मे सुख-दुःखात्मक जितने अधिक विकल्प होगे, उसके मन मे उतनी ही अधिक अशान्ति बढेगी। इसी तर्क के आधार पर वैशेपिक दर्शन के उपदेष्टा कणाद ने कहा है, कि ससार मे दुःखो का मूल कारण ज्ञान ही है। अतः ज्ञान को समाप्त करना चाहिए, नष्ट कर देना चाहिए, क्योकि जब तक ज्ञान रहेगा, तबतक जीवन मे शान्ति सम्भव नही है। इतना ही नही, कणाद दर्शन तो इससे आगे यह भी कहता है कि जबतक कि आत्मा मे ज्ञान है, तब तक मुक्ति भी सम्भव नही है। जैसे राग और द्वेष आदि विकारो को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार कणाद ज्ञान को भी आत्मा का विकार समझकर उसे दूर करने का प्रयत्न करता है। कणाद-दर्शन के अनुसार मुक्त-अवस्था मे आत्मा मे ज्ञान नही रहता।

मैं आपसे वैशेपिक दर्शन की चर्चा कर रहा था और यह कह रहा था, कि वैशेपिक दर्शन मे ज्ञान को दुःख का कारण माना गया है। वैशेशिक दर्शन में इतनी सच्चाई तो अवश्य है, कि वह दुःखो से छुटकारा प्राप्त करने के लिए उपदेश देता है, साथ ही वह आत्मा मे ज्ञान की स्थिति को भी स्वीकार करता है, फिर भले ही वह ससारी अवस्था मे क्यो न रहता हो। कणाद का कहना है कि ज्ञान आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। वह जब कभी उत्पन्न होगा, तब आत्मा मे ही होगा, आत्मा के अतिरिक्त ज्ञान अन्य किसी पदार्थ मे उत्पन्न नही हो सकता। इतना होने पर भी इस दर्शन के सम्बन्ध मे यह बात अवश्य विचारणीय रह जाती है कि यदि मुक्त अवस्था मे आत्मा मे ज्ञान नही रहता है, तो फिर ज्ञान-शून्य आत्मा, आत्मा कैसे रह सकता है? यदि आत्मा मे से ज्ञान का अभाव स्वीकार कर लिया जाए, तब वह चेतन न रहकर जड बन जाएगा। दूसरी बात यह है कि जब ज्ञान को आत्मा का एक विशिष्ट गुण मान लिया, एक असाधारण गुण स्वीकार कर लिया, फिर आत्मा को ज्ञान-शून्य कैसे कहा जा सकता है? क्योकि जो जिसका विशिष्ट अथवा असाधारण गुण होता है, वह अपने गुणी का परित्याग तीन काल मे भी नही कर सकता। अब रही ज्ञान से दुःख उत्पत्ति की बात, तर्क के प्रकाश मे यह बात

शान्ति सिद्ध नहीं होती है। जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ दुःख ही होता है, इस प्रकार की व्याप्ति बनाना कथमपि सम्भव नहीं है। भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर उन विशिष्ट ज्ञानी साधकों का जीवन अंकित है, जिन्होंने अपने ज्ञान और विवेक के बल पर संसार की भयंकर से भयंकर पीड़ा को, यातना को तथा दुःख और क्लेश को भी सुख-रूप समझा। निश्चय ही यदि उनके पास ज्ञान और विवेक का बल न होता, तो संसार के वे विशिष्ट साधक प्रसन्न भाव से न शूली पर चढ़ सकते थे, न कांटों पर लेट सकते थे और न हँसते-हँसते जहर का प्याला ही पी सकते थे। भारत में तथा भारत के बाहर कुछ ऐसे विलक्षण सन्त अथवा साधक हुए हैं, जिन्होंने शूली की नोंक पर चढ़कर भी आत्मा का संगीत सुनाया था, फाँसी के तख्ते पर झूमकर भी आत्मा के आनन्द को भूल नहीं सके। और जिन्होंने विष-पान करते हुए भी सुख और शान्ति का अनुभव किया। यह सब कुछ ज्ञान और विवेक का ही चमत्कार है।

आपने जैन इतिहास की वह जाज्वल्यमान गाथा सुनी होगी, जिसमें कहा गया है कि किसी राजा ने एक मुनि के शरीर की चमड़ी को उसकी जीवित अवस्था में ही उतरवा डाला था। जैन इतिहास में उस दिव्य ज्योति का परिचय स्कन्दक मुनि के नाम से मिलता है। स्कन्दक मुनि को किस कारण पकड़ा गया और किस कारण वहाँ के राजा ने उनके शरीर की चमड़ी को उतारने का आदेश दिया, इस सम्बन्ध में मुझे यहाँ कुछ कह कर कहानी को लम्बा नहीं करना है। किन्तु मैं आपको यह बतला रहा हूँ कि जिस समय जल्लाद स्कन्दक मुनि के शरीर की खाल को उतार रहे थे, उस समय स्कन्दक मुनि के मन में क्या विचार थे और वे क्या सोच रहे थे। स्कन्दक मुनि अपने विवेक और निर्मल ज्ञान धारा में तल्लीन होकर विचार कर रहे थे कि इन जल्लादों का क्या दोष है? यह तो राजा के आदेश का पालन कर रहे हैं। अपने स्वामी के आदेश का पालन करना ही इनका कर्तव्य है। राजा का भी क्या दोष है? निश्चय ही यह तो मेरे अपने कर्मों का ही दोष है। मैंने अपने पिछले जन्म में किसी प्रकार का भयंकर अशुभ कर्म किया होगा, उसी का यह फल आज मुझे मिल रहा है। महान् आश्चर्य है कि शरीर से चमड़ी जिस समय उतारी जा रही थी, उस दारुण और भयंकर दुःख की वेला में भी स्कन्दक मुनि के मन में न चमड़ी उतारने वाले जल्लाद के प्रति

द्वेष था और न चमड़ी उतारने का आदेश देने वाले राजा के प्रति ही। आप यह मत समझिए, कि उस समय स्कन्दक मुनि को वेदना या पीडा नही हो रही थी। शरीर मे एक छोटी सी सुई चुभने पर भी जब पीडा होती है और पैर मे एक साधारण सा काँटा लग जाने पर भी जब व्यथा होती है, तब यह कैसे माना जा सकता है, कि शरीर की खाल उतारते समय स्कन्दक मुनि को वेदना, पीड़ा अथवा व्यथा नही थी। बात यह है कि शरीर को पीड़ा और व्यथा तो भयकर थी, किन्तु आत्मा के परिबोध ने उस वेदना और व्यथा को उनके मन मे प्रवेश नही करने दिया। जब साधक आत्मा और पुद्गल मे भेद-विज्ञान कर लेता है और यह निश्चय कर लेता है, कि आत्मा भिन्न है और यह शरीर भिन्न है, तब इस भेद-विज्ञान के आधार पर भयकर से भयकर कष्ट को भी सहन करने की अद्भुत क्षमता उसमे आजाती है। स्कन्दक मुनि ने अपने शरीर पर से अपना उपयोग हटाकर उसे आत्मा मे केन्द्रित कर दिया था। यही कारण है, कि जल्लाद उनके शरीर से खाल उतारता रहा और वे आत्मलीन रहे। इतना ही नही, स्कन्दक मुनि ने खाल उतारते समय शान्त स्वर से जल्लाद से कहा—"तुझे अपने इस कार्य को सम्पन्न करने मे किसी प्रकार की असुविधा और बाधा न होनी चाहिए, इसके लिए यदि करवट बदलने की आवश्यकता हो तो मुझे बतला देना मैं वैसा ही कर लूंगा।" कल्पना कीजिए,जब किसी मृत शरीर की खाल उतरती देखने से भी मन मे भय होता है तब जीवित शरीर पर के इस दारुण दृश्य को देखने वालो के मन मे भय क्यो न हुआ होगा ? स्वय खाल उतारने वाला जल्लाद भी इस भीषण कार्य से कांप उठा था। किन्तु स्कन्दक मुनि के मन मे न किसी प्रकार का भय था और न किसी प्रकार का कम्पन ही था। जरा विचार तो कीजिए, इस प्रकार की स्थिति मे समभाव रखना कितना कठिन काम है ? पर स्कन्दक मुनि के लिए यह कठिन न था, क्योकि उन्होने अपने उपयोग को एव चेतना की धारा को शरीर पर से हटाकर आत्मा मे केन्द्रित कर दिया था। और जब ज्ञान की धारा शरीर से हटकर आत्मा मे समाहित हो जाती है, तब दुःख होते हुए भी उसे दुःख की अनुभूति नही होती। मैं आपसे कह रहा था, कि इस प्रकार की दशा जीवन मे तब आती है, जब कि ज्ञान-चेतना विशुद्ध, निर्मल और पवित्र हो जाती है। यदि कणाद के अनुसार ज्ञान के कारण ही दुःख होता है, तब स्कन्दक मुनि को भी वह होना चाहिए था और उस

स्थिति में वे अपने शरीर की चमड़ी कैसे उतरवा सकते थे ? याद रखिए, इस प्रकार की स्थिति में न कोई अपने शरीर से चमड़ी उतरवा सकता है, न कोई सूली पर चढ़ सकता है, न कोई फाँसी के तख्ते पर झूल सकता है और न कोई हँसते-हँसते जहर का प्याला ही पी सकता है। अतः इतिहास की उक्त जीवन गाथाओं से यह सिद्ध होता है कि दुःख का कारण ज्ञान नहीं है, फलतः मुक्ति के लिए ज्ञान को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि शरीर और आत्मा में भेद विज्ञान किया जाए। शरीर से उपयोग हटाकर आत्मा में उस उपयोग को लगाना साधक जीवन की यह एक बहुत बड़ी और बहुत ऊँची कला है, जो ज्ञान और विवेक से ही प्राप्त की जा सकती है। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान दुःख का कारण नहीं है, किन्तु जब ज्ञान में राग-द्वेष का मिश्रण हो जाता है, तभी उसे दुःख का कारण कहा जाता है। ज्ञान से तो दुःख को दूर किया जाता है, ज्ञान और विवेक के कारण ही आत्मा में से विषमता दूर होकर समता उत्पन्न होती है।

मैं आपसे आत्मा के ज्ञान-गुण की चर्चा कर रहा था। आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से यह भलीभाँति परिज्ञात होता है कि आत्मा का ज्ञान-गुण आत्मा से भिन्न नहीं है। जो आत्मा है, वही ज्ञान है और जो ज्ञान है, वही आत्मा है। निश्चय-दृष्टि से ज्ञान और आत्मा में द्वैतता है ही नहीं, किन्तु व्यवहार भाषा में ही हम कहते हैं कि आत्मा में ज्ञान-गुण है अथवा ज्ञान आत्मा का गुण है। जैन दर्शन के अनुसार गुण और गुणी में न एकान्त भेद माना गया है और न एकान्त अभेद ही। जैनदर्शन के अनुसार गुण और गुणी में कथंचित् भेद भी है और कथंचित् अभेद भी है। जब भेद दृष्टि से कथन किया जाता है, तब हम कहते हैं कि ज्ञान आत्मा का गुण है, किन्तु जब अभेद दृष्टि से विचार किया जाता है, तब हम कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है। जो ज्ञान है, वही आत्मा है और जो आत्मा है, वही ज्ञान है।

ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह पदार्थ के स्वरूप का भान कराता है, इसके लिए हमें अपनी ज्ञान चेतना को यह आदेश नहीं देना पड़ता कि तुम पदार्थों का ज्ञान हमें कराओ। जिस प्रकार दर्पण का यह स्वभाव है कि उसके सामने जैसा बिम्ब आता है, वैसा ही उसमें प्रतिबिम्बित हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान का भी यह स्वभाव है, कि पदार्थ जैसा होता है, वैसा ही ज्ञान में प्रतिभासित

हो जाता है। ज्ञान हो और वह अपने ज्ञेय का ज्ञान न कराए, यह कभी सम्भव नही हो सकता। ज्ञान मे हजारो, लाखो, पदार्थ ज्ञेयरूप मे प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। केवल ज्ञानी के ज्ञान मे तो समग्र अनन्तानन्त पदार्थ और एक-एक पदार्थ की अनन्त-अनन्त पर्याय ज्ञेयरूप मे प्रतिक्षण प्रतिबिम्बित होती रहती है। दर्शन-शास्त्र के अनुसार किसी पदार्थ का ज्ञान करने के लिए तीन तत्वो की आवश्यकता होती है—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। इसी की चर्चा मैंने आपसे की है। ज्ञाता आत्मा है, ज्ञान उसकी शक्ति है और ज्ञान का विषय बनने वाला पदार्थ ज्ञेय होता है। ससार मे पदार्थ अनन्त हैं, इसलिए उन अनन्त पदार्थों को विषय करने वाला ज्ञान भी अनन्त है। किन्तु आवरण-दशा मे ज्ञान सीमित होता है, अत सीमित पदार्थ ही हमारे ज्ञेय बनते हैं। निरावरण-दशा मे ज्ञान अनन्त हो जाता है, अत वह अनन्त पदार्थो को जान सकता है। अध्यात्म-शास्त्र के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का है—स्वभाव-ज्ञान और विभाव-ज्ञान। स्वभाव ज्ञान का अर्थ है, वह ज्ञान जिसमे न रागाश हो, और न द्वेषाश हो, आत्मा की शुद्ध दशा को ग्रहण करने वाला ज्ञान स्वभाव ज्ञान होता है। आत्मा का ज्ञान जब ज्ञान रूप मे रहता है, तब सवर और निर्जरा की साधना से इस ससारी आत्मा को मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। जब ज्ञान के साथ राग-द्वेष रहता है, तब ज्ञान की वह विभाव दशा होती है। विभाव-दशा मे आत्मा आस्रव के कारण कर्मबन्ध करता है और कर्मबन्ध के कारण ससार मे परिभ्रमण करता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि स्वभाव ज्ञान मोक्ष का कारण है और विभाव ज्ञान ससार का कारण है। ज्ञान की विशुद्धि और पवित्रता ही जीवन के विकास का कारण है।

★

६

नय ज्ञान की दो धाराएँ

• • •

श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में कुछ विशेष विचार करने की अपेक्षा है। श्रुतज्ञान प्रमाण रूप है, क्योंकि वस्तुतत्व का अखण्ड रूप से बोध करता है। श्रुतज्ञान रूप विराट् महासागर में रूपी अरूपी पुद्गल आत्मा और धर्मास्तिकाय आदि सभी पदार्थों का समत्वेन समावेश हो जाता है। वह अपने ज्ञान प्रकाश में अनन्त वस्तुओं का निरूपण करता है। भले ही उन अनन्त वस्तुओं की झलक श्रुतज्ञान में परोक्ष रूप से ही होती है परन्तु वह अपने में समग्र पदार्थों का प्रतिबिम्ब अवश्य ले सकता है।

जैन दर्शन में नयों का जो वर्णन आता है उनका सम्बन्ध किस ज्ञान से है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि नयों का सम्बन्ध श्रुतज्ञान से है। श्रुत के ही भेद विकल्प या अंश नय हैं। श्रुतज्ञान अंशी है, और नय उसके अंश हैं। अतः एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है, कि श्रुतज्ञान तो प्रमाण है किन्तु नय प्रमाण है अथवा अप्रमाण? इसके उत्तर में कहा गया है कि नय न एकान्त रूप से प्रमाण है और न एकान्त

रूप से अप्रमाण ही है, अपितु प्रमाण का अश है। जिस प्रकार समुद्र की तरग को हम न समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र ही, हाँ समुद्र का अश अवश्य कह सकते हैं। उसी प्रकार श्रुतज्ञान रूपी महासागर की तरगें हैं—नय। इस दृष्टि से हम उन्हें न प्रमाण कह सकते हैं, न अप्रमाण ही। श्रुतज्ञान रूप प्रमाण सागर का अश होने से उन्हे प्रमाणाश कह सकते हैं।

यद्यपि नयो के असख्यात प्रकार हैं, तथापि मुख्य रूप से नय के दो भेद हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय। निश्चय नय आत्मतत्व के अखण्ड रूप का वर्णन करता है। देश और काल के भेद से अथवा गुण और पर्याय के भेद से वह आत्मा के अलग-अलग स्वरूप का वर्णन नही कर करता, वलिक त्रिकाली जीवस्वरूप अखण्ड चैतन्य-धारात्मक आत्मस्वरूप के परिवोध मे ही उसकी सार्थकता है। निश्चय नय मे आत्मा वद्ध नही मालूम पडता, वलिक वह वन्धन-मुक्त सदा एक रस ज्ञायकस्वभावी मालूम पडता है। वद्ध दशा आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है। निश्चयनय मे आत्मा का त्रिकाली रूप ही झलकता है। उसमे आत्मा का देशकाल आदि अपेक्षाकृत रूप नही झलकता है। आत्मा की वद्ध अवस्था उसका त्रिकाली स्वरूप नही है, क्योकि कर्म का क्षय कर देने पर उसकी सत्ता नही रहती है। इसी कारण से निश्चय नय मे कर्मों का भान नही होता, वलिक आत्मा के शुद्ध एव निर्विकार स्वरूप का ही दर्शन होता है। आत्मा वन्धन मुक्त है और इसी स्वरूप का दर्शन निश्चयनय मे होता है। आत्मा के वदलते हुए विभिन्न वन्धन-युक्त रूपो का दर्शन उसमे नही होता है।

निश्चय नय मे शरीर, इन्द्रिय और मन भी नही झलकता है, क्योकि वे आज हैं तो कल नही हैं, वे अनादि, अनन्त एव त्रिकाली नही हैं। आत्मा की जो वदलने वाली अवस्था जिसका आदि है, और अन्त भी है, वह निश्चय नय मे दिखलाई नही पडती है। उसमे केवल आत्मा के त्रिकाली, अखण्ड, अनादि एव अनन्त स्वरूप का दर्शन ही होता है। निश्चय नय मे आत्मा का विभाव भाव परिलक्षित नही होता है, केवल आत्मा का शुद्ध स्वभाव ही उसमे परिलक्षित होता है। निश्चय नय के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि आत्मा की जो अवस्था वन्ध और कर्म के स्पर्श से रहित है, जहाँ किसी प्रकार का भेद नही है और जिसमे किसी भी प्रकार का

विकार प्रतिबिम्बित नहीं होता है आत्मा की उस विशुद्ध दशा का नाम ही निश्चय नय है। वस्तुतः इस निश्चय नय की शुद्ध प्रतीति को ही परम शुद्ध सम्यक्त्व कहते हैं। यह अवस्था आत्मा की विशुद्ध अवस्था है।

संसार कर्मों का ही एक खेल है। आत्मा का बद्धरूप स्पृष्ट रूप भेद रूप और अनियत रूप तो साधारण दृष्टि में झलकता है परन्तु आत्मा अबद्ध है अस्पृष्ट है अभिन्न है और नियत है—इस प्रकार इसके विशुद्ध स्वरूप का परिबोध जब तक नहीं हो पाएगा तब तक आत्मा अपने भव-बन्धनों से विमुक्त नहीं हो सकेगा। जहाँ भेद और विकल्प रहते हैं, वहाँ निश्चय नहीं होता। निश्चय नय जहाँ होता है, वहाँ किसी भी प्रकार का भेद और किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं रहने पाता। निश्चय नय की देह, कर्म इन्द्रिय और मन आदि से परे एकमात्र विशुद्ध आत्म-तत्त्व पर ही एकाग्रतारूप दृष्टि रहती है। जन-साधना का लक्ष्य राग-द्वेष आदि विकारों पर विजय प्राप्त करना है। कर्मों का जो उदय भाव है वह निश्चय दृष्टि का लक्ष्य नहीं है। इन्द्रियों का विषय और मन का विषय भी आत्मा का अपना स्वरूप नहीं है। यह सब औदयिक भाव है जो कर्मों के उदय से प्राप्त होता है। निश्चय दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति इसे कभी भी अपना स्वरूप नहीं मानता है। जैन दर्शन का लक्ष्य व्यवहार नय को लाँघ कर उस परम विशुद्ध निर्विकार स्थिति तक पहुँचना है, जहाँ न किसी प्रकार का क्षोभ रहता है और न किसी प्रकार का मोह ही रह पाता है। पर्यायों की जो प्रतिक्षण बदलती दशा भेदरूप दृष्टिगोचर होती है उस को भी लाँघ कर उससे भी परे जो एक अभेद द्रव्यार्थिक भाव है और जो अनादि काल से कभी अबद्ध हुआ ही नहीं और जब अशुद्ध हुआ ही नहीं तो फिर शुद्ध भी कहाँ रहा? इस प्रकार जो शुद्ध और अशुद्ध दोनों से परे एकमेवाद्वितीय निर्विकल्प त्रिकाली निजस्वरूप है, वही शुद्ध निश्चय नय का स्वरूप है। शुद्धनिश्चय नय द्रव्य प्रधान होता है। क्षण क्षण में बदलने वाली नर एवं नारकादि पर्यायों को वह ग्रहण नहीं करता। वह तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ही ग्रहण करता है। जो व्यक्ति शुद्ध निश्चय नय को प्राप्त कर लेता है उसके लिए सत्, चित् एवं आनन्द रूप आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी इस संसार में न ज्ञातव्य रहता है, न प्राप्तव्य रहता है और न उपादेय ही रहता है।

देह के अस्तित्व की प्रतीति करना, इन्द्रिय और मन आदि के स्वरूप को जानना भी, चतुर्थ गुणस्थान पर आरोहण करने के लिए अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए आवश्यक नही है। कर्म को एव आत्मा के अशुद्ध स्वरूप को स्वीकार करने मे भी सम्यक्त्व की कोई ज्योति एव प्रकाश नही है, क्योकि जहा तक देह, इन्द्रिय, मन, कर्म और राग और द्वेष है, वहाँ तक ससार की स्थिति ही रहती है। सम्यक् दृष्टि आत्मा का दृष्टिकोण शरीर, इन्द्रिय, मन और कर्म आदि से परे होना चाहिए, क्योकि ये सब भौतिक होते है। एक अभौतिक तत्त्व आत्मा ही उसके जीवन का लक्ष्य होता है। कर्म एव राग द्वेष आदि के विकल्प भी आत्मा के अपने नही है। अज्ञानी आत्मा अज्ञानवश ही इन्हे अपना समझता है। कर्म आत्मा का स्वरूप नही है। क्योंकि वह त्रैकालिक नही है, आगन्तुक है। कर्म का मूल कारण राग और द्वेष है। सम्यक् दृष्टि आत्मा उन विभाव भावो को कभी अपना स्वरूप नही समझता। एक मात्र शुद्ध आत्म तत्त्व को ही वह अपना स्वरूप समझता है। धर्म साधना का एक मात्र उद्देश्य यही है, कि आत्मा स्व स्वरूप मे लीन हो जाए। धर्म क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है, कि वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है। अत आत्मा का जो त्रिकाली ज्ञायक स्वरूप है, वही धर्म है।

मैं आपसे निश्चय दृष्टि की बात कह रहा था। जीवन के असख्यात एव अनन्त विकल्पो को छोडकर स्व स्वरूप की प्रतीति करना ही निश्चय नय है। मन के सकल्प और विकल्पो से परे आत्मा का दर्शन करना ही सम्यक्त्व है। आत्मा अनन्य और अभेद्य है। आत्मा के इस स्वरूप का श्रद्धान ही सम्यक् दर्शन कहा जाता है। आत्म स्वरूप की प्रतीति हुए बिना, अपने स्वरूप को समझे बिना, अपने को धर्म-साधना मे लगाए रखना सम्भव नही है। मैं आपसे यह कह रहा था, कि आत्मा के अशुद्ध स्वरूप को न देखकर उसके शुद्ध स्वरूप को ही ग्रहण करना, यही निश्चय नय है। निश्चय नय के अभाव मे धर्म-साधना का मूल्य एक शून्य बिन्दु से बढकर नही रहता। निश्चय नय निमित्त को न पकड कर उपादान को पकडता है, जबकि व्यवहार नय उपादान पर न पहुँच कर, केवल निमित्त मे ही अटक जाता है। व्यवहार दृष्टि से देखने पर तो यह आत्मा अशुद्ध और कर्मबद्ध प्रतीत होता है, किन्तु निश्चय नय से देखने पर वह अबद्ध और शुद्ध प्रतीत होता है। व्यवहार नय से देखने

पर आत्मा का शुद्ध स्वरूप नहीं जाना जाता क्योंकि निमित्त कारणों से होने वाले परिवर्तनों को ही वह आत्मा का स्वरूप समझने लगता है जबकि निश्चय नय से देखने पर हमें आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही परिज्ञात होता है, क्योंकि निश्चय नय आत्मा के विभाव भावों को आत्मा का स्वरूप नहीं मानता। निश्चयनय और व्यवहार नय के सम्बन्ध में आपको एक बात और समझ लेनी चाहिए कि व्यवहार नय का आधार भेद दृष्टि है जबकि निश्चय नय का आधार अभेद दृष्टि है। भेद में अभेद देखना यह निश्चय नय है और अभेद में भेद देखना यह व्यवहार नय है। अभेद दृष्टि से देखने पर आत्मा का एक और अखण्ड विशुद्ध स्वरूप ही परिज्ञात हो जाता है, इसके विपरीत व्यवहार नय से देखने पर आत्मा पर्याय भाव से भिन्न-भिन्न ही प्रतीत होता है, उसमें अभेद का दर्शन नहीं होने पाता।

मैं आपसे निश्चय नय की बात कर रहा था किन्तु अब व्यवहार नय के सम्बन्ध में भी कुछ विचार कर लें। व्यवहार नय के मुख्य रूप में दो भेद है—सद्भूत व्यवहार नय तथा असद्भूत व्यवहार नय। यदि आप गम्भीरता के साथ विचार करेंगे तो आपको यह प्रतीत होगा कि इन दोनों में मौलिक भेद क्या है? जब हम ज्ञान और आत्मा को अभिन्न मानते हुए यह कहते हैं कि ज्ञान स्वयं आत्मा है तब यह निश्चय नय की भाषा होती है। और जब हम ज्ञान और आत्मा को भिन्न मानते हुए यह कहते हैं कि ज्ञान आत्मा का गुण है, तब यह व्यवहार नय होता है। ज्ञान आत्मा का गुण है, यह सद्भूत व्यवहार नय है। यहाँ पर आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है। गुण कभी अपने गुणी से अलग नहीं हो सकता और गुणी भी कभी गुण शून्य नहीं हो सकता। जल में शीतलता रहती है और अग्नि में उष्णता रहती है, किन्तु जल की शीतलता को जल से अलग नहीं किया जा सकता और अग्नि की उष्णता को भी अग्नि से कभी अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार आत्मा के ज्ञान गुण को कभी आत्मा से अलग नहीं किया जा सकता। गुण और गुणी में अभेदता और अखण्डता रहती है। फिर भी ज्ञान आत्मा का गुण है, इस उदाहरण में भेद की जो प्रतीति होती है, वह अभेद में भेद का केवल व्यवहार है। व्यवहार से आत्मा को गुणी माना जाता है और ज्ञान को उसका गुण माना जाता है, यह तो बोलने और समझने की भाषा है। वस्तुतः गुण और गुणी में किसी प्रकार का भेद नहीं रहता है। ज्ञान

जब कभी रहेगा, तब आत्मा में ही रहेगा, आत्मा से अलग वह कही रह नही सकता, फिर भी यहाँ पर जो गुण और गुणी मे भेद बतलाने का प्रयत्न किया है, उसका अभिप्राय इतना ही है, कि यह कथन अभेद दृष्टि से न होकर भेद दृष्टि से किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार गुण और गुणी मे तादात्म्य सम्बन्ध है, आधार आधेय भाव सम्बन्ध नही है, जैसा कि घृत और पात्र मे होता है। घृत आधेय है और पात्र उसका आधार है। पात्र मे घृत सयोग सम्बन्ध से रहता है, परन्तु घृत पात्र स्वरूप न होने से उनका सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध नही हो सकता। जबकि आत्मा का और उसके ज्ञान गुण का सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध होता है। जैन दर्शन के अनुसार गुण और गुणी मे न एकान्त भेद होता है और न एकान्त अभेद। जैन दर्शन के अनुसार गुण और गुणी में कथचित् भेद और कथचित अभेद रहता है। मूल द्रव्य की अपेक्षा से अभेद सम्बन्ध रहता है और गुण एव पर्याय की दृष्टि से भेद सम्बन्ध रहता है। ज्ञान आत्मा का गुण है, यहाँ पर जो भेद बतलाया है, वह सद्भूत है, असद्भूत नही, क्योकि ज्ञान आत्मा मे ही मिलता, है आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र उसकी उपलब्धि नही होती। इसी आधार पर यह कहा जाता है, कि यह सद्भूत व्यवहार नय है। सद्भूत होते हुए भी यह व्यवहार ही है, निश्चय नही। क्योकि जहाँ भेद की कल्पना की जाती है, वहाँ व्यवहार ही होता है। ज्ञान आत्मा से अभिन्न होते हुए भी, इस उदाहरण मे, उसमे भेद की कल्पना की गई है। इसी आधार पर यह सद्भूत व्यवहार नय है। सद्भूत व्यवहार नय मानता है, कि जो वस्तु सत् है, उसमे भेद भी है। इस प्रकार आत्मा मे और उसके गुणो मे भेद न होने पर भी जब भेद की कल्पना की जाती है तब उसे व्यवहार नय कहा जाता है। व्यवहार नय मे उपचार किया जाता है। यहां ज्ञान गुण और आत्मा मे भेद न होने पर भी भेद का उपचार किया गया है, अत यह व्यवहार नय है।

व्यवहार नय का दूसरा भेद है—असद्भूत व्यवहार नय। असद्भूत व्यवहार नय कहाँ होता है, इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है, कि जहाँ भेद का कथन हो, किन्तु वह सद्भूत न होकर यदि असद्भूत हो तो वहाँ पर असद्भूत व्यवहार नय का कथन किया जाता है। उदाहरण के लिए समझिए कि जब मैं यह कहता हूँ कि, 'यह शरीर मेरा है' तब यह कथन असद्भूत व्यवहार नय कहलाता है। वस्तुत

यह शरीर मेरा नहीं है अर्थात् जीवका अपना नहीं है यह तो पुद्गलो से बना हुआ है। इसी प्रकार मन और इन्द्रिय भी आत्मा के अपने न होकर शरीर के समान पौद्गलिक ही हैं। फिर भी व्यवहार मे हम यह कहते हैं कि मेरा शरीर मेरी इन्द्रियाँ और मेरा मन। वस्तुत उक्त तीनो तत्त्व अपने न होते हुए भी हम उनमे अपनत्व का उपचार करते हैं। इसी आधार पर इस दृष्टि को असद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है। कल्पना कीजिए आपके सामने एक मिट्टी का घड़ा रक्खा हुआ है, उसमे कभी घी रखा था। अत उस मिट्टी के घड़े को जब आप मिट्टी का न कह कर घी का घड़ा कहते हैं तब इसका अर्थ यह होता है कि आपका यह कथन असद्भूत व्यवहार नय की दृष्टि से हुआ है। वास्तव मे घड़ा न कभी घी का होता है और न तेल का होता है किन्तु सयोग सम्बन्ध को लेकर हम यह कहते है कि यह घी का घड़ा है और यह तेल का घड़ा है। क्योंकि भूत काल मे अथवा वर्तमान काल मे उस घड़े के साथ हम घी का और तेल का सयोग सम्बन्ध देख चुके है, इसी आधार पर व्यवहार मे हम यह कह देते है, कि घी का घड़ा अथवा तेल का घड़ा लाओ। भविष्य के सयोग सम्बन्ध को लेकर भी वर्तमान मे घी का घड़ा और तेल का घड़ा इत्यादि व्यवहार हो जाता है। परन्तु यह कथन सत्यभूत नहीं है। इसीलिए इसे असद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है क्योंकि घड़ा घी से और तेल से कभी निर्मित नहीं होता।

शरीर और आत्मा मे भेद है, परन्तु दोनो के सयोग को लेकर यह कथन कर दिया गया है कि मेरा शरीर। शरीर और आत्मा मे भेद है क्योंकि शरीर भौतिक है और आत्मा अभौतिक है। शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है चेतन रूप आत्मा का जड़ रूप शरीर अपना कैसे हो सकता है। यह सत्य होने पर भी हम देखते है कि आत्मा इस शरीर मे वास करता है। देही इस देह मे विद्यमान है। जब देही इस देह मे निवास करता है तो उपचार से यह मान लिया गया कि यह शरीर आत्मा का है। कल्पना कीजिए एक व्यक्ति जिसका अपना घर नहीं है, वह किसी दूसरे का घर किराए पर ले कर उसमे रहता है वह व्यक्ति जब तक उसमे रहता है, तब तक वह उसे अपना ही कहता है। वह कभी नहीं कहता कि यह घर मेरा नहीं है। यही दृष्टि मै आपको यहाँ बतला रहा था। शरीर और आत्मा स्वभावत भिन्न होने पर भी यहाँ पर शरीर को जो मेरा

कहा गया है, इस उपचार कथन का मूल कारण शरीर और आत्मा का संयोग सम्बन्ध ही है। इसी प्रकार मेरी इन्द्रियाँ और मेरा मन, यह कथन भी उक्त आधार पर ही किया जाता है। भेद होते हुए भी यहाँ अभेद का कथन उपचार से किया गया है, और वह उपचार भी सद्भूत न होकर असद्भूत ही है। इसी आधार पर इस दृष्टि को असद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है। मैं आपसे यह कह रहा था कि जब दृष्टि अभेदप्रधान होती है, तब निश्चय नय होता है और जब दृष्टि भेदप्रधान होती है, तब व्यवहार नय होता है। व्यवहार नय मे भी कथन दो प्रकार का होता है— सद्भूत और असद्भूत। जब सद्भूत कथन होता है, तब वह सद्भूत व्यवहार नय कहलाता है और जब कथन असद्भूत होता है तब उसे असद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है। वस्तुकथन के अनेक प्रकार है। एक ही वस्तु का कथन अनेक प्रकार से किया जा सकता है। इसी को अनेकान्त दृष्टि अथवा अनेकान्तवाद कहा जाता है, जो जैनदर्शन का प्राण है।

मैं आपसे निश्चय नय और व्यवहार नय की बात कह रहा था, निश्चय और व्यवहार के सम्बन्ध मे यथार्थ दृष्टिकोण समझाने का मैने प्रयत्न किया है। मैं समझता हूँ कि विषय बडा गम्भीर है, पर यह भी सत्य है कि इसे समझे बिना आप जैन-दर्शन के मर्म को नही समझ सकते। जैन दर्शन के अध्यात्मवाद को समझने के लिए तो निश्चय नय और व्यवहार नय को समझना परमावश्यक है। निश्चय और व्यवहार के स्वरूप को समझने के लिए एक दूसरे प्रकार से भी विचार किया गया है, जो इस प्रकार है। आत्मा और कर्म पुद्गल को एक क्षेत्रावगाही कहा है। आकाश रूप क्षेत्र मे आत्मा और कर्म पुद्गल दोनो रहते है। अत आत्मा और कर्म पुद्गल दोनो का क्षेत्र एक है, परन्तु यह कथन व्यवहार दृष्टि से किया गया है। निश्चय नय मे यह कथन यथार्थ नही है, क्योकि निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा आत्मा मे रहता है कर्म कर्म मे रहता है, और आकाश आकाश मे रहता है। निश्चय नय दृष्टि से प्रत्येक द्रव्य अपने मे ही रहता है, किसी दूसरे मे नही। प्राचीन काल मे भी इस प्रकार का प्रश्न उठाया गया था कि आत्मा कहाँ रहता है और सिद्ध कहाँ रहते है? इसके उत्तर मे कहा गया है कि आत्मा और सिद्ध आकाश मे रहते है, परन्तु आकाश मे तो आकाश रहता है,

फिर वहाँ आत्मा और सिद्ध कैसे रह सकते हैं ? अतः वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा आकाश में नहीं रहता, बल्कि आत्मा में ही रहता है। इसी प्रकार कर्म आकाश में नहीं रहता, कर्म में ही रहता है। यह निश्चय दृष्टि है। परन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से एक क्षेत्रावगाही एवं संयोगी होने के कारण दोनों का क्षेत्र एक कहा जाता है। दूध और पानी मिलने पर यह नहीं कहा जाता कि यह दूध का पानी है, बल्कि यह कहा जाता है कि यह दूध है। क्योंकि जब दूध और पानी मिल गए तो दोनों अलग कहाँ रहे। परन्तु निश्चय दृष्टि से देखने पर दूध और पानी एक नहीं हो सकते। दूध दूध है और पानी पानी। एक क्षेत्रावगाही होने मात्र से ही दोनों एक नहीं हो सकते। इसी प्रकार यहाँ पर भी आत्मा और कर्म एक क्षेत्रावगाही होने से एक नहीं हो सकते। निश्चय नय दृष्टि से विचार करने पर आत्मा और कर्म दोनों की सत्ता अलग-अलग है। आत्मा चेतन है और कर्म पुद्गल है, वे दोनों एक कैसे हो सकते हैं जबकि दोनों के स्वभाव अलग-अलग हैं। अतः व्यवहार नय से आकाश का एक क्षेत्र में रहते हुए भी निश्चय से वे अलग हैं।

कल्पना कीजिए, आप स्वर्ण खरीदने के लिए बाजार गए। यदि किसी प्रकार आपको यह मालूम हो जाएगा कि जिस स्वर्ण को आप खरीद रहे हैं, उसमें मिलावट है तो निश्चय ही आप खोटे सोने को खरीदने के लिए तैयार नहीं होंगे। मिलावट उसी अवस्था का नाम है, जबकि दो विभिन्न वस्तुओं का मिश्रण होता है। जब सोने में सोने के अतिरिक्त किसी दूसरी धातु का मिश्रण होता है तब आप उसे अपनी भाषा में खोटा सोना कहते हैं। इसी प्रकार खोटा रुपया, खोटा पैसा आदि व्यवहार आप करते रहते हैं। जब तक आपको सोने के खोटेपन का बोध नहीं था तब तक आप उसे खरीद सकते थे किन्तु जब उसके खोटेपन का परिज्ञान आपको हो जाता है, तब आप उसे नहीं खरीदते। इसी प्रकार आत्मा और कर्म दोनों अलग-अलग पदार्थ हैं किन्तु अनादिकाल से उनका संयोग है। आत्मप्रदेश और कर्म परमाणु परस्पर दूध और पानी के समान मिले हुए हैं परन्तु यह दृष्टि व्यवहार दृष्टि है, निश्चय दृष्टि नहीं। निश्चय दृष्टि में किसी भी प्रकार की मिलावट ग्रहण नहीं की जा सकती। आत्मा को आत्मा समझना और कर्म को कर्म समझना यही निश्चय दृष्टि है। व्यवहार दृष्टि आत्मा और कर्म में भिन्नता

की प्रतीति नहीं करती, वह कर्म को आत्मा का ही रूप समझ लेती है, जिस प्रकार कि एक अज्ञानी व्यक्ति खोटे सोने को सच्चा सोना समझने की भूल कर लेता है। इसके विपरीत निश्चय दृष्टि वह है, जो वस्तु के मूल स्वरूप को ग्रहण करती है। आत्मा के मूल स्वरूप को ग्रहण करने वाली दृष्टि, आत्मा के वैभाविक रूप को ग्रहण कैसे कर सकती है। मैं आपसे यह कह रहा था, कि जीवन-विकास के लिए निश्चय नय का ज्ञान परमावश्यक है। निश्चय नय आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को समझने के लिए एक परम साधन है।

७

संसार-मुक्ति का हेतु : ज्ञान

यह संसार क्या वस्तु है? क्या इस संसार का कभी विनाश हो सकता है? जीवन के साथ जगत का और जगत के साथ जीवन का क्या सम्बन्ध है? इस प्रकार के प्रश्न दर्शन-शास्त्र में चिरकाल से उठते रहे हैं और उनका समय समय पर समाधान भी किया जाता रहा है। मुख्य प्रश्न यह है, कि इस संसार का स्वरूप क्या है? और इसका विनाश अथवा अभाव कैसे हो सकता है? शास्त्रों में कहा गया है कि जब आत्मज्ञान प्रकट हो जाता है तब संसार नहीं रहता। संसार समाप्त हो जाता है, फिर उसकी स्थिति नहीं रहती। कहा गया है कि —ज्ञाने तत्त्वे न संसारः? तत्त्व का परिज्ञान हो जाने पर फिर यह संसार नहीं रह पाता। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि तत्त्वज्ञान हो जाने पर संसार क्यों नहीं रहता? यदि संसार सत्यभूत है और वास्तविक है तो फिर उसकी सत्ता से इनकार कैसे किया जा सकता है? जो सत् है वह कभी असत् नहीं हो सकता। और जो असत् है, वह कभी सत् नहीं हो सकता। यदि संसार सत् है, तो तत्त्वज्ञान से

प्रकट होने पर भी वह रहेगा ही, उसका विलोप और विनाश नही हो सकता। फिर भी यहाँ पर तत्त्वज्ञान मे ससार का जो विनाश बतलाया है उसका एक विशेष उद्देश्य है। विशेष उद्देश्य यही है, कि तत्त्वज्ञान प्रकट हो जाने पर बाहर मे ससार की सत्ता तो रहती है, परन्तु अन्दर मे साधक के मन मे ससार की आसक्ति नही रहती, फलत ससार नही रहता। ससार की सत्ता रहे, पर आसक्ति न रहे तो साधक के जीवन की यह एक बहुत बडी सिद्धि है। जैन दर्शन मे इसी को वीतराग अवस्था कहा गया है। गीता मे इसी को स्थितप्रज्ञ दशा कहा गया है। जीवन मे इस प्रकार की स्थिति और इस प्रकार की अवस्था का आना ही साधना की सफलता है।

जब यह कहा जाता है, कि आत्मा की शुद्ध वस्तुस्थिति का पता चल जाने पर तथा स्वपर का भेद ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान प्रकट हो जाने पर ससार नही रहता, तब प्रश्न उठता है, कि ससार नष्ट होने का क्या अर्थ है? ज्ञान होने पर शरीर रहता ही है। इन्द्रियाँ भी रहती हैं और मन भी रहता है। मन मे विचार भी उठते रहते है, कभी सुख और कभी दुःख की स्थिति भी आती और जाती रहती है। जैन दर्शन कहता है कि जब तक कर्म हैं और जब तक कर्म का उदयभाव है, तब तक सुख और दुःख, हानि और लाभ, जीवन और मरण, शान्ति और अशान्ति—ये सब द्वन्द्व चलते ही रहेगे। शरीर के सुख एव दुःख के भोग भी मिटेंगे नही। इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयो को ग्रहण करती रहेंगी। फिर ससार क्या मिटा और कैसे मिटा? तत्त्वज्ञान होने पर भी, जब यह रहते ही हैं, तब फिर ससार के विनाश का क्या अभिप्राय है? भारत के अध्यात्मदर्शी दार्शनिको ने यह कैसे कह दिया कि तत्त्वज्ञान होने पर ससार नष्ट हो जाता है।

प्राचीन आचार्यो ने इस सम्बन्ध मे गम्भीर विचार किया है। अपने चिन्तन की चाबी से रहस्य के ताले को खोलने का प्रयत्न किया है। उन तत्त्व चिन्तको ने कहा है, कि आत्म तत्त्व मूल मे एक ही है। उसमे कही पर भी नानात्व प्रतीत नही होता। आत्मा की औदयिक आदि विविध पर्यायो मे और रूपो मे केवल उस त्रिकालीज्ञायक स्वभाव रूप एक आत्मरूप का ही ध्यान करो, तथा प्रतिक्षण बदलती हुई अनन्त पर्यायो का जो प्रवाह बह रहा है, उसमे उस एक दिव्य शक्ति की ही खोज करो और अपने अन्दर मे यही विचार करो कि हमे उस एक के लक्ष्य पर पहुँचना है। जैन दर्शन के अनुसार इस विचार

को द्रव्य दृष्टि और पारिणामिक भाव कहा जाता है। भेद से अभेद की ओर जाना, खण्ड से अखण्ड की ओर जाना तथा विभाव से स्वभाव की ओर जाना ही पारिणामिक भाव है। यह जो दृश्यमान जगत है, सुख-दुःख है, मन और इन्द्रियों का भेद है, उससे निकल कर अभेद अनादि और अनन्त ध्रुव स्वरूप में लीन होना ही वस्तुतः आत्मा का सहज स्वभाव है। संसार के जितने भी परिवर्तन हैं, उन सब का आधार भेद-बुद्धि है। जहाँ-जहाँ भेद-बुद्धि है, वहाँ-वहाँ पर्याय और परिवर्तनों का चक्र चलता ही रहता है। जब तक यह भेद-दृष्टि विद्यमान है, तब तक संसार में आत्मा को न सुख है, न सन्तोष है और न शान्ति है। प्रत्येक साधक को यह विचार करना चाहिए कि इन पर्याय और रूपों के भेदों में लीन रहना मेरा जीवन-उद्देश्य नहीं है। मेरे जीवन का एक मात्र लक्ष्य यही है, कि मैं अनेक से एक की ओर जाऊँ, भेद से अभेद की ओर प्रगति करूँ तथा उदयभाव से निकल कर पारिणामिक भाव की ओर नित्य चलता रहूँ। जहाँ भेद-बुद्धि और पर्याय बुद्धि होती है, वहाँ एकत्व नहीं रहता, अनेकत्व आकर खड़ा हो जाता है। यह अनेकत्व भी क्या है? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि साधक के जीवन में तन का, मन का, इन्द्रिय का तथा राग एवं द्वेष आदि विकल्पों का ही अनेकत्व है। जैन दर्शन के अनुसार इस अनेकत्व से एकत्व की ओर बढ़ना ही द्रव्य-दृष्टि एवं अभेद दृष्टि है।

एक बार एक पुस्तक में मैंने पढ़ा कि भारतीय दर्शन का लक्ष्य एकत्व में अनेकत्व का प्रतिपादन करना है। परन्तु मेरे विचार में यह कथन उचित नहीं है। अनेकत्व की ओर बढ़ना भारतीय संस्कृति और भारतीय दर्शन का मूल उद्देश्य नहीं है। मैं इस तथ्य को स्वीकार करता हूँ कि जीवन की प्रारम्भिक साधना में कुछ दूर तक यह अनेकत्व हमारा साथ देता है। इस अभिप्राय से वह हमारा साधन हो सकता है, साध्य नहीं हो सकता। साध्य तो एक मात्र एकत्व ही है। अभेद-रूप ही है। जीवन के खण्ड खण्ड रूपों में एकमात्र अखण्ड रूप को ही देखना यही भारतीय दर्शन और संस्कृति का मूल स्वर है। भारतीय दर्शन का लक्ष्य एकत्व में अनेकत्व का दर्शन नहीं है, बल्कि अनेकत्व में एकत्व का दर्शन करना है। भारतीय दर्शन अनेकत्व में एकत्व का, भेद में अभेद का, खण्ड में अखण्डता का और पर्याय में द्रव्य का विधान करता है। यही है, एक मात्र उसका अपना सत्य एवं केन्द्र-विचार। भेद बुद्धि इस जगत को खण्ड-खण्ड रूप में देखती है। जबकि

अभेद बुद्धि इसे अखण्ड रूप मे देखती है। प्रत्येक साधक को यह विचार करना चाहिए कि इस भेद बुद्धि और पर्याय-बुद्धि मे उसे कभी सुख और शान्ति मिलने वाली नही है। एकत्व मे अनेकत्व की प्रतीति इसलिए होती है, क्यो कि यह आत्मा अनन्त काल से पर्याय बुद्धि मे और भेद-बुद्धि मे रहता आया है। अत अपने इस वर्तमान जीवन मे यदि वह अभेद मे भेद को देखता है, तो यह उसके संस्कारो का दोष है। जैन दर्शन के आचार्यों ने एक बहुत बडी बात कही है। उनका कथन है कि सम्यक् दर्शन वहाँ रहता है, जहाँ पर्याय-बुद्धि, भेद-बुद्धि और खण्ड-बुद्धि नही रहती। वस्तुत द्रव्य बुद्धि और अभेद बुद्धि ही वास्तविक सम्यक् दर्शन है। इस अभेद-बुद्धि को समझना बहुत बडी बात है। जब तक यह अभेद बुद्धि हमारे जीवन के कण-कण मे रम न जाएगी, तब तक अध्यात्म-साधना सफल नही हो सकेगी। भेद मे अभेद दर्शन करना ही अध्यात्म-जीवन की सर्वोच्च कला है।

इस सम्बन्ध मे प्राचीन आचार्यों ने एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस उदाहरण मे इन प्राचीन आचार्यों ने यह बतलाया है कि किस प्रकार अभेद मे भेद-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। एक कुम्भकार मिट्टी से घडा, ढक्कन, सुराही, सिकोरा और नाना प्रकार के खिलौने बना डालता है। मिट्टी एक ही है, किन्तु कुम्भकार अपने निमित्त के योग से उसको नाना आकारो मे बदल देता है। जब मिट्टी के इस नाना रूप-विधान मे अनेक वस्तुओ का निर्माण हम देखते है, तब हमे नानात्व की एव अनेकत्व की प्रतीति होने लगती है। जैन दर्शन के अनुसार इसको भेद-बुद्धि और पर्याय-बुद्धि कहा जाता है। परन्तु जरा विचार तो कीजिए, इन समस्त रूप-परिवर्तनो के पीछे एक ही तत्व है, मिट्टी। जिस प्रकार एक ही मिट्टी नाना रूप, आकार और प्रकारो को धारण करती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी कर्मवश होकर नाना योनियो को एव विभिन्न स्थितियो को प्राप्त होती रहती है। एक ही आत्मा कभी नारक, कभी तिर्यञ्च, कभी मनुष्य और कभी कभी देव बनती रही है। आत्मा के यह नाना रूप और पर्याय भेद-बुद्धि पर आश्रित है। अभेद-बुद्धि से विचार किया जाए, तो इन नाना आकारो और प्रकारो के पीछे एक ही सत्ता और एक ही शक्ति है, आत्मा। जिस प्रकार मिट्टी के नाना आकारो के पीछे, मूल रूप मे मिट्टी एक ही है, उसी प्रकार आत्मा की नाना पर्यायो के पीछे मूल रूप मे आत्मा एक ही है। संसार मे जहाँ-जहाँ हमे नानात्व और

अनेकत्व दृष्टिगोचर होता है यह सब पर्याय का खेल है। पर्याय का जन्म भेद-बुद्धि से ही होता है। एक बात और है जब तक आत्मा में पर्याय दृष्टि विद्यमान है तभी तक यह नानात्व दृष्टिगोचर होता है। पारिणामिक दृष्टि के जागृत होते ही नानात्व और अनेकत्व स्थिर नहीं रह पाता। शरीर, मन और इन्द्रिय आदि के रहने पर भी दृष्टि में जब अभिन्नता आ जाती है, तब संसार का नानात्व खड़ा नहीं रह सकता। यह तभी सम्भव होता है जब साधक एवं दृष्टि आत्म तत्त्व पर पहुँच जाती है। मिट्टी का ज्ञान करने के लिए मिट्टी के स्वभाव के पास पहुँचना पड़ता है और मिट्टी के स्वभाव के पास पहुँच जाने पर मिट्टी के बने विभिन्न खिलौने मिट्टी ही नजर आने लगते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में भी यही सत्य लागू पड़ता है। पशु, मनुष्य और देव का शरीर अथवा जीवन तभी तक नजर आता है, जब तक पर्यायबुद्धि है। परन्तु जब दृष्टि पर्याय से हट कर त्रिकाली परम पारिणामिक भाव रूप आत्मस्वभाव के निकट पहुँच जाती है, तब मालूम पड़ता है कि यह आत्मा न पशु है न मनुष्य है और न देव ही आत्मा तो आत्मा है। जब आत्म-ज्ञान हो जाने पर नाना आकार-प्रकारों में आत्मा का ही परिबोध होता है, उस स्थिति में यह बाह्य संसार उदय भाव में रहने पर भी आपकी दृष्टि में उसका विनाश हो जाता है। जब आत्मदृष्टि उदयभाव से हटकर पारिणामिक भाव में पहुँच जाती है, तब सदा और सर्वथा उसे आत्मा ही आत्मा दृष्टिगोचर होता है। जैन दर्शन के अनुसार यही द्रव्य दृष्टि और अभेद बुद्धि है। इसका परिज्ञान हो जाने पर संसार के रहते हुए भी उस साधक के लिए संसार नहीं रहने पाता इसी को संसार का विनाश कहते हैं।

इस बाह्य जगत को छोड़कर जब हम आन्तरिक जगत पर विचार करते हैं तब हम जान पाते हैं, कि यह संसार क्षण में नष्ट हो जाता है और क्षणभर में ही फिर खड़ा हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि आसक्ति ही सबसे बड़ा संसार है। अनासक्ति ही संसार का विनाश है। जब साधक के मन में अनासक्ति भाव रहता है तब बाह्य पदार्थों की सत्ता रहने पर भी वे साधक को पकड़ नहीं सकते। इस दृष्टि से मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि आसक्ति ही संसार है और अनासक्ति ही संसार का अभाव एवं विनाश है। जब मनुष्य भोजन करता है, और जब मधुर एवं कटु पदार्थों को ग्रहण करता है, तब उसकी आत्मा का उपयोग यदि उसकी

जिह्वा के साथ जुड़ जाता है, तो उसे स्वाद की अनुभूति होती है, परन्तु जब उपयोग का सम्बन्ध जिह्वा से नहीं रहता, तब पदार्थ का सेवन करते हुए भी उसमे रस की अनुभूति नहीं होने पाती। इसका सीधा अर्थ यही हुआ, कि वस्तु का स्वभाव अर्थात् स्वाद नष्ट हो गया। यद्यपि उसका स्वभाव एवं स्वाद नष्ट तो नहीं हुआ, किन्तु वह खाने वाले की अनुभूति मे नहीं रहा। क्योकि उसकी आत्मा का उपयोग उसकी जिह्वा के साथ नहीं रहा। इसी प्रकार यदि अनुभूति मे वह नही रहा, तो उसके होते हुए भी, वह नहीं रहा या नष्ट हो गया, यह कहा जाता है। जैन दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं होता, बल्कि उसका अनुभूति में न आना ही उसका अभाव है। जहाँ राग है, वहा वैराग्य नही रह सकता, जहाँ आसक्ति है, वहाँ अनासक्ति नहीं रह सकती यह एक निश्चित सिद्धान्त है। क्या कभी एक म्यान मे दो तलवारें रह सकती है? कभी नही। प्रभु का मार्ग भी इतना सकरा है, कि उसमे आत्म-ज्ञान और संसार एक साथ नही रह सकते। उसमे भगवान और शैतान एक साथ नहीं रह सकते। यदि आपने अपने मन के सिंहासन पर रावण को बैठा लिया है, तो वहां राम के बैठने का स्थान नहीं रह सकता। एक ही सिंहासन पर राम और रावण दोनो नही बैठ सकते। मन के सिंहासन पर राम को बैठाने के लिए वहा से रावण को हटाना ही पडेगा। भला यह कैसे सम्भव हो सकता है, कि अन्धकार और प्रकाश दोनो मित्र बन कर एक साथ चलते रहे। जब एक रहता है, तब दूसरा गायब हो जाता है। अन्धकार के रहने पर प्रकाश नही रहता और प्रकाश के आजाने पर अन्धकार नही ठहर सकता। आत्मज्ञान हो जाने पर संसार भाव नही होता और संसार के रहते हुए आत्मभाव नही होता। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि संसार का विनाश अथवा विलोप इसका अर्थ इतना ही है, कि संसार के पदार्थों के प्रति आसक्ति हमारे मन मे न रहे। संसार के जिस पदार्थ के प्रति हमारे मन मे राग है, वह हमे सुख रूप प्रतीत होता है और संसार के जिस पदार्थ के प्रति हमारे मन मे द्वेष रहता है, वह हमे दुःख रूप प्रतीत होता है, किन्तु संसार के जिस पदार्थ के प्रति हमारे मन मे न किसी प्रकार का राग है और न किसी प्रकार का द्वेष है, वह पदार्थ हमे न सुख रूप होता है और न दुःख रूप होता है। वस्तुतः इसी वीतराग स्थिति को अथवा वीतराग दशा को संसार का विनाश अथवा संसार

का विलोप कहा जाता है। पदार्थ के रहते हुए भी उसकी सुख-दुःखात्मक प्रतीति न होना जैनदर्शन के अनुसार इसी को संसार का अभाव कहा जाता है। जब पदार्थ का राग और द्वेष हमारे मन में नहीं है, तब वह पदार्थ हमारे मन में कैसे ठहर सकता है? और पदार्थ का मन में न ठहरना ही उस पदार्थ का अभाव या विनाश है।

जब आत्म स्वरूप की प्रतीति होती है, तब वह स्वभाव की ओर आता है। इसका यह अर्थ हुआ कि जब आत्मा विभाव से हट कर स्वभाव की ओर आता है तब संसार की स्थिति रह ही नहीं सकती है। वस्त्र में जब मैल जम जाता है तब वस्त्र की धवलता दृष्टि में नहीं आती है। स्वच्छ रहने पर ही वस्त्र की धवलता दृष्टि में आती है। जब वस्त्र का मल दूर हो जाता है तब वस्त्र की धवलता की प्रतीति होती है किन्तु उसके मल की प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार मैं आपसे कह रहा था कि जब एकत्व में आता है, तब अनेकत्व नहीं आता है। एक समय में दो में से कोई एक ही ध्यान में आ सकता है। जब आपकी बुद्धि एकत्व में स्थिर रहती है तब उसमें अनेकत्व की तरंग नहीं उठ सकती और जब उसमें अनेकत्व की तरंग उठती है तब उसमें एकत्वभाव स्थिर नहीं रहने पाता। आपके सामने दो तत्त्व हैं—एक सृष्टि और दूसरी दृष्टि। सृष्टि का अर्थ है—संसार और दृष्टि का अर्थ है—विचार और विवेक। इन दोनों में से पहले किसको बदला जाए सृष्टि को अथवा दृष्टि को? भारतीय धर्म और दर्शन में इस विषय पर बड़ी गम्भीरता के साथ विचार किया गया है। जैन दर्शन का कथन है कि सृष्टि को बदलने का प्रयत्न मत करो। पहले दृष्टि को बदलो। यदि दृष्टि बदल जाती है, तो फिर सृष्टि के बदलने के लिए पृथक् प्रयास की आवश्यकता ही नहीं रहती। जैन दर्शन का मूल संघर्ष सृष्टि के साथ नहीं है, संसार के साथ नहीं है बल्कि दृष्टि और विचार के साथ है। यदि आपने अपनी विपरीत दृष्टि और विचार को नहीं बदला है तो हजार-हजार प्रयत्न करने पर भी संसार बदला नहीं जा सकता। आप जानते हैं कि भीष्म पितामह ने तथा विदुर जैसे पण्डित ने दुर्योधन को बदलने का कितना प्रयत्न किया था किन्तु उसकी दृष्टि में बदलाव न आने के कारण भीष्म पितामह और अन्य नीतिज्ञ पुरुष दुर्योधन के संसार को बदल नहीं सके। दुर्योधन के जीवन के कण-कण में द्वेष दृष्टि का जो विष व्याप्त था उसको दूर किए बिना उसके बाह्य जीवन को बदलने के समग्र प्रयत्न निष्फल और व्यर्थ गए। अतः जैन

दर्शन यह कहता है कि सृष्टि को बदलने से पूर्व दृष्टि को बदलो। यदि दृष्टि बदल जाती है, तो फिर शरीर, इन्द्रिय और मन के रहते हुए भी हमारी अध्यात्म-साधना मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नही हो सकती। मेरे विचार मे मूल बात ससार को बदलने की नही है, बल्कि अपने मन को बदलने की है।

मैं आपसे कह रहा था कि जीवन मे बाना बदलने का महत्व नही है, बडी बात है, बान बदलने की। आत्मा का स्वभाव अनन्त-काल से जैसा रहा है, अनन्तकाल तक वैसा ही रहेगा, इसमे किसी भी प्रकार का सन्देह नही है। शास्त्र मे कहा गया है, कि पानी गरम होकर जब खौलने लगता है और हाथ डालने पर जब हाथ भी जलने लगता है, तब साधारणतया यह कह दिया जाता है, पानी आग होगया है। परन्तु वस्तु स्थिति यह है, कि पानी सदा पानी ही रहता है, वह कभी आग नही बनता। पानी न कभी आग बना है और न कभी भविष्य मे बन ही सकेगा। बात वास्तव मे यह है, कि अग्नि के सयोग से पानी मे गरमी आगई है। पानी की उष्णता की ओर जब ध्यान दिया जाता है, तब प्रतीत होता है, कि वह आग हो गया है। परन्तु पानी तो पानी ही है। जब तक अग्नि के स्वभाव को महत्व दिया जाता है, तब तक पानी को आग भले ही कहा जाए, परन्तु वह गरम पानी, गरम होने से पूर्व भी पानी ही था, गर्म होने पर भी पानी है और आगे भी पानी ही रहेगा। यदि उस गरम पानी को भी आग पर डाला जाए, तो वह आग को बुझा डालेगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि उष्णता के सयोग के बाद भी पानी का स्वभाव बदला नही, बल्कि वही रहा, जो उसका अपना स्वभाव था। अग्नि का सयोग होने पर भी जब वह आग के समान उष्ण हुआ, तब भी उसका मूल स्वभाव शीतलता ही था, अग्नि को बुझाने का ही था, अन्यथा वह आग को कैसे बुझा सकता था? जब मूल स्वभाव पर दृष्टि दी जाती है, तब पानी गरम होने पर भी पानी ही है, परन्तु जब सयोगि भाव की ओर दृष्टि जाती है, तब वह आग नजर आता है। किन्तु इस बात को ध्यान मे रखिए कि अपने मूल स्वभाव से पानी सदा ही शीतल है और उस समय भी शीतल है, जबकि उसमे उष्णता का सयोग रहता है। यही सिद्धान्त आत्मा के सम्बन्ध मे भी है। जब आत्मा मे उदयभाव की ओर दृष्टि रहती है, तब ससार खडा हो जाता है, किन्तु दृष्टि जब आत्मा के [illegible]

आत्मा का बन्धन मुक्त एवं अखण्ड स्वभाव सर्वत्र नजर आता है। उदयभाव की ओर देखने पर बन्ध नजर आता है और स्वरूप की ओर दृष्टि जाने पर आत्मा का विशुद्ध पारिणामिक भाव तथा चैतन्य स्वरूप दीख पड़ता है। जब जब दृष्टि पारिणामिक भाव की ओर जाती है तब तब उदयभाव के रहते हुए भी आत्मा को उसके बन्ध रूप की प्रतीति नहीं होती है। यदि आप बन्ध को महत्व नहीं देना चाहेंगे तो ज्ञान मे उसका कोई महत्व नहीं रहेगा। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि सारा का सारा खेल दृष्टि का है। सबसे बड़ी बात यह देखना है कि आपकी दृष्टि क्या है? यदि आपकी दृष्टि विशुद्ध पारिणामिक भाव में है, तब संसार में कहीं पर भी आपको बन्धन नहीं है। इसके विपरीत यदि आपकी दृष्टि औदयिक भाव मे अटकी हुई है तो इस संसार मे कदम-कदम पर सर्वत्र आपको बन्धन ही बन्धन मिलेंगे।

मैं आपसे यह कह रहा था कि यह संसार क्या है? उसका स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में मैंने जो कुछ कहा है वह आपने सुना होगा और उसे समझने का प्रयत्न भी किया होगा। बात यह है कि सुनने को आप बहुत कुछ सुन लेते हैं किन्तु उसके अनुसार जीवन को बनाने का प्रयत्न नहीं होता इसलिए हमारा ज्ञान पोथी-पन्नों तक ही सीमित रह जाता है वह जीवन की धरती पर उतर कर पनपने नहीं पाता। मैंने आपसे अभी कहा था, कि संसार को बदलने का प्रयत्न मत कीजिए, प्रयत्न कीजिए, अपने मन को बदलने का। मन बदल गया तो सब कुछ बदल गया। यदि मन नहीं बदला तो कुछ भी नहीं बदला। मन को बदलने का अर्थ है—बुद्धि को भेद से हटाकर अभेद की ओर लगाना, बुद्धि को अनेकत्व से हटाकर एकत्व की ओर ले जाना और आत्मा को औदयिक भाव से हटाकर पारिणामिक भाव में स्थिर करना। अपने स्वरूप को पाने का और संसार को नष्ट करने का इससे सुन्दर अन्य कोई मार्ग नहीं है। अपने स्वरूप में स्थिर हो जाने का अर्थ यही है कि संसार-सागर से पार हो जाना। संसार मे जितने भी दुःख एवं क्लेश हैं, उन सबका आधार द्वैत-बुद्धि ही है। जब तक यह द्वैत बुद्धि दूर नहीं होगी तब तक संसार का नाश नहीं होगा। द्वैत-बुद्धि का अर्थ है—वह बुद्धि जिसमे अपने स्वरूप पर विश्वास न होकर पर पदार्थ पर विश्वास होता है।

भी उस आनन्दमय चिदाकार अखण्ड ज्योति की अनुभूति

जो अनादिकाल से उदय भाव के कारण ओझल थी, तो फिर क्षण मे ही इस दु खमय ससार का विनाश हो सकता है। निश्चय ही एक वार सम्पूर्ण रूप से जब यह आत्मा औदयिक भाव से विमुक्त हो जाता है और अपने विशुद्ध पारिणामिक भाव मे पहुँच जाता है, तव ससार का एक भी वन्धन इसमे रह नही सकता। जव-जव दृष्टि पारिणामिक भाव मे रहती है, तव तव हम मुक्ति मे रहते हैं, और जव-जव दृष्टि उदयभाव मे रहती है, तव तव हम ससार मे निवास करते हैं। जव हम शरीर मे आत्मा का दर्शन करते हैं, तव हम देह-वुद्धि मे रहते हैं, परन्तु जव स्व-स्वरूप मे लीन हो जाते हैं, तव ससार के रहते हुए भी, यह ससार हमारे लिए ओझल हो जाता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि आत्मा के विशुद्ध ज्ञान मे ससार का दु ख एव क्लेश नही रहने पाता।